तुलसी साहित्य में संवेगों की मनोवैज्ञानिक भूमिका

(रामचरित मानस, गीतावली, कवितावली तथा विनय-पत्रिका के विशेष संदर्भ में)

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय

की पी-एच०डी० उपाधि हेतु

प्रस्तुत

1995

शोध-निर्देशक

डॉ. रामशंकर द्विवेदी

एम.ए., पी-एच.डी.
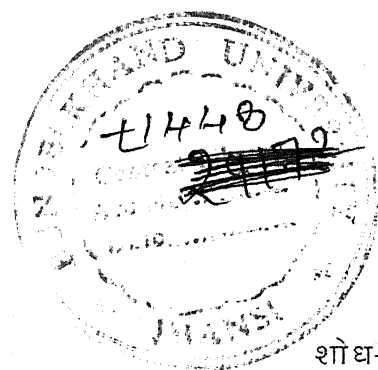
शोध-कर्त्री

श्रीमती सुलभा अग्रवाल

एम.ए., बी.एड.

शोध केन्द्र

दयानन्द वैदिक महाविद्यालय, उरई

– दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उरई –

डॉ0 रामशंकर द्विवेदी
रीडर/अध्यक्ष
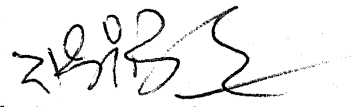
हिन्दी विभाग
डी0वी0 कालेज,
उरई– 285 001
फोन– 52214 पी.पी.

****

– प्रमाण–पत्र –

मुझे यह प्रमाणित करते हुए हर्ष है कि सुलभा अग्रवाल ने प्रस्तुत शोध कार्य बड़ी लगन और परिश्रम से किया है इसमें इन्होंने तुलसी साहित्य में मानवीय संवेगों की मनोवैज्ञानिक भूमिका की छान–बीन की है। अपने शोध कार्य के दौरान विश्वविद्यालय शोध परि नियमावली की सभी अपेक्षाओं को पूरा करते हुए ये अपेक्षित अवधि से भी अधिक समय तक मेरे साथ जुड़ी रही हैं। अपने इस मौलिक कार्य की सीमाओं के अन्तर्गत इन्होंने ज्ञात तथ्यों के नवीन अभिव्यंजन तथा अज्ञात तथ्यों के विवेचन का प्रयास किया है।

मैं इनके शोध–प्रबंध को परीक्षणार्थ प्रस्तुत करने की अनुमति देता हुआ इनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ।

दिनांक :1 सितम्बर, 1995

(डॉ0 रामशंकर द्विवेदी)
शोध निर्देशक,
दयानन्द वैदिक कालेज,
उरई

:: विषय–सूची ::

प्रस्ताविकी

तुलसी साहित्य अगाध एवं अत्यन्त विशाल है। इसकी इसी विशालता और अगाधता को ध्यान में रखकर हिन्दी में अब तक शताधिक शोध कार्य सम्पन्न हो चुके हैं। मैंने स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् जब शोध कार्य करने का संकल्प लिया तो मेरे सामने विषय चयन की एक गम्भीर समस्या सामने आयी। अत्याधुनिक काव्य प्रवृत्तियों से लेकर परम्परागत अनेक विषयों की राहें मेरे सामने खुली पड़ी थी। मैंने जब तुलसी पर शोध करने की इच्छा प्रकट की तो मेरे सामने एक दूसरी समस्या आ गयी थी। तुलसी पर अब तक इतने शोध हो चुके हैं कि उन शोधों के बहुआयामी निष्कर्षो पर भी पृथक से अनुसंधान हो चुका है। इसलिए तुलसी पर अनुसंधान भी हो जाये और उसमें कुछ नवीनता तथा मौलिकता हो, ऐसा सोचकर मेरे निर्देशक ने मेरे सामने आधुनिक मनोवैज्ञानिक मानदण्डों के आधार पर शोध करने की दिशा सुझायी। कई दिनों के विचार–विमर्श के उपरान्त "तुलसी साहित्य में मानवीय संवेगों की मनोवैज्ञानिक भूमिका" विषय अनुसंधान के लिए निश्चित किया गया और बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय की शोध समिति ने मुझे अपना कार्य बढ़ाने की अनुमति भी प्रदान कर दी।

कवि का काव्य अथवा उसकी कृति उसके मन में उठे विचार का ही पल्लवन होती है। तुलसी साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है। तुलसी के मन में जो कलात्मक प्रेरणा जागी थी, वही उनकी कृतियों में रूपायत हुई है। इसे ध्यान में रखकर मैंने विषय प्रवेश में तुलसी पर हुए अनुसंधान कार्यो पर एक सरसरी दृष्टि डालते हुए अपने कार्य के लिए एक भूमिका तैयार की है, इसके पश्चात् तुलसी के व्यक्ति की छानबीन करते हुए उनके व्यक्तिगत जीवन में सम्भावित मूल और व्युत्पन्न संवेगों का विवेचन करने का प्रयास किया है। संवेगों के प्रति तुलसी की क्या दृष्टि थी और तुलसी साहित्य में उसका प्रतिफलन किस रूप में हुआ है, इस ओर भी इंगित करने का प्रयास किया गया है।

आगे चलकर तुलसी साहित्य में रागात्मक तथा विरागात्मक वृतित पर आधारित संवेगों की विवेचना करते हुए काम, इच्छा, अभिलाषा, लोभ तथा लौकिक प्रेम से लेकर दिव्य प्रेम अथवा प्रेमाभक्ति तक का विवेचन किया गया है। विरागात्मक वृत्ति पर आधारित मूल संवेगों में घृणा, भय, क्रोध, दीनता, विस्मय तथा अहं की प्रवृत्ति और परणति पर प्रकाश डाला गया है।

मूल संवेगों के अतिरिक्त जीवन में व्युत्पन्न तथा मिश्र संवेगों का भी महत्व है। इस दृष्टि से व्युत्पन्न संवेगों में विश्वास, आशा–निराशा, दुःख, चिन्ता, सुख, उत्साह तथा मिश्र संवेगों में मोह, भ्रम, आशंका, श्रद्धा, श्लाघा, कृतज्ञता, वैराग्य, लज्जा, ग्लानि, ईर्ष्या, क्षोभ, सन्तोष, क्षमा, दया,

करुणा, कृपा आदि पर विस्तार से विश्लेषण करने का प्रयास रहा है।

पंचम अध्याय में तुलसी साहित्य में संवेगों की दूसरी दृष्टि से विवेचना की गयी हैं। इसमें यह देखा गया है कि तुलसी साहित्य के प्रमुख पात्रों में कौन–कौन संवेग आये हैं और उनका विकास तथा उनकी परणति किस रूप में हुई है।

तुलसी साहित्य में संवेगों की मनोवैज्ञानिक भूमिका पर विचार करते समय यह ध्यान में रखा गया है कि मुख्य रूप से यह देखा जाय कि तुलसी के पात्रों में मानवीय संवेग किस रूप में उत्पन्न होते हैं। संवेग उत्पन्न होने पर स्वयं उसके धारक पर क्या प्रभाव पड़ता है और जिसके प्रति वह निवेदित होता है, उस पर क्या प्रभाव पड़ता है। संवेगों के आविर्भाव और तिरोभाव की प्रक्रिया क्या है। तुलसी के समय आधुनिक मनोवैज्ञानिक खोजों के निष्कर्ष नहीं थे लेकिन यह विचित्र बात लगती है कि संवेगों के चित्रण में आधुनिक मनोवैज्ञानिक प्रतिपत्तियों की झलक तो मिलती ही है किन्तु उसके आगे की बात भी मिलती है। तुलसी ने संवेगों के चित्रण में स्पष्ट रूप से लोकमंगल को ध्यान में रखा है। जिन पात्रों के संवेग लोकमंगल विधायक है, वे पात्र और उनके संवेग धन्य हैं तथा जो संवेग लोकमंगल के विरोधी है, वे पात्र और संवेग गर्हित है। इस दृष्टि से राम एक ऐसे मन का प्रतिनिधित्व करते हैं जो संवेगों से परे हैं उनमें न द्वन्द्व है न संघर्ष। फिर भी संवेगात्मक दृष्टि से राम में पूरी गरिमा सुरक्षित है। इसी गरिमा को ध्यान में रखकर तुलसी साहित्य के अधिकांश पात्रों के संवेगों का प्रवाह राम की ओर उन्मुख है। अपने अनुसन्धान के दौरान मैं उपर्युक्त निष्कर्षो पर पहुँची हूँ।

शोध कार्य के दौरान मुझे जो खट्टे–मीठे अनुभव हुए जिन अवरोधों का सामना करना पड़ा यदि आज उनकी गाथा लिखने बैठे तो यही उक्ति चरितार्थ होगी– "बाढ़हि कथा पार नहिं लहहूँ" किन्तु आज इस अनुसन्धान रुपी विकट सागर के उस किनारे पर खड़े होकर सन्तोष का ही अधिक अनुभव हो रहा है, साथ ही इस बात की खुशी है कि मैं अपना कार्य जैसा भी बन पड़ा पूरा कर सकी। इस कार्य में सर्वाधिक सहयोग मेरे पूज्य माता–पिता, बड़े भाईयों तथा भाभियों का रहा। घर का यदि अनुकूल वातावरण न मिलता तो मैं अपना काम निश्चिन्तता पूर्वक कर पाती नहीं कहा जा सकता।

अपने अनुसंधान कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिए मैंने अनेक विद्वानों के ग्रंथों से लाभ उठाया है। इसमें मानस के विख्यात प्रवचनकर्ता पं0 रामकिंकर उपाध्याय के ग्रंथों से मुझे विशेष सहायता मिली है। डा0 नगेन्द्र, डा0 विजयपाल सिंह, डा0 आर0पी0 अग्रवाल, डा0 देवकीनन्दन श्रीवास्तव, डा0 उदयभानु सिंह तथा पूर्वाञ्चलीय रामायणों के परिप्रेक्ष्य में तुलसी पर अनुसंधान करने वाले

डा0 रामनाथ त्रिपाठी के निष्कर्षो और इनके ग्रंथों से मैं विशेष उपकृत हुई हूँ। मानस के विशिष्ट टीकाकार श्री अंजनी नन्दन शरण ने राम गुण चिन्तन की दृष्टि से मानस पियूष की रचना की थी, लेकिन मुझे अनुसंधान के दौरान उस "तिलक" से विशेष सहायता प्राप्त हुई है। मैं उपर्युक्त विद्वानों तथा विस्तार भय से मैं जिनका उल्लेख नहीं कर पा रही हूँ, किन्तु जिनके ग्रंथों से मैंने सहायता ली है, उन सभी लेखकों और विद्वानों के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ।

पूरे अनुसंधान कार्य में शोध विषय सुझाने से लेकर उसे इस परिपक्व रूप में पहुँचाने में एकमात्र सहायक मैं अपने शोध निर्देशक डा0 रामशंकर द्विवेदी के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ, उन्होंने जो सहायता दी है उसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

अन्त में सम्पूर्ण कार्यो की एक मात्र प्रेरणा शक्ति माँ भगवती के चरणों में अशेष प्रणति जिसकी कृपा से मैं यह काम सम्पन्न कर सकी।

इस शोध प्रबन्ध को इतने सुन्दर और यथा सम्भव विशुद्ध रूप में प्रस्तुत करने में श्री राजेश कुमार गुप्ता, श्री पंकज कुमार गुप्ता ने रात–दिन लगकर जो घोर परिश्रम किया है उसके प्रति मैं हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ।

"इति शुभम्"

सुलभा अग्रवाल

दीपमालिका
सं0 2052

सुलभा अग्रवाल

विषय – प्रवेश

– प्रतिपाद्य की मौलिकता

:: विषय – प्रवेश ::

प्रतिपाद्य की मौलिकता

तुलसी पर अब तक शताधिक शोध सम्पन्न हो चुके हैं। महाकवि का काव्य बहुकोणीय होता है इसलिए किसी एक ही व्यक्ति के लिए उसके सभी कोणों को पकड़ना सम्भव नहीं होता। प्रतिभा की तरह विवेचना बुद्धि की भी सीमा होती है। तुलसी की ही पंक्ति का सहारा लेकर कहा जा सकता है – तदपि कहे बिनु रहा न कोई। प्रस्तुत शोध कार्य इसी तरह का प्रयास है। मनोविज्ञान की दृष्टि से तुलसी पर दो शोध प्रबन्धों का महत्वपूर्ण स्थान है – पहला, डा0 जगदीश शर्मा का "रामचरित मानस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन" तथा दूसरा है डा0 लालता प्रसाद सक्सेना "ललित" का "हिन्दी महाकाव्यों में मनोवैज्ञानिक तत्व।"

इन दोनों शोध प्रबन्धों में डा0 जगदीश शर्मा का शोध प्रबन्ध तुलसी साहित्य विशेषकर "मानस" के मनोवैज्ञानिक अनुशीलन को अधिक उपन्यस्त करता है और सक्सेना का विषय विस्तार के कारण रामकाव्यगत पात्रों के मन के अध्ययन तक सीमित है।

"तुलसी सम्बन्धी शोधों का अनुशीलन" शोध प्रबन्ध में डा0 अम्बिका प्रसाद वाजपेयी के "तुलसी के काव्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण" शोध कार्य का उल्लेख किया गया है। इसमें "मनो" के आधार पर तुलसी काव्य के पात्रों का अनुशीलन है। इस अनुशीलन का आधार पाश्चात्य मनोशास्त्र है। इस शास्त्र की सीमा होने के कारण प्रस्तुत अनुशीलन की भी अपनी सीमा है। इस परिप्रेक्ष्य में "तुलसी साहित्य में संवेगों की मनोवैज्ञानिक भूमिका" मेरे शोध कार्य की सीमा है।

मानव जीवन संवेगों द्वारा परिचालित होता है। बुद्धि, दर्शन और विज्ञान की अवधारणाएँ कितनी ही शक्तिशाली हों किन्तु जीवन की सहज प्रवृत्तियाँ मनुष्य को अपने साथ बहा ले जाती हैं। संवेगों की स्वाभाविकता के कारण ही जीवन को एक प्रवाह, एक सागर, नित्य संचरणशील एक नदी से उपमित किया जाता है। जीवन में हलचल, आवेग, उत्तेजना, क्षोभ, द्वन्द्व, संघर्ष, जटिलता संवेगों के कारण ही व्यक्त होती है। संवेग ही उसे रहस्यमय, गहन और गम्भीर बनाते हैं। संवेगों, मूल प्रवृत्तियों तथा भावों की विशाल राशि ही जीवन को धारण किये हुए है। जीवनी–शक्ति या जीवन की ऊर्जा के विभिन्न मोड़ संवेगों द्वारा ही निर्मित होते हैं। जीवन की सहज प्रेरणाओं और प्रवृत्तियों के मूल में संवेग ही होते हैं। इन संवेगों के बार–बार आविर्भाव–तिरोभाव से व्यक्ति का स्वभाव, समाज की परिपाटियाँ बनती हैं। व्यक्ति की तरह समुदाय विशेष के भी विशिष्ट आवेग–संवेग होते हैं। इन संवेगों के मूल कारणों, इनके विचित्र प्रभावों, इनकी दशाओं का विश्लेषण पाश्चात्य मनोविज्ञान का प्रधान विषय है। प्रस्तुत अध्ययन में तुलसी साहित्य में इन्हीं संवेगों की मनोवैज्ञानिक भूमिका का अनुशीलन किया गया है। इनकी निर्मिति, उसके कारणों और परिचालित करने वाली गहन, विषम, रहस्यपूर्ण प्रवृत्तियों की छानबीन के लिए आड़े–तिरछे कोणों से शोध विषय का अध्ययन किया गया है, जिससे मुख्य प्रतिज्ञा को चरितार्थ किया जा सके और मनोविज्ञान की सीमा में ठोस, निश्चित निष्कर्षों तक पहुँचा जा सके।

जीवन संवेगों और प्रवृत्तियों से ही बुना जाता है– यही जीवन में रंग भरते हैं किन्तु, जीवन में इनकी अभिव्यक्ति उतनी सहज या व्यवस्थित नहीं होती जितनी शाब्दी और शोभन अभिव्यक्ति के सहारे साहित्य में होती है। साहित्य की सार्थकता ही संवेगों को रसाश्रित बनाकर प्रस्तुत करने में निहित है। साहित्य में मूल प्रवृत्तियाँ दैनिक जीवन के तनावों, दंशों, संत्रासों से मुकृत होती हैं। इसलिए इनकी खोज को जितना वैज्ञानिक रूप साहित्य के अनुशीलन से प्राप्त किया जा सकता है उतना जीवन के अनुशीलन से नहीं। जीवन का रूप अत्यन्त चंचल और गतिशील होता है। साहित्य की वस्तु बनकर यही व्यवस्थित और स्थिर हो जाता है इसलिए साहित्य के सहारे संवेगों का अनुशीलन अधिक सुगम, स्थिर होने के कारण सत्य के निकट है। इस प्रकार जीवन में संवेगों की मनौवैज्ञानिक भूमिका को समझने के लिए जीवन के विशाल और विराट रूप को बिम्बित करते तुलसी साहित्य को चुनना ही उपयुकृत और समीचीन हुआ है। इसी सीमा और विषय की उपयुक्तता को ध्यान में रखकर प्रस्तुत अध्ययन की रूपरेखा निर्मित की गयी है।

मानस मन के परिष्कार की गाथा है। मन की समस्याओं का समाधान मानसकार का लक्ष्य है। मन की प्रमुख समस्या है मोह और भ्रम। मोह और भ्रम व्यक्ति के मन पर आवरण डाले रहते हैं। इन आवरणों में मन के विश्राम को आहत कर उसे आच्छन्न करने की शक्ति होती है। इस आच्छन्नता का परिणाम संशय की वृद्धि और आनन्द वृत्ति को खंडित करना है।

यहाँ मन का तात्पर्य तुलसी के अपने मन से है। तुलसी ने निज संदेह की निवृत्ति के लिए मानस की रचना की।[1] यह मन कवि के मन से लेकर जन सामान्य के मन तक फैला हुआ है। इस मन का प्रबोधन रामकथा से होता है। रामकथा में मन के विकारों[2]को परिष्कृत करने की शक्ति है। मूल प्रवृत्तियाँ सामान्य रूप से उद्वेग–जनक होती हैं। मूल प्रवृत्तियों अर्थात् विकारों की संघर्ष स्थली मनुष्य का मन ही है। विरोधी मूल प्रवृत्तियाँ या अपनी तृप्ति के लिए गतिशील मूल प्रवृत्तियाँ विरोधी परिस्थितियों, विरोधी कारणों, तृप्ति के साधनों के अभावों के कारण निरन्तर क्षुब्ध, अतृप्त और द्वन्द्व में पड़ी रहती हैं। मूल प्रवृत्तियाँ सुखात्मक या दुःखात्मक दोनों होती हैं। दुःखात्मक मूल प्रवृत्तियाँ सुखात्मक मूल प्रवृत्तियों पर निरन्तर आक्रमण करती रहती हैं। व्यक्ति का मन इनसे निरन्तर खिन्न, आहृत अतः दुःखी रहता है। इस दुःख से सदा के लिए मुक्ति और आनन्दधाम या परम विश्राम में स्थित कैसे हो, इसी का समाधान रामचरित मानस में उपलब्ध होता है।

व्यक्ति के मन में उठने वाले विकारों की गाथा तुलसी साहित्य का मुख्य केन्द्र बिन्दु है। इन विकारों की सहज, परिष्कृत अभिव्यक्ति उनका लक्ष्य है। इस लक्ष्य तक तुलसी एक ऐसे "चरित" के चित्रण द्वारा पहुँचते हैं, जो विकारों से रहित, अकल, अनीह, निर्गुण, परम पुरूष है।

तुलसी ने व्यक्ति के मन के विकारों को दूर करने, तज्जनित दंशों से उसे मुक्त करने के लिए आदर्श पुरूष राम के रूप में ऐसा निकष' खड़ा किया जिसका आश्रय – शरणागति लेने से मन निरन्तर उज्ज्वल होता–होता उसी में तन्मय हो जाता है।

संवेगों का उत्थान–पतन, आविर्भाव–तिरोभाव, संवेग उत्पत्ति का हेतु संवेगों का मानव–मन पर प्रभाव, संवेग–जनित शारीरिक क्रियाएँ, संवेगों का समाज पर प्रभाव, संवेगों की दिशा, उनका लोकहित की दृष्टि से मूल्यांकन यही मेरे कार्य की सीमा है।

तुलसी साहित्यकार थे, मनोविज्ञान प्रणेता नहीं, उन्होंने कृति की रचना की है शास्त्र की नहीं। उनकी रचनाएँ नाना पुराण–निगमागम–सम्मत होते हुए भी काव्य कृतियाँ हैं, पुराण अथवा दार्शनिक उत्पत्तियों से युक्त दर्शन की पोथियाँ नहीं।

तुलसी ने जीवन की रचना चरित्र के आधार पर की है। मानस, कवितावली, गीतावली तीनों में उनके आराध्य राम–सीता के जीवन की गाथा है। विनय में उनके मन की गाथा, उसकी याचना और अपने इष्ट से निवेदन है। इसलिए शोध के लिए अधिगृहीत साहित्य में मनोवेगों या मनोविकारों की छानबीन प्रधान–प्रधान चरित्रों के जीवन के आधार पर की गई है।

शोध का आधार पाश्चात्य मनोविज्ञान की खोजों और उत्पत्तियों को बनाया गया है किन्तु तुलसी साहित्य में संवेगों पर विचार वहीं तक सीमित न होकर भारतीय मनोविज्ञान के आधारों पर भी खोजने का प्रयास किया गया है। पाश्चात्य मनोविज्ञान मन तक सीमित है जबकि भारतीय मनोविज्ञान मन से परे अति मन तक जाता है। इसमें स्थूल मन के साथ–साथ सूक्ष्म मन का भी विश्लेषण है। तुलसी साहित्य में हमें कई मनों की झलक मिलती है। विकार–ग्रस्त मन से लेकर विकारों से मुक्त मन तक। वहाँ संवेगों की निषेधात्मक भूमिका रहती है। राग, विराग और अराग, काम, सकाम और अकाम, क्रोध, क्षोभ और अक्रोध, अहं, दम्भ और निरहंकार, विनय, उदात्तता और शील।

****

प्रथम – अध्याय

- तुलसी के "व्यक्ति" की छानबीन
- तुलसी का व्यक्तिगत जीवन तथा उसे निर्मित करने वाली परिस्थितियाँ
- तुलसी के व्यक्तित्व की कतिपय विशेषतायें
- तुलसी की जीवन दृष्टि

:: प्रथम – अध्याय ::

तुलसी के "व्यक्ति" की छानबीन

शोध की मूल प्रतिज्ञा "तुलसी साहित्य में संवेगों की मनोवैज्ञानिक भूमिका" है। इस प्रतिज्ञा के तीन पक्ष हैं। एक मनोविज्ञान, दूसरा संवेग, तीसरा तुलसी साहित्य। इस त्रिक से होकर ही मेरा शोध विषय आगे बढ़ता है। मेरा शोध विषय मूल रूप में मनोविज्ञान में संवेगों का विवेचन नहीं है। न मानव जीवन में संवेगों की विकास यात्रा है। मेरे विषय की सीमा है तुलसी साहित्य में व्यक्त मानवीय संवेग पाश्चात्य और भारतीय मनोविज्ञान की दृष्टि से कौन सी भूमिका अभिनीत करते हैं।

विषय को ठोस और वैज्ञानिक आधार देने की दृष्टि से शोध–प्रविधि का एक अंग उद्धरणों/संवेगात्मक प्रसंगों के विश्लेषण के अलावा यह देखना है कि संवेगों को किस दृष्टि से चित्रित किया गया है।

संवेगों का सम्बन्ध मानवीय जीवन या व्यक्ति के जीवन से होता है। यह सीमा स्वतंत्र जीवन या व्यक्ति नहीं बल्कि कवि–निबद्ध जीवन और व्यक्ति है। जीवन एक चेतना है। यह चेतना तृण से लेकर मानवीय जीवन तक फैली हुई है। मेरे शोध विषय की सीमा वह जीवन–चेतना है जो व्यक्तियों की कथा के रूप में कवि–तुलसी ने अपने साहित्य में निबद्ध की है। कथा चेतना का स्थूल रूप है। वास्तव में कथा में प्राणतोपात्रों का ही चरित्र ढालता है और चरित्रों का जीवन संवेगों की रंगस्थली होता है। यहाँ हमारे शोध विषय के दो दिक् हो जाते हैं। एक पात्रों का मानसिक संस्थान और संवेग। दूसरा कवि का मानसिक–संस्थान और संवेग। मेरा शोध विषय स्वतंत्र जीवन या जीवन में बिखरे स्वतंत्र संवेगों की मनोवैज्ञानिक भूमिका नहीं है। मेरे शोध विषय की सीमा कवि तुलसीदास निबद्ध जीवन और संवेग है।

यहाँ काव्य या कला की रचना प्रक्रिया भी सामने आ जाती है। तुलसी के पात्रों या उनके जीवन ने वह रूप ग्रहण किया है जो शिल्पी कलाकार तुलसी ने उन्हें दिया है। रचना पहले मन में होती है। कवि का मानसिक संस्थान, उसकी प्रवृत्तियाँ या उसकी दृष्टि ही उसके पात्रों के रूप में पुनर्जन्म लाभ करती है। इसलिए अपने विषय के वैज्ञानिक विवेचन की दृष्टि से कवि के व्यक्ति, उसके व्यक्तित्व, उसके व्यक्तिगत जीवन में आये प्रमुख संवेगों के आविर्भाव तथा उसके जीवन दर्शन पर विचार आवश्यक है।

तुलसी का व्यक्तिगत जीवन तथा उसे निर्मित करने वाली परिस्थितियाँ :

"व्यक्तित्व" की धारणा पाश्चात्य विचार–सरणि की उपज है। भारतीय–दर्शन में व्यक्ति या व्यक्तित्व के बजाय, आत्मा, माया और जीवन को चालित करने वाली एषणाओं पर विचार किया गया है। वहाँ मूल–प्रवृत्तियों की चर्चा है, उन प्रवृत्तियों को अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चार पुरूषार्थो में बांटकर विचार किया गया है। मनुष्य पर संग का प्रभाव पड़ता है इसे भी स्वीकार किया गया है किन्तु व्यक्तित्व और उसका निर्माण करने वाले सूत्रों को उस प्रकार नहीं खोला गया है, जिस प्रकार पाश्चात्य मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र में किया गया है।

व्यक्तित्व क्या है? इस प्रश्न पर विचार करने से ज्ञात होता हे कि मनोवैज्ञानिकों ने इसे मानव की उन अनेक बाह्य और आन्तरिक विशेषताओं का संघात माना है जिनके कारण उसे परिस्थितियों के साथ समझौता करने में सहायता मिलती है।[1] बाह्य विशेषताओं से उनका तात्पर्य मानव के शारीरिक ढाँचे और उसके बाह्य व्यवहार से हैं और

आन्तरिक विशेषताओं में ईश्वर–प्रदत्त गुण–बुद्धि, संवेदनायें, रूचि, प्रवृत्ति, स्थायीभाव आदि आ जाते हैं। व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले अनेक कारक तत्व होते हैं जो अपने अनुसार व्यक्ति के व्यक्तित्व को ढालते हैं। इन निर्धारक कारकों को वशांनुक्रम और परिवेश के अन्तर्गत समाहित किया जा सकता है। जिन विशेषताओं को बालक जन्म से लेकर आता है वे विशेषताये वंशानुक्रम के अन्तर्गत और जिन्हें वह संसार में आने के पश्चात् स्वीकारता है वे परिवेश के अन्तर्गत मानी जातीं हैं। परिवेशगत प्रभाव पॉंच प्रकार के होते हैं– पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनैतिक। इन पॉंच बिन्दुओं के आधार पर तुलसी के व्यक्तित्व पर विचार किया जायेगा।

तुलसी कवि थे और कवि का व्यक्तित्व कितने ही जटिल आयामों से क्यों न जुड़ा हो उसे मनोवैज्ञानिक निर्धारकों से पूर्णतया स्पर्शरहित नहीं माना जा सकता। वंशानुक्रम और परिवेश दो ऐसे महत्वपूर्ण कारक हैं जिनका प्रभाव प्रत्येक के जीवन पर अवश्य पड़ता है। हॉं, यह बात अलग है कि हमें इन दो कारकों में यदि व्यक्ति के एक कारक का ज्ञान नहीं तो हम फिर उस कारक के प्रभाव का अध्ययन उसके व्यक्तित्व में नहीं कर सकेंगे। तुलसी के व्यक्तित्व–अध्ययन में यहीं सबसे पहली कठिनाई आती है। तुलसी के वंश का ज्ञान आज किसी को भी नहीं है। तुलसी कवि नहीं महाकवि थे। जो महाकवि हुआ करते हैं उनकी दृष्टि अपने तक सीमित न रहकर समाज की ओर खुली रहती है। जिसके कारण वे अपने वंश/अपने परिवेश के बारे में अलग से तो लिखना दूर अपनी कृतियों में भी संकेत नहीं करते। बस प्रतीकों और पात्रों के माध्यम से कुछ अस्पष्ट संकेत भर कर देते हैं। महाकवि तुलसी ने भी यही किया। उनके वंश क्रम का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है। "अतीत के अन्धकार में उनका वंशानुक्रम खो गया है।[2] डॉ0 बलदेव प्रसाद मिश्र लिखते हैं– "कोई उन्हें कान्यकुब्ज कहत हैं, कोई सरयूपारीण और कोई सनाढ्य। कोई उन्हें मिश्र कहते हैं, कोई दुबे और कोई शुक्ल। कोइ उनके जन्मस्थान "राजापुर", कोई "तारी", कोई सोरों को मानता है। कोई उनका जन्म संवत् 1554 मानते हैं, कोई 1583, कोई 1589 । उनकी जन्मतिथियॉं भी अनिश्चित और भिन्न हैं।[3]

तुलसी के वंश के सम्बन्ध में इतना अधिक मतभेद होने के कारण वंशानुक्रम के आधार पर उनके व्यक्तित्व का अध्ययन नहीं किया जा सकता जबकि मनोविज्ञान में इसे अति महत्वपूर्ण कारक की संज्ञा प्रदान की गयी है।[4]

वंशानुक्रम के महत्व को समझते हुए तुलसी के वंश के सम्बन्ध में केवल इतना ही निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि उनका जन्म एक ब्राह्मण कुल में (जायो कुल मंगन)[5]हुआ था। इसी वंश के प्रभाव से नाना पुराण निगमागमों के ज्ञान के लिए जैसी अपेक्षित बुद्धि की आवश्यकता थी वह उनमें उपस्थित थी। उनका संस्कृत के प्रति प्रेम, भारतीय आर्य संस्कृति के प्रति अनुराग, वर्णाश्रम–धर्म–व्यवस्था का समर्थन, नैतिक आदर्शो के प्रति लगाव भी शायद इनके वंश का ही प्रभाव था।

तुलसी का परिवेश वंशानुक्रम की तरह यद्यपि रहस्यमय और संदिग्ध है फिर भी बहुत कुछ स्पष्ट और सुलझा हुआ ही है। अन्तःसाक्ष्य और बहिसक्ष्यि के आधार पर इनके परिवेश के सम्बन्ध में कुछ निष्कर्षो पर पहुॅंचा जा सकता है।

मनोवैज्ञानिकों ने बालक के व्यक्तित्व निर्माण में वंश की अपेक्षा परिवेश का अधिक महत्व माना है।[6]

तुलसी का जीवन भी परिवेश से अत्यधिक प्रभावित हुआ था। उनके जीवन की व्यक्तिगत परिस्थितियाँ उसमें भी बाल्यकालीन परिस्थितियाँ बड़े ही घातक प्रभाव वाली थीं। वे जीवन के प्रारम्भ से ही भाग्यहीन थे।[7] माता-पिता ने उन्हें जन्म देने के उपरान्त त्याग दिया था जिसके कारण वे बड़े ही दरिद्र और असहाय हो गये थे। अपनी दरिद्रता के कारण उन्हें द्वार-द्वार जाकर भीख माँगनी पड़ती थी और लोगों के निरादर का पात्र बनना पड़ता था। लोग बालक तुलसी का तिरस्कार करते थे और उपेक्षा की दृष्टि से उसे देखते थे।

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि जिस वातावरण में बालक को बड़े लोगों से संघर्ष करना पड़े, उनकी डाँट फटकार और तिरस्कार सहना पड़े तो ऐसा वातावरण उसमें दैन्य जाग्रत करता है। इस प्रवृत्ति की अतिशयता से उसमें मानसिक दासता आ जाती है। बालक हीनता-बोध के कारण अपने को अयोग्य समझने लगता है और किसी सामर्थ्यवान् स्वामी की शरण पाने के लिए बेचैन हो उठता है।

तुलसी की बाल्यकालीन परिस्थितियाँ ऐसी ही थीं। माता-पिता के त्याग, अशुभ घड़ी में जन्म लेने के कारण माता-पिता को होने वाले परिताप, दर-दर टुकड़े-टुकड़े के लिए ललचाने पर लोगों से मिलने वाले तिरस्कार, उपेक्षा और डॉट-फटकार ने उनके अन्तर में न केवल हीनतावृत्ति जागृत की थी बल्कि दारिद्य के कारण दैन्य वृत्ति का भी समावेश कर दिया था। अपनी इसी दैन्य वृत्ति के कारण उन्होंने कुपात्र-सुपात्र सभी को अपनी दीनता सुनायी थी। तुलसी के साहित्य जगत में उनकी इस मनःस्थिति की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है।

तुलसी के जीवन में उनकी युवाकालीन परिस्थितियाँ, बाल्यकालीन परिस्थितियों से अधिक गम्भीर परिवर्तन लाने वाली सिद्ध हुई थीं। फ्रायड की मान्यता है कि राग भावना बालकों में प्रारम्भ से ही विद्यमान रहती है।[8] तुलसी का अन्तःकरण भी इस भावना से पूर्णतया अभिभूत था। लेकिन उनकी यह वृत्ति माता-पिता के त्याग और लोगों के तिरस्कार से कुंठित हो गयी थी। दीन अवस्था में छटपटाते तुलसी को जब एक करूणार्द्र हृदय गुरू का आश्रय प्राप्त हुआ और तब उन्होंने पहली बार इस कुंठा से मुक्त होने का अवसर प्राप्त किया। समय की अनुकूलता में तुलसी का विवाह रत्नावली नाम की सुन्दरी से हुआ और फिर विवाहोपरान्त उनकी यह (दीन) भावना कामभावना में परिणत हो गयी। काम भावना उनमें इतनी बढ़ी कि उन्हें स्त्री का बिछोह पल भर के लिए भी अखरने लगा। काम की यह अतिशयता उनके जीवन में एक प्रभावकारी मोड़ लायी। एक बार स्त्री द्वारा प्रताड़ित होने पर तुलसी में घोर वैराग्य जागा और उनका यह राग भक्ति में बदल गया।

तुलसी के व्यक्तित्व निर्माण में उनकी व्यक्तिगत परिस्थितियों के साथ-साथ सामयिक परिस्थितियाँ भी एक महत्वपूर्ण कारक थीं। तत्कालीन मुगल शासक अकबर के राज्य में राजनीतिक अव्यवस्था, सामाजिक विश्रृंखलता, धार्मिक आडम्बर और आर्थिक शोषण से प्रजा बुरी तरह पीड़ित थी।[9] अकबर ऊपर से तो न्यायप्रिय और शान्तिप्रिय प्रतीत होता था लेकिन अन्दर से वह स्वार्थी, स्वेच्छाचारी, विलासी और अत्याचारी था। "मुगल शासन प्रणाली पूर्णरूपेण एक सैनिक शासन प्रणाली थी, जिसका समाज की नैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति से कोई सम्बन्ध नहीं था।"[10] ये लोग प्रत्येक सामन्त की मृत्यु पर उसकी सम्पत्ति हड़प लेते थे जिससे अनेकानेक परिवार अनाथ हो भीख मांगने के लिए विवश हो जाते थे। कृषकों से उनकी आवश्यकताओं की उपेक्षा करके अधिक लगान वसूल किया जाता था। अनेक इतिहास-ग्रंथों से यह भी पता चला है कि इन मुगल शासकों में परधन अपहरण की तरह परदारा अपहरण की भी प्रवृत्ति थी।[11]

शासकों के इस प्रकार के दुर्व्यवहार से समाज की बहुत दुर्दशा हो गयी थी। महामारी,[12] अकाल,[13] भुखमरी,[14] बेरोजगारी,[15] ये सब सामान्य बात समझी जाने लगी थी। चारों ओर अव्यवस्था ही अव्यवस्था थी। किसी में मर्यादित आचरण नहीं था। शूद्रों को अध्ययन-अध्यापन की अनुमति नहीं थी और ब्राहमण् सबको अपने अनुसार चलाना जन्मसिद्ध अधिकार समझते थे।

तत्कालीन युग में नाना प्रकार के धार्मिक सम्प्रदायों में बहुत होड़ मची हुई थी। गोरख पंथी तांत्रिक सम्प्रदाय जहाँ एक ओर भक्ति विरोधी योग का प्रचार कर रहे थे वहीं दूसरी ओर निर्गुणिया संत कबीर मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, अवतारवाद, बाह्याचार, जातिपाँति आदि का विरोध कर भगवान की अवतार लीला के प्रति अनास्था पैदा कर रहे थे। सूफी लोग अपने प्रेम मार्ग की अवतारणा द्वारा जनता को सम्मोहित करने के सिवा कुछ नहीं कर रहे थे। इनके अतिरिक्त शैव, शाक्त और वैष्णव सम्प्रदाय, वैष्णव में भी राम और कृष्ण की उपासना में परस्पर बड़ा मतभेद था। द्वैतवाद, अद्वैतवाद, विशिष्टा दैववाद आदि बाद भी परस्पर टकरा रहे थे। धार्मिक सम्प्रदायों की इस प्रकार की परस्पर विरोधात्मक स्थिति से धर्म का कोई स्वस्थ रूप दृष्टिगोचर नहीं हो पा रहा था।[16]

तत्कालीन व्यवहार क्षेत्र में फैले तरह-तरह के तन्त्र-मंत्र, शकुन-अपशकुन, सौभाग्य-दुर्भाग्य आदि अनेक अन्धविश्वासों ने भी उस युग की जनता को बुरी तरह भ्रमित और भयभीत कर दिया था। बड़े लोगों द्वारा आये दिन किए गये तरह-तरह के अनैतिक व्यवहार, षड़यन्त्र और दुर्व्यहार से लोगों में अनेक भयपूर्ण धारणायें घर कर गयीं थीं जिससे वे उन्नति की ओर नहीं अवनति की ओर अग्रसर हो रहे थे।

चूंकि तुलसी ने अपनी बाल्यकालीन अवस्था में स्वयं भी लोगों का तरह-तरह से शोषण सहन किया था इसलिए वे शीघ्र ही तत्कालीन पीड़ित मानवता से परिचित हो गये। वे शासक वर्ग की सम्पत्ति-अपहरण नीति, आचरणहीनता, स्वेच्छाचारिता, दण्डनीति, अनुत्तरदायित्व की भावना[17] को परखकर आक्रोश से भर गये और जनता की दयनीय अवस्था से द्रवित हो गहरी करूणा से आप्लावित होने लगे। युग की ऐसी विषम परिस्थितियों ने तुलसी को इस प्रकार संवेदनशील बनाकर उनके अन्तर में लोकमंगल की भावना और परदु:ख कातरता की भावना को बड़े सहज ढ़ंग से प्रविष्ट कर दिया। उनकी जागरूक चेतना शक्ति देश में सुव्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य से पूर्णतया सक्रिय हो गयी। उन्होंने इस दृष्टि से सामाजिक और व्यक्तिगत दोनों ही स्तरों पर कार्य किया। सामाजिक स्तर पर उन्होंने रामराज्य की कल्पना की और व्यक्तिगत स्तर पर मानस रोगों से मुक्ति की बात की। तत्कालीन युग में फैले विभिन्न मत मतान्तरों को तुलसी ने गहराई से परखा। उन्हें जो मत लोकहित की दृष्टि से हानिकारक लगे उसकी उन्होंने नि:संकोच उपेक्षा की और जो हितकारक लगे, उनका उन्होंने विवेकपूर्ण ढ़ंग से समन्वय किया। तुलसी ने आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए एकमात्र भक्ति को ही सिद्धान्त रूप में समाहत करके इन स्वीकृत मत मतान्तरों को इसके साधन रूप में अस्तित्व प्रदान किया। समाज को भ्रमित करने वाले अन्धविश्वासों, धारणाओं, रीति रिवाजों, परम्पराओं आदि के प्रति भी तुलसी ने अपनी लोक हितकारी दृष्टि का परिचय दिया। उन्होंने इस सम्बन्ध में उन कर्म पद्धतियों को प्रमुखता दी जिससे रामराज्य की स्थापना में कोई आँच न आ सके।

कवि-व्यक्तित्व बहु आयामी होता है और यदि कोई कवि कालातीत सर्वव्यापी प्रभाववाला हो तब तो उसके व्यक्तित्व को सीमा में बांधने का प्रयास सूर्य की किरणों को गिनने के तुल्य होता है। तुलसी का व्यक्तित्व ऐसे

ही व्यक्तित्वों मे से एक है। उपर्युक्त विवेचन में यद्यपि मैंने उनके व्यक्तित्व के निर्धारक कारकों से उत्पन्न उनकी कुछ विशेषताओं का अवलोकन किया है लेकिन व्यक्तित्व के सूक्ष्म ज्ञान की दृष्टि से मेरा यह विश्लेषण सर्वथा अपर्याप्त ही कहा जायेगा।

<u>तुलसी के व्यक्तित्व की कतिपय विशेषतायें</u> :

तुलसी–व्यक्तित्व की सूक्ष्म विशेषताओं में सर्वाधिक महत्व उनकी बौद्धिक चतुरता का है। तुलसी में उनका बौद्धिक सामर्थ्य अपने ऊर्ध्व शिखर पर आलोकित हो रहा था। उनकी समन्वयकारी प्रवृत्ति इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी तुलसी की समन्वय साधना के पीछे उनकी सूझ–बूझ, चतुरता तथा बुद्धिमत्ता का ही विस्तार से विवेचन किया है। विविध शास्त्रों, ग्रंथों, भाषाओं आदि के ज्ञान को परिस्थिति और लक्ष्य के अनुसार उपयोग में लाने के कौशल में भी उनकी बौद्धिक क्षमता दिखलाई पड़ती है। तुलसी ने अपनी बौद्धिक चतुरता के बल पर ही तत्कालीन शासक वर्ग और उनकी अव्यवस्थित राज्य व्यवस्था के लिए साफ–साफ कुछ न कहकर रावण तथा उसकी राज्य व्यवस्था के माध्यम से सबकुछ कह डाला था और धर्मरथ के वर्णन द्वारा दमनात्मक शक्तियों पर भी बड़ा मीठा और तीखा प्रहार किया था।[18]

इस बौद्धिक अतिरेकता के कारण तुलसी में अनेक प्रकार की क्षमताओं का सहज रूप में प्रवेश हो गया था। मनोविज्ञान का ज्ञान होने के कारण उनमें मनोविश्लेषण की अच्छी क्षमता थी। तुलसी ने इस क्षमता के बल पर तत्कालीन जनता की पीड़ा को जाना, अधिकारी वर्ग के छल–कपट को पहचाना और लोक रूचि का पता लगाया। समाज में सुख–शान्ति की स्थापना के लिये रामराज्य के आदर्श को भी वे अपनी इसी क्षमता के कारण ही जन साधारण के सम्मुख सफलता के साथ रख सके थे। प्रत्येक चरित्र की एकदम जीवन्त उद्‌भावना के पीछे भी तुलसी का यही रहस्य विद्यमान है। तुलसी ने अपनी रामराज्य की कल्पना को जनमानस में उतारने की प्रक्रिया में भी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का पूर्ण अनुसरण किया। राम के स्वरूप सम्बन्धी गूढ़ प्रश्नों को सामने रखकर पहले वे राम के चरित्र के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं, प्रत्येक आदर्श की अभिव्यक्ति व्यावहारिक भूमि पर कराते हैं और प्रत्येक पात्र को सुख की प्राप्ति में संलग्न दिखाकर आनन्द लालसा के सिद्धान्त को चरितार्थ करते हैं।

विभिन्न धर्म शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन करने के कारण तुलसी धर्मज्ञान में भी बड़े परिपक्व थे। वे एक सुदृढ़ और सुव्यवस्थित समाज की स्थापना धर्म की भित्ति पर करना चाहते थे। अपनी इस अभिलाषा के कारण तुलसी ने व्यापक स्तर पर लोक धर्म की प्रतिष्ठा की। इस लोक धर्म में उन्होंने शास्त्रों द्वारा विहित व्यक्ति के दस धर्मों– दया, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय–निग्रह, धी, दान, सत्य, अहिंसा तथा कुछ विशेष धर्मों– वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, पुत्रधर्म, स्त्रीधर्म, युगधर्म और आपद्‌धर्म को स्थान दिया। साथ ही साथ गृहधर्म, कुलधर्म, जातिधर्म, राष्ट्रधर्म आदि धर्म भूमियों का भी उन्होने इसमें समावेश कर दिया।

धर्म स्थापना के आकांक्षी का आदर्शवादी होना स्वाभाविक है। तुलसी भी इस दृष्टि से पूर्ण आदर्शवादी थे। वे व्यक्ति को श्रद्धा और आदर का पात्र बनाने के उद्‌देश्य से पग–पग पर धर्मयुक्त आदर्शों की स्थापना करते हैं, इन आदर्शों का जो पालन नहीं करता है उसकी वे निन्दा करते हैं और जो पालन करता है उसकी वे मुक्त कंठ से

सराहना करते हैं। राम, लक्ष्मण, हनुमान, सीता आदि आदर्शोन्मुख होने के कारण ही उनके लिए वन्दनीय हैं।

आदर्शवादी होने के कारण तुलसी मर्यादा की पूर्ण मनोयोग से रक्षा करते थे। उच्छृंखलता उन्हें किसी भी क्षेत्र में पसन्द नहीं थी। अनिवार्य कहे जाने वाले तत्वों को भी वे औचित्य की सीमा तक ही अनुमति देते थे। उनके अनुसार जो व्यक्ति मर्यादा में रहता है वह शुभ की ओर गतिमान होता है और जो मर्यादा का उल्लंघन करता है वह अशुभ की ओर। तुलसी का स्वयं का जीवन भी मर्यादा में बंधा था। वे विनय पत्रिका में राम के साथ–साथ अन्य देवी–देवताओं की भी बन्दना करना नहीं भूलते हैं, नारी सौन्दर्य चित्रण में नख–शिख वर्णन की प्रवृत्ति का अनुसरण न करके उसके उदात्त स्वरूप का ही चित्रण करते हैं। पुष्पवाटिका में काम के चित्रण को मर्यादा की सीमा से तिलभर भी नहीं हटने देते हैं।

मर्यादित और आदर्शोन्मुख आचरण पर बल देने के कारण तुलसी अधिकाधिक नैतिक गुणों का अनुसरण करते दृष्टिगोचर होते हैं। वे प्रगाढ़ नैतिक बोध के कारण स्थान–स्थान पर साहस, उदारता, निर्भीकता, कृतज्ञता, परोपकारिता आदि नैतिक गुणों की प्रतिष्ठा करते हैं और इन गुणों से प्रेरित सत्कर्मों की सराहना भी करते हैं।

लोकमंगल की स्थापना के लिए तुलसी जिस पद्धति का अनुसरण करते हैं उससे उनकी नेतृत्व–क्षमता का पता चलता है। नेतृत्व में रूचि होने के कारण वे स्वयं की समस्याओं से न जूझकर दूसरों की समस्याओं से जूझते दिखलाई पड़ते हैं, अपने विचारों को समझाने के लिए तरह–तरह के उपदेश देते हैं, आदर्शो का उल्लंघन करने वालों पर खीझते और झुँझलाते हैं और जहाँ कहीं भी जनमानस के भ्रमित और पथभ्रष्ट होने का भय उत्पन्न होता है वहीं वे उन्हें तुरन्त सचेत भी कर देते हैं। एक सफल नेता होने के कारण वे किसी भी बात का स्पष्ट विरोध न करके बुद्धिमत्ता पूर्वक उसका शमन करते हैं और एक मंगलकारी दिशा की ओर जन–जन को प्रेरित कर देते हैं।

तुलसी एक सफल लोकनायक और समाज सुधारक होने पर भी मूल रूप में एक साधक, एक भक्त अथवा संत ही थे। उन्होने लोगमंगल की स्थापना के लिए जो भी संघर्ष किया उनका वह सारा संघर्ष जनसामान्य को आध्यात्मिक जगत में प्रतिष्ठित करने के लिए ही था। अपने इस उद्‌देश्य की सिद्धि के लिए जहाँ एक ओर तुलसी ने राम को एक आदर्श मानव के रूप में चित्रित किया, वहीं उनके अलौकिक रूप के भी जन सामान्य को दर्शन कराये। राम के भगवत् स्परूप को सर्वदु:ख हरणकारी गुण से मण्डित कर जन–जन को इस रूप के प्रति आकर्षित किया और भगवत् स्वरूप के साक्षात्कार को जीवन का अन्तिम लक्ष्य घोषित कर इसके लिए भक्ति को एक मात्र साधन ठहराया। तुलसी इसके लिए भक्ति को इतना अधिक महत्व देते हैं कि भक्ति साधन नहीं साध्य रूप में ही दृष्टिगोचर होने लगती है। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण वे जिस भी पात्र की कल्पना करते हैं उसे आध्यात्मिक जगत की ओर उन्मुख ही दिखाते हैं।

तुलसी में वैचारिक गम्भीरता होते हुए भी रागात्मिका वृत्ति भी कम नहीं थी। अपनी इसी वृत्ति के कारण वे प्रकृति, मानवीय, अतिमानवीय आदि सभी धरातलों पर अनेक मनोरम दृश्य उपस्थित कर सके थे और मार्मिक स्थलों को पहचान कर उनका जीवन्त चित्रण कर सके थे। कठोर और कोमल प्रत्येक भाव की निम्न से निम्न

और उच्च से उच्च स्थिति का उन्होंने स्पर्श किया था। मानव जीवन की प्रत्येक भाव दशा को उन्होंने खूब अच्छी तरह पहचाना था। अपनी इस भावुक प्रवृत्ति के कारण ही तुलसी तत्कालीन जनता के प्रति संवेदन शील हुए थे और समाज में सुख–शान्ति की व्यवस्था में तत्पर हुए थे।

बुद्धि कौशल द्वारा एकत्र विविध विषयक ज्ञान उसी ओर प्रवाहित होता है जिस ओर व्यक्ति की रुचि प्रवृत्ति, स्थायीभाव अथवा आदतों की गति होती हैं। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि तुलसी में भी कुछ प्रवृत्तियाँ अपने पूरे प्रभाव से सक्रिय थीं।

तुलसी के जीवन में आश्चर्य जनक मोड़ लाने में जो मूल प्रवृत्ति सबसे अधिक सहायक थी वह थी काम मूला प्रवत्ति। इसी मूलप्रवृत्ति के द्वारा तुलसी में आगे चलकर इसके उदात्तीकृत रूप रामप्रेम के स्थायीभाव की सृष्टि हुई थी।

तुलसी का यह राम प्रेम उनके व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाने का मूल कारण है। उनका यह राम प्रेम इतना अधिक प्रबल है कि वे समस्त सम्बन्धों की सार्थकता ही राम प्रेम में मानते हैं और राम प्रेम के आधार पर ही किसी को त्यागने अथवा अपनाने का निर्णय लेते हैं। राम प्रेम के कारण वे विरोधी जातियों को भी समानता की दृष्टि से देखते है और मानव शरीर की सार्थकता केवल राम प्रेम से ही समझते हैं।

रामप्रेम के अतिरिक्त तुलसी में अन्य स्थायीभाव भी अपने पूर्ण प्रभाव से सक्रिय थे। जैसे– जन्मभूमि प्रेम, समाज–प्रेम, राष्ट्र–प्रेम, विश्व–प्रेम, सन्त–प्रेम, गुरू–प्रेम आदि। मानस में इन सभी स्थायीभावों को तुलसी ने राम के चरित्र में बड़ी खूबसूरती से व्यक्त किया है।

बाल्यकालीन दीनता के प्रभाव से तुलसी में शरणागति नामक मूल प्रवृत्ति भी खूब सक्रिय हो गयी थीं। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण वे सदा इष्ट के आधीन रहना चाहते हैं। प्रभु उन्हें अच्छी स्थिति में रखें या बुरी, उन्हें इसकी कोई परवाह नहीं है। वे अपना सब कुछ प्रभु के चरणों में समर्पित कर देते हैं और प्रभु के सुख में सुख और प्रभु के दुःख में दुःख का अनुभव करते हैं।

याचना तभी प्रभावशाली होती है जब याचना करते समय व्यक्ति की विनम्रता भी व्यक्त हो। तुलसी में यह वृत्ति चरम सीमा पर है। अपने विनम्र स्वभाव के कारण वे अपनी दीनता का तरह–तरह से वर्णन करते हैं। रामभक्ति प्राप्त करने के लिए देवी देवताओं की खुशामद करते हैं और राम की महानता का गान करते हैं। अपनी इसी वृत्ति के कारण ही तुलसी दास्य भक्तों की श्रेणी में गिने जाते हैं।

नैतिक अहं की प्रबलता के कारण तुलसी में लोक मंगल की भावना का बड़ा प्राधान्य था। अपनी इस भावना के कारण उन्होंने अपने मानस को स्वन्तःसुखाय के स्थान पर सर्वान्तःसुखाय की ओर मोड़ा था। उनके अनुसार वही कीर्ति, भणिति और बैभव श्रेष्ठ है जिससे गंगा के समान सबका हित हो।[19] वे समाज के व्यापक हित की आकांक्षा के कारण व्यक्ति और समाज दोनों ही स्तरों पर नैतिक आदर्शों की स्थापना करते हैं और अनुशासन भंग करने वालों से घृणा करते हैं। वे अपने विचारों को लोकहित की कामना के कारण ही संस्कृत जैसी दूरूह भाषा में

व्यक्त न कर लोक भाषा के माध्यम से व्यक्त करते हैं।

तुलसी आदर्शवादी थे, उच्छृंखलता के विरोधी थे, वेदानुयायी थे लेकिन ऐसा होते हुए भी वे अत्यधिक उदार प्रवृत्ति के थे। उनके समय में यद्यपि अनेक हानिकारक तत्व सबल थे लेकिन तुलसी ने इन सबका पूरा विरोध न करके उसमें से कल्याणकारी तत्वों को ग्रहण कर अपनी उदारनीति का ही परिचय दिया। आध्यात्मिक उत्कर्ष में रागभावना को पूर्णतया बाधक न मानकर जनता को भक्ति के सुगम पथ का दिग्दर्शन कराया। लोगों की भावनाओं का आदर करने के कारण वेदानुयायी होने पर भी लोक रुचि का पूर्णतया विरोध नहीं किया। तुलसी ने काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि को मनुष्य का शत्रु बताया लेकिन लोक मंगल की स्थापना के लिए इसके उदात्त रूप को स्वीकार करने से मना नहीं किया।

अतिशय काम भावना के कारण मिली पत्नी की तिरस्कार भरी चोट से तुलसी में संसार के प्रति वैराग्य भावना का प्रवेश बड़े सहज ढ़ंग से हो गया था। वे नारी को वासना का प्रतीक मानते हैं और साधक को नारी से सदैव दूर रहने का आह्वाहन करते हैं। कहीं–कहीं तो उन्होंने नारी को पुरुष से हीन ठहराने का भरसक प्रयत्न किया है। भौतिक संसार को वे समस्त दुःख–द्वन्द्वों का कारण मानते हैं।

तुलसी में स्वार्थ, चालाकी, छल–कपट, काम, क्रोध, लोभ आदि का लेश तक न होने से निर्भीक और स्वाभिमानी व्यक्तित्व की पूरी छाप थी। वे निर्भीक होने के कारण अपनी बात को दूसरों के समक्ष रखने में तनिक भी संकोच नहीं करते हैं तथा स्वाभिमानी होने के कारण युगीन चुनौतियों का सामना करके रामराज्य के आदर्श स्थापन द्वारा आदर्श समाज की उत्कृष्ट कल्पना करते हैं।

तुलसी ने जन–जन के हृदय में जिस शाश्वत् सुख की स्थापना के लिए भक्ति रूपी उज्ज्वल ज्योति को जलाने का प्रण किया उसे उन्होंने अन्त तक निभाया। अपनी इस दृढ़ निश्चयात्मक प्रवृत्ति के कारण पग–पग पर वे विभिन्न देवी–देवताओं अथवा राम से राम भक्ति की याचना करते हैं अथवा करवाते हैं, कभी भक्ति के गुणों का बखान कर उसके साधनों अथवा प्रक्रिया से अवगत कराते हैं और कभी राम की ईश्वरता का तरह–तरह से गान करते हैं।

अवस्था के अनुसार तुलसी में आशावादी और निराशावादी दोनों ही स्वभाव के दर्शन होते हैं। बाल्यकालीन और युवाकालीन परिस्थितियों के आघात को सहने के उपरान्त जब तुलसी राम की करुणा वत्सलता से प्रभावित होते हैं उस समय वे पूर्णरूप से आशावादी दृष्टिगोचर होते हैं। आशावादी स्वभाव के कारण वे अपने को राम का गुलाम कहते हैं और एकमात्र उन्हीं को अपना उद्धारक बतलाते हैं। लेकिन वृद्धावस्था में जब वे महामारी से आक्रान्त हो जाते हैं और बाहु पीड़ा से ग्रस्त होते हैं तो वे कलिकाल के प्रभाव को ही अधिक शक्तिशाली समझकर आर्त्तविलाप करते हुए निराशावादी दिखलाई पड़ने लगते हैं।

युंग महोदय द्वारा किए गये व्यक्तित्व के दो प्रकारों– अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी व्यक्तित्व के आधार पर यदि तुलसी–व्यक्तित्व का परीक्षण किया जाय तो तुलसी बहिर्मुखी व्यक्तित्व के अन्तर्गत ही दिखलाई पड़ते हैं क्योंकि वे स्वयं में रूचि न लेकर समाज में रुचि लेते हैं, अपनी समस्याओं को कल्पना जगत में न सुलझाकर युगीन संदर्भों में

सुलझाते हैं, समाज के क्रिया–कलापों से पूरा सरोकार रखते हुए वे किसी भी परिस्थिति में विवेकहीन नहीं होते हैं। वे विरोधी परिस्थितियों से पूरा सामञ्जस्य स्थापित कर लेते हैं।

तुलसी में उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति होने पर भी कोरे उपदेशों के प्रति कोई लगाव नहीं था। वे किसी बात की वैचारिक अभिव्यक्ति को महत्व न देकर उसकी व्यावहारिक अभिव्यक्ति को महत्व देते हैं। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण तुलसी ने अपनी बात समझाने के लिए जिस नायक राम की कल्पना की, उसे उन्होंने एक उपदेशक के रूप में नहीं बल्कि भीषण से भीषण समस्याओं से जूझते एक कर्मनिष्ठ मानव के रूप में दिखाया।

तुलसी में समस्या से दूर भागने की नहीं बल्कि समस्या को समझकर प्रयत्नपूर्वक उसका समाधान खोजने की प्रवृत्ति थी। उनकी यह प्रवृत्ति केवल उनकी अपनी उलझनों के सम्बन्ध में नहीं बल्कि लोकमंगलकारी समस्त उलझनों के प्रति थी। मानस में राम के स्वरूप के सम्बन्ध में उत्पन्न शंकाओं का समाधान उनकी इसी प्रवृत्ति का द्योतक है, जिसे उन्होंने लोकमंगलकारी समझकर मानस द्वारा सबके सम्मुख रखा। इसी प्रकार समाज में सुव्यवस्था स्थापित करने की समस्या का समाधान भी उन्होंने रामराज्य की स्थापना में खोज लिया।

कोई भी महान कार्य बिना कल्पना–शक्ति के नहीं किया जा सकता। तुलसी ने रामराज्य की स्थापना का जो आदर्श समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया उसका कारण उनकी उदात्त कल्पना शक्ति ही थी। उन्होंने तत्कालीन पतनोन्मुख व्यक्ति और समाज को देखकर एक ऐसे आदर्श–मानव और आदर्श समाज की कल्पना की थी जिसमें आध्यात्मिक और भौतिक जगत के सभी जीवन मूल्य विद्यमान हों। तुलसी ने ऐसे व्यक्ति और समाज की कल्पना को जनमानस में उतारने के लिए अपनी कल्पना के बल पर ही रामराज्य के उत्कृष्ट और सफल प्रतीक को चुना और फिर सबके समक्ष प्रस्तुत किया।

तुलसी में प्रत्यक्षीकरण की अलौकिक क्षमता थी। अपनी इसी क्षमता के कारण उन्होंने न केवल भौतिक जगत का अवलोकन किया था अपितु पारमार्थिक जगत के परम सत्य रूप ब्रह्म का भी साक्षात्कार किया था। उन्होंने इस दृश्यमान जगत के मिथ्या और सत्य दोनों ही रूपों को पहचाना था। ऐसी तीक्ष्ण और पैनी दृष्टि के कारण मूर्त वस्तु का ही नहीं अपितु अमूर्त वस्तु का भी कोई तत्व उनसे ओझल नहीं हो सका था।

तुलसी की जीवन दृष्टि :–

तुलसी की जीवन दृष्टि लोकनीति, मर्यादावाद, शील साधना और मंगलाशा से निर्मित थी, इसीलिए उनके काव्य में संवेगों का चित्रण इन्हीं तत्वों से मर्यादित है। जो संवेग लोकनीति, मर्यादावाद, शील और मंगल भावना का वर्धन करने वाले हैं, तुलसी उनको विहित आचरणीय और श्रेयस्कर मानते हैं और जो संवेग उक्त भावनाओं के प्रतिकूल हैं, उनको वे गर्हित, त्याज्य तथा उपेक्षणीय मानते हैं। तुलसी की जीवन–दृष्टि अत्यन्त कठोर अति नैतिक लगती है किन्तु विवेकभ्रष्ट व्यक्ति के पतन के हजारों रास्ते खुल जाते हैं इस नीतिवचन को ध्यान में रखकर और अपने युग के पतनशील समाज, मुगलों और राजपूतों की विलासिता, अनेक सम्प्रदाय की मार से पीड़ित देखकर उनका अति मर्यादावादी होना ही युक्ति–युक्त था। यदि वे थोड़ी भी छूट देते तो लोग अपने पतन के समर्थन के लिए उन्हीं उक्तियों का आश्रय लेकर पतन के रास्ते पर चल पड़ते। फ्रॉयड का उदाहरण सामने है। उसने

"सिफिसस ग्रन्थि" और लिबिडो को जीवन का आधार बता दिया जिससे उसका फल पूरा यूरोप आज भी भुगत रहा है।

असल में नैतिकता, सदाचारिता, मंगलभावना को प्रश्रय देने के पीछे तुलसी का आदर्श राजा और एक आदर्श समाज की स्थापना का संकल्प था। तुलसी ने आदर्श राजा और आदर्श समाज को संवेगों की दृष्टि से देखा था। उनके अनुसार आदर्श राजा वह है जो प्रजावत्सल हो, क्षत्रियोचित अहंकार के साथ-साथ असीम सामर्थ्य से युक्त हो, उसमें नैतिक अहं से प्रेरित समस्त शील गुण-विनम्रता, करूणा, सदाचारिता, संकल्पवान्, दृढ़ प्रतिज्ञा आदि का समुचित विकास हो। उनका विचार था कि यदि राजा इस प्रकार के गुणों से युक्त होगा तो उसके राज्य में भी उत्तम व्यवस्था रहेगी। प्रजा को अपने सुख-दुःख व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी, किसी को किसी बात का अभाव न रहेगा और प्रजा भी नैतिकता का पूरा अनुसरण करेगी। तुलसी आदर्श समाज की स्थापना में भी उदात्त संवेगों पर बल देते हैं। वे प्रजा के लिए नैतिक गुणों का अनुसरण और वर्णाश्रम धर्म के पालन को बहुत अनिवार्य मानते हैं। लेकिन भक्ति के क्षेत्र में वे सभी को समान अधिकार देते हैं।

युग की निष्क्रियता और जड़ता को भंग करने के लिए तुलसी ने जिस क्षात्र-धर्म का व्यापक स्तर पर प्रचार-प्रसार किया उसे भी उन्होंने संवेगों के उदात्त पक्ष से ही जोड़ा। चूंकि क्षात्र धर्म का सम्बन्ध रक्षा से है और उसका अभिन्न अंग व्यक्ति की शक्ति और सामर्थ्य है इसलिए तुलसी ने इसके मूल में स्थित क्रोध के सौन्दर्य को उजागर करने का प्रयत्न किया। उन्होंने क्रोध को व्यक्ति की स्वार्थभावना की संकुचित सीमा से निकाल कर उसके उदात्त स्वरूप का दिग्दर्शन कराया। क्षात्र-धर्म का यह क्रोध अन्य उदात्त और कोमल कहे जाने वाले संवेगों का बाधक नहीं बल्कि उन संवेगों को गौरव मण्डित करने वाला होता है। तुलसी ने क्षात्र-धर्म की इस विशिष्टता को समझा और जनसामान्य की प्रवृत्तियों को उदात्त बनाने के लिए न केवल क्रोध के मंगलकारी रूप की स्थापना की बल्कि क्षमा, विनम्रता, माधुर्य, कोमलता, परदुःखकातरता आदि संवेगों से भी उसका पूर्ण सामज्जस्य स्थापित किया। तुलसी ने ऐसा करके एक प्रकार से कठोर और कोमल कहे जाने वाले संवेगों के अन्तर्विरोध को समाप्त करने का महत्वपूर्ण मौलिक प्रयत्न किया था।

तुलसी की जीवन-दृष्टि का मूलाधार भक्ति है। अनन्यता, ऐकान्तिक निष्ठा, परम दैन्य, इष्ट पर अटूट विश्वास, पूर्ण समर्पण उसके अंग हैं। ज्ञान, वैराग्य, विवेक और श्रुति-सम्मत आचरण उसका सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्ष है। प्रेम, प्रतीति और विश्वास उनकी भक्ति के अभिन्न अंग हैं। उन तत्वों से उनकी जीवन-दृष्टि निर्मित हुई है। तुलसी का दर्शन व्यवहार वादी दर्शन है इसलिए वे व्यक्ति के आचरण पर विशेष ध्यान देते हैं। कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है जैसे "व्यवहार" आचरण ही व्यक्ति के जीवन का नियामक है। क्या सोचता है ? यह नहीं, व्यक्ति क्या करता है ? और उसकी भावना क्या है ? तुलसी-दर्शन का यही आधार प्रतीत होता है। इसीलिए उन्होंने भक्ति में बाधक व्यक्ति को भ्रम, मोह में डालने वाले, कुमार्ग पर चलाने वाले संवेगों की निन्दा की है और भक्ति में सहयोगी संतोष, नाम प्रेम, त्याग, परोपकार, संतसेवा, कथा श्रवण सत्य निष्ठा को बहुमान दिया है।

तुलसी की यह आध्यात्मिक दृष्टि जिन-जिन तत्वों को संचित किए हुए है उन तत्वों के पीछे भी

तुलसी की गूढ़ दृष्टि का परिचय मिलता है। "दैन्य भावना" जो कि उनकी भक्ति का प्रमुख अंग है, इसे उन्होंने ईश्वर की अनुकूलता प्राप्त करने के लिए एक महत्वपूर्ण अनिवार्य तत्व के रूप में स्वीकार किया है। दीनता वृत्ति के कारण साधक को अपनी कमी का बोध होता है, इष्ट के प्रति महत्व बुद्धि जाग्रत हो श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा विनम्रता, निरहंकारत्व, आत्मसमर्पण की इच्छा, सदाचारिता, संवेदन शीलता आदि स्वच्छ प्रवृत्तियों का विकास होता है। साधक में दैन्य वृत्ति की जितनी ही अधिक प्रबलता होगी उतना ही अधिक अन्य प्रवृत्तियों में भी सौन्दर्य आयेगा और फिर इष्ट के द्रवित होने में कोई संदेह नहीं रह जायेगा। तुलसी को अपनी उत्कट दैन्यभावना के बल पर ही गुरू की करूणा और फिर उसके फलस्वरूप राम की करूणा का अनुभव हुआ था। तुलसी ने "करूणा" नामक संवेग को भक्ति का एकमात्र लक्ष्य माना है। वे करूणा के प्रति विशेष आकर्षित थे। वे करूणा के द्वारा ही कुछ बन सके थे। गुरु करूणा ने उन्हें आश्रय दिया, उनके दुःख–दर्द को समझा और फिर ऐसी शिक्षा–दीक्षा दी कि वे वर्तमान परिस्थितियों से टक्कर ले सकें। गुरू की करूणा से ही उन्हें राम की ईश्वरता का बोध हुआ था। शबरी, जटायु, निषाद आदि नीचों के प्रति उनकी करूणा–वत्सलता देखकर तुलसी को विश्वास हो गया कि यह करूणा की प्रबलता ही है, जिसके द्वार राम दीन–आर्त्त जनों के प्रति द्रवित होते हैं, उनके दुःख–दर्दों को सुनते हैं और उन्हें अपना आश्रय देकर फिर उनके समस्त कष्टों के निवारण के लिए येन–केन प्रकारेण तत्पर हो जाते हैं। तुलसी ईश्वरी करूणा की प्राप्ति के लिए साधक में ललक, आतुरता, लगन, उत्साह, एक निष्ठा, दैन्य, समर्पण आदि प्रवृत्तियों को आवश्यक मानते हैं और इन भावनाओं में बाधा पहुँचाने वाली सांसारिक आसक्ति से पूर्णतः वैराग्य की आकांक्षा करते हैं। तुलसी की "वैराग्य" के प्रति दृष्टि बहुत उदार है। वे वैराग्य के लिए रागवृत्ति का पूर्णतया नाश नहीं बल्कि उस राग का नाश चाहते हैं जो भगवत् भक्ति में बाधा पहुँचाते हैं और भौतिकता के प्रति अधिकाधिक आसक्त करते हैं। इस प्रकार वे एक तरह से सांसारिक राग के उदात्तीकरण को ही वैराग्य की संज्ञा देते हैं। तुलसी ने वैराग्य के प्रति यह दृष्टि साधक के मन में एकाग्रता उत्पन्न करने के लिए दी थी। क्योंकि यदि व्यक्ति की आसक्ति भौतिकता की ओर अधिक होगी तो उसका मन परमार्थ की ओर नहीं लगेगा। तुलसी सांसारिक सम्बन्धों को राम के नाते मानने में कोई आपत्ति नहीं करते हैं। सारे संसार को राममय देखने के लिए वे माया द्वारा प्रेरित समस्त संवेगों – काम, क्रोध, लोभ, मोह, ममता, जड़ता आदि को त्याज्य और विवेक सम्मत संवेगों – श्रद्धा, विश्वास, दीनता, सेवाभावना, कृतज्ञता, परोपकारिता, निरंहकारत्व आदि संवेगों को अपनाने योग्य बताते हैं। तुलसी में राग के प्रति इतना सुन्दर दृष्टि कोण राग के कठिन दौर से गुजरने के कारण उत्पन्न हुआ था। अपने इस दृष्टिकोण के कारण ही तुलसी आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए राग विहीन वैराग्य की अपेक्षा "दिव्य राग" को अधिक कल्याणकारी समझते हैं। उनका विचार है कि पूर्ण वैराग्य से जीवन नीरस हो जाता है और इन्द्रियों की तुष्टि किसी प्रकार भी न हो पाने के कारण साधक के विचलित होने का भी भय रहता हैं। दिव्य राग में साधक समस्त सम्बन्धों को इष्ट से जोड़कर अनन्य प्रेम में पूरी तरह मग्न रह सकता है। तुलसी भक्ति में "अनन्यता" को बहुत अधिक महत्व देते हैं। प्रेम में यदि अनन्यता का गुण विद्यमान हो तो फिर प्रेमी का मन एक क्षण के लिए भी प्रिय से अलग नहीं होता है। तुलसी ने भी अनन्यता के इस गुण को पहचाना और साधक के लिए चातक प्रेम को लक्ष्य रूप में स्थापित कर दिया। तुलसी अनन्यता के लिए "एकनिष्ठा" को बहुत आवश्यक समझते हैं क्योंकि एकनिष्ठा होने पर ही साधक इष्ट को अन्य देवों से श्रेष्ठ, सर्वसमर्थ और करूणावान् समझता है

इष्ट जिस किसी भी स्थिति में रखे उसे वह स्थिति मनसा-वाचा-कर्मणा स्वीकार रहती है, वह कठिन से कठिन और प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति में कभी विचलित नहीं होता है- आदि-आदि। तुलसी इन सभी भावों में स्थिरता लाने के लिए "नाम-स्मरण" को सबसे सुगम साधन मानते हैं। नाम स्मरण करते रहने से इष्ट की महानता का हर क्षण स्मरण रहता है, मन अन्य देवों की ओर नहीं जाने पाता और रूप का अभाव भी नहीं अखरता है। नाम-स्मरण में सबसे बड़ा गुण यह है कि नाम-नामी सम्बन्धानुसार जब साधक इष्ट के नाम का निरन्तर स्मरण करता है तो इष्ट तुरन्त साधक के पास पहुँचने के लिए आतुर हो जाता है। नाम स्मरण के साथ-साथ तुलसी ने "लीलागान" को भी महत्व दिया है। नाम-स्मरण से प्रेम में नीरसता आने की सम्भावना रहती है लेकिन जब साधक नाम-स्मरण के साथ-साथ भगवत्-लीला का भी गान करता है तो फिर लीलानन्द में मग्न हो वह भक्ति में अधिक तन्मय हो जाता है।

तुलसी ने यद्यपि भक्त्यात्मक प्रवृति के कारण मन की भावना को महत्व दिया था लेकिन ऐसा होते हुए भी उन्होंने "ज्ञान" की पूर्ण उपेक्षा नहीं की। उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में "जाने बिनु न होइ परतीती, बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती" इस दृष्टि से ज्ञान की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए राम के स्वरूप सम्पादन में इसे बहुत महत्व दिया। उनके विचार में कोरा ज्ञान नहीं बल्कि भक्ति-युक्त ज्ञान ही अधिक कल्याणकारी है।

तुलसी की "चरित्र-सृष्टि" भी उनके इन्हीं आध्यात्मिक तत्वों से परिचालित और इन्हीं आधारों पर खड़ी है। पात्र और चरित्र-चित्रण का विश्लेषण मेरे कार्य का अंग नहीं है किन्तु तुलसी के पात्रों का विकास और संचालन संवेगों के द्वारा ही होता है। तुलसी का साहित्य कथा और चरित्र प्रधान है। "उनका रामचरित मानस" गाथा काव्य है। गाथा या कथा जब भी होगी तो वह कुछ व्यक्तियों की होगी। ये व्यक्ति ही तुलसी की पात्र-सृष्टि हैं। तुलसी के काव्य में पात्रों की रचना या पात्र-सृष्टि के लिए पूर्ववर्ती राम साहित्य प्रभूत मात्रा में विद्यमान था। बाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, भवभूति का उत्तर राम चरित्र, महावीर नाटक, प्रसन्न राघव तथा पउम चरिउ आदि भाषा काव्य भी विद्यमान थे। कथा और पात्र सृष्टि के लिए उन्हें एक समृद्ध और परिनिष्ठित परम्परा प्राप्त थी।

जीव, जगत, माया-सम्बन्धी विचारों में तुलसी शंकराचार्य, रामानुजाचार्य से प्रभावित अवश्य हैं किन्तु इस धरातल पर उनमें मौलिकता भी व्यक्त हुई है। सभी सिद्धान्तों का समन्वय उनकी जीवन-दृष्टि का मूल है। उनकी दृष्टि में मनुष्य डार्विन के विकासवाद अथवा मार्क्स, हीगेल, ऐंजिल या फ्रायड, एडलर, जुँग या सार्त्र, कामू काफ्का, मिल, स्पिनोजा या ह्यूम के विचारानुसार सारी दुर्बलताओं से पीड़ित नियति का शिकार "प्राणी-भर" नहीं है। चह ईश्वर का अंश है और उसका लक्ष्य है- निज स्वरूप को पाना- अपनी कीर्ति, विभूति और आचरण से लोक के मंगल का विधान करना और अपने इष्ट के आदर्श के अनुकूल सच्चा सेवक बनना। उसका लक्ष्य भक्ति, ज्ञान, वैराग्य के माध्यम से अपने प्रभु को प्रसन्न करना है। इसलिए उन्होंने मनुष्य को विकारों, संवेगों का "पुतला-भर" नहीं माना है। विकारों से मुक्त होकर साधना पथ का पथिक, संतत्व प्राप्ति की ओर गतिमान एक साधक माना है। उनका प्रयास विषयी व्यक्ति को साधक और साधक को सिद्ध बनाना रहा है। इसमें सहायक संवेग उनके लिए वरणीय और गृहणीय हैं। माया और जगत उनकी दृष्टि में इसीलिए मिथ्या है जिससे इनके प्रति जीव

की मोह–दृष्टि भंग हो, उसका भ्रम दूर हो और वह जगत की रमणीयता से अपनी दृष्टि मोड़कर अन्तर्मुखी होकर साधना में प्रवृत्त हो। जगत का वह अंश जो राम भक्ति में सहायक है, भक्ति भाव के उद्रेक का कारण है उसमें बसने, रहने, सराहने की ओर वे सदा प्रवृत्त रहे हैं। चित्रकूट, अवध और काशी तथा समस्त तीर्थों की उन्होने इसीलिए स्तुति की है। गंगा, यमुना, सूर्य आदि देव पूज्य हैं। इस प्रकार जगत् या देशकाल का वह अंश जो रामभक्ति का स्रोत बन सकता है, वरणीय है। मनुष्य का शरीर नश्वर है किन्तु अगर भक्ति और मोक्ष का साधन हो तो उससे बड़ा और महत्वपूर्ण कोई अन्य शरीर नहीं है। द्विज का शरीर भी यदि भक्ति का माध्यम नहीं है तो दो कौड़ी का और यदि काग का शरीर भी भक्ति का धाम है तो वेदों द्वारा भी सराहनीय है।

तुलसी के ब्रह्म–सम्बन्धी विचारों में निर्गुण और सगुण दोनों विशेषताओं का अनोखा संगम है। उन्होंने जहाँ एक और कबीर आदि संतों के विचारों का अनुसरण करते हुए ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को अरूप, अलख, अजन्मा, सर्वव्याप्त, अनन्त, निर्गुण, निर्मम, निर्मोही माना है, वहीं उसके सगुण रूप की भी कल्पना की है। उनका कहना है कि ब्रह्म अपने वास्तविक रूप में तो निराकार है लेकिन यह भक्तों के प्रेमवश सगुण हो जाता है, वह उनके कष्ट निवारण तथा उन्हें सुख पहुँचाने के उद्देश्य से अवतार लेता है, नाना प्रकार की मानव लीला करता हुआ प्रत्येक मानवीय संवेगों को धारण करता है। तुलसी इस प्रकार ब्रह्म के सगुण रूप की अवतारणा करके उसे भी संवेगों की ही परिधि में समेट लेते हैं।

तुलसी का भक्ति पथ श्रुति–सम्मत है। उन्होंने नाना–पुराण–निगमागम की विशाल ज्ञान–राशि का अवगाहन किया था। स्वाध्याय से व्यक्ति की जीवन–दृष्टि का निर्माण होता है। तुलसी महान चिन्तक और महान प्रतिभाशाली थे। उनके साहित्य से उनके अध्ययन, निरीक्षण और अनुभव की गहराई और विस्तार का पता चलता है। सामान्य मेधा का व्यक्ति यदि होता तो इतने अध्ययन से उसकी चिन्तन–शक्ति पंगु हो जाती और वह विचारों के जमघट में अपने लिए कोई नवीन, मौलिक और निजी मार्ग–निर्माण न कर पाता। तुलसी नाना स्रोतों और जीवन–जगत् की पाठशाला से विविध अनुभव प्राप्त कर भी अपनी मौलिकता सुरक्षित रख सके। इसीलिए उनकी बात और जीवन–दृष्टि के पीछे आत्मविश्वास झलकता है। इसी कारण वे अपनी हर बात दृढ़तापूर्वक कहते हैं जैसे– "बिनु सत्संग बिबेक न होई"। आदि।

तुलसी एक सच्चे साधक थे, भक्त थे लेकिन इससे पहले वे एक संसारी जीव भी थे। एक संसारी जीव जिस प्रकार प्रभु की कृपा का आकांक्षी होकर इस सांसारिकता से मुक्ति पाना चाहता है और साधक से सिद्ध बनने की ओर प्रयाण करता है, तुलसी भी साधना के इसी कठिन मार्ग से गुजरे थे। उन्होंने इस मार्ग में तरह–तरह की अनेक असहनीय मनः स्थितियों को सहन किया था। "विनय पत्रिका" तुलसी के इन्हीं अनुभवों का लेखा–जोखा है। विनय–पत्रिका में तुलसी के साधक मन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अभिव्यक्ति से उनकी इस जीवन–दृष्टि का पता चलता है कि तुलसी भक्ति में विवेक के स्थान पर भवानाओं को महत्व देने के कारण साधक को विविध संवेगों का पुंज मानते हैं। उनके विचार में एक भक्त का हृदय अभिलाषा, आकांक्षा, रूचि, खेद, क्षोभ, आक्रोश, अमर्ष, हठ, निष्ठा, आस्था, श्रद्धा, प्रीति, समर्पण आदि संवेगों से सदा ओत–प्रोत होता रहता है।

तुलसी को राम के महत्व वर्णन द्वारा श्रद्धा व्यक्त करने तथा अपने दोषों को उभार कर अपनी

दीन दशा का वर्णन करने में बहुत आनन्द आता है। उन्होंने प्रभु की अनन्त शक्ति के प्रकाश में अपनी असामर्थ्य का, अपनी दीन दशा का साफ–साफ चित्र देखा है। उन्हें अपने समान हीन इस संसार में कोई नहीं दिखाई देता। वे अपने दोषों, पापों और त्रुटियों को खुले परिमाण में देखते हुए स्पष्ट शब्दों में कहते हैं– "राम सो बड़ो है कौन, मौसो कौन छोटो।"

राम के महत्व स्थापन और अपनी दारुण दीनता के वर्णन क्रम में तुलसी ने अपने साधक भक्त मन की प्रत्येक मनःस्थिति से अवगत कराया है। तुलसी संसारी जीव होने के कारण भ्रमित हैं। उनका मन कभी एक दिशा की ओर जाता है तो कभी उसकी विपरीत दिशा की ओर मुड़ जाता है। उनका मन कभी स्थिर नहीं रहता। कभी योगाभ्यास करता है तो कभी भोगों की ओर उन्मुख हो जाता है, कभी वियोग के वश में तो कभी मोह के वश में, कभी द्रोह करता है, तो कभी दयालु हो जाता है, कभी दीन–हीन बुद्धि वाला तो कभी घमण्डी। तुलसी का मन इस भ्रमित अवस्था के कारण तीनों तापों से जल रहा है। उन्हें यद्यपि सुख के स्रोत का पता है लेकिन फिर भी राम की कृपा प्राप्त न होने के कारण वे इन तीनों तापों से प्रयास करने पर भी मुक्त नहीं हो पाते हैं और बड़े दुखी रहते हैं। वे अपने मन की ऐसी अवस्था के कारण बड़ी ग्लानि का अनुभव करते हैं और तरह–तरह से उसे व्यक्त करके रामकृपा की आकांक्षा करते हैं। अपनी इस आकांक्षा को कभी तो वे राम की महानता का गान करके उन्हें पूरी करने के लिए विवश करते हैं और कभी उन्हें अपने विरद का स्मरण दिलाकर ऐसा करने के लिए कहते हैं। वे अपने को पूर्ण समर्पित करके राम को कर्तव्यपालन का ध्यान दिलाकर भी कृपा करने के लिए उकसाते हैं। वे अपने किये पर पश्चात्ताप करते हुए अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए भी प्रभु से कृपा की याचना करते हैं। इन सबके अतिरिक्त वे तरह–तरह से मनोरथ करते हुए भी अप्रत्यक्ष रूप से अपनी इस आकांक्षा को व्यक्त करते दिखाई देते हैं। इस प्रकार राम कृपा प्राप्ति की आकांक्षा पूर्ति के प्रयास क्रम में तुलसी के मन के नाना भाव व्यक्त हुए हैं।

तुलसी राम के सम्पूर्ण गुणों का वर्णन करके उनको जो भव–भय दूर करने वाला कहते हैं तो उसमें उनके "आत्मसमर्पण भाव" का सुन्दर दर्शन होता है और साथ ही साथ राम के प्रति एक निष्ठा भी व्यक्त होती है[20] और जहाँ वे राम को विश्व में प्रसिद्ध, अखिल ब्रह्माण्ड के स्वामी, विश्व रूप और विश्व की मर्यादा बताते हैं, वहाँ राम के प्रति उनकी "अपार श्रद्धा" व्यक्त होती है। इसी प्रकार कलियुग की असारता के वर्णन और उससे मुक्ति के लिए व्यक्त की गयी दीनता उन्हें "भक्तोचित दैन्य" भाव से अलंकृत करती है।

तुलसी की "रुचि" एकमात्र उसी शान्ति में है जिसमें सभी सांसारिक भेदभाव छूट जाते हैं और तीनों लोकों के शिरोमणि और गुणों के घर राम के चरणों में प्रेम उत्पन्न हो जाता है। तुलसी के विचार से एकमात्र राम ही शान्ति के स्थान हैं।[21]

तुलसी राम नाम जप को भक्ति का अनिवार्य साधन मानने के कारण जहाँ एक ओर उसके प्रति अपने अनन्य प्रेम को व्यक्त करते दिखते हैं [22]तो दूसरी ओर ऐसा न कर पाने के कारण स्वयं के प्रति आक्रोश और खीझ भी व्यक्त करते दिखायी देते हैं।[23] तुलसी की "राम के प्रति आसक्ति" तो सर्वत्र व्याप्त है। "सेवाभाव की प्रधानता" तुलसी के भक्त मन का मुख्य रहस्य है।[24]

तुलसी राम के भक्तवत्सल स्वभाव पर बहुत ही "रीझे" हैं क्योकि इसी स्वभाव के कारण भगवान दीनों की रक्षा करते हैं। राम के पतितपावन नाम ने ही तुलसी में "निर्भरता" का भाव जगाया है। मानव शरीर भक्ति का अनिवार्य साधन होने के कारण तुलसी मानव शरीर पाकर प्रभु के प्रति बड़े "कृतज्ञ" हैं। वे चाहते हैं कि इस संसार में जितने भी प्रेम सम्बन्ध हैं वे सब राम के नाते ही ग्रहण किये जायें और मानव शरीर की सार्थकता सिद्ध की जाये। तुलसी कभी-कभी प्रभु की सृष्टि करने वाली विचित्र लीला को न समझ पाने के कारण "आश्चर्य चकित" होते हुए भी दिखाई पड़ते हैं और कभी राम की अपने प्रति उदासीनता का दर्शन कर यह"दृढ़ संकल्प" करते दिखाई पड़ते हैं कि राम उन्हें जिस भी स्थिति में रखें वे उसमें सहर्ष रहेंगे लेकिन उनका आश्रय नहीं छोड़ेंगे।

इसप्रकार तुलसी के मन, उनके व्यक्तित्व और उनकी जीवन दृष्टि पर विचार करने के बाद इन निष्कर्षो पर पहुँचा जा सकता है कि तुलसी साहित्य में व्यक्त संवेगों का एक निश्चित मनोवैज्ञानिक आधार है। ये संवेग पहले तुलसी के व्यक्तिगत जीवन में आये संवेगों से स्फूर्ति और जीवन ग्रहण कर फिर उनके साहित्य में रूप लाभ करते हैं। इन संवेगों की उच्चावचता के सम्बन्ध में तुलसी की एक जीवन दृष्टि है। जीवन दृष्टि भक्ति भावना और लोकमंगल से शासित है। लोक मंगल और भक्ति भावना का केन्द्र उनके इष्ट राम का व्यक्तित्व है इसलिए तुलसी साहित्य में जो संवेग उपर्युक्त भावों के सहायक हैं वे सराहे गये हैं और जो संवेग उपर्युक्त भावों के प्रतिकूल हैं, उनका तुलसी विरोध करते हैं।

****

सन्दर्भात्मक टिप्पणियाँ

प्रथम अध्याय

1. Munn : N.L. Psychology, (1953), P.P. 569
2. जगदीश प्रसाद शर्मा : रामचरित मानस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ0 18
3. डा0 बलदेव प्रसाद मिश्र : तुलसी दर्शन, पृ0 1
4. पी0डी0 पाठक – शिक्षा मनोविज्ञान, पृ0 357
5. कवितावली – उत्तरकाण्ड, पद सं0 73
6. S.S. Sargent, Effect of Heredity & Environment,P.P.79
7. कवितावली – 7/56–57, विनयपत्रिका – 227/3
8. डा0 जगदीश प्रसाद शर्मा– रामचरित मानस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ0 24
9. वही, पृ0 24
10. यज्ञदत्त शर्मा – तुलसी : साहित्य और सिद्धान्त, पृ0 29
11. जगदीश प्रसाद शर्मा – वही, पृ0 26–27
12. कवितावली – उत्तरकाण्ड, पद सं0 169
13. वही – 81
14. वही, पद 174
15. पद सं0 97
16. श्री कृष्ण कुमार त्रिवेदी– तुलसी : संदर्भो में, पृ0 8
17. डा0 जगदीश प्रसाद शर्मा – रामचरित मानस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ0 29
18. डा0 जगदीश प्रसाद शर्मा– रामचरित मानस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन
19. कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।। 1/13/9 मा0
20. विनयपत्रिका – 53/17–18
21. विनयपत्रिका – 64/1
22. विनयपत्रिका – 65/1–2

23. विनयपत्रिका – 71/1–2

24. विनयपत्रिका – 77/9–12

द्वितीय – अध्याय

– तुलसी साहित्य में मूल संवेग–1

: रागात्मक वृत्ति पर आधारित संवेग
: काम
: इच्छा/अभिलाषा/कामना
: लोभ

– प्रेम

: पति पत्नी प्रेम
: वात्सल्य अर्थात् माता–पुत्र प्रेम
: भातृ प्रेम/भगिनी प्रेम
: मातृ तथा पितृ प्रेम
: गुरु–शिष्य प्रेम
: मित्र प्रेम
: दिव्य सौन्दर्यवान् के प्रति प्रेम
: मानव प्रेम
: सिद्धान्त प्रेम
: जन्मभूमि के प्रति प्रेम
: प्रकृति प्रेम
: दिव्य प्रेम अर्थात् भक्ति

– निष्कर्ष

:: द्वितीय – अध्याय ::

तुलसी साहित्य में मूल संवेग–1

तुलसी साहित्य में मूल संवेगों के विश्लेषण से पहले मूल संवेगों का तात्पर्य समझ लेना आवश्यक है। संवेग की परिभाषा स्पष्ट करते हुए सरयू प्रसाद चौबे लिखते हैं कि "किसी बाह्य चेतन प्राणी के संघर्ष में आकर हम जिस मनोभाव का अनुभव करते हैं वह संवेग है।"[1] इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसी उत्तेजनात्मक अवस्था के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने वाले भाव का नाम संवेग हैं। साहित्य में संवेग को भाव तथा मनोवेग का नाम दिया गया है। संवेग के मुख्यतः तीन भेद होते हैं (1) मूल संवेग (2) व्युत्पन्न संवेग (3) मिश्र संवेग

मूल संवेग :–

इन्हें काव्यशास्त्र में स्थायी भाव के नाम से जाना जाता है क्योंकि ये व्यक्ति के चित्त में वासना रूप में सदा विद्यमान रहते हैं। इनकी सत्ता स्वतंत्र होती है। इनका सम्बन्ध मूल प्रवृत्तियों से होता है। ये अखण्ड और अमिश्र होते हैं। इन्हें मौलिक मनोविकार (प्राइमरी इमोशन) भी कहा जाता है। ये कई प्रकार के होते हैं। रागात्मक प्रवृत्ति पर आधारित मूल संवेग व्यक्ति की सुखात्मक अनुभूति पर आधारित है। डा0 नगेन्द्र रस सिद्धान्त में लिखते हैं कि रागात्मक भावना उत्तम, सम और अधम के आधार पर प्रश्रय, प्रेम और करुणा का रूप धारण कर लेती है। रति, हास, उत्साह, विस्मय साधारणतः अस्मिता के उपकरण होने के कारण राग के अन्तर्गत आते हैं।[2] प्रस्तुत अध्याय में हम इन्हीं संवेगों का विश्लेषण तुलसी की दृष्टि से करेंगे।

रागात्मक वृत्ति पर आधारित संवेग – "काम" :

तुलसी ने "काम" संवेग को सामान्य अर्थ में इच्छा, कामना[3], अभिलाषा से जोड़ते हुए इसके विशेष और स्थूल अर्थ को भिन्न लिगीं व्यक्ति के साथ युग्म की इच्छा[4] से जोड़ा है। उन्होंने "काम" संवेग को भौतिक और आध्यात्मिक दोनों पृष्ठभूमि पर आधारित करके इसके गूढ़ तत्वों की पूर्णतया मनोवैज्ञानिक ढंग से विवेचना की है। उन्होंने इसके स्वरूप, विकास, सर्वशक्ति मत्ता, सर्वव्यापकता आदि के सम्बन्ध में अनेक ऐसे मौलिक विचारों का सृजन किया जो किसी भी अवस्था में अप्रमाणिक सिद्ध नहीं हो सकते। तुलसी ने वैसे तो काम संवेग पर अपने हर ग्रंथ में प्रकाश डाला है लेकिन मानस में उन्होंने इस संवेग के हर पक्ष की सम्यक् विवेचना प्रस्तुत की है। विनय पत्रिका और कवितावली में इसकी विचारात्मक समीक्षा है।

काम : एक सहज प्रवृत्ति :

तुलसी साहित्य में विवेचित इस काम संवेग के प्रत्येक पक्ष को जानने के दौरान इस बात को सर्वप्रथम जान लेना चाहिए कि तुलसी ने इस संवेग को मानव में जन्म से उत्पन्न एक सहज क्रिया माना है अथवा इसे परिवेश आदि के प्रभाव रूप में स्वीकार किया है। काम के इस मूल तत्व के प्रति तुलसी की दृष्टि को परखने के लिए यदि हम उनके साहित्य में विनय पत्रिका और कवितावली का अवलोकन करें तो हम जान पायेंगे कि तुलसी इसे व्यक्ति में जन्म से ही विद्यमान समझते हैं और इसकी सहज रूप से होने वाली सक्रियता के प्रति

अधिक आकर्षित हैं। पाश्चात्य मनोशास्त्री सिगमण्ड फ्रायड और विलियम मैक्डूगल आदि ने भी काम को जन्मकाल से स्वीकार करते हुए इसे एक सहज संवेग माना लेकिन इसके रूप को तुलसी से भिन्न रूप में रूपायित किया। फ्रायड ने तो इसके सहज रूप को इतने व्यापक स्तर पर स्वीकार किया कि उसे प्रत्येक मानव व्यवहार में काम की प्रेरणा ही दिखलाई पड़ने लगी और मैक्डूगल इसे एक सशक्त मूल प्रवृत्ति मानते हुए इसकी दिशा कामात्मक प्रेम की ओर उन्मुख कर देते हैं और इसकी सहज शक्ति को इसके विरोधी तत्वों के परिप्रेक्ष्य में देखने का कोई प्रयत्न नहीं करते।[5] शिंग भूपाल इसे एक सहज प्रवृत्ति बताते हुए कहते हैं कि यह युवा अन्तःकरण में गहन रूप में सहज ही विद्यमान रहता है और अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर उद्दीप्त हो जाता है।[6] तुलसी भी मानस में पात्रों के मन में कामोद्दीप्त करते हुए काम की इसी विशेषता को इंगित करते हैं। पार्वती, राम, सीता, शूर्पणखा, नारद आदि सभी में काम पहले से ही विद्यमान था लेकिन वह उद्दीप्त अपने उद्दीपक को देखकर ही हुआ।

महर्षि वात्स्यायन मनुष्य की पाँचों कर्मेन्द्रियों की सहज क्रिया द्वारा उत्पन्न सुख को कामसुख की संज्ञा देते हुए एक प्रकार से काम के सहज रूप की ही बात करते हैं जो इन इन्द्रियों के माध्यम से स्वतः ही उद्भूत हो जाता है।

तुलसी ने काम के सहज रूप की व्यावहारिक प्रक्रिया अपने मानस में दिखायी है। शिव–समाधि प्रसंग में योगी, तपस्वी, मुनि जो ब्रह्मनिष्ठ थे क्षण मात्र में ही काम से विचलित हो, स्त्री के बिना काम पीड़ा से विचलित दिखलायी पड़ते हैं।[8] इसी प्रकार नारद जी जो वैराग्य धारण किए निरन्तर भगवत् भक्ति में रत रहने के अभिलाषी हैं, विश्वमोहिनी के सौन्दर्य से अपने कामवेग को रोक नहीं पाते हैं।[9]

तुलसी साहित्य में काम – उत्पत्ति तथा उसका विकास :

"काम" संवेग की क्रियाशीलता भिन्न लिंग के सौन्दर्य और उत्तेजित करने वाली उसकी क्रियाओं पर निर्भर है। पाश्चात्य और प्राच्य मनोविज्ञान तथा भारतीय काव्यशास्त्रों में इस सम्बन्ध में पर्याप्त विचार हुआ है। विलियम मैक्डूगल ने इस प्रवृत्ति के जागरण को मानवीय सौन्दर्य से मानते हुए विशेष रूप से पुरुष में नारी सौन्दर्य के आकर्षण की प्रतिष्ठा की है[10] लेकिन रामनाथ शर्मा और सरयु प्रसाद चौबे ने अपनी–अपनी पुस्तकों में भिन्न लिंगी सौन्दर्य के अतिरिक्त उसके उत्तेजक तत्वों की भी बात कही।[11] हरबर्ट स्पेन्सर काम को कामात्मक प्रेम में समाहित करते हुए कहते हैं कि वैयक्तिक शारीरिक सौन्दर्य से अनेक जटिल संस्कारों की अनुभूति होती है और इन जटिल संस्कारों में अनेक प्रेमोत्पादक सुखानुभूतियाँ होती हैं।[12]

सौन्दर्य को किसी निश्चित आधार तक ही सीमित नहीं किया जा सकता क्योंकि सौन्दर्य किसी का भी हो सकता है– रूप, गुण, कर्म, भाव आदि सभी में सौन्दर्य का दर्शन किया जा सकता है। जहाँ तक "काम" संवेग की उत्पत्ति के लिए सौन्दर्य दर्शन का प्रश्न है, वहाँ सौन्दर्य के प्रत्येक रूप को ग्रहण किया जाता है। तुलसी ने काम की उत्पत्ति और उसके सम्पूर्ण विकास के रूपों को अपने ग्रंथ "मानस" में ही अधिक रुचि के साथ उभारा है। उन्होंने अपने इस ग्रंथ में नारी और पुरूष के सौन्दर्य की समुचित योजना के अतिरिक्त प्राकृतिक सौन्दर्य को भी स्थान दिया है और इसे कामोत्पत्ति में विशेष रूप से सहायक माना है। तुलसी ने अपने

इस कार्य के दौरान न केवल सौन्दर्य तत्वों को स्थान दिया बल्कि स्त्री–पुरूष की उत्तेजित–क्रियाओं की ओर भी संकेत किया है। मानस के किष्किन्धा काण्ड में वे अपना स्पष्ट मत देते हैं कि स्त्री के कटाक्ष पात से काम जाग्रत हो जाता है।[13]

तुलसी ने काम के विकास का चित्रण मानव–प्रकृति को दृष्टि में रखकर किया है। जिसकी जैसी प्रकृति होती है उसमें काम आदि संवेगों का उसी ढंग से विकास होता है। मानस विभिन्न प्रकार के मनों का चरित्र ग्रंथ है – अहंकार युक्त मन, पवित्र प्रेम से युक्त मन, समस्त संवेगों से ऊपर उठा भगवत् भक्ति में स्थित मन, तामसी विचारों से युक्त मन तथा सांसारिकता से ग्रस्त मन। तुलसी ने इन्हीं मनों के आधार पर काम का विकास दिखाया है।

तुलसी ने काम भावना के जागरण में व्यक्ति के बाह्य सौन्दर्य और उत्तेजक क्रियाओं के प्रति ही अधिक रुचि दिखायी है। उनकी इस रुचि का कारण यह है कि काम भावना का मुख्य सम्बन्ध शरीर से ही होता है और जहाँ कहीं भी यह गुण, भाव और कर्म सौन्दर्य को देखने का अभिलाषी होता है तुरन्त यह काम के स्थान पर कामात्मक प्रेम में परिणित होने लगता है।

पार्वती ने जब नारद से यह सुना कि योगी जटाधारी, निष्काम हृदय, नंगा और अमंगल वेष वाला उसका पति होगा तो वे इन सभी लक्षणों को शिव जी में सोचकर काम प्रेरणा के कारण प्रसन्न हुईं। लेकिन चूँकि यह काम जागरण उनमें बाह्य सौन्दर्य से उद्‌भूत न होकर शिवजी की कुछ विशेषताओं पर आधारित था इसलिए पार्वती तुरन्त ही कामात्मक प्रेम के वश हो जाती है और किसी भी प्रकार से कामात्मक अभिव्यक्ति नहीं होने देती।

तुलसी ने कामात्मक प्रेम में परिणित हो जाने वाले काम को केवल अमूर्त सौन्दर्य से ही उद्‌भूत नहीं माना है। पुष्पवाटिका में राम और सीता में परस्पर रूप दर्शन से जिस काम की सृष्टि हुई वह काम परिणाम में प्रेम की ओर ही उन्मुख होने वाला था। सीता जी की कंकण, करधनी और पायजेब की मधुर ध्वनि से राम काम के वश होने लगते हैं और फिर जैसे ही सीता के चन्द्रमुख का दर्शन करते हैं वैसे ही काम के वश हुए उनके नेत्र चकोर हुए स्थिर रह जाते हैं। राम को सीता के रूप सौन्दर्य से बहुत सुख का अनुभव होता है। वे हृदय में उस सौन्दर्य की सराहना करते हैं। उनके मुख से वचन नहीं निकल पाते।[15]

राम की यह अवस्था पूर्णरूप से कामग्रस्त अवस्था है, इसका संकेत हमें आगे लक्ष्मण से कहे गये राम के वक्तव्य में और स्पष्ट रूप से मिल जाता है। राम लक्ष्मण से कहते हैं – सीता की अलौकिक सुन्दरता देखकर मेरा पवित्र मन स्वतः ही क्षुब्ध हो गया है।[16] आगे वे यह भी कहते हैं कि संसार में ऐसे लोग थोड़े ही हैं जिनका मन और दृष्टि परायी स्त्रियों की ओर न खिंच सके।[17]

जिस प्रकार तुलसी ने सीता के कंकण, करधनी और पायजेब की मधुर ध्वनि से राम में काम अंकुरित होना दिखाया है उसी प्रकार प्रसाद ने भी कामायनी में श्रद्धा की मीठी तान से मनु में काम का विकास दिखाया है।[18] मैक्डूगल संगीत के माध्यम से कामोद्रेक का होना देखकर काम का सम्बन्ध कला से जोड़ देते हैं।[19] काम का कला से बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है इस बात को तुलसी ने भी नारद की तपस्या भंग प्रसंग में स्वीकार किया है।[20]

तुलसी ने राम और सीता के इस कामोद्रेक प्रसंग में काम का विकास बहुत सीमित रखा है। राम सीता के रूप के प्रति आसक्त हैं लेकिन वे इस आसक्ति को अपने मन में ही रखते हैं और उधर सीता में भी राम के रूप श्रवण और दर्शन से कामोद्रेक तो होता है. लेकिन वह शीघ्र ही नारद के वचनों के स्मरण से कामात्मक प्रेम में परिणित हो जाता है। सीता राम की छवि देखकर निश्चल नेत्रों की हो जाती है लेकिन फिर स्नेहाधिक्य से अपने शरीर को नहीं सम्भाल पातीं।[21] सीता में स्नेह की इतनी जल्दी समावेशता से उनमें काम के विकास का कोई रूप नहीं उभर पाता और उनमें आदि से अन्त तक कामात्मक प्रेम का विकास ही मात्र दृष्टिगोचर होता है।

नारद–विश्वमोहिनी प्रसंग में तुलसी ने काम का विकास सर्वशक्ति मत्ता को स्मरण में रखकर किया है और इसके लिए उन्होंने नारद के अंहकार युक्तमन को आधार चुना है। समस्त विकारों से ऊपर उठे होने का अभिमान लिए नारद जी जैसे ही विश्वमोहिनी के रूप को देखते हैं उनका सारा बैराग्य नष्ट हो जाता है और वे कामवश हुए बिना नहीं रह पाते। वे काम की प्रेरणा से बहुत देर तक उसकी ओर देखते रहते हैं। चूंकि कोई भी संवेग इकहरा नहीं होता है इसलिए नारद जी जब उसके लक्षणों को देखते हैं तो वे हर्षित हो काम के साथ–साथ लोभ के वश भी होने लगते हैं। उनमें थोड़ा कपट का भी समावेश हो जाता है जिसके कारण वे कन्या के सुलक्षणों को राजा से न बताकर अपनी ओर से बनाकर राजा से कह देते है। उनमें काम और लोभ के मिश्रण से विवेक नहीं रहता। वे किसी भी प्रकार से कन्या को प्राप्त करना चाहते हैं। उनमें विवेकहीनता इतनी अधिक हो जाती है कि वे भगवान द्वारा दिये गये बन्दर के रूप को भी नहीं जान पाते और बीच सभा में जाकर बैठ जाते हैं।[22]

काम के विकास का प्रथम चरण आलम्बन की प्राप्ति का प्रयास है। अलम्बन की प्राप्ति के पश्चात ही काम के दूसरे चरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, लेकिन यदि काम का प्रथम चरण ही पूरा न हो तो फिर काम भंयकर परिणाम की उद्‌भावना कर अपनी विकास प्रक्रिया को वहीं रोक देता है। नारद में काम विकास का रूप बिल्कुल इसी तरह का है।

नारद जी को वह राजकन्या प्राप्त नहीं हो पाती। उस पर लक्ष्मी निवास भगवान का अधिकार हो जाता है। डॉ0 धर्म प्रकाश अपने शोध ग्रंथ में लिखते हैं कि "अपूर्ण काम अपने आलम्बन पर अपने अतिरिक्त अन्य किसी का रंच–मात्र अधिकार सहन नहीं कर सकता।[23] इसी कारण जैसे ही नारद जी विश्वमोहिनी पर भगवान का आधिपत्य देखते हैं ऐसे व्याकुल हो जाते हैं जैसे गांठ से छूटकर मणि गिर पड़ी हो।[24]

नारद में काम विकास यहीं आकर रूक जाता है क्योंकि राजकन्या माया रूप होने के कारण उन्हें कदापि मिल नहीं सकती थी। हाँ यदि उन्हें इस बाधा के उपरान्त किसी प्रकार से वह कन्या मिल जाती तो फिर उनके काम विकास को अवसर मिल सकता था। नारद जी कन्या के न मिलने से व्याकुल हैं लेकिन अभी भी वे काम से पीड़ित हैं। उनकी यह काम पीड़ा तभी दूर होती है जब शिवगण उन्हें उनके वानर रूपका भान करा कर उन्हें क्रोध के वश कर देते हैं।[25]

तुलसी ने काम–विकास के प्रथम चरण को लेकर मानस में दो प्रसंग और उठाये हैं– एक

शूर्पनखा और दूसरा रावण का। मानस के ये दोनों पात्र आसुरी वृत्ति के हैं इसलिए तुलसी ने इन पात्रों पर काम के रूप का (नारद से) भिन्न प्रकार से अवलोकन किया है। आसुरी पात्रों में काम का विकास हिंसात्मक ढ़ंग से होता है। ये लोग चूँकि काम उत्पन्न होते ही शीघ्र ही उसकी संतुष्टि चाहते हैं और यदि इनकी संतुष्टि मार्ग में कोई बाधा पड़ती है तो वे उसका निवारण कोमलता से न करके कठोरता से करते हैं और इसके दुष्परिणाम की कोई चिन्ता नहीं करते ।

शूर्पणखा राम–लक्ष्मण दोनों की मनोहरता देखकर काम से व्याकुल हो जाती है। आसुरी और स्वच्छन्दात्मक प्रवृत्ति की होने के कारण वह अपने मन को रोक नहीं पाती और किसी प्रकार का उचित–अनुचित का विचार न करके सुन्दर रूप धारण कर शीघ्र राम के पास पहुँच जाती है और मुस्कराकर रिझाने वाले वचन कहने लगती है। काम एक ऐसा संवेग है जिसके कारण व्यक्ति कोई भी पाप कर सकता है। शूर्पणखा अति कामवश हो तरह–तरह की बना बनाकर झूठ–झूठ बात कहने लगती है। विशुद्ध काम में एक निष्ठा नहीं होती इसलिए जब राम शूर्पणखा को लक्ष्मण के पास भेज देते हैं तो वह लक्ष्मण के पास चली जाती है और जब लक्ष्मण राम के पास भेज देते हैं तो वह राम के पास आ जाती है। वह तो केवल काम तुष्टि चाहती है और यह काम तुष्टि उसे चाहे जिससे भी मिले।[26]

शूर्पणखा को जब बार–बार इधर से उधर भेजने और कटु वाक्यों को सुनने से इस बात का पूरा विश्वास हो गया कि उसके उद्देश्य की पूर्ति न हो पायेगी तो वह खिसियाकर अनिष्ट करने के लिए बड़ा ही भयंकर रूप प्रकट करती है और अपने इस दृष्कृत्य के कारण नाक–कान से रहित हो काम के स्थान पर प्रतिशोध की भावना में प्रवेश कर जाती है।[27]

रावण के काम प्रसंग में रावण सीता का हरण कर उसे अधिकार में तो कर लेता है लेकिन सीता के किसी प्रकार भी तैयार न होने के कारण उसमें भी काम का विकास सीमित ही रह जाता है। काम तुष्टि में आलम्बन की बलपूर्वक प्राप्ति की अपेक्षा आलम्बन की रूचि पूर्ण सहमति और स्वीकारोक्ति अधिक सहायक होती है। रावण भी इसी कारण सीता की सम्मति प्राप्त करने में लगा है। वह तरह–तरह से समझाता है। काम के अधिक वश में होने के कारण वह अपनी समस्त रानियों को सीता की दासी बनाने के लिए भी तैयार हो जाता है। काम में व्यक्ति इतना अन्धा हो जाता है कि उसे आलम्बन की कटु वाणी भी अधिक प्रभावित नहीं करती। इसलिए सीता जब रावण से अनेक कटु शब्द कहती है तो वह क्रोधित तो हो जाता है लेकिन फिर भी सीता की ओर से अपनी आसक्ति नहीं हटा पाता। वह कहता है–

"सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहउँ तव सिरकठिन कृपाना।
नाहिं त सपदि मानु मम बानी। सुमुखि होति न त जीवन हानी।"[28]

दशरथ–कैकेयी प्रसंग में काम का सर्वश्रियी रूप व्यक्त हुआ है– दशरथ कैकेयी का क्रोध सुनकर त्रिशूल, वज्र, तलवार आदि की चोट सहने की सामर्थ्य रखने पर भी काम के प्रभाव से सहम जाते हैं। वे कैकेयी को प्रसन्न करना चाहते हैं, उसका स्पर्श करना चाहते हैं कैकेयी को आभूषणों से सजा देखना चाहते हैं, कहते हैं– हे प्रिये ! तू इस बुरे वेश को त्यागकर अपने मनोहर अंगों को सजा ले। वे कैकेयी को प्रसन्न करने

के लिए सब कुछ करने के लिए तैयार हो जाते हैं वे काम के तीव्र आघात से ऐसे विवेकहीन हो जाते हैं कि कैकेयी की प्रत्येक क्रोधाभिव्यक्ति को काम क्रीड़ा समझने लगते हैं और राम तक की सौगन्ध खा लेते हैं।[29]

लेकिन जैसे ही कैकेयी अपने दो वरदानों में राम के लिए चौदह वर्ष के वनवास की माँग करती है वैसे ही दशरथ में काम का वेग थम जाता है और वात्सल्य का भाव सक्रिय हो जाता है। दशरथ में काम के विकास की सीमा यहीं तक सीमित है। वे रावण की भाँति कैकेयी को मनाने में तत्पर हैं और सफल भी हो जाते हैं लेकिन फिर कैकेयी की असहनीय चतुराई के कारण काम के बंधन से स्वतः ही दूर हो जाते हैं।

काम का चरम विकसित रूप देखने के लिए मानस में केवल एक स्थल है– शिवजी की तपस्या भंग का प्रसंग। यहाँ विषयी को विषय प्राप्त है और किसी प्रकार की बाधत नहीं है। काम के प्रभाव से मानव में जो सबसे पहला परिवर्तन आता है वह यह कि उसका ब्रह्मचर्य, नियम, नाना प्रकार के संयम, धीरज, धर्म, ज्ञान, विज्ञान, सदाचार, जप, योग, वैराग्य आदि विवेक के तत्व सभी नष्ट हो जाते हैं। जब शिवजी की समाधि भंग करने के लिए कामदेव ने अपना प्रभाव फैलाया तो काम के प्रभाव से सारे संसार की यही स्थिति हुई। संसार के समस्त भिन्न लिंगी प्राणियों में अनेक इच्छायें जागने लगीं। ये लोग अपने–अपने लक्ष्य की ओर उनके सम्मिलन के लिए उन्मुख होने लगे। किसी को भी उचित–अनुचित समय का ज्ञान न रहा। सभी प्राणी विवेकहीन हो अपनी कामतुष्टि के लिए व्याकुल हो गये। जिनके पास अपना आलम्बन उपलब्ध था वे तो अपनी कामतुष्टि में संलग्न हो गये लेकिन जिन्हें अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं था वे अपने लक्ष्य के विरह से व्याकुल हो उठे।[30]

जिसके मन में जैसी भावना होती है उसे वैसा ही दिखायी पड़ता है। योगी–तपस्वी जो सारे जगत को ब्रह्ममय देखते थे वे सब उसे स्त्रीमय देखने लगे। सामान्य स्त्री–पुरुष भी अपनी–अपनी भावना के प्रभाव से सारे जगत को पुरुष और स्त्रीमय देखने लगे। मैक्डूगल मूल प्रवृत्तियों की प्रकृति को दर्शाते हुए कहते हैं कि मूल प्रवृत्ति सहज रूप में निर्मित स्वभाव है जिसके कारण प्राणी एक विशेष ढंग से कार्य अथवा अनुभव ही नहीं करता है बल्कि जिस लक्ष्य की ओर उसकी क्रिया और संवेदना जाती है उस लक्ष्य को भी वह उसी मूलप्रवृत्ति के रंग में रंगकर देखता है।[31] मैक्डूगल के विचार तुलसी के उपर्युक्त काम विचार से पूर्णतया मेल खाते हैं। इस प्रकार संसार के समस्त प्राणी अपनी–अपनी संवेदना के अनुसार जगत को देखते हुए धैर्य विहीन हो काम की चरम सीमा पर पहुँच गये।[32]

किसी भी संवेग के विकास मार्ग में यह आवश्यक नहीं कि वह निरन्तर गतिशील रहे। उसमें गतिमंदता अथवा उसका पूर्णतः नाश हो पुनः विकास हो सकता है। कामदेव ने संसार के समस्त प्राणियों को काम की चरमसीमा पर पहुँचा दिया था लेकिन शिवजी का वह कुछ भी नहीं बिगाड़ पाया। शिवजी की ऐसी अडिगता देख काम भयभीत हो गया और उसकी प्रभाव शक्ति मंद हो गयी। उसकी इसप्रकार शक्ति के प्रभावहीन हो जाने पर सारे संसार में काम का प्रभाव नष्ट हो गया और सारे प्राणी काम से रहित ज्यों के त्यों हो गये।[33]

कोई भी सुखात्मक संवेग हो, अपनी चरमसीमा पर पहुँचकर वह व्यक्ति को सुख–दुःख की

भावना से रहित कर देता है। काम के प्रभाव से काम की चरमसीमा पर पहुँचे हुए समस्त प्राणियों की भी यही दशा थी। वे मतवाले लोगों के समान सुख–दुःख की भावना से रहित थे। लेकिन जैसे ही कामदेव के भयभीत हो जाने पर उसका प्रभाव नष्ट हुआ, सारा संसार सुख का अनुभव करने लगा।[34]

तुलसी ने कामोत्तेजक तत्वों में स्त्री–पुरुष सौन्दर्य के अतिरिक्त प्राकृतिक सौन्दर्य को भी स्थान दिया है। ऋतुराज वसन्त कामदेव का मित्र है इसलिए वसन्त ऋतु में जो सौन्दर्य प्रकृति में छाता है वह निश्चित ही प्राणियों को काम के वश कर देता है।

काम यद्यपि शिव समाधि देखकर भयभीत था लेकिन स्वाभिमानी होने के कारण लौटना नहीं चाहता था। किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाने पर उसने पुनः अपना प्रभाव फैलाने का निश्चय किया। शीतल–मंद और सुगन्धित पवन के चलने, सरोवरों में नाना प्रकार के कमल खिलने तथा उन पर भौरों के समूह के गुंजरित होने से अचेत मनों में भी काम भावना उत्पन्न होने लगी। राजहंस कोयल और तोते की रसीली बोली और अप्सराओं के गायन और नृत्य से लोगों में काम का पुनः आगमन हो गया।

तुलसी कामोत्पत्ति को कुछ निश्चित तत्वों पर आधारित न करके कलाओं का नाम लेते हैं। उसका मानना है कि कामदेव की करोड़ों प्रकार की कलायें होती हैं और इन कलाओं के सक्रिय होने पर ही काम की उत्पत्ति सम्भव हो पाती है।[36]

तुलसी ने मानस में काम के ऐसे भी प्रसंग उठाये हैं जहाँ काम के उद्दीपकों की समुचित योजना तो रहती है लेकिन किसी प्रकार भी काम उत्पत्ति नहीं होती। ऐसे प्रसंग मुख्य रूप से दो हैं– नारद तपस्या भंग प्रसंग और शिव–समाधि भंग प्रसंग।

नारद–तपस्या भंग प्रसंग में सुन्दर वसन्त ऋतु उत्पन्न है। तरह–तरह के वृक्षों में रंग–बिरंगे फूल खिले हैं। कोयले कूक रहीं हैं और भौरें गुंजार कर रहे हैं। शीतल–मंद–सुगन्ध वायु चल रही है। रम्भा आदि देवाङ्गनायें बहुत प्रकार से गान कर रहीं हैं और हाथ में गेंद लेकर नाना प्रकार के खेल–खेल रहीं हैं। कामोद्दीपन के सभी उद्दीपन तत्व विद्यमान हैं लेकिन भगवत् भक्ति से युक्त तथा भगवत् शरण में होने के कारण नारद जी में काम का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता।[37] इसी प्रकार शिवजी भी निरन्तर राम ध्यान समाधि में मग्न रहने के कारण काम के प्रभाव से अप्रभावित रहते हैं। यद्यपि काम के प्रभाव से सारा संसार ग्रस्त है और कामोद्दीपन के लिए कामदेव की सम्पूर्ण कलायें क्रियाशील हैं लेकिन शिवजी का मन क्षुब्ध होने पर भी काम के वश नहीं होता।[38]

भगवत् मन के अतिरिक्त ऐसे मन में भी जो एक निष्ठ प्रेम का संकल्प ले चुका है उसमें भी काम का विकास (प्रेमी के अतिरिक्त अन्य किसी के प्रति) नहीं हो पाता। राम के सम्मुख शूर्पणखा उद्दीपन रूप में आती है[39] और सीता को भी रावण अपने वाक् चातुर्य से वश में करना चाहता है लेकिन राम और सीता दोनों में एक पत्नीव्रत और एक पति व्रत का संकल्प होने के कारण काम का प्रवेश नहीं हो पाता।

वैसे तो काम का चरम रूप स्त्री–पुरुष के परस्पर सम्मिलन में ही उभरता है लेकिन यदि इस

प्रकार के सुखपूर्ण सम्मिलन के पश्चात् दोनों का एक दूसरे से विछोह हो जाये तो फिर काम की बड़ी ही घातक प्रतिक्रिया होती है।

मारीच मृग का वध करके लौटे राम जब सीता को आश्रम में नहीं पाते हैं तो वे काम की प्रबलता के कारण बड़े व्याकुल और विवेकहीन हो चर–अचर पशु–पक्षी सभी से सीता के बारे में पूछने लगते हैं। कुछ समय बीत जाने के पश्चात् जब वसन्त ऋतु का आगमन होता है तो वे उसकी शोभा देख सीता के बिना काम से बहुत व्यथित हो उठते हैं। उनकी दृष्टि ऐसे ही विषय में टिकती है जो उनकी काम भावनाओं को उद्दीप्त करने वाली हो। चूँकि उनकी काम तुष्टि होना असम्भव है इसलिए उनमें अनेक प्रतिकूल धारणाओं का प्रादुर्भाव होने लगता है।[40]

काम–प्रसंगों के उत्पत्तिकारकों और उसकी विकास–प्रक्रिया के उपर्युक्त विवेचन से तुलसी साहित्य में काम की मनोवैज्ञानिक भूमिका को इस प्रकार समझा जा सकता है। तुलसी ने कामोत्पत्ति में आलम्बन के सौन्दर्य और उसकी उत्तेजक–क्रियाओं को ही महत्वपूर्ण कारक माना है क्योकि नारद, रावण, राम, शूर्पणखा, सीता आदि पात्रों में कामासक्ति सौन्दर्य–दर्शन से ही जागी है और आलम्बन की उत्तेजक क्रियाओं में उन्होंने रम्भा आदि देवाड.गनाओं के मधुर गान, उनकी काम क्रीड़ा तथा शूर्पणखा तथा रावण की मनोहर वाक्य रचना द्वारा कामोत्पत्ति के प्रयास को विवेचित किया है। चूँकि तुलसी काम का सम्बन्ध सौन्दर्य और शोभा से मानते हैं इसलिए उन्होंने मानवीय सौन्दर्य के साथ–साथ प्राकृतिक सौन्दर्य द्वारा भी कामोत्पत्ति की बात कही है। शिव समाधि प्रसंग और राम की विरह–अवस्था में वसन्त दर्शन से कामोद्दीपन का प्रसंग इसके उदाहरण हैं। पार्वती प्रसंग को देखने से पता चलता है कि तुलसी ने काम का आधार बाह्य सौन्दर्य को ही नहीं बल्कि आन्तरिक सौन्दर्य को भी माना है।

काम के उत्पतित कारकों को जान लेने के पश्चात् तुलसी द्वारा निर्देशित काम–विकास की प्रक्रिया को जानने से पहले यह जान लेना अवश्यक है कि जैसे ही कामोद्भव मन में होता है काम विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इसलिए यदि हमें तुलसी द्वारा निर्देशित काम विकास की प्रक्रिया को देखना है तो उसे तीन रूपों में विभाजित करके देखना होगा, पहली– आलम्बन की प्राप्ति से पूर्व उसकी प्राप्ति के प्रयास की प्रक्रिया, दूसरा– संयोगावस्था में स्त्री–पुरुष का परस्पर मिलन की प्रक्रिया, तीसरा– वियोग हो जाने पर तीव्र विरह की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया। लेकिन इस सम्बन्ध में एक बात और जानने योग्य है कि तुलसी ने चाहे जिस भी अवस्था में काम का विकास दिखाया हो, प्रत्येक अवस्था में काम उत्पन्न होते ही व्यक्ति ब्रह्मचर्य, नियम, संयम, धैर्य, धर्म, ज्ञान विज्ञान, सदाचार, जप योग वैराग्य, विवेक आदि तत्वों से रहित हो जाता है।

काम विकास की विविधता मन के स्तर और उसके भेदों पर आधारित है। सात्विक मन में काम प्रक्रिया का विकास वासना/आसक्ति की ओर न जाकर मन का समाहित होना, प्रिय के ध्यान में डूब जाना, उसकी बाह्य अभिव्यक्ति दृष्टि की एकाग्रता नेत्रों का अपलक हो जाना आदि, अपना ध्यान न रहना, आत्मविस्मरण, शिथिलता आदि इस रूप में देखा जाता है। ऐसे व्यक्तियों में काम के विकास में निष्क्रियता होती

है उसकी तुष्टि के प्रयास का उतावलापन नहीं होता। सीता के रूप दर्शन से राम की यही स्थिति होती है।

काम का वह रूप जो वासना रूप होता है उसे भी तुलसी ने मन की प्रकृति का आधार लेकर कई रूपों में विकसित माना है। उन्होंने बताया कि ऐसा काम चूँकि शीघ्र संतुष्टि का अभिलाषी होता है इसलिए यह जैसे ही किसी मन में उत्पन्न होता है व्यक्ति को उतावला बना देता है। अब यदि कामी व्यक्ति निम्न कोटि का तामसी स्वभाव वाला है तो वह काम उत्पन्न होते ही लक्ष्य पर अधिकार करने के लिए ऐसे उपायों का सहारा ले सकता है जिससे उसकी उद्‌दण्डता प्रदर्शित हो। वह कामोत्पत्ति के उद्‌दीपकों का आश्रय लेकर स्वयं जाकर अपनी इच्छा व्यक्त कर सकता है और यदि इसमें असफलता मिले तो वह इसके लिए अपना बल, शक्ति और सामर्थ्य के उपयोग से भी नहीं चूकता। वह लालच दे सकता है, प्रशंसा भी कर सकता है। शूर्पणखा और रावण प्रसंग में असफलता मिलने पर शूर्पणखा अपने भयानक रूप को प्रकट करती है और रावण दो महीने बाद मारने की धमकी देकर चला जाता है।

लेकिन यदि वासनात्मक काम को धारण करने वाला व्यक्ति आसुरी वृत्ति का नहीं एक स्वाभिमानी व्यक्ति है तो वह अपनी इच्छा को तुरन्त तो व्यक्त नहीं होने देता लेकिन पीछे से चुपचाप ऐसे उपायों की खोज में लग जाता है जिससे उसे आलम्बन की प्राप्ति में निश्चित ही सफलता मिले। वह अपने उपायों की सार्थकता के लिए किसी आत्मीय सामर्थ्यवान का भी सहारा लेता हुआ दिखता है। काम चूँकि व्यक्ति को विवेकहीन कर देता है इसलिए ऐसे व्यक्ति में यह भी दृष्टिगोचर होता है कि वह जो भी करता है अथवा उससे जो भी कराया जाता है वह उसे विश्वास के साथ बिना उचित–अनुचित का विचार किये करता चला जाता है और जब वह अपने प्रयास में असफल होता है तो कुछ करने की सामर्थ्य न रखने के कारण व्याकुल हो जाता है। नारद में विश्वमोहिनी के दर्शन से इसी रूप में काम प्रक्रिया व्यक्त हुई।[41]

काम विकास के इसी चरण में काम प्रक्रिया का एक रूप उस परिस्थिति में भी उभरता है जब पति–पत्नी में एक रूठा अथवा क्रोधित हो और काम क्रीड़ा के लिए तैयार न हो रहा हो तथा पति काम के पूर्णतया वश में हो। ऐसी अवस्था में तुलसी ने कामासक्त व्यक्ति में आलम्बन के क्रोध को सुनकर, सहम जाना, डरते हुए उसके पास जाना, उसे मनाने का प्रयत्न करना आदि द्वारा काम की प्रक्रिया का दिग्दर्शन कराया है। लेकिन इस प्रक्रिया के दौरान यदि आलम्बन द्वारा किसी प्रकार का गहरा आघात पहुँचता है तो फिर उसकी यह काम प्रक्रिया रुक भी जाती है, आगे फिर काम का विकास नहीं होने पाता बल्कि किसी दूसरे भाव का विकास होने लगता है दशरथ में कैकेयी के प्रति काम प्रक्रिया इसी रूप में व्यक्त हुई।

काम विकास के दूसरे चरण में अर्थात् संयोग अवस्था में तुलसी ने काम की चरमसीमा तक विकसित प्रक्रिया को दिखाया है। उन्होंने यह माना है कि जब इस अवस्था में काम उत्पन्न हो तो फिर शीघ्र ही चेतना की धारा लक्ष्य की ओर बढ़ने लगती है– उसके निकट जाने की इच्छा होती है, उससे लिपटने की इच्छा होती है और यदि काम का वेग बड़ा ही प्रबल है तो ऐसी अवस्था में समय का बोध नहीं रहता उसमें काम तुष्टि के लिए बड़ी व्याकुलता होती है ओर किसी प्रकार का धैर्य नहीं रहता। यहाँ तक कि व्यक्ति को हर पदार्थ में हर व्यक्ति में अपना ही लक्ष्य दिखायी पड़ता है।

लेकिन यदि काम के तीव्र वेग के उत्पन्न होने पर लक्ष्य का अभाव हो, उसका वियोग हो गया हो तो ऐसी अवस्था में व्यक्ति विरह से बहुत व्याकुल हो जाता है और वसन्त आदि के सौन्दर्य से उसमें काम बहुत अधिक उद्दीप्त होने लगता है।

कामोत्पत्ति में सबसे प्रभावशाली तत्व :

तुलसी कामोत्पत्ति के उद्दीपक तत्वों में स्त्री को सबसे अधिक प्रबल बताते हैं। उनका विचार है कि स्त्री का सौन्दर्य, उनकी क्रियायें सभी कुछ कामोत्तेजना लाने वाली होती हैं। कामोत्पत्ति में जिन-जिन कलाओं का योग माना जाता है, उसकी सार्थकता स्त्री के संयोग से ही सिद्ध होती है। मानस में तो तुलसी ने इस विषय पर कई बार टिप्पणी दी है लेकिन विनय पत्रिका में इसकी पुष्टि का संकेत भर है। विनय पत्रिका में लिखा है- "यौवन रूपी ज्वर चढ़ने पर स्त्री रूपी कुपथ्य कर लिया जिससे सारे शरीर में काम रूपी वायु भरकर सन्निपात हो गया।"[42] मानस में वे और स्पष्ट रूप से कहते हैं- "लोभ को तो इच्छा और दम्भ का बल है लेकिन काम को केवल स्त्री का बल है।"[43] तुलसी के कहने का तात्पर्य यह है कि कामोत्पत्ति में केवल स्त्रियाँ बहुत अधिक बलशाली सिद्ध होती हैं। राम नारद से बताते हैं कि कामादि विकारों में सक्रियता नारी से ही आती है।[44] तुलसी कामोत्पत्ति के लिए नारी के शरीर को इस प्रकार के आकर्षण से युक्त बताते हैं जिस प्रकार का आकर्षण दीपक की लौ में होता है।[45]

मैक्डूगल अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि कुछ भी ज्ञान न रखने वाला युवक भी युवती के रूपाकर्षण का शिकार हो जाता है।[46] भारतीय काव्यशास्त्र में काम का जो श्रृंगार रस के रूप में विवेचन है उसमें भी श्रृंगार रस के उद्दीपन विभाव में नायिका के सौन्दर्य वर्णन पर ही अधिक बल दिया गया है। गोविन्द त्रिगुणायत लिखते हैं- "संयोग श्रृंगार का आवश्यक वर्णनीय अंग नायक और नायिका का सौन्दर्य-चित्रण है। अधिकतर नायिका के सौन्दर्य वर्णन को ही महत्व दिया जाता है। नायिका के सौन्दर्य वर्णन से साहित्य भरा पड़ा है।"[47] स्त्रियों में कामोत्पत्ति की प्रबल शक्ति होने के कारण ही कामदेव नारद की तपस्या भंग करने के लिए रंभा आदि देवाङ्गनाओं का सहारा लेता है।[48] परम विरागी, निरन्तर भगवत् भक्ति में ही रत रहने वाले नारद जैसे ही विश्वमोहिनी को देखते हैं अपने को कामासक्त होने से रोक नहीं पाते।[49]

काम की उत्पत्ति और विनाश के तुलसी द्वारा निर्देशित मूल कारण :

तुलसी ने काम संवेग की उत्पत्ति और नाश के केवल प्रत्यक्ष कारणों को ही नहीं अप्रत्यक्ष कारणों को भी परखा है। उन्होंने काम के प्रति ऐसी गहरी दृष्टि काम की उत्पत्ति के मूल कारण और उसके सर्वथा नाश को जानने के कारण दी है। तुलसी अपने इस कार्य के दौरान पहले काम की मूल प्रकृति को पहचानते है और अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति के प्रभाव से उसे अज्ञान से जोड़ते हैं। अज्ञान चूँकि मोह जनित होता है इसलिए तुलसी काम का मूल कारण स्पष्ट रूप से व्यक्ति का मोह मानते हैं। मानस के अरण्यकाण्ड में वे लिखते हैं- "काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।"[50] उनका विचार है कि मोह ही कामादि

विकारों को उपजाने में मूल कारण है। आगे उत्तरकाण्ड में तुलसी ने अपनी इस बात को और साफ करते हुए यह बताया कि मोह समस्त सांसारिक संवेगों की जड़ होते हुए भी सर्वप्रथम काम को ही उत्पन्न करता है और फिर काम से अन्य संवेगों की उत्पत्ति होती है।[51] यहाँ पर तुलसी ने काम को वैसे तो कामना अर्थ में प्रयुक्त किया है लेकिन इसको विशेष अभिलषित में भी लिया जा सकता है।

महाभारत में मोह को काम का बीज मानकर काम को एक विचित्र वृक्ष की संज्ञा दी है। महाभारत में लिखा है– मोह से सर्वप्रथम काम की उत्पत्ति होती है फिर उससे अन्य प्रवृत्तियों का जन्म होता है। यह काम अज्ञान पोषित होता है।[52]

तुलसी काम संवेग के मूल कारणों की खोज करते हुए यह भी बताते हैं कि काम संवेग की ऐसे हृदय में उत्पन्न होने की अधिक आशंका होती है जो उसे दमन करना चाहते हैं अथवा उससे दूर भागना चाहते हैं। विनय पत्रिका में लिखा है कि जब ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि को हृदय में बसाने का प्रयत्न किया जाता है तो कामादि विकार उसका पीछा और भी नहीं छोड़ते और रात–दिन घेरे रहते हैं।[53] कवितावली में मिलता है योगी, जंगम, यती, संन्यासी सभी एक ओर तो परमेश्वर का ध्यान करने के लिए जागते हैं और दूसरी ओर वे कामादि विकारों से भयभीत होकर जागते हैं।[54]

तुलसी काम की उत्पत्ति को नियतिवाद से भी प्रभावित मानते हैं। उनका मानना है कि कभी–कभी व्यक्ति का चित्त, उसकी मनःस्थिति काम संवेग के उपजने के लिए अनुकूल न होने पर भी दुष्काल के प्रभाव से काम संवेग से युक्त हो जाती है। कलियुग वर्णन में तुलसी ने व्यक्ति–व्यक्ति के हृदय में जो काम छा जाने की बात कही उसके पीछे उनका नियतिवाद के प्रति आकर्षण का ही प्रभाव है।

कोई भी संवेग यदि विपरीत दिशा की ओर उन्मुख हो जाये तो उस संवेग का नाश हो जाता है। काम संवेग के समूल नाश के सम्बन्ध में विचार करते हुए तुलसी ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य का अनुसरण किया। काम की दिशा संसार की ओर होती है तुलसी ने विचार किया कि यदि इसकी दिशा को परमार्थ की ओर बहाकर उसे भगवान में केन्द्रित कर दें तो काम के केन्द्र में परिवर्तन से उसका रूप परिवर्तित हो जायेगा और फिर उसका समूल नाश हो जायेगा। तुलसी की यह काम नाश की प्रक्रिया फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों के उदात्तीकरण के सिद्धान्त की समानता रखती है। इस प्रक्रिया में किसी प्रवृत्ति का पूर्णतः दमन नहीं किया जाता बल्कि समाज अनुमोदित कार्यों द्वारा केवल उसके दूषित रूप को नष्ट किया जाता है।

भक्ति के द्वारा काम के नाश को तुलसी ने कई तरह से दिखाया है। भक्ति जब अत्यधिक महिमावान और सामर्थ्य से युक्त समझ में आने लगती है तो काम के प्रति रूचि स्वतः ही दूर होने लगती है।[55] काम एक दोष है भक्ति औषधि की तरह उसे नष्ट करने वाली है।[56] काम भक्ति के हृदय में उत्पन्न होने पर ही नष्ट नहीं होता बल्कि भगवत् स्वरूप की कृपा/दया से भी नष्ट हो जाता है।[57] भक्ति का सम्बन्ध चूंकि भगवान से है इसलिए तुलसी ने भगवान से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु के सान्निध्य से काम का नाश होना दिखाया है।[58] जब हृदय भगवत् प्रेम से युक्त हो जाता है तो काम का अस्तित्व अपने आप नष्ट हो जाता है[59] और यदि हृदय भगवत् भक्ति से पूर्णतः युक्त है तो काम उस हृदय में उत्पन्न ही नहीं हो पाता।[60]

भगवत् कृपा से व्याप्त स्थान पर जाने से भी काम का नाश अपने आप हो जाता है।[61]

तुलसी ने भक्ति द्वारा काम के नाश के इन सभी रूपों को अपने मानस में दिखाया है भरत के लिए राम प्रेम सब कुछ होने के कारण उनकी कामादि पुरुषार्थों में कोई रुचि नहीं है। नारद का हृदय भक्ति से ओप-प्रोत होने के कारण उन पर काम की कला का कोई असर नहीं हुआ, काकभुशुण्डि जिस स्थान में बसते हैं वह स्थान कामादि समस्त अविवेक तत्वों का नाश करने वाला है।

काम और उसकी शक्ति :

प्रत्येक संवेग में अपने समान गुण-धर्म वाले संवेगों से इतर कुछ ऐसी विशेषतायें होती हैं जिनसे उसकी सर्वशक्तिमत्ता और सामर्थ्य तो प्रदर्शित होता ही है साथ ही साथ उसके अस्तित्व स्थापन में भी भारी बल मिलता है। तुलसी ने अपने साहित्य में संवेगों के विवेचन के दौरान प्रत्येक संवेग के इस पक्ष पर भी पर्याप्त ध्यान दिया है। जहाँ तक काम संवेग का प्रश्न है तुलसी ने इसकी प्रबल शक्ति, इसके विलक्षण सुख और इसकी चुम्बकीय और प्रेरकीय विशेषताओं को आधार बनाकर इसमें ऐसी चमत्कार पूर्ण शक्ति की उद्‌भावना की है जिससे यह समस्त रामात्मक संवेगों से अपनी कुछ विशिष्टता रख पाया है। मानस के अयोध्याकाण्ड में तुलसी कामदेव के पुष्पवाण में तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रों से भी अधिक शक्ति बताते हुए कहते हैं कि जो धीर-वीर त्रिशूल, वज्र, तलवार की चोट अपने अंगों पर सह सकता है वह कामदेव के पुष्पवाण से घायल किया जा सकता है। राजा दशरथ जो राजाओं के राजा थे, जिनके आश्रय में स्वयं देवराज इन्द्र बसता था, वे राजा दशरथ कैकेयी का क्रोध सुनकर काम के प्रभाव से एकदम डरे, सहमे तथा कैकेयी के अधीन हुए दिखलाई पड़ते हैं।[62] आगे रावण का सीता के अधीन होने का भी प्रसंग आता है। तुलसी काम की ऐसी अद्‌भुत शक्ति के कारण इसे न केवल संसारी मनुष्यों पर ही प्रभाव डालने वाला बताते हैं बल्कि जो लोग संसार से विरक्त हैं, समस्त संवेगों से ऊपर हैं उन्हें भी वश में कर लेने वाला बताते हैं। चर-अचर तथा जो भी मानवेतर प्राणी हैं वे भी तुलसी के अनुसार काम के वश हो जाते हैं। मानस में शिव-समाधि भंग प्रसंग में काम की यह आश्चर्य जनक शक्ति व्यावहारिक रूप से देखने को मिलती है।[63] काम के प्रभाव की ऐसी व्यापकता उसे सर्वव्यापकता के गुण से मण्डित कर देती है। तुलसी अपने साहित्य में अनेक स्थानों पर टिप्पणी करते भी देखे जाते हैं। मानस के उत्तरकाण्ड में एक स्थान पर काम को सारे संसार में छाया हुआ बताते हैं और एक स्थान पर कहते हैं कि संसार में ऐसा कोई नहीं है जिसे काम ने न नचाया हो। विनय पत्रिका में वे कहते हैं- काम, क्रोध, मद, लोभ, नींद, भय, भूख और प्यास ये सभी प्राणियों में है। हितोपदेश में भी कहा गया है- "आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्य मेतत् पशुभिर्नराणाम्।" अर्थात् भूख, नींद, भय और कामवासना ये चारों प्रवृत्तियाँ पशु और मनुष्य में स्वाभाविक रूप से पायी जाती हैं।[64] अभिनव गुप्त ने अभिनव भारती में "तत्र कामस्य सकल जाति सुलभ तया.........इत्यादि कहकर यह बताने का प्रयास किया कि यह सभी जातियों के प्राणियों में सुलभता से व्याप्त हो जाने वाला भाव है और यह प्रत्येक काल और जाति में नित्य रूप से विद्यमान रहता है। इसके उसी स्वभाव के कारण इसे आदि और प्रधान भावना की संज्ञा प्रदान की गयी है।

तुलसी ने अपने मानस में शिव समाधि प्रसंग में काम की सर्वकालिकता की ओर संकेत किया है।[65] कवितावली में वे "काम वस केहि नहिं कीन्हों।[66] कहकर काम की सर्वव्यापकता का संकेत देते हैं। विनय पत्रिका में तुलसी काम की सर्वकालिकता बताते हुए कहते हैं– "लोभ, मोह, मद, काम, क्रोध रिपु फिरत रैनि–दिन घेरें।"[67]

काम में सभी संवगों को चालित करने की बड़ी प्रबल शक्ति होती है। तुलसी के अनुसार काम से पहले लोभ और क्रोध का जन्म होता है फिर ये सभी मिलकर समस्त संवेगों की उत्पत्ति करने में सहायक होते हैं।[68] तुलसी काम को समस्त संवेगों में सेनापति की भूमिका करने वाला बताते हैं। महाभारत[69] और श्रीमद् भगवत् गीता[70] में भी काम को समस्त संवेगों की उत्पत्ति का कारण माना गया है। अग्नि पुराण[71] और अलंकार कौस्तुभ में काम की रति रूप में विवेचना करते हुए इसे सभी रसों की उत्पत्ति का केन्द्र स्वीकार किया गया है। हिन्दी के रीतिकालीन कवि देव भी श्रृंगार रस को अन्य समस्त रसों से सम्बन्धित मानतें हैं।

काम और उसके सहायक संवेग :

कोई भी संवेग हो इकहरा कभी नहीं हो सकता। प्रत्येक संवेग में कुछ ऐसे तत्व विद्यमान रहते हैं जो उस संवेग की उत्पत्ति के साथ–साथ अन्य अनेक भावों की भी सृष्टि कर देते हैं। विषयों के मनोरथ से उत्पन्न इच्छा का नाम काम होने से तुलसी ने इसका झुकाव संसार की ओर माना है और उन संवेगों को उसके सहकारी संवेगों के रूप में प्रतिष्ठापित किया जो इसे अधिकाधिक संसार की ओर झुका कर इसे बल प्रदान करते हैं।

काम संवेग अपनी सक्रिय अवस्था में किन–किन संवेगों को जन्म देता है यह जानने के लिए हमें तुलसी द्वारा विवेचित विभिन्न काम प्रसंगों को देखना होगा। काम व्यक्ति के स्वभाव और तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार विभिन्न भावों को जन्म देता है। यदि काम ऐसे व्यक्ति के प्रति उत्पन्न हुआ है जो पहले से ही हमारा केन्द्र था बस किसी कारण से उसके प्रति हमारी भावना सुप्त हो गयी है तो ऐसे व्यक्ति के प्रति जब हमारे हृदय में काम उद्दीप्त होता है तो मन प्रसन्नता से भर जाता है और फिर प्रेमयुक्त होने लगता है। पार्वती और सीता में काम के फलस्वरूप इन्हीं भावों की सृष्टि देखी गयी है और साथ ही साथ संकोच के भाव ने भी उनके काम को विशिष्टता प्रदान की है।[72] यदि किसी संयमी सात्विक व्यक्ति में काम का प्रवेश होता है तो उसमें आलम्बन के प्रति आकर्षण होने के कारण आसक्ति का उद्भव होता है फलस्वरूप वह क्षुब्ध सा हो जाता है, उसे सुख का अनुभव होता है और वह उस सुख में कुछ समय के लिए आत्मविस्मृत हो जाता है। सीता के दर्शन से राम में इन्हीं भावनाओं का उदय हुआ।[73]

यदि हमें एकाएक ऐसा सुन्दर आलम्बन दिखलायी पड़ जाये जिसका मिलना असम्भव हो तो ऐसे आलम्बन के प्रति उत्पन्न काम व्यक्ति में आलम्बन का लोभ और उतावलेपन को उत्पन्न कर देता है। व्यक्ति इन प्रवृत्तियों की तीव्रता के कारण विवेकहीन और मूढ़ हो जाता है और उसमें कपट करने की प्रवृति

भी आ जाती है। नारद, शूर्पणखा, रावण में इनहीं संवेगों का आविभवि दिखलायी पड़ता है। इन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त व्यक्ति में दीनता, अधीनता, आत्मसमर्पण की प्रवृत्ति का भी विकास देखा जाता है।

तुलसी ने शिव–समाधि भंग के अवसर पर काम में संयोग कालीन अवस्था के समय की भावनाओं का संकेत दिया है। उन्होंने बताया है कि इस समय न तो व्यक्ति सुखात्मक संवेगों के वश रहता है न दुखात्मक संवेगों के वश। व्यक्ति इस समय मद से युक्त हाथी की तरह मतवाला दिखायी पड़ता है।[74]

मैक्डूगल ने काम भावना के कारण कामात्मक ईर्ष्या और स्त्रियोचित लज्जा इन दो भावनाओं का जागरण बताया है। उन्होंने बताया कि प्रतिद्वन्द्वी की उपस्थिति में क्रोध की मात्रा तीव्र हो जाती है।[75]

काम संवेग के सहकारी संवेगों को जानने की प्रक्रिया में अब इस दृष्टि से विचार करना होगा कि काम के सफल होने पर किन संवेगों का विकास होता है और असफल होने पर किन संवेगों का विकास होता है। तुलसी ने जितने भी काम प्रसंगों का विवेचन किया है उसमें विशुद्ध काम को सफल बनाने के प्रति अरुचि ही दिखायी है। हाँ! शिव समाधिभंग के प्रसंग में काम अवश्य सफल हुआ है लेकिन वहाँ भी इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि काम तुष्टि के पश्चात् किन–किन संवेगों का विकास हुआ। मानस के उत्तरकाण्ड में जिन मानस रोगों का चित्रण किया है उससे इस सम्बन्ध में निष्कर्ष अवश्य ही ज्ञात किये जा सकते हैं। मानस रोगों के विवेचन में सबसे पहले तुलसी ने काम रूपी बात रोग की गणना की है क्योकि काम ही समस्त संवेगों को उत्पन्न करने वाला माना गया है। तुलसी ने यहाँ पर पुत्र, धन और मान की इच्छाओं को तिजारी बताकर यह बताया कि इन इच्छाओं की पूर्ति होने पर अहंकार, दम्भ, कपट, मद मान आदि का उदय हो जाता है और साथ ही साथ तृष्णा भी अधिकाधिक मात्रा में उद्दीप्त होने लगती है।[76] रावण शूर्पणखा और बालि में इन्हीं संवेगों की अधिकता थी क्योकि इन लोगों का काम सदैव असंतुष्ट रहता था।

लेकिन यदि काम असफल हो जाये तो फिर भिन्न प्रकार के संवेगों की उद्दीप्ति होती है। आलम्बन पर किसी अन्य का अधिकार होते देख निराशा और बहुत ही अधिक व्याकुलता होती है, जिसने आलम्बन पर अधिकार किया है उस पर क्रोध आता है और यदि कामोद्दीप्त अवस्था में हम आलम्बन को ही प्रतिकूल देख रहे हैं तो हमें भय का अनुभव हो सकता है और यदि किसी प्रकार भी आलम्बन प्रतिकूल से अनुकूल नहीं होता तो हमें उस पर क्रोध भी आता है। विश्व मोहिनी को हाथ से जाते देख नारद बहुत ही अधिक निराश, व्याकुल और क्रोध के वश हो गये। शूर्पणखा और रावण, राम और सीता के तैयार न होने पर क्रोधातुर हो गये, और दशरथ कैकेयी को कोप भवन में जानकर सहम गये।

मानस के उत्तरकाण्ड में मानस रोगों का विवेचन करते तुलसी लिखते हैं कि मनोरथ पूर्ण होने की असम्भावना शूल की तरह कष्टदायी होती है। यदि हमारे इच्छित सुख पर किसी अन्य का अधिकार हो जाये तो ईर्ष्या, क्रोध और इससे उत्पन्न भंयकर तापयुक्त कष्ट होने लगता है।

तुलसी ने अपने साहित्य में मानस में काम के सहकारी संवेग का संकेत दो चौपाइयों में इस

प्रकार दिया है– "काम क्रोध मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा। जिन्ह कें कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह कें हृदय बसहु रघुराया।"[77] इन पंक्तियों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि तुलसी काम के सहायक संवेग क्रोध, मद, मान, मोह, लोभ, क्षोभ, राग, द्रोह, कपट, दम्भ आदि मानते हैं। विनय पत्रिका में तुलसी कामादि संवेगों से जीव को दूर रहने का प्रबोधन देते हुए काम के सहायक संवेगों में मोह, वासना, राग, द्वेष, मद, मान, क्रोध, लोभ, क्षोभ, पाप–सन्ताप, त्रिबिध ताप का नाम लेते हैं।

महाभारत और गीता दोनों में ही काम के सहकारी संवंगों की गणना की गयी है। महाभारत में काम को एक बृक्ष की संज्ञा देते हुए विभिन्न संवेगों को– क्रोध, अभिमान, इच्छा, अज्ञान, प्रमाद, शोक, मोह, चिन्ता, भय, मोह, तृष्णा आदि को इसके अंग बताये हैं[78] और गीता में आसक्ति से काम, काम से क्रोध, क्रोध से संमोह, संमोह से स्मृति विभ्रम, स्मृति विभ्रम से बुद्धि नाश, बुद्धि नाश से पूर्ण नाश इस प्रकार काम श्रृंखला बद्ध करके उसके प्रत्येक संवेग से सम्बन्ध दर्शाया है।[79]

काम किन–किन भावों के विकास में बाधक :

तुलसी ने काम को जहाँ संसार की ओर जाने वाली भावस्थितियों की उपज करने वाला बताया वहीं इसे परमार्थ की ओर जाने वाली समस्त भाव स्थितियों का नाशक भी माना है। तुलसी ने इस दृष्टि से दो विरोधी बातें रखीं हैं वे कभी तो परमार्थिक भावों–भक्ति आदि से काम का नाश बताते हैं और काम को ही भक्ति का नाशक मानते हैं। ऐसा वे इसलिए मानते हैं क्योकि वे हर समय संवेग की प्रबलता का ध्यान रखते हैं। दो शत्रुओं में जब जो प्रबल होता है वह दूसरे पर अधिकार कर लेता है उसी प्रकार जब काम पूरी तरह प्रबल होता है तो वह भक्ति को उदित नहीं होने देता और जब भक्ति पूरी तरह हृदय में दृढ़ होती है तो वह काम को प्रभावहीन कर देती है। काम संसारी संवेगों में सबसे अधिक शक्तिशाली है इसके आवेग से ऐसे समस्त तत्व नष्ट हो जाते हैं जो व्यक्ति को संसारी होने से बचाते हैं। ब्रह्चर्य, नियम, सदाचार, जप, योग वैराग्य, विवेक ये सभी परमार्थोन्मुख तत्व काम के प्रभाव से क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं। शिव समाधि भंग के प्रसंग में कामदेव जब प्रभाव फैलाता है तो काम के प्रभाव से ये तत्व शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं और समस्त योगी और तपस्वी काम के वशीभूत हो जाते हैं।[80] काम में एकाग्रता भंग करने की इतनी प्रबल शक्ति होती है कि भगवान शंकर तक का ध्यान भंग हो जाता है।[81] गीतावली में तुलसी ने लिखा है कि मुनीश्वर लोग जब योग साधनायें करते हैं तो सबसे पहले वे काम को भस्म करते हैं क्योकि यदि काम का तनिक भी अंश रहा तो वह योग साधना में बाधा पहुँचायेगा।[82] विनय पत्रिका में तुलसी लिखते हैं कि ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि साधनों को मै स्वप्न में भी नहीं कर पाता हूँ क्योकि कामादि विकारों ने घेर रखा है।[83] जो भी परमार्थिक साधन होते हैं उन्हें करने के लिए एकाग्रता सर्वप्रथम अपेक्षित होती है तुलसी ने भक्ति की आराधना करने में काम से मुक्त रहने के लिए जगह–जगह संकेत दिया हैं।[84] मानस के सुन्दरकाण्ड में विभीषण रावण को समझाते हुए कहता है कि कामादि नरक के रास्ते हैं इन सबको छोड़कर राम का भजन करो।[85]

तुलसी ने काम के प्रभाव से जिन विवेक तत्वों का नष्ट होना बताया है उन्हें मानस के विविध प्रसंगों में व्यावहारिक रूप भी दिया है। परमविरागी नारद जी जब विश्वमोहिनी का रूप दर्शन करते हैं तो काम के आघात से उनका वैराग्य क्षणमात्र में दूर हो जाता है।[86] राम भी सीता के रूप दर्शन से अपना संयम खो बैठते हैं और क्षुब्ध हो जाते हैं।[87] सीता के वियोग में जब राम वसन्त का सौन्दर्य देखते हैं तो उनमें कामोद्दीपन होने से थोड़ा भी धैर्य नहीं रहता। श्री मद् भगवत् गीता में भी काम को समस्त संसारी संवेगों की उत्पत्ति में सहायक बताकर इसे पारमार्थिक संवेगों की उत्पत्ति में बाधक होने का ही संकेत दिया गया है।

काम एक कोमल और जटिल संवेग :

काम बड़ा ही विचित्र संवेग है क्योंकि इसमें बहुधा दो प्रकार की विरोधी बातें देखने को मिलती हैं। इसके बारे में कहा जाता है कि यह बड़ा ही कोमल, सरल तथा मधुर भावनाओं से पूर्ण संवेग हैं लेकिन दूसरी ओर इसमें कुछ ऐसी बातें भी मिलती हैं जिससे यह बड़ा ही कठोर, जटिल और हिंसा प्रधान लगने लगता है। काम की ये विरोधी बातें उसकी उत्पत्ति, नाश और उसके सम्पूर्ण रूप में देखी गयी हैं।

तुलसी ने काम के जागरण के संदर्भ में जिन उद्दीपकों को रखा है उससे यह लगता है कि काम स्त्री की उत्तेजक क्रियाओं से, उसके रूप सौन्दर्य से अथवा किसी के रूप गुण श्रवण से बहुत ही शीघ्र बिना किसी परिश्रम के उद्भूत हो जाता है। यह इतना कोमल होता है कि यह सिद्धों–विरक्तों के हृदय में भी यहाँ तक कि पशु–पक्षियों और जन्तु प्राणियों में भी उत्पन्न हो सकता है लेकिन दूसरी ओर तुलसी ने ऐसे प्रसंगों, ऐसी टिप्पणियों को सामने रखा है जिससे यह पता चलता है कि काम को चाहे जितनी शक्ति से उत्पन्न करने का प्रयास किया जाय लेकिन यह भक्तिभाव में रत व्यक्ति में उत्पन्न हो ही नहीं सकता। शिव और नारद दोनों इसके उदाहरण है। दोनों में भक्ति आराधना में तत्पर रहने के कारण काम उत्पन्न नहीं हो पाता। तुलसी टिप्पणी करते हुए कहते भी हैं कि जिसके हृदय में भक्ति बसती है कामादि विकार उसके निकट तक भी नहीं जा सकते।[89]

काम की कोमलता और कठोरता की बात जिस प्रकार उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में है उसी प्रकार उसके नाश के सम्बन्ध में भी है काम के विकास मार्ग में तनिक सी भी बाधा आने से यह शीघ्र नष्ट हो जाता है। सती राम की परीक्षा के उद्देश्य से जब सीता का रूप धारण करती है तो शिव जी सीता को अपनी आराध्या मानने के कारण सती के प्रति कामेच्छा से पूर्ण रहित हो जाते हैं नारद जैसे ही भगवान की माया को पहचानते हैं उनकी कामवासना का अन्त हो जाता है, दशरथ कैकेयी द्वारा अपनी वात्सल्य भावना पर आघात होते देख कामावेग से मुक्त हो जाते हैं, शूर्पणखा भी नाक–कान कटने से विकराल होने पर काम के स्थान पर प्रतिशोध की भावना से घिर जाती है। इसी प्रकार अन्य अनेक स्थानों पर भक्ति आदि वृत्तियों के प्रभाव से काम के नष्ट होने का संकेत है।

काम जितनी सरलता से नष्ट होता है उतनी कठिनता से भी नष्ट होता है। साधक जब अपने पथ की ओर प्रस्थान करता है तो उसे सबसे पहली कठिनाई यही आती है। उसके हृदय से काम किसी तरह दूर नहीं होता। इसका कारण यह होता है कि काम अनेक वृत्तियों का पुंज होता है। जैसे ही साधक इससे मुक्त होने का प्रयास करता है किसी न किसी प्रकार से किसी न किसी वृत्ति के माध्यम से यह उस पर अधिकार कर लेता है। महाभारत में इसकी यह शक्ति देखकर इसे सर्वविजयी कहा गया है। इसके नाश के लिए तत्पर शस्त्रधारियों में यह अभिमान रूप में, तपस्वी की तपस्या के रूप में, मोक्ष कामी में मोक्ष विषयक आसक्ति के रूप में सदा विद्यमान रहता है।[90] पं० रामकिंकर लिखते हैं कि अन्य दुर्गुणों की तुलना में काम सचमुच ही दुरासद है क्योंकि अन्य दुर्गुणों का उदय होने पर व्यक्ति के अन्तःकरण में किसी एक प्रकार की वृत्ति का उदय होता है वहाँ काम में परस्पर दो विरोधी वृत्तियों का उदय एक साथ देखा जाता है। ये दोनों विरोधी वृत्ति हैं– राग और द्वेष।[91] तुलसी काम के सर्वविजयी रूप को देखकर इसे कभी राक्षस[92] कभी सर्प[93] और कभी मेघनाद[94] कहते हैं। तुलसी विनय पत्रिका में लिखते हैं कि ये कामादि विकार रात–दिन मुझे घेरे रहते हैं।[95]

काम के जागरण से मनुष्य एक ओर जहाँ अनेक मधुर भावों, इच्छाओं और स्वप्नों में खोता है, उसका मन प्रसन्न, संकोच और लज्जा के वश[96] और सुधबुध से रहित[97] होता है वहाँ दूसरी ओर कपटतापूर्ण हिंसात्मक कार्य भी करने लगता है। वह अपनी इच्छापूर्ति के लिए तीव्र क्रोध के वश हो जाता हे और अनेक अनुचित कार्य करने लगता है। नारद में काम उत्पन्न होने के उपरान्त यही प्रतिक्रिया देखी गयी।

काम से प्रेरित कर्म नीतिकर अथवा अनीतिकर :

प्रत्येक संवेग में कुछ करने को प्रेरित करने वाली प्रवृत्ति अवश्य ही विद्यमान रहती है। प्रेरित करने वाला कार्य नीतिकर भी हो सकता है और अनीतिकर भी। किस संवेग से किस प्रकार के कार्य की प्रेरणा मिलती है यह संवेग की प्रकृति पर निर्भर है। काम संवेग की प्रकृति स्वसुख लेने की भावना पर आधारित है। स्वसुख की भावना कभी भी ऐसे कार्यो को महत्व नहीं देती जिससे मन को किसी प्रकार की ठेस पहुँचे। काम भावना से प्रेरित होकर व्यक्ति सदा ऐसे कार्यो को करता है जिससे उसकी इच्छा पूर्णतया संतुष्ट हो जाये। उसका नीतिकर और अनीतिकर कार्यो से कोई सरोकार नहीं रहता।

चूँकि नीतिकर कर्म अधिकांशतः पर सुखगामी होते हैं इसलिए काम संवेग के वशीभूत व्यक्ति अनीतिकर कर्म करते हुए ही देखा जाता है। तुलसी ने इस संवेग से प्रेरित कृत्यों को अपनी आध्यात्मिकता की कसौटी पर कस कर देखा है। उनके साहित्य विशेषकर मानस, विनय पत्रिका और कवितावली में काम प्रेरित कार्यो के अनेक रूप विद्यमान हैं जिन्हें नीतिकर और अनीतिकर कार्यो की दृष्टि से अनीतिकर ही कहा जा सकता है।

जब व्यक्ति काम के वश होता है तो उसे सदैव इस बात का भय बना रहता है कि उसके

इस सुख लाभ में कहीं बाधा न पड़ जाये अथवा उसके सुख पर कोई दूसरा अधिकार न कर ले। अपनी इस स्वार्थ परायणता[98] के कारण उसकी बुद्धि मलिन[99] हो जाती है और वह अनेक अकल्याणकारी कर्मो में तत्पर हो जाता है। वह धार्मिक कार्यो से दूर होने लगता है[100], वेद का घोर निन्दक[101] तथा देवता, संतों और भगवान का विरोधी[102] हो जाता है। लेकिन समाज में वह स्वयं को भगवान का भक्त प्रदर्शित करके धर्म की झूठी ध्वजा फैलाता है जिससे उसके कृत्यों पर किसी प्रकार की आँच न आये। वह ऐसा करके एक प्रकार से लोगों को ठगा करता है।[103] वह वेद मार्ग को छोड़कर कुमार्ग पर चलता है।[104] और कपट की मूर्ति बना कलियुग के सम्पूर्ण पापों का भण्डार रहता है।[105] तुलसी कवितावली में लिखते हैं—कामी जनों का इस प्रकार धार्मिकता और उपासना प्रकट करने के कारण उनका अपनी बुरी वासनाओं और इच्छाओं को छिपाना है।[106] विनय पत्रिका में भी तुलसी लिखते हैं— मन तो काम का गुलाम है लेकिन मैं मुख से तुम्हारा (भगवान का) दास बनता फिरता हूँ।[107]

काम के कारण व्यक्ति में ऐसी कुटिलता आ जाती है कि वह यदि किसी को अच्छा काम करते देखता है तो उससे उसे किसी प्रकार का खतरा पैदा न हो जाये, इस डर से उसके कार्य में बाधा पहुँचाता है। वह इस बाधा पहुँचाने के कार्य में कुछ भी करने में लज्जा नहीं करता और तरह—तरह के छल और कपटपूर्ण कार्य करता है। इन्द्र ने जब नारद को तपस्या करते देखा तो इस डर से कि कहीं नारद मेरे राज्य को हड़प करने के लिए तो तपस्या नहीं कर रहे है, राज्य—काम के वशीभूत हो कामदेव को नारद—तपस्या भंग करने के लिए भेजता है।[108]

कामी पुरूषों का मन कभी भी एक स्त्री पर स्थिर नहीं रहता इसीलिए वह जिस भी स्त्री को देखता है उस पर उसका मन डोल जाता है और वह किसी प्रकार उस पर अधिकार करना चाहता है। तुलसी का मानस में यह लिखना— "डगइ न संभु सरासनु कैसें। कामी वचन सती मनु जैसें।" कामी मनुष्यों की इसी प्रवृत्ति का संकेत है।[109]

कामी इस प्रकार अनेक अनगिनत पाप करता है। वह स्वयं तो पाप पर पाप करता है लेकिन यदि किसी से तनिक सा भी पाप हो जाये तो वह उसकी बहुत अधिक निन्दा करता है।[110] तुलसी कामी की ऐसी प्रवृत्ति देखकर काम में एक राक्षस की कल्पना करते हैं[111] क्योंकि एक कामी और एक राक्षस के कार्यो में कोई अन्तर नहीं होता।

समाज में व्यवस्था बनी रहे इसलिए व्यक्ति का मर्यादायुक्त व्यवहार अपेक्षित होता है लेकिन काम के वशीभूत व्यक्ति सदैव मर्यादाविहीन व्यवहार करता है।[112] उसका आचार—विचार सभी नष्ट हो जाता है।[113] शिव समाधि प्रसंग में काम के प्रभाव से ही मर्यादाविहीन आचरण फैला था। सिद्ध तपस्वी तक मर्यादा भूल चुके थे।

कामी समाज में सदा कलंकित रहता है[114] और नरक के रास्ते का अनुगामी बनता है[115] वह वाममार्गी और अत्यन्त मूढ़ बुद्धि का होता है,[116] स्त्री का चोर और तरह—तरह के दुर्वचन कहने वाला

होता है।[117] उसे विश्वभर से भी द्रोह करने में संकोच नहीं होता[118] और इस प्रकार वह सदा पापों का घर और दुष्ट की संज्ञा से विभूषित रहता है।[119] उसमें निर्दयता, कपटता और कुटिलता भरपूर रहती है।[120] वह स्वार्थ परायण और परिवार वालों तक का विरोधी हो जाता है।[121]

कामी का स्वभाव इन दुर्गणों से युक्त होने के कारण सदैव अहितकर कार्यो में संलग्न रहता है और वह समाज में तरह–तरह के हानिकारक तत्वों को फैलाता है।

गीता में भी लिखा है कि काम के कारण व्यक्ति अनेक अनर्थकारी कार्यो को करता है, नाना प्रकार के भोगों में आसक्त होकर पापों में प्रवृत्त होता है। इसके कारण व्यक्ति कल्याण मार्ग का अनुसरण नहीं कर पाता।[122] काम के कारण व्यक्ति चोरी, व्यभिचार और अभक्ष्य – भोजनादि नानाप्रकार के पाप करता है, आचरण विहीन व्यवहार करता है।[123]

तुलसी द्वारा काम की प्रकृति का निर्धारण :

विशेषताएं संवेगों की प्रकृति निर्धारित करती हैं। तुलसी साहित्य में तुलसी द्वारा मान्य संवेगों की प्रकृति को इसी आधार पर समझा जा सकता है। तुलसी ने काम में सरलता और जटिलता, कोमलता और कठोरता के अद्‌भुत सम्मिश्रण के अतिरिक्त ऐसी अनेक विशेषताओं को मनोविज्ञान के आधार पर परखा है जिससे उसका सम्पूर्ण रूप हमारे समक्ष उभरकर आ गया है।

तुलसी ने काम में जिन विशेषताओं को देखा है उन्हें उन्होंने विभिन्न उपमाओं, रूपकों के द्वारा तो व्यक्त किया ही है उन्हें व्यावहारिक जीवन में भी क्रियाशील होते दिखाया है। विनयपत्रिका आत्म निवेदन परक ग्रंथ होने के कारण काम की प्रकृति को सीधे–सीधे उजागर करता है और रामचरित मानस काम के प्रभाव को व्यावहारिक जीवन में दिखाने के कारण उसे अप्रत्यक्ष रूप से अधिक व्यक्त करता है। वैसे दोनों ही ग्रंथों में काम की विशेषताओं को दर्शाने के लिए तुलसी ने विविध उपमाओं और रूपकों का प्रयोग किया है।

तुलसी ने काम को कई स्थानों पर हाथी से उपमित किया।[124] उनका काम को हाथी मानने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार हाथी मद से उन्मत होता है उसी प्रकार काम में भी व्यक्ति को मदयुक्त और मतवाला कर देने की शक्ति होती है– "काम क्रोध मद गज पंचानन।" काम में बहुत अधिक दाहकता होती है और यह उसी प्रकार बढ़ती है जिस प्रकार अग्नि बढ़ती है। तुलसी ने काम की प्रकृति को पहचान कर मानस में दो स्थानों पर इसे अग्नि कहा है[125] और शीतल, मंद सुगन्धित वायु से इसे अत्यधिक उद्‌दीप्त होना बताया है। तुलसी ने इसे वायु से भी रूपायित किया है[126] क्योंकि जिस प्रकार वायु में तीव्र वेग होता है और वह रोके नहीं रुकता उसी प्रकार इसमें भी बड़ा तीव्र वेग होता है। यह अपने वेग के कारण मर्यादाओं, बंधनों की भी चिन्ता नहीं करता और बड़ी स्वच्छन्दात्मक प्रकृति का होकर सारे अवरोधों को तोड़ देता है। शिव समाधि भंग प्रसंग में काम की यही प्रकृति दृष्टिगोचर होती है।[127]

विनय पत्रिका में तुलसी ने काम को मेघनाद[128], राक्षस[129], दु:शासन[130] आदि दुर्जेय शक्तियों के रूप में भी देखा। उनका विचार है कि जिस प्रकार ये व्यक्ति शुभ कार्यो के बाधक और अशुभ कर्मों में सहायक हैं उसी प्रकार काम भी व्यक्ति को शुभ कर्मो से सदा दूर रखकर अशुभ कर्मो में रत करता है। तुलसी उन सभी कर्मो को अशुभ कर्म मानते हैं जिनसे भक्ति के प्रति विमुखता उत्पन्न हो। तुलसी मानते हैं कि जिस प्रकार ये राक्षसी शक्तियाँ दुर्जेय हैं उसी प्रकार काम भी समस्त संवेगों का सम्मुच्चय होने के कारण दुर्जेय है इसलिए तुलसी ने इसे सेनापति[131] की तरह देखा है। काम सात्विक मन के लिए बड़ा कष्टकारी है और इसी कारण यह सर्प[132] और सिंह[133] के तुल्य होता है। जितने भी आध्यात्म की ओर उन्मुख संवेग होते हैं वे जीव का कल्याण करते हैं और जितने संसारी संवेग होते हैं वे अकल्याणकारी होते हैं। काम से अकल्याणकारी संवेगों की ही सृष्टि होने के कारण तुलसी ने इसे मल की भी संज्ञा प्रदान की है।

इन उपमाओं और रूपकों के अतिरिक्त तुलसी विवेचित काम प्रसंगों के अवलोकन से भी इसकी पूर्ण प्रकृति को समझा जा सकता है– काम लोगों को बहुत शीघ्र और बहुत अधिक आसक्त करने के कारण[134] एक आकर्षक रूप वाला संवेग है। यह आकर्षण रूप वाला संवेग विभिन्न प्रकार की इच्छाओं, कल्पनाओं का पुंज, बाह्य संसार की ओर उन्मुख और आत्म प्रदर्शन की प्रवृत्ति प्रधान होता है।[135] इससे आसक्ति और मूढ़ता की वृद्धि[136], भेद दृष्टि का उदय तथा दुस्साहस की प्रवृत्ति[137] आ जाती है। काम को कला प्रधान संवेग माना गया है[138], इससे हृदय में तरंगें और स्फुरण उत्पन्न होती है, यह मनोरम दृश्यों में खोने का अभिलाषी होता है। यह अधिकार करने की वांछा से युक्त अनीतिगामी तथा व्यक्ति को कलकिंत करने वाला होता है।[139] इससे व्यक्ति की शान्ति क्षणभर में नष्ट हो जाती है। वैसे यह व्यक्ति को अनुराग और सहचर की आवश्यकता का अनुभव कराने वाला होता है।[140]

मैक्डूगल काम की प्रकृत्ति का संकेत देते हुए लिखते हैं कि काम भिन्नलिंगी तथा काम भावनाओं के प्रति रुचि बढ़ाने वाला संवेग है, इसमें व्यक्ति बहुत अधिक उत्तेजित हो जाता है, इसके कारण आत्मप्रदर्शन, आत्म अवज्ञा और लज्जा की भावनाएँ उद्दीप्त होती हैं।[141]

काम संवेग तुलसी की दृष्टि में :

तुलसी विवेचित काम संवेग की मनोवैज्ञानिकता क्या है ? अभी तक इसी पर विचार किया गया है, लेकिन अब इस पर विचार करना है कि काम के प्रति तुलसी की विशेष दृष्टि क्या है अर्थात तुलसी ने इसे किस रूपं में स्वीकार किया।

किसी विषय के प्रति व्यक्ति की दृष्टि का निर्माण उसके जीवन दर्शन के आधार पर होता है। तुलसी का जीवन दर्शन आध्यात्मिकता से पूर्ण था। वे मानव कल्याण के लिए मानव मन का परिष्कार उज्ज्वल और उदान्त संवेगों से करना चाहते थे। उज्ज्वल और उदान्त संवेग वे हैं जो व्यक्ति को परमार्थ की ओर ले जायं और सांसारिकता से दूर करें।

काम संवेग अधिकाधिक संसार की ओर उन्मुख तथा अन्य संसारी संवेगों को भी उत्पन्न करने वाला संवेग है। तुलसी ने काम की ऐसी प्रवृत्ति के कारण इसे सदैव हेय दृष्टि से देखा है और इसके गर्हित रूप को दिखाने का प्रयास किया है।

काम संवेग तुलसी के विचार में एक दुखद[142] और वात रोग की तरह पीड़ा देने वाला संवेग है।[143] यह व्यक्ति के साथ बिल्कुल शत्रु तुल्य व्यवहार करता है।[144] प्रबल आकर्षण शक्ति रखने के कारण यह पहले तो व्यक्ति को अपने वश में करता है।[145] फिर उसके विवेक को नष्ट कर उसे मूढ़ बना देता है।[146] मन में मूढ़ता व्याप्त हो जाने के कारण व्यक्ति से किसी शुभ विचार का चिन्तन नहीं होने पाता[147] उसे कृत्य–अकृत्य का बोध नहीं रहता[148] और वह समस्त कल्याणकारी तत्वों– बह्मचर्य, नियम, संयम, ज्ञान, विज्ञान, सदाचार, जप, योग, वैराग्य, विवेक आदि से बहुत दूर हो जाता है।[149] ऐसा होने पर काम प्रेरित समस्त मानसिक विकार एक–एक करके व्यक्ति में प्रविष्ट होने लगते हैं[150] और व्यक्ति परम कल्याणकारी भक्ति भाव के समीप भी नहीं भटक पाता।[151] काम अपने इस कार्य में इतना समर्थ होता है कि यह संसारी जीवों को तो ऐसी स्थिति में ला ही देता है वरन् परम वैरागी, सिद्ध, तपस्वी, योग आदि में तत्पर योगियों के सारे प्रयासों को विफल कर बुरी स्थिति में ले आता है।[152] तुलसी ने काम के इन्हीं सब दोषों को देखकर इसे प्रबल दुष्ट की संज्ञा दी है।[153]

तुलसी काम सम्बन्धी ऐसे विचारों में महाभारत और गीता से प्रभावित दिखलाई पड़ते हैं क्योंकि गीता में भी काम को सारे अनर्थों का कारण, व्यक्ति को जन्म–मरण और नरक भोग रूप भीषण दु:खों का भागी बनाने वाला और कल्याण मार्ग में बाधक बताकर महान शत्रु बताया गया है[154] और महाभारत में काम से जितने भी दोषों की उत्पत्ति होती है, उसकी गणना की गयी है।[155]

तुलसी के अनुसार काम संवेग चाहे जितना आनन्ददायक लगे लेकिन यह अपने वास्तविक रूप में दु:खदायक ही होता है। चूँकि काम के कारण व्यक्ति अनेक अधर्म करता है इसलिए जब वह इसका परिणाम पाता है तो उसके सामने दु:ख के सिवाय कुछ नहीं रहता। वह उसके कारण जन्म–मरण के बन्धन में पड़ता है और नरक गामी होता है।[156] सात्विक मन के लिए तो यह दु:ख के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[157]

तुलसी इस प्रकार काम को मानव कल्याण के लिए एक त्याज्य संवेग मानते हैं लेकिन वे इस सम्बन्ध में कठोरता नहीं बरतते। वे जानते हैं कि किसी संवेग का समूल नाश कितना कठिन होता है और इसी कारण वे इसके समूल नाश की बात न करके भक्ति द्वारा इसके उदात्तीकरण की बात करते हैं। भक्ति में भी राग विद्यमान है और काम में भी, बस राग का स्थानान्तरण हो जाता है। तुलसी जब भी काम के नाश की बात करते हैं तब भी और वही भक्ति के ग्रहण करने की बात भी करते हैं और इस दृष्टि से तुलसी पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों की तुलना में कहीं अधिक ऊपर उठे दिखलाई पड़ते हैं क्योंकि फ्रायड आदि मनोविश्लेषणवादी काम के उदात्तीकरण की जो बात करते हैं वह मन के परिष्कार की दृष्टि से नहीं बल्कि

काम तुष्टि में अवरोध पैदा हो जाने पर मन के कुंठित हो जाने के भय से करते हैं जबकि तुलसी मन की कुंठा का ध्यान रखने के अतिरिक्त कुछ और भी सोचते हैं।

काम संवेग के सम्बन्ध में तुलसी के विचारों को जानने की प्रक्रिया में यह भी जान लेना आवश्यक है कि तुलसी काम को सदैव एक निकृष्ट और त्याज्य संवेग नहीं उसे एक पुरूषार्थ के रूप[156] में स्वीकार कर अपनाने योग्य संवेग मानते हैं। उनके अनुसार इस पुरूषार्थ की प्राप्ति देवकृपा से होती है।[159] इसके भोग का एक निश्चित समय होता है[160] पुरूषार्थ के रूप में यह एक वरणीय संवेग है।[161]

तुलसी काम के लोकमंगलकारी रूप की प्रशंसा करते हैं। शिव–पार्वती और राम–सीता के काम को इसीलिए उन्होंने अपने साहित्य में सराहा है और कामात्मक प्रेम के रूप में इसे हमारे सम्मुख रखा है। तुलसी काम के उस रूप को भी स्वीकार करते हैं जो मर्यादा की सीमा का निर्वाह करता है अर्थात् किसी एक तक सीमित रहकर अपने काम का विकास करता है। तुलसी ने मन्दोदरी के काम को रावण के प्रति ही सीमित देखकर कामात्मक प्रेम के रूप में उसके विकास को इसीलिए रुचि पूर्वक दिखाया है।

इच्छा/अभिलाषा/कामना/मनोरथ/चाह :

"इच्छा" एक प्रेरणा शक्ति है जिसके कारण व्यक्ति किसी कार्य में प्रवृत्त होता है। "अभिलाषा" में चाहने यानि अच्छे लगने का भाव होता है। इसमें इच्छा का वृत्त विशिष्टता ग्रहण किये हुए रहता है। "चाह" शब्द से किसी वस्तु को हम कितना चाहते हैं, उससे कितना प्रेम करते हैं यह व्यक्त होता है। "अभिलाषा" में चाह का आन्तरिक अंश तो होता है लेकिन उसमें सान्निध्य की इच्छा या प्रेम का उतना अंश नहीं होता। किसी को पाने की इच्छा को "स्पृहा" करते हैं लेकिन हर इच्छा स्पृहा नहीं होती। स्पृहा में चाहने वाली वस्तु आदि उच्च आदर्श तथा विधि सम्मत होती है। मन की कोई विशेष इच्छा "मनोरथ" कही जाती है। मनोरथ से किसी के मन के रुझान का पता चलता है। अन्य कामनाओं के पूर्ण रहने पर भी जिस वस्तु का अभाव निरन्तर खटकता रहे। उस वस्तु की तीव्र इच्छा को "लालसा" कहते हैं।

विभिन्न शब्दकोशों[162], मनोविज्ञान के ग्रंथों में उपर्युक्त मनोविकारों को सामान्यतः इन्हीं अर्थो में विवेचित किया गया है। मानक हिन्दी कोश में लिखा है– "इच्छा" मन में उत्पन्न होने वाली वह भावना है जो किसी कार्य पूर्ति अथवा वस्तु की प्राप्ति के लिए मन में जगती है।[163] प्रेमलता भसीन "चाह" और "इच्छा" को एक सीमा तक एक दूसरे का पर्याय मानती हैं। वे अभिलाषा को मन की वह इच्छा कहती है जिसमें व्यक्ति कोई बात अपने अनुरूप होने की कामना करता है। इच्छा की गति सम है और अभिलाषा की वृद्धिमान। मनोरथ उनके अनुसार ऐसी इच्छा है जिसके लिए व्यक्ति अधिक प्रयत्नशील रहता है और उसकी पूर्ति के लिए देवी–देवताओं तथा ईश्वर से प्रार्थना भी करता है। "कामना" के लिए उनका मानना है कि इसकी पूर्ति से विशेष संतोष और आनन्द मिलता है। "स्पृहा" के लिए वे कहती हैं कि इसकी पूर्ति के लिए व्यक्ति उत्कंठ और तत्पर रहता है।[164] गीताः तत्व विवेचनी में कामना के वासना, स्पृहा,

इच्छा, तृष्णा आदि अनेक भेद बताये गये हैं। शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, मान प्रतिष्ठा आदि अनुकूल पदार्थो के बने रहने की और प्रतिकूल पदार्थो के नष्ट हो जाने की जो राग–द्वेष जनित सूक्ष्म कामना है, जिसका स्वरूप विकसित नहीं होता है उसे इसमें वासना कहा गया है, किसी अनुकूल वस्तु के अभाव का बोध होने पर चित्त में जब यह भाव उत्पन्न होता है कि अमुक वस्तु की आवश्यकता है उसके बिना काम नहीं चलेगा, इस भाव को इस ग्रंथ में "स्पृहा" कहा गया है तथा पदार्थो के यथेष्ट रूप से प्राप्त होने पर भी उनके अधिकाधिक बढ़ने की इच्छा को तृष्णा कहा गया है।[165] पाश्चात्य मनोविज्ञान में इच्छा को समस्त मानवीय आचरण का कारण माना गया है। अरस्तू तथा एक्यूनस ने इच्छायें दो प्रकार की मानी है। जिसमें एक का सम्बन्ध वैश्विक शुभ से हैं, दूसरे का विशिष्ट शुभ से।[166]

तुलसी ने "इच्छा" का प्रयोग प्रेरित करने वाली शक्ति के अर्थ में किया है। इच्छा धीरे–धीरे तीव्रता/एकोन्मुखता/अनन्यता/प्रत्याशा आदि के कारण विभिन्न रूप धारण कर लेती है। "लालसा" को तुलसी ने वह मनोवेग माना जिसकी पूर्ति मानवीय प्रयत्न के बाहर किसी दिव्य शक्ति पर निर्भर होती है।[167] तुलसी का विचार है कि यदि व्यक्ति की लालसा की पूर्ति नहीं हो पाती है तो उसके हृदय में एक पछतावा/सोच जीवनभर बना रहता है[168] व्यक्ति में लालसा पूर्ति के लिए बड़ी व्याकुलता होती है।[169] कभी–कभी तो लालसा इतनी तीव्र होती हैं कि व्यक्ति के न चाहने पर भी वह किसी न किसी प्रकार से अपने को व्यक्त कर ही देती है। लक्ष्मण जनकपुर देखना चाहते हैं लेकिन वे राम और विश्वामित्र के समक्ष इसे डर और संकोच के कारण नहीं कहते। बस मन ही मन मुसकराते है। इसी मुसकराने से राम अपने भाई के मन की दशा जान लेते हैं।[170] तुलसी लालसा में इच्छा से कई बातों में विशिष्टता देखते हैं। वे कहते हैं कि लालसा की स्थानापन्न कोई दूसरी इच्छा नहीं हो सकती। लालसा की पूर्ति में व्यक्ति की समस्त चेतना और ध्यान केन्द्रित हो जाता है वह अपने अन्य कार्यो को भूल जाता है, बहुत अधिक उतावला हो उठता है।[171] तुलसी ने अभिलाषा को व्यक्ति की परिष्कृत रुचि और उसकी उदात्त भावना से जोड़ा है।[172] उन्होंने बताया कि अभिलाषा में पूर्ति का विश्वास रहता है, धैर्य रहता है तथा अनन्यता रहती है।[173] अभिलाषा का प्रयोग सामूहिक इच्छा के लिए किया जाता है।[174] मनोरथ को तुलसी ने हृदय की बड़ी और एकान्त कामना कहा है[175] जो हृदय के गोपन प्रदेश में छिपी रहती है।[176] स्पृहा तुलसी के अनुसार एक बलवती इच्छा है जिसकी पूर्ति सदा भाग्य या ईश्वर के आधीन होती है।[177]

इच्छा/अभिलाषा/कामना/स्पृहा आदि ये मनोविकार किन–किन विषयों के प्रति जाग्रत होते हैं। इसका भी संकेत तुलसी ने अपने साहित्य में किया है। उन्होंने बताया कि सामर्थ्यवान् की कृपा की बड़े–बड़े लोग तक अभिलाषा करते हैं।[178] रूचिकर वस्तु के प्रति लालसा उत्पन्न होना स्वाभाविक है।[179] जिस व्यक्ति के दर्शन मात्र से हम अपने भाग्य को सराहने लगे, उस व्यक्ति के सान्निध्य और परिचय जानने की तीव्र लालसा होती है।[180] पुत्र, धन और लोक प्रतिष्ठा ये तीनों इच्छा के विषय होते हैं।[181] सभी प्रकार के सुखों की,[182] अपने कल्याण की[183] हर व्यक्ति को चाह होती है। दुर्गम तथा अगम वस्तु की चाह की जाती है।[184] जिस कार्य के होने में सबका हित हो उसके सम्पन्न होने की सबके हृदय में चाह होती

है।[185] शीघ्र मिलने वाले सुख को सोचकर व्यक्ति तरह–तरह के मनोरथ करता है।[186] विरहिणी वियोगावस्था में प्रिय मिलन के अनेक मनोरथ करती है।[187] परिणाम देखने की प्रत्येक व्यक्ति की तीव्र इच्छा होती है।[188] असाधारण वीरता देखने की मन में बहुत चाह होती है।[189] भूख से व्याकुल व्यक्ति को खूब सारे भोजन की इच्छा होती है।[190] उपासना के पीछे कोई न कोई इच्छा अवश्य होती है।[191]

इच्छा/कामना/लालसा आदि का व्यक्ति पर बड़ा तीव्र आन्तरिक और बाह्य प्रभाव पड़ता है। मनोरथ पूर्ति की कल्पना में व्यक्ति बड़ा आतुर दिखाई पड़ता है,[192] लालसा पूर्ति के लिए व्यक्ति किसी प्रकार का अवरोध/विलम्ब सहन नहीं कर पाता।[193] किसी तीव्र इच्छा के जागने पर अन्य इच्छायें दब जाती हैं।[194]

व्यक्ति मनोरथ पूर्ति के साधन के पता लगने पर तुरन्त उसके पास जाता है उसी का सेवन करता है,[195] उसी की याचना करता है।[196] किसी वस्तु की चाह में व्यक्ति कभी–कभी बड़े–बड़े त्याग तक कर देता है,[197] पितृगण, देवता, शिव, विष्णु आदि देवों की शरण में जाता है और सुकृतों का स्मरण करता है।[198] जिस लालसा की पूर्ति में अपराध बोध, लज्जा और हीनता बोध का अनुभव होता है उसकी पूर्ति व्यक्ति छिपकर और कभी प्रकट होकर करता है। राम–सीता की मनोहर जोड़ी को कामदेव और रति देखना चाहते हैं लेकिन संकोच के कारण छिप–छिपकर देखते हैं।[199] अभिलाषा को कभी–कभी व्यक्ति मुख के विशेष हाव–भाव से व्यक्त करता है। लक्ष्मण को जनकपुर देखने की जो लालसा है उसे वे मन ही मन मुसकराकर राम के समक्ष व्यक्त करते हैं।[200] अभिलाषा पूर्ति के लिए व्यक्ति को कभी–कभी विशेष अनुष्ठान पूजा या तपस्या भी करनी पड़ती है।[201]

इच्छायें व्यक्ति में जागतीं हैं, जागने के उपरान्त जब वे पूरी होती हैं तभी उनकी सार्थकता सिद्ध होती है अन्यथा उनका कोई महत्व नहीं होता है। कौन सी इच्छायें/अभिलाषायें पूरी होती हैं कौन सी नहीं, ये इच्छाओं की प्रकृति पर निर्भर है। यदि कोई ऐसी इच्छा है जो अभिमान वश की गई है और जिसका पूरा होना असम्भव है तो ऐसी इच्छा कभी पूरी नहीं हो पाती।[202] इसके अतिरिक्त यदि इच्छाओं को छिपाया जाता है तो भी इच्छायें पूरी नहीं हो पाती हैं।[203] तुलसी का कहना है कि अभिलाषाओं तथा मनोरथों की पूर्ति कृपा आश्रित है। जब हमारा भाग्य तथा विधाता अनुकूल होते हैं तभी ये पूरी होती हैं।[204] जिस वस्तु की व्यक्ति को इच्छा है वह वस्तु उसे तभी प्राप्त होती है जब वह उसकी अपेक्षित बातों को पूरा करे। जैसे भक्ति की चाह सभी करते हैं लेकिन यह उसी को मिलती है जो इसका अधिकारी होता है।[205]

तुलसी ने इच्छा के सम्बन्ध में एक मनोवैज्ञानिक तथ्य यह भी उजागर किया है कि जब इष्ट में दृढ़ विश्वास जम जाता है तब स्वतः ही अन्य देवता की उपासना की इच्छा उत्पन्न नहीं होती।[206] कभी–कभी भगवान की ऐसी कृपा होती है कि व्यक्ति की सम्पूर्ण कामनायें पूर्ण हो जाती हैं[207] और कभी–कभी देव–वश या प्रारब्धवश मनुष्य के सारे मनोरथ नष्ट हो जाते हैं।[208] तुलसी बताते हैं कि

इच्छाओं में कभी–कभी तीव्रता भी आ जाती है। यदि कोई कथा सरस और सुहावनी होती है तो उसको सुनने की लालसा पहले से अधिक बढ़ जाती है। भरद्वाज जी में शिव चरित्र सुनने से कथा आगे सुनने की लालसा बढ़ गयी।[209] मनोरथ पूर्ति का जब अवसर आ जाता है तब मनोरथ चौगुना बढ़ जाता है।[210]

तुलसी बताते हैं कि इच्छायें सबमें नहीं जागतीं। जो सब प्रकार से पूर्ण और आप्तकाम होता है उसमें कभी भी कोई इच्छा नहीं जागती।[211] आगे वे कहते हैं कि इच्छायें दो प्रकार की होती हैं पापमय इच्छा जो व्यक्ति को कंलकित करतीं है और दूसरी मंगल मय इच्छा। पापमय मनोरथ स्वार्थी और ईष्यालु व्यक्ति करते हैं[212] और मंगलमय मनोरथ मुनियों की कृपारूप शुभवाणी का परिणाम होते हैं।[213] ये मनोरथ बड़े ही सुहावने तथा अनन्दित करते हैं[214] कोई–कोई लालसा ऐसी होती है जिससे जीवन धारण करने की प्रेरणा मिलती है।[215] किसी–किसी इच्छा से स्वार्थ और परमार्थ दोनों पूरे हो जाते हैं।[216]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इच्छा अभाव के कारण उत्पन्न होती है। यदि व्यक्ति को किसी प्रकार का अभाव न रहे तो उसे किसी प्रकार की इच्छा भी न करना पड़े। इच्छा रूपी लता में अनेक जटिलताएँ, उलझन और कटुतायें होती है।[217] जब तक मन में दासनायें भरी रहती हैं तब तक मोक्ष तथा प्रभु की प्राप्ति की आशा नहीं की जा सकती है।[218] तुलसी का कहना है कि तुच्छ सुख की लालसा से व्यक्ति मक्खियों और मच्छरों के समान तुच्छ हो जाता है।[219] लेकिन भगवान सर्वत्र व्याप्त हैं इस प्रकार की कामना से व्यक्ति धूप की तरह पवित्र और सुगन्धमय हो जाता है।[220]

<u>लोभः–</u>

किसी वस्तु को/सुख को अधिकाधिक मात्रा में लेने की जो प्रबल इच्छा होती है उसे लोभ कहते हैं। "बृहत् हिन्दी कोश" में दूसरे का धन लेने की इच्छा को लोभ कहा गया है।[221] मानक हिन्दी कोश में– दूसरों की चीज पाने या लेने की प्रबल कामना या लालसा कुछ प्राप्त करने की ऐसी प्रबल लालसा जिसकी पूर्ति हो जाने पर भी तृप्ति या संतोष न हो यह अर्थ दिया है।[222] निरोग धाम में लोभ को स्पष्ट करते हुए लिखा है जो वस्तु अप्राप्त हो, और जिसे प्राप्त करना आवश्यक हो, उसे प्राप्त करने की कामना करना और चेष्टा करना तो स्वाभाविक ही है, पर जब यह कामना असीमित, असन्तुलित, अनियन्त्रित, अनैतिक और अनावश्यक रूप से की जाती है तब उसे लोभ कहते हैं।[223] लोभ से मिलता जुलता शब्द है– "तृष्णा"। लोभ में वस्तु को पाने की इच्छा के साथ–साथ उसे अपने पास बनाये रखने की इच्छा भी शामिल रहती है। इसके विपरीत तृष्णा में केवल वस्तु को पाने की तीव्र प्यास रहती है। तृष्णा मिथ्या वस्तु थाभ्रम से भी हो सकती है जबकि लोभ अपना पट या जाल वस्तु के निश्चित अस्तित्व पर ही बुनता है। लोभ दमित और कम भी हो सकता है जबकि तृष्णा जब होगी तीव्र ही होगी। लालसा वस्तु पाने की तीव्र इच्छा को कहते हैं लेकिन

तृष्णा वस्तु से प्राप्त रस के स्वाद की तीव्र इच्छा को कहते हैं। पं0 रामचन्द्र शुक्ल लोभ की परिभाषा इस प्रकार देते हैं– जिस प्रकार का सुख या आनन्द देने वाली वस्तु के सम्बन्ध में मन की ऐसी स्थिति को जिनमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पड़े, लोभ कहते हैं। दूसरे की वस्तु का लोभ करके उसे लोग लेना चाहते हैं, अपनी वस्तु का लोभ करके लोग उसे देना या नष्ट होने देना नहीं चाहते।..... लोभ का प्रथम संवेद्नात्मक अवयव है किसी वस्तु का बहुत अच्छा लगना, उससे बहुत सुख या आनन्द का अनुभव होना। अतः वह आनन्द स्वरूप है। इसी से किसी अच्छी वस्तु को देखकर लुभा जाना कहा जाता है।[224] गीता में भी लोभ के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण तथ्य प्राप्त होते हैं। गीता में कहा गया है कि वस्तुओं का लोभ व्यक्ति की बुद्धि अस्थिर निर्णय लेने में असमर्थ और भोग और ऐश्वर्य की कल्पना में आसक्त कर देता है। लोभ व्यक्ति को विनाश की ओर ले जाने वाला है। फल का लोभी दूसरों को कष्ट देकर भी फल पाना चाहता है।[225] श्रीमद् भगवत् तत्व विवेचनी टीका में "तृष्णा" को समझाते हुए लिखा है कि स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थ यथेष्ट प्राप्त रहते हुए भी जो उनके अधिकाधिक बढ़ने की इच्छा है, उसको "तृष्णा" करते हैं। यह कामना का स्थूल रूप हैं।[226] पं0 रामकिंकर उपाध्याय कहते हैं कि विश्व के अधिकांश व्यक्ति लोभ और भय की प्रवृत्तियों से ही संचालित होते हैं। सांसारिक जीवन में तो भय और प्रलोभन के स्थान पर ज्ञान और भक्ति की स्थापना से इन प्रवृत्तियों से मुक्ति पायी जा सकती है।[227]

तुलसी ने किसी वस्तु को प्राप्त करने की बलबती इच्छा को लोभ कहा है। उन्होंने बताया कि लोभ उस वस्तु के प्रति होता है जिसमें हमारी रुचि होती है[228], जो महत्वपूर्ण होती है[230] जो वस्तु हमारे काम की होती है[231], जो वस्तु हमारे लायक होती है।[232]

प्रिय के दर्शन का बहुत लोभ होता है। जनकपुर में राम को पिता के दर्शन की लालसा हो रही है।[233] सौन्दर्य पर लुब्ध होना प्रत्येक मन का कार्य है[234] और यदि सौन्दर्य अनुपम है, नख़ से शिखा तक व्याप्त है तो ऐसा सौन्दर्य और भी अधिक लुभाने वाला होता है।[235] जहाँ अनुपम तथा विरोध विधान का सौन्दर्य होता है वह सौन्दर्य बहुत लुभाने वाला होता है।[236]

किसी के हृदय में लोभ उत्पन्न होने के क्या–क्या कारण हो सकते हैं इसका विवेचन प्रस्तुत करते हुए तुलसी कहते हैं कि लोभ समय के दुष्प्रभाव से उत्पन्न होता है, मोह के कारण उत्पन्न होता है, इच्छायें लोभ की जननी हैं, चचंलता के कारण व्यक्ति लोभ के वश हो जाता है।[237] तुलसी ने बताया कि कलियुग के प्रभाव से सभी पुरुष लोभ में तत्पर हो गये। राम नारजी से कहते हैं कि काम, क्रोध, लोभ और मद आदि मोह की प्रबल सेना है। राम लक्ष्मण को समझाते हैं कि लोभ को इच्छा और दम्भ का बल है।

लोभ का व्यक्ति पर बड़ा तीव्र प्रभाव पड़ता है। जब व्यक्ति में किसी वस्तु का लोभ जागता है तो वह उसके वश में होकर लीन और तन्मय हो जाता है, वह मतवाला हो जाता है और

बहुत देर तक उस सुख में रमे रहना चाहता है। लोभ के कारण व्यक्ति वस्तु को त्यागना नहीं चाहता।[238] जिस वस्तु पर मन लुब्ध होता है व्यक्ति उस वस्तु का ध्यान दूर रहकर भी करता रहता है,[239] व्यक्ति उस वस्तु का सदा सान्निध्य चाहता है,[240] उसके आसपास मडराता रहता है। लोभ के कारण तो व्यक्ति अनुचित कार्य भी करने लगता है,[241] वह पागल और विक्षिप्त सा हो जाता है, लम्पट और क्रोधी हो जाता है। अनेक शुभ कर्मो को इसलिए छोड़ देता है क्योकि उन पर व्यय करना पड़ता है।[242]

लोभ व्यक्ति की बुद्धि को केन्द्रित नहीं होने देता[243] जिससे वह कल्याण के स्रोत को नहीं पहचान पाता[244] वह अपने विनाश को नहीं देखता[245] उसका चित्त बड़ा ही चंचल हो जाता है,[246] उसमें तुच्छता आ जाती है।[247] लोभ में व्यक्ति एक दूसरे को ग्रस लेता है।[248] लोभ में दारूण दु:ख होता है,[249] तरह–तरह की आशायें जन्म लेती हैं।[250] व्यक्ति लालची होकर ललकने लगता है,[251] ज्ञान–वैराग्य नष्ट हो जाता है।[252] अनेक प्रकार के स्वांग अर्थात् नाच करने पड़ते हैं, अनेक व्यर्थ परिश्रम करना पड़ता है।[253]

जिस वस्तु का व्यक्ति को लालच होता है व्यक्ति उस वस्तु को प्रत्यक्ष देखना चाहता है[254] जब मन एक वस्तु पर लुब्ध हो जाता है तो वह दूसरी किसी वस्तु की ओर नहीं जाता।[255] लोभ के कारण व्यक्ति अत्यधिक अधैर्यवान्, अन्तर्मुखी होने के कारण अस्थिर चित्त का हो जाता है। वस्तु के लोभ में उसके मिलने की चिन्ता से नींद नहीं आती है। तुच्छ वस्तु का लालची बड़ी वस्तु मिल सकती है यह सोच भी नहीं सकता।[256]

तुलसी ने लोभ को बड़ा हानिकारक संवेग माना है क्योंकि इससे व्यक्ति की पूरी दुर्दशा हो जाती है।[257] जो व्यक्ति लोभ के वश होता है वह अकल्याण की ओर जाने लगता है[258] और नष्ट हो जाता है।[259] लोभ के कारण व्यक्ति प्रभु को नहीं जान पाता[260] और दुर्भाग्य शाली हो जाता है।[261]

तुलसी ने लोभ में इन्हीं दोषों को देखकर लोगों को इससे मुक्त होने की सलाह दी। उन्होंने बताया कि ज्ञान से लोभ का विनाश हो जाता है।[262] यदि व्यक्ति को परमात्म बोध हो जाय तो लोभ सहज ही दूर हो जायेगा।[263] ज्ञान के अतिरिक्त भगवत् नाम का स्मरण[264], राम का प्रताप[265], दैवी कृपा[266] और भक्ति का आविर्भाव[267] भी लोभ को नष्ट करने वाला होता है। लोभ संतोष होने पर भी नष्ट हो जाता है।[268]

लोभ इसीलिए ऐसे हृदय में नहीं रहता है जो भक्ति से युक्त हो[269] सात्विक प्रवृत्ति वाला हो[270], सम बुद्धि वाला हो।[271] जब व्यक्ति को वस्तु के त्याग का महत्व समझ में आ जाता है तो फिर उस वस्तु का लोभ उसके हृदय में नहीं जागता।[272] युद्ध में लड़ते–लड़ते प्राण दे देंगे लेकिन पीछे नहीं लौटेगे ऐसा प्रण करने वाले को प्राणों का लोभ नहीं होता है।[273] लेकिन इसके विपरीत दुष्ट लोग

लोभ से पूरी तरह घिरे रहते हैं।[274]

तृष्णा कभी शान्त नहीं होती है[275] इसलिए व्यक्ति लोभ से मुक्ति नहीं पा पाता[276] और रात–दिन इसी के वश रहता है[277]

लोभ आसानी से नष्ट होने वाला संवेग नहीं है।[278] लोभ समुद्र की तरह अपार होता है।[279] लोभ एक ऐसा संवेग है जो कुछ को भी पाकर संतुष्ट नहीं होता और बढ़ता ही जाता है।[280] लोभ सभी प्राणियों में होता है[281] इसमें बहुत ही आकर्षण होता है।[282] तृष्णा में तरंगें होती हैं[283] अत्यधिक लालच करने से कुछ होता नहीं है।[284] गुणवान व्यक्ति थोड़े से लोभ से ही बुरा कहा जाने लगता है।[285] अति लोभ तो अच्छा होता नहीं किन्तु थोड़ा लोभ भी अच्छा नहीं होता।[286] लोभ रहित हृदय में प्रभु का निवास होता है।[287] लोभ रहित व्यक्ति यश और श्रद्धा का पात्र होता है।[288] इच्छा जब लोभ का रूप धारण कर लेती है तब मन में स्थाई रूप से बस जाती है।[289]

प्रेम:–

"प्रेम एक रागात्मक वृत्ति माना गया है। कोशों में इसके अनेक पर्याय दिये गये हैं– प्रेम, अनुराग, स्नेह, रति, नेह, वात्सल्य, प्रीति, आसक्ति, प्यार, प्रणय, लगन, मोह आदि। तुलसी ने इन समानार्थी शब्दों में केवल प्रेम, राग, अनुराग, रति, प्रीति, स्नेह, नेह, ममता, प्रणय को लिया है और इन शब्दों की अर्थ भिन्नता का भी संकेत दिया है। मानस पर्याय शब्दावली में डा0 प्रेमलता भसीन लिखतीं हैं– "तुलसी ने इसे (प्रेम) सामान्य एवं व्यापक रूप से किसी के प्रति सौहार्द्र के अर्थ में गृहण किया है। माता–पिता का संतान के प्रति, पति का पत्नी एवं पत्नी का पति के प्रति, भाई का भाई के प्रति, सेवक का स्वामी एवं स्वामी का सेवक के प्रति तथा भक्त का ईश्वर और ईश्वर का भक्त के प्रति आत्मीयता पूर्ण सद्भाव सभी को तुलसी ने प्रेम के अन्तर्गत गृहण किया है।[290] रामचन्द्र वर्म्मा का प्रेम के सम्बन्ध में कहना है– "यह सदा दो पक्षों की अपेक्षा रखता है और अनुराग, प्रणय, स्नेह आदि का बहुत उत्कृष्ट रूप है।[291] डा0 प्रेमलता भसीन का तुलसी के प्रेम शब्द के बारे में कहना है कि जब व्यक्ति का मन विभोर और भावनायें तथा क्रिया कलाप अनियंत्रित हो जाते हैं उस अवस्था के लिए तुलसी ने प्रेम शब्द दिया है[292] इन्होंने राग शब्द को पाँच क्लेशों में वर्णित एक[293] क्लेश के अर्थ में ग्रहण किया और "अनुराग" शब्द प्रेम के साथ–साथ तृप्ति/संतुष्टि/प्रसन्नता और सुख के भाव को व्यक्त करने वाला बताया।[294] "रति" शब्द को तुलसी ने मन की बिषयाकारता अर्थात् आलम्बन के प्रति चित्त की आसक्ति के द्योतन के लिए गृहण किया है[295] और "प्रीति" के लिए इन्होंने प्रथम दर्शन से उत्पन्न प्रेम नहीं बल्कि जन्म जन्मान्तर का अनुराग माना जो अत्यन्त पवित्र और हृदय की आन्तरिकता से सम्बद्ध है।[296] "स्नेह" और "नेह" तुलसी साहित्य में प्रणय सम्बन्धों के अतिरिक्त अन्यान्य सम्बन्धों की मधुरता दर्शाने के लिए प्रयुक्त किया गया है[297] तथा "ममता" की गणना उस विकार के रूप में की गयी है जो भक्ति मार्ग का कंटक है।[298]

मानक हिन्दी कोश में "प्रेम" का अर्थ उस कोमल भाव से है जो किसी अच्छी, प्रशंसनीय, सुखद चीज, बात अथवा व्यक्ति के प्रति उत्पन्न होता है ओर "प्रीति" शब्द वह सद्भाव है जो बरबस किसी के ध्यान को किसी के प्रति खींच लाता है और ममत्व की भावना उत्पन्न करता है।[300] "अनुराग" किसी से प्रसन्न होकर शुद्ध भाव से उसकी ओर प्रवृत्त होना या मन लगाना है।[301]

चूँकि तुलसी ने प्रेम को विभिन्न सम्बन्धों में सौहार्द्र का भाव बताया अतः अब हम प्रत्येक प्रकार के सम्बन्धों की मनोवैज्ञानिकता का तुलसी की दृष्टि से अध्ययन करेंगे।

पति–पत्नी प्रेम :

इस प्रेम को तुलसी ने वासना ओर प्रेम का मिश्रण न मानकर मर्यादा तथा आदर्श भावना से युक्त माना है पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों और तुलसी में इस सम्बन्ध में पर्याप्त मत भिन्नता दृष्टि गोचर होती है। लेकिन तब भी प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक हरबर्ट स्पेन्सर ने इसकी प्रक्रिया जिस प्रकार विवेचित की है उसमें बहुत से तत्व तुलसी के विचारों से साम्य रखते हैं। हरबर्ट स्पेन्सर का मानना है कि यह सव जटिल और सशक्त भाव है। सर्वप्रथम वैयक्तिक शारीरिक सौन्दर्य से जटिल संस्कारों की अनूभूति होती है। इन जटिल संस्कारों में अनेक प्रेमोत्पादक सुखानुभतियाँ, स्नेह, श्लाघा, सम्मान, श्रद्धा का भाव सघनता के साथ समाहित रहता है। इसके पश्चात् प्रेम पात्र द्वारा प्रेम स्वीकृत हो जाने पर तृप्तिकारक अनुभूति होती है, अपनी इस सफलता से प्रेमी का अन्तःकरण आत्माभिमान की "मधुरता से भर जाता है। दानों को एक–दूसरे के प्रति आत्मीयता पूर्ण अधिकार सुख की उभय निष्ठ अनुभूति होती है और फिर प्रेम तृप्ति कारक अबाधित क्रिया विकसित होती है। यह क्रिया दोनों के बीच तक ही सीमित रहती है, किसी तीसरे अन्य के प्रति नहीं जाने पाती। दोनों की एक–दूसरे के प्रति सहानुभूति रहती है और यह सहानुभूति अहं जन्य आनन्द की वृद्धि करती है। इस प्रकार उत्तेजित होती हुई ये सभी अनुभूतियाँ प्रेम की मानसिक अवस्था का निर्माण करतीं है।[302] हरबर्ट के इस विवेचन में उत्तेजक परिस्थितियों का संकेत मिलता है जब कि तुलसी इस प्रेम को शारीरिक सौन्दर्य के साथ–साथ कल्याण भावना से भी जोड़ते हैं। इनके प्रेम विवेचन में उत्तेजनात्मक परिस्थितियों का लेश मात्र भी संकेत नहीं मिलता। डायोनेसियस प्रेम के बारे में लिखते हैं– प्रेम सर्वव्यापी है। सौन्दर्य और शुभम् को सभी प्रेम करते हैं।[303] मानस में शिव कल्याणकारी होने के कारण ही पार्वती जी को प्रिय थे।

तुलसी ने इस प्रेम की उत्पत्ति में रुचि की चर्चा की। उन्होंने पार्वती प्रसंग में कहा कि जो जिसे रूच जाये वही उसके प्रेम का विषय हो जाता है। महादेव अवगुणों के भवन होने पर भी इसी कारण पार्वती को परम प्रिय थे।[304] रुचि के साथ–साथ तुलसी ने यह भी बताया कि प्रिय के प्रति रुचि एक जन्म तक ही नहीं रहती। इसका सम्बन्ध प्रिय से जन्म जन्मान्तर तक रहता है। सीता–राम और शिव–पार्वती में परस्पर रुचि उनके इस विवेचन का उदाहरण है।[305] पाश्चात्य मनोविज्ञान में संवेगों का इस प्रकार का कोई विवेचन नहीं है। वहाँ तो किसी संवेग का कारण परिवार, आनुवांशिकता

और वातावरण ये तीन ही माने गये हैं।

स्त्री–पुरुष प्रेम का विवचेन प्रस्तुत करते हुए तुलसी ने एकात्मकता की भी बात की। उन्होंने बताया कि इस प्रेम में प्रिय के साथ प्राणों का सा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। प्रिय का सुख ही उसका सुख होता है ओर प्रिय का दुख ही उसका दुख होता है। वन में सीता और राम की यही स्थिति थी। जब राम दुखी होते थे तो सीता दुखी हो जाती थी और जब सीता को कोई कष्ट होता था तो राम उसका अनुभव कर तुरन्त उसे दूर करने का प्रयास करते थे।[306]

प्रेम में आकर्षण होता है। इसीलिए जो सच्चा प्रेमी होता है वह किसी प्रकार भी अपने प्रेम को नहीं छोड़ता है। पार्वती जब तपस्या में लीन होती हैं तो सप्तऋषि के अनेक प्रयास करने पर भी शिव–प्रेम को नहीं छोड़ती हैं।[307] प्रेम में एक प्रकार का नशा होता है जिसके कारण प्रेमी अपनी सुध–बुध से रहित हो पूर्ण रूप से प्रेम में लीन हो जाता है।[308] प्रेम में एक प्रकार का रस होता है जिससे मन उसका आनन्द तन्मय होकर लेता है। सीता पुष्पवाटिका में राम प्रेम में ऐसी मग्न हो जातीं है कि उनका शरीर विह्वल हो जाता है, एकटक राम को देखतीं उनकी ऑखें स्वतः बन्द हो जातीं हैं। वे राम को हृदय में बसाने लगतीं है।[309]

प्रेम संवेग ऐसा है कि इसमें प्रेम से सम्बन्धित राग की छोटी–छोटी ऊर्मियॉं लीन हो जातीं हैं। सम्बन्ध मात्र का आधार राग है किन्तु पति–पत्नी या प्रेमी–प्रेमिका या दोह पय के बीच जो प्रेम सम्बन्ध होता है इस सम्बन्ध के आगे अन्य सब सम्बन्ध फीके पड़ जाते हैं। असल में प्रेम एक ऐसा संवेग है जिसमें घनता बहुत अधिक होती है। इसमें गहराई तो समुद्र जैसी होती है किन्तु फैलाव नहीं होता है। अन्य सब राग सम्बन्धों और प्रिय से हमारे राग सम्बन्ध की जहॉं तुलना की जाय या अनेक सम्बन्धों में किसी एक को चुनने की बात आये तो व्यक्ति प्रिय के प्रेम मनोविज्ञान में प्रिय के प्रति हमारे राग में इतनी घनता होती है। इसीलिए श्रृंगार रस को रस राज कहा जाता है और पाश्चात्य मनोविज्ञान में भी स्त्री–पुरुष सम्बन्ध ही सबसे गहरा और व्यापक कहा गया है। यहॉं सीता के इस कथन से कि प्रिय के बिना सब सम्बन्ध तो नारी के लिए सूर्य से भी ज्यादा दाहक हैं। एक ओर संसार के सारे सुख हों और दूसरी ओर प्रिय का सान्निध्य तो नारी संसार के सारे सुख छोड़ देगी। बल्कि सीता की धारणा तो यहॉं यह है कि प्रिय के सान्निध्य में स्नेह के कारण वन की सारी प्रतिकूलता मेरे लिए अनुकूलता में बदल जायेगी।[310]

प्रेम के चरमसीमा तक बढ़ने पर दो की सत्ता एक दूसरे में इतनी लीन हो जाती है कि एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। कभी–कभी एक के न रहने पर दूसरे का भौतिक अस्तित्व समाप्त होते भी देखा गया है। यही भय राम को था इसीलिए उन्होंने चुपचाप सीता को अपने साथ चलने की अनुमति दे दी। कहा– "चलने की तैयारी करो।"

प्रेम में सुखद और दुखद दोनों अवस्थायें आतीं हैं। तुलसी ने इस प्रेम की इन दोनों

अवस्थाओं में नेत्रों में, भौहों में, वाणी में, हाथ–पैरों में विविध परिवर्तन दिखाये हैं। जब प्रेमी को प्रिय के मिलने की सम्भावना हो जाती है, जब प्रेमी प्रिय को अत्यन्त भावयुक्त पाता है तो इन परिस्थितियों में नेत्र जल से आपूरित हो जाते हैं। पार्वती को नारद वचनों से जब शिव जी के मिलने की सम्भावना हुई तो उनके नेत्रों में जल भर आया। वन में जब सीता जी ने राम को अत्यधिक प्रेमयुक्त देखा तो उनके नेत्रों में भी जल भर आया। दुखद परिस्थिति में प्रिय के अकल्याण की आंशका से जल भर आता है, प्रिय के कष्ट का अनुमान करके भी नेत्रों में अश्रु भर आते हैं। जब प्रिय का दर्शन अचानक और बहुत दिनों बाद हो तब प्रेमी प्रिय की छबि का अघाकर दर्शन करता हुआ नेत्रों को अपलक कर लेता है। पुष्पवाटिका में राम को देखकर सीता के नेत्र अपलक हो गये।[311] प्रिय को देखने की प्यास से प्रेमी के नेत्र चंचल भी होते देखे गये हैं।[312] तथा अतिप्रेम की अवस्था में नेत्र स्वतः ही बन्द भी होते पाये गये है।[313]

प्रेम की अवस्था में भौहों में भी परिवर्तन आ जाता है। वनमार्ग में सीता से जब गॉव की स्त्रियॉं राम का परिचय जानना चाहतीं हैं तो प्रिय का परिचय बताने के संकोच से सीता की भौहें टेढ़ी हो जातीं हैं।[314]

प्रेम जब चरमावस्था में होता है तब वाणी रूँध जाती है। अशोक वाटिका में सीता जब हनुमान से मिलतीं हैं तब वियोग दु:ख की अधिक अनुभूति होने के कारण राम के प्रेम से उनकी वाणी रूँध जाती है और वे कुछ बोल नहीं पातीं।[315] तुलसी ने बताया कि प्रेम में कभी–कभी हाथ–पॉव जकड़ने लगते हैं कानों से सुनायी नहीं देता है[316], शरीर कॉपने लगता है[317] तथा कभी–कभी शरीर जड़ अर्थात् ज्यों का त्यों भी रह जाता है।[318]

प्रेम में अनेक प्रकार की इच्छायें जन्म लेतीं हैं। इसमें प्रिय को देखने की लालसा होती है, प्रिय के सान्निध्य की इच्छा होती है, प्रिय को सुख देने की इच्छा होती है, प्रिय को अपने अनुकूल रखने की प्रवृत्ति होती है, प्रिय को सम्मान देने का भाव होता है, प्रिय को सुरक्षित रखने की चाह होती है, प्रिय कल्याण की इच्छा होती है आदि–आदि। तुलसी ने अपने साहित्य में प्रेम के इन पहलुओं को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। सीता को जब यह पता चलता है कि पुष्पवाटिका में राम आये हुए हैं तो पुराना प्रेम पुनः जाग जाने के कारण उनमें राम को देखने की बड़ी तीव्र लालसा जाग जाती है। वे शीघ्रति-शीघ्र राम को देख लेना चाहतीं है।[319] प्रेम में सान्निधय की इच्छा भी तुलसी ने कई स्थलों पर व्यक्त की है। पार्वती शिव–सान्निध्य के लिए कठोर तप के कष्ट को सहन करती है।[320] सीता भी राम सान्निध्य के लिए महलों के सुख को त्याग देती है।[321] रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि में लिखते हैं– "प्रेमी प्रिय के सम्पूर्ण जीवन क्रम के सतत साक्षात्कार का अभिलाषी होता है।"[322] सीता को सुख देने की इच्छा के कारण राम वन में अनेक प्राचीन कथाएँ और कहानियाँ कहते हैं।[323] सीता द्वारा स्वर्णमृग चाहने पर तुरन्त ही उसे लेने चल देते हैं।[324] पं0 रामकिंकर

लिखते हैं– प्रेमी के जीवन में शाश्वत् तप विद्यमान रहता है। उसकी अपनी कोई आकांक्षा नहीं होती। प्रियतम को सुख देने के लिए बड़े से बड़े कष्ट का वरण करना उसका सहज स्वभाव है।[325] प्रेम में प्रिय को अनुकूल रखने की बहुत अधिक प्रवृत्ति होती है। शिव जी जब सती से उदासीन रहने लगे तब सती ने उन्हें अनुकूल करने के लिए योगाग्नि से अपने प्राण तक त्याग दियें हैं।[326] सती शिव जी को सम्मान देने की इच्छा से सदैव आदर सूचक शब्दों का प्रयोग करतीं है।[327] दक्ष यज्ञ में जाने के लिए वे शिवजी से उनके उदासीन रहने पर भी अनुमति माँगती है क्योकि वे शिवजी की इच्छा के बिना यज्ञ में नहीं जाना चाहती हैं।[328] प्रेम में प्रिय को सुरक्षित रखने की इच्छा के कारण राम सीता को खर दूषणयुद्ध के दौरान लक्ष्मण के साथ गिरि–कंदर में भेज देते हैं।[329] रावण के कृत्यों से उसकी मृत्यु की आशंका हो जाने पर मंदोदरी अनेक बार उसे कल्याण कारी सीख देती है।[330]

तुलसी ने विचार किया है कि प्रेम में अनेक भावों का भी जागरण होता है। प्रेम में अनुकूल परिस्थिति होने पर हर्ष/प्रसन्नता होती है, प्रेम में प्रिय से मिलने की अधीरता होती है। प्रेम में यदि प्रिय के सान्निध्य छूटने का भय हो जाये/प्रिय के अनिष्ट की आशंका हो जाये तो इन परिस्थितियों में दुःख, चिन्ता तथा भय इन भावों का जागरण हो जाता है। प्रिय के अपमान से प्रेमी का हृदय क्रोध और घृणा से भी भर जाता है। प्रिय को देखने की इच्छा से उत्कष्ठा, इस इच्छा को व्यक्त न कर पाने से संकोच तथा अधिक से अधिक रूप का पान कर लेने के कारण लोभ की भावना भी उदय होती है। अशोक वाटिका में जब सीता को हनुमान से रावण–मृत्यु का समाचार मिला तो राम से मिलने की सम्भावना से वे अत्यधिक हर्ष से भर गयीं।[331] राम ने सुग्रीव के दिखाने पर जब सीता के वस्त्राभूषण देखे तो वे मिलने की इच्छा से अधीर हो उठे।[332] राम को वन जाने के लिए तैयार सीता वियोग दुःख से अत्यधिक व्याकुल हो गयी।[333] दक्ष–यज्ञ में सती ने शिव जी का अपमान होते देखा तो वे इसे सहन न कर पाने के कारण अत्यधिक क्रोध से भर उठी।[334] सखी से राम का सौन्दर्य सुन सीता में दर्शन की उत्कण्ठा जाग गयीं लेकिन संकोच के कारण वे इसे व्यक्त न कर सकीं।[335] फिर जैसे ही उन्हें राम के दर्शन हुए वे अधिकाधिक दर्शन सुख लेने की इच्छा से लोभवश हो गयीं।[336]

तुलसी ने बताया कि पति–पत्नी प्रेम अनेक मधुर परिस्थितियों में उद्दीप्त हो जाता है और किसी गम्भीर परिस्थिति के आने पर मंद पड़ जाता है।[337] इस तरह से तुलसी ने प्रेम पर वातावरण के प्रभाव की बात की। सीता पुष्पवाटिका में जब राम का प्रथम दर्शन करतीं हैं तो प्रेम से बहुत अधिक विह्वल होने लगतीं हैं। वे सौन्दर्य को एकटक देखती हुई सुध–बुध से रहित हो जातीं हैं।[338] इसके पश्चात् जब सीता राम को जयमाल पहनाने के लिए समीप जाती है तो अति समीप से राम की शोभा देखकर भी वे चित्रलिखी सी रह जाती हैं और जयमाल पहनाना भूल जाती हैं।[339] विवाह का क्षण इस प्रेम को उद्दीप्त करने में बहुत अधिक प्रभावशाली होता है। सीता और राम इस अवसर पर एक दूसरे को सबकी दृष्टि बचाकर देख लेते हैं। वे ऐसा करके प्रेम के अकथनीय यप को व्यक्त करते हैं।[340]

तुलसी बताते हैं कि प्रेम उस परिस्थितिं में भी बहुत उद्दीप्त रहता है जब व्यक्ति प्रिय को पाने के लिए प्रयास रत रहता है। पार्वती शिव जी के लिए तपस्या करतीं हैं। तपस्या के समय वे प्रियकेप्रेम में ऐसी मग्न रहतीं हैं कि उन्हें सुध-बुध नहीं रहती। उनके हृदय में प्रिय के प्रति नित्य नया अनुराग जागता रहता है। उन्हें न सुख का ध्यान रहता है न दुख का।[341] प्रिय में प्रेम को देखकर भी प्रेमी प्रेम से पुलकित हो जाता है, धनुष भंग करने के लिए उद्यत राम सीता में विशेष प्रेम को लखकर पुलकित हो गये।[342] इसी प्रकार वन में राम जब प्रेम से पूर्ण हो सीता के पैर से काँटा निकालते हैं तो सीता प्रेम से ऐसी पुलकित हो जाती हैं कि उनकी आँखों से प्रेमाश्रु निकलने लगते हैं।[343] तुलसी का कहना है कि प्रेम वियोग की अवस्था में तो बहुत ही अधिक उद्दीप्त रहता है। राम सीता के वियोग में दुखी जैसे ही सीता के आभूषण और वस्त्र देखते हैं प्रेम से विह्वल हो जाते हैं। उनके शरीर में कम्पन तथा पुलकावली होने लगती है और नेत्रों में जल भर जाता है।[344]

प्रेम की बाधक परिस्थितियों की बात करते हुए तुलसी कहते हैं कि जब प्रेमी धर्म संकट में पड़ जाता है अर्थात् उसके समक्ष जब एक ओर तो कर्तव्य/सिद्धान्त निर्वाह की बात रहती है दूसरी ओर प्रेम के निर्वाह की बात रहती है तो ऐसी परिस्थिति में प्रेम का प्रवाह मंद हो जाता है। वन जाते समय राम ऐसी ही परिस्थिति से ग्रस्त हो सीता को वन चलने की अनुमति ने दे सुन्दर कल्याणकारी सीख देने लगते हैं।[345] प्रिय मिलन में जब कोई ऐसी बाधा आती है कि उसका दूर होना बहुत असम्भव होता है तो ऐसी अवस्था में भी प्रेम का प्रवाह बाधित हो जाता है। सीता में राम के प्रति प्रेम पिता के प्रण को स्मरण कर बाधित हो गया। उनका मन क्षुब्ध हो गया, आँखे मन में विलाप करने लगीं।[346]

तुलसी ने प्रेम विश्लेषण में प्रेम की आवश्यकता पर भी विचार किया है। पति-पत्नी प्रेम में पत्नी सदैव पति की अनुमति से ही कोई काम करती है। पत्नी जब भी किसी कार्य के लिए पति से अनुमति लेती है, तो बड़ा प्रेम व्यक्त करते हुए लेती है क्योंकि प्रेम के द्वारा ही किसी को अपने अनुकूल किया जा सकता है। सती दक्ष-यज्ञ में जाना चाहतीं हैं और वे इसके लिए शिवजी से बड़ी प्रेमपूर्ण वाणी से अनुमति मांगती हैं।[347] यदि प्रिय की प्राप्ति प्रेम के सत्य सिद्ध हो जाने पर ही निर्भर है तो हम प्रिय से सम्बन्धित जो भी कार्य करते हैं प्रेम से पूर्ण होकर करते हैं। पार्वती शिव को पाने के लिए जो तप करती हैं उसे प्रेमपूर्ण होकर इसीलिए करती हैं।[348] पति पत्नी को कोई बात प्रेम पूर्वक ही समझाता है। नारद वचनों से चिन्तित हुई मैना को हिमवान् प्रेम पूर्वक समझाते हैं।[349] प्रिय से कोई इच्छा प्रेम व्यक्त करते हुए कहीं जाती है। वन में सीता ने राम से स्वर्ण मृग पकड़ने के लिए बड़े प्रेम से कहा।[350] व्यक्ति अपनी किसी जिज्ञासा को बड़ा प्रेम व्यक्त करते हुए प्रिय के सम्मुख रखता है। पार्वती ने राम के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा शिव जी से प्रिय वचनों में व्यक्त की।[351]

तुलसी ने प्रेम के निर्वाह की बात करते हुए कहा कि पति–पत्नी एक दूसरे के प्रति प्रेम का निर्वाह कई प्रकार से करते हैं। और इसके लिए कष्ट भी सहते हैं। प्रेम में प्रिय ही सबकुछ होता है इसलिए यदि कोई पति का अपमान करे तो यह पत्नी को सहन नहीं हो पाता। वह इसका बदला लेती है और यहाँ तक कि वह अपने प्राणों का परित्याग भी कर देती है। दक्ष यज्ञ में शिव का अपमान देख सती ने यही किया।[352] यदि कोई प्रिय के दोषों को गिनाए और सुखों का लोभ देकर हमें प्रिय से उदासीन करना चाहे तो ऐसी अवस्था में हम भाँति–भाँति के कष्टों को सहते हुए प्रेम को दृढ़ रखते हैं। रावण के वचनों से प्रभावित न हो सीता अनेक कष्टों को झेलती प्रेम में दृढ़ रही।[353] प्रिय को संकट में जानकर उसकी सहायता के लिए किसी को भेजकर भी प्रेम का निर्वाह होता है। मृग को लेने के लिए गये राम की करुण आवाज सुनकर सीता ने तुरन्त लक्ष्मण को सहायतार्थ भेजा।[354] प्रिय के अनिष्ट की सम्भावना होने पर व्यक्ति विवेक का मार्ग छोड़ना अनुचित होने पर भी उसे छोड़कर भावना के मार्ग को अपनाता है। सीता के प्राणों का संकट देख राम अनुचित होने पर सीता को वन ले चलने के लिए तैयार हो गये।[355] इन उपर्युक्त परिस्थितियों के अतिरिक्त प्रिय के संदेहों का नाश करके[356] तरह–तरह की सीख[357] देकर भी प्रेम का निर्वाह किया जाता है।

तुलसी ने इस प्रेम की शक्ति के बारे में बताया कि इसमें ऐसी असीम शक्ति होती है कि यह वेराग्य वान को राग युक्त कर देता है और कर्तव्यनिष्ट को अपने पथ से विचलित कर देता है। लेकिन पार्वती ने अपनी तपस्या से प्रेम के बल पर शिव जी में राग का जागरण कर दिया।[358] इसी प्रकार राम सीता को वन ले चलना ठीक नहीं समझ रहे थे। लेकिन सीता के प्रेम के समक्ष उनका नीति ज्ञान कोई महत्व न रख पाया।[359]

कोई भी संवेग हो, हृदय में उत्पन्न होने के बाद उसका धीरे–धीरे पोषण होता है। यह पोषण कई प्रकार से होता है। तुलसी ने बताया कि जब मन निरन्तर प्रिय के प्रेम में मग्न रहे, उसी का केवल ध्यान करता रहे तो धीरे–धीरे प्रेम पुष्ट हो जाता है। पार्वती का शिव प्रेम तपस्या द्वारा इसी तरह पुष्ट हुआ।[360] प्रिय को बार–बार देखने से भी प्रेम पुष्ट होता है। पुष्पवाटिका में सीता फिर–फिर कर राम को देखतीं हैं। ऐसा करने से उनका प्रेम बहुत अधिक बढ़ जाता है।[361] प्रिय का कार्य स्वयं करने से भी प्रेम प्रगाढ़ता को प्राप्त होता है। अयोध्या में सीता अनेक सेवकों के होने पर भी राम का कार्य स्वयं करतीं हैं।[362] वियोगावस्था में असहनीय कष्ट सहने से तो प्रेम बहुत ही अधिक पुष्ट होता है। अशोक वाटिका में सीता ने राम वियोग में असहनीय कष्टों को सहन कर अपने प्रेम को पुष्ट किया।[363]

प्रेम में अनेक क्रियाओं को सार्थक करने की भी शक्ति होती है। तुलसी ने बताया कि यदि हम प्रिय को पाने के लिए प्रिय का ध्यान कर रहे हैं तो हमारे ध्यान करने की क्रिया प्रेम पूर्वक होने पर ही सार्थक हो पाती है। पार्वती ने तप करने के दौरान प्रेम पूर्ण होकर ही शिव का ध्यान किया।

ऐसा करने के कारण ही उन्हें शिव की प्राप्ति हुई।[369] जब प्रेमी प्रिय को देखता है तो तुलसी का विचार है कि उसका यह देखना प्रेम पूर्वक ही होना चाहिए। विवाह मण्डप में सीता–राम एक दूसरे को प्रेम युक्त होकर ही देखते हैं।[365] प्रेमी जब प्रिय का सम्मान करता है तो यह सम्मान प्रेम पूर्वक होने पर ही सार्थक हो पाता है। वन मार्ग में सीता राम के चरण–चिन्हों को प्रेमपूर्वक बचा–बचाकर चलतीं हैं।[366] प्रेम में प्रिय को सजाने का भी क्रम चलता है। प्रेमी जब प्रिय को सजाता है तो वह ऐसा करते अवश्य ही प्रेमपूर्ण रहता है। वन में एक बार राम सीता को बड़े प्रेम से पुष्प के गहने पहनाते हैं।[367] प्रेम में प्रिय को हृदय से लगाने की क्रिया भी प्रेम पूर्वक होने पर ही सार्थक होती है। खरदूषण पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् जब सीता राम के चरणों को छूतीं हैं तो राम प्रसन्नता से युक्त होकर उन्हें हृदय से लगा लेते हैं।[368] प्रिय की सेवा भी प्रेम पूर्वक करने पर ही सार्थक होती है।[369]

तुलसी ने प्रेम को मानवीय स्वभाव से भी जोड़ा है। उन्होंने बताया कि पति–पत्नी प्रेम वैराग्यवान में बड़ी कठिनता से उत्पन्न हो पाता है। पार्वती ने जब शिवजी के लिए तप किया तो शिवजी पर वैराग्य धारण कर लेने के कारण कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा। राम ने स्वयं जब शिवजी से विवाह के लिए कहा तब वे स्वामी की आज्ञा समझकर इसके लिए तैयार हुए। उनमें पार्वती के प्रति अपार प्रेम तो तब जाग्रत हुआ जब वे सप्त ऋषियों द्वारा ली गई परीक्षा में सफल हुई और फिर बाद में राम के प्रति अपनी भक्ति से शिवजी को अवगत कराया।[370] भक्ति से ओत प्रोत हृदय में यह प्रेम तभी तक टिकपाता है, जब तक भक्त की भक्ति में बाधक नहीं बनता। जैसे ही बाधक होता है वैसे ही नष्ट हो जाता है। शिवजी का सती प्रेम राम भक्ति में बाधक होते ही नष्ट हो गया।[371] यदि किसी के हृदय में कोई प्रेम सुप्त हो गया है तो उसके हृदय में वह प्रेम प्रिय की चर्चा सुनकर बहुत जल्दी जाग जाता है। पार्वती में शिव प्रेम सुप्त हो गया था। जैसे ही नारद जी से उन्होंने शिव लक्षणों को सुना वे प्रेम के वश हो गयी।[372] पति व्रत धर्म का पालन करने वाली स्त्री में पति प्रेम बड़ा ही दृढ़ रहता है। सप्त ऋषियों के पथ भ्रष्ट करने पर भी पार्वती ने शिव प्रेम नहीं छोड़ा।[373] जिसकी प्रेम में प्रिय से अत्यधिक एकात्मकता स्थापित हो जाती है वियोगावस्था में उसके प्राण निकलने लगते है। अशोक वाटिका में राम वियोग से सीता की ऐसी ही दशा हो गयी।[374] तामसी प्रकृति वाले व्यक्ति में यह प्रेम वासना प्रधान होता है। मंदोदरी जब रावण को कोई सीख देती है तो रावण उसे हृदय से लगाकर चल देता है और मंदोदरी की बात को नहीं सुनता है।

जिस प्रकार पौधे के लिए उपयुक्त भूमि की आवश्यकता होती है किसी भी संवेग के विकास के लिए उसके अनुकूल मन का होना आवश्यक है। पति–पत्नी प्रेम एक सांसारिक संवेग है इसलिए इसके लिए संसार के प्रति उन्मुख हृदय की ही आवश्यकता होती है शिवजी के हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो गया था। इसलिए सभी देवताओं ने पार्वती के प्रति प्रेम जगाने के लिए पहले काम जाग्रत करने का प्रयास किया।[375] पति–पत्नी प्रेम के लिए पति क़ी पत्नी के प्रति और पत्नी की पति के प्रति रुचि भी होना आवश्यक है। रुचि होने पर फिर पति–पत्नी को कोई अशुभ लक्षण भी प्रेम में बाधक

नहीं बनता है।[376]

तुलसी ने इस प्रेम के महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक तत्व नष्ट होने पर भी विचार किया है। संवेगों का मनोविज्ञान कार्य–कारण सम्बद्ध होता है। इसके लिए मनोविज्ञान में ऐसा कहा जाता है कि यदि ऐसा–ऐसा होगा तो ऐसा–ऐसा होगा। लंकिन संवेगों की उत्पत्ति, विकास इतना यान्त्रिक ओर वस्तुनिष्ठ नहीं है। इसके लिए सबसे बड़ी शर्त है– व्यक्ति का मनोभाव उस संवेग के संचरण के लिए अनुकूल हो। यदि मनोभाव अनुकूल नहीं है तो परिस्थितियाँ वही रहने पर भी मनोवेग पूर्ण रूप से उत्पन्न नहीं होगा। यहाँ यह भी होता है कि जिसके प्रति या जिस प्रेरक के कारण जो संवेग जाग्रत होता रहा है सदा वही जाग्रत होता रहेगा, ऐसा भी नहीं है। यदि प्रेरक में प्रेम संवेग का विरोधी या कोई ऐसा संवेग जो प्रिय को आघात पहुँचा सकता है, जाग गया है अथवा प्रिय पर उसे विश्वास न हो, प्रिय की वह बात न माने तो फिर परिस्थिति होने पर भी प्रिय में पहले का मनोभाव नहीं जागेगा। पूर्व अभ्यास और पूर्व स्मृतियों के कारण वह संवेग जागेगा तो किन्तु उसकी बाहर–भीतर पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होगी। शिव–सती प्रसंग में यही हुआ। जो सती शिव की परम प्रिय थी वही सीता का वेश धारण करने के कारण अर्थात् शिव के प्रति अक्षुण्ण प्रेम और विश्वास के बाधित होने और उसके ठीक विपरीत हठवश संदेह निवारण और कौतूहल शान्त करने के लिए जागे मनोभाव के कारण फिर पहले का प्रेम उनके हृदय में जागने पर भी अपनी अभिव्यक्ति नहीं पा सका। उसमें एक प्रकार से अवरोध लग गया।

प्रेम सम्बन्धी संवेगों का मनोविज्ञान प्रिय प्रेम पात्र और परिस्थिति इन तीनों से नियन्त्रित और परिचालित होता है। इसमें जहाँ प्रेम पात्र का मूड मनोभाव/संवेगों के जागरण को सम्भव या बाधित करता है वहीं प्रिय का मूड भी उन्हें सम्भव या बाधित करता है। प्रेम पात्र के मन में कोई संवेग उठ भी रहा हो लेकिन यदि प्रिय का मनोभाव उसके विपरीत है या उसके मन में प्रेम पात्र के किसी अप्रत्याशित आचरण के कारण कोई दूसरा संवेग उत्पन्न हो गया है तो वह पुराना संवेग उत्पन्न नहीं होगा और यदि होगा भी तो उसकी अभिव्यक्ति अन्य संवेग के कारण बाधित हो जायेगी। शिव–सती प्रसंग में शिव में प्रेम संवेग पुनः उत्पन्न होना इसीलिए अमनोवैज्ञानिक था क्योंकि सती ने सीता का रूप धारण कर लिया था। इसलिए सती को देखकर उनके मन में सीता का वही रूप तैरने के कारण सती के प्रति प्रीति का संवेग उठना असम्भव था क्योंकि संवेगों का मनोविज्ञान सदा सापेक्ष होता है निरपेक्ष नहीं होता। कई बातों का उनकी अभिव्यक्ति पर प्रभाव पड़ता है।

प्रेम के मनोविज्ञान की सहजता प्रिय और प्रेम पात्र दोनों को एक कर देने में है। दोनों के हृदय और मन एक होते हैं। इसका विकास यहाँ तक होता है कि दोनों के हृदय में एक ही समय में एक ही संवेग या विचार या भाव जागता है। इसी में इस संवेग का रस और आनन्द है। प्रेम संवेग की धारा दोनों ओर सदा प्रवाहित होती रहती है। उन दोनों में एकात्मकता उत्पन्न हो जाती है। इसीलिए प्रेम संवेग निश्छलता, निष्कपटता में ही अंकुरित होता है। निश्छलता के कारण प्रेम संवेग

में सुगन्ध आती है और वह चारों ओर फैलती है। लेकिन जब उसमें छिपाव, कपट, छल उत्पन्न हो जाता है तो संवेग की अविच्छिन्न धारा में बाधा पेदा हो जाती है, मन की एकता भंग हो जाती है फिर उनकी जो मानसिक एकता होती है वह टूट जाती है। शिव–सती प्रसंग में यही हुआ। शिव और सती के बीच प्रेम की जो अक्षुण्ण धारा बह रही थी वह दूध और पानी की तरह घुली मिली थी। दूध में मिलकर पानी दूध के ही भाव बिकने लगता है। उसका मूल्य बढ़ जाता है किन्तु दूध में खटाई डाल दी जाये तो फिर दूध और पानी अलग हो जाते हैं। इसी तरह जिनमें अत्यधिक प्रेम है यदि उनमें छल आ जायेगा तो फिर प्रेम संवेग विखर जायेगा। शिव और सती में जो चिर संयोग था, दोनों अभिन्न थे वह अभिन्नता सती के हृदय में छिपाव और छल आने के कारण भंग हो गयी।[377]

तुलसी ने विशेषताओं के आधार पर इस प्रेम के अनेक प्रकारों का भी संकेत किया है। उन्होंने बताया कि जिस प्रेम का प्रेमी मन, वचन और कर्म से पालन करता है उस प्रेम को मन, वचन और कर्म से सत्य प्रेम कहते हैं। सती में शिव के प्रति ऐसा ही प्रेम था।[378] एक होता है स्नेह और एक होता है अधिक स्नेह। स्नेह में तो बुद्धि जाग्रत रहती है लेकिन अधिक स्नेह में व्यक्ति का बुद्धि पर कोई वश नहीं रहता। वह स्नेह से विह्वल हा पड़ता है। पुष्पवाटिका में सीता राम दर्शन कर अधिक स्नेह के कारण विह्वल हो उठीं।[379] तुलसी ने एक प्रेम विशेष प्रेम बताया। इस प्रेम में प्रिय को प्राप्त करने की बड़ी बेचैनी रहती है। क्षण–क्षण युग–युग के समान लगता है। यज्ञ शाला में सीता में इसी प्रकार का प्रेम दिखलायी पड़ता है।[380] जो प्रेम मन में छिपा रहता है उसे गुप्त प्रेम कहा जाता है। सीता में राम के प्रति इसी प्रकार का प्रेम है।[381]

मातृ–भावना अर्थात् वात्सल्य वृत्ति :

आचार्य विश्वनाथ लिखते हैं कि वात्सल्य भाव पुत्र आदि आलम्बन के प्रति होता है। विद्या, शौर्य, दया, आदि उसकी चेष्टायें उद्‌दीपन हैं और आलिंगन, अंग–स्पर्श, शिर–चुम्बन, स्नेहपूर्ण वीक्षण, रोमांच, आनन्दाश्रु आदि अनुभाव कहे गये हैं। अनिष्टा शंका, हर्ष, गर्व आदि इसके संचारी भाव हैं।[382] तुलसी ने अपने साहित्य में प्रेम के इस रूप को इन्हीं सब विशेषताओं से युक्त किया। उन्होंने इसके अनेक प्रसंग रखे–दशरथ तथा तीनों रानियों का राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न के प्रति प्रेम का प्रसंग, हिमवान्– मैना का पार्वती के प्रति प्रेम का प्रसंग, सुनयना–जनक का सीता के प्रति प्रेम का प्रसंग, रावण का मेघनाद के प्रति प्रेम का प्रसंग आदि। इन प्रसंगों के अतिरिक्त कुछ गौण प्रसंग भी हैं जैसे– जटायु/अहल्या/त्रिजटा का सीता के प्रति वात्सल्य, सीता का हनुमान के प्रति वात्सल्य। तुलसी के इन प्रसंगों का सूक्ष्म विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि उनके मुख्य प्रसंगों में तो प्रेम पारिवारिक सम्बन्ध के कारण उद्‌भूत हैं लेकिन गौण प्रसंगों में प्रेम का कारण प्रिय के गुण हैं। मैक्डूगल इस प्रेम की विकास प्रक्रिया बताते हुए लिखते हैं– अपनी असहायता, कोमलता अथवा पीड़ा से शिशु सहृदय माता–पिता के अन्तर में इसका उद्रेक कर देता है और उनमें विभिन्न सुकुमार क्रियाओं की अभिव्यक्ति होती है। इस स्थिति की बार–बार पुनरावृत्ति होने से भाव को सघनता प्राप्त होती है।

यहाँ तक कि शिशु का विचार मात्र इसकी जागृति करा देने में समर्थ हो जाता है। इसके परिणाम स्वरूप शिशु में माता–पिता को आकृष्ट करने एवं उनके ध्यान को अपने में रमा रखने की विशिष्ट क्षमता आ जाती है जिससे उनमें शिशु के प्रति दया, विस्मय, श्लाघा, कृतज्ञता, चिन्ता एवं सहानुभूत्यात्मक सुख–दुःख तथा अन्यों के द्वारा शिशु की उपेक्षा आदि से उन पर त्वरित रोष आदि अनेक भाव उदित होते हैं। माता–पिता के आत्माभिमान अथवा आत्महीनता आदि भावों के मिश्रण से इस प्रकार सघनतर बना वात्सल्य और भी जटिल भाव की स्थिति प्राप्त कर लेता है।[383]

तुलसी ने मातृ–पितृ प्रेम का प्रत्येक परिस्थिति में सूक्ष्म अध्ययन किया है। उन्होंने बताया है कि वात्सल्य वृत्ति सन्तान के जन्म पर सर्वप्रथम तथा विशेषता के साथ उमड़ती है। जैसे ही पिता पुत्र जन्म सुनता है वह आनन्द और प्रेम से पुलकित अधीर और शिथिल शरीर का हो जाता है। वह बड़ी मुश्किल से धैर्य धारण कर पाता है। धैर्य धारण कर लेने के उपरान्त वह बाजे आदि बजवाता है तथा अन्य प्रकार से भी अपने आनन्द को सभी में बाँटता हुआ जातकर्म– संस्कार करता है। राम के जन्म समाचार से दशरथ में पुत्र प्रेम इसी रूप में व्यक्त हुआ।[384] वात्सल्य स्नेह में शिशु का तरह–तरह से दुलार करने की प्रवृत्ति होती है। माता को पुत्र स्नेह में समय का बीतना नहीं जान पड़ता। वह अपने पुत्र को हिलाती है, डुलाती है, और कभी पालने में उसे लिटाकर झुलाती भी है। वह शिशु के बाल– चरित्रों का तरह–तरह से गान भी करती है। कौसल्या राम के प्रति अपने प्रेम को इसी प्रकार व्यक्त करती है। वह शिशु राम का श्रृंगार करती है, उनका मुख निहारती हैं और दुग्धपान कराती है। उन्हें वे हृदय से लगा लेतीं है तथा राम के बड़े होने की कल्पनायें करने लगतीं हैं।[385] वात्सल्य प्रेम की इतनी प्रबलता होती है कि व्यक्ति प्रिय को साफ–सुथरा न होने पर भी गोद में बैठा लेता है। राम धूल से भरे हुए थे तब भी दशरथ जी ने उन्हें बड़े स्नेह से अपनी गोद में बैठा लिया और भोजन कराने लगे।[386] वात्सल्य स्नेह में माता–पिता को अपनी सन्तान के भविष्य की/उसके कल्याण की बड़ी चिन्ता होती है। वह सन्तान के कल्याण को ध्यान में रखते हुए इसके लिए तरह–तरह के उपाय करता है और यदि जरा भी उसके अनिष्ट की आशंका होती है दुःख से व्याकुल हो जाता है। सीता के कल्याण कामना से ही जनक जी ने धनुष भंग का आयोजन किया था और मैना और हिमवान् पुत्री पार्वती के पति के अशुभ लक्षणों को सुनकर अनिष्ट आशंका से व्याकुल हो गये थे।[387] माता–पिता संतान के कष्ट को जरा भी सहन नहीं कर पाते हैं। पार्वती जब शिव जी के लिए तपस्या करने जातीं है तब मैना और हिमावान तथा परिवार के अन्य प्रियजन सभी व्याकुल हो जाते हैं।[388] वात्सल्य में हृदय बड़ा दुर्बल हो जाता है। व्यक्ति प्रेम वश हुआ प्रिय की सामर्थ्य को भूल जाता है। राम जब धनुष तोड़ने के लिए उठते हैं तो सुनयना उनकी सुकुमारता और धनुष की कठोरता को देखकर व्याकुल हो जातीं हैं।[389]

तुलसी ने वात्सल्य का वियोग के क्षणों में गम्भीर अध्ययन किया है। उन्होंने बताया कि यों तो यदि प्रिय से वियोग हो जाने की आशंका हो जाये तो व्यक्ति व्याकुल हो ही जाता है

लेकिन यदि कोई किसी प्रकार का षडयंत्र रचकर व्यक्ति को इस प्रकार विवश कर दे कि स्वयं उसे ही अपने प्रिय को दीर्घकाल के लिए कष्टदायक स्थान में भेजना पड़े तो ऐसी अवस्था में उसकी अवस्था बड़ी दयनीय हो जाती है। दशरथ के साथ ऐसा ही हुआ। कैकेयी ने उन्हें राम को वन भेजने के लिए विवश किया। जैसे ही उन्होंने कैकेयी के वचन सुने वे व्याकुल हो गये, विलाप करने लगे, उनका शरीर शिथिल पड़ गया। वे सिर पीटकर जमीन पर गिर पड़े उनका कण्ठ सूखने लगा, वे तड़पने लगे और कैकेयी की भर्त्सना करने लगे।[390]

उपर्युक्त परिस्थिति में जैसे–जैसे वियोग का समय निकट आता है वैसे–वैसे व्यक्ति की दशा गम्भीर होती चली जाती है। दशरथ जी को रात में नींद नहीं आती, वे मन ही मन भगवान की शरण में जाते हैं। वे सूर्य भगवान से प्रार्थना करते हैं कि वे उदय न हों क्योकि यदि सूर्योदय हो गया तो राम वन चले जायेंगें। बुलाये जाने पर जब राम आतें हैं तो दशरथ देर तक उन्हें देखते रहते हैं, उनके नेत्रों से आँसू बहने लगते हैं वे ऐसी दशा में राम से कुछ कह नहीं पाते और बार–बार प्रिय को हृदय से लगाते हैं।[391] जब प्रिय से वियोग का समय आ जाता है तब तो व्यक्ति की दशा बहुत ही अधिक गम्भीर हो जाती है। वह मूर्च्छित हो जाता है और जब उसे होश आता है और यह पता चलता है कि उसका प्रिय सचमुच उससे दूर चला गया है तो वह व्याकुल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ता है। उसके भयानक जलन होने लगती है, वह तड़फने लगता हैं। उसकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो जाती है, प्राण कण्ठ में आ जाते हैं और वह प्रिय को पुकारते–पुकारते प्राण त्याग देता है। राम के वियोग में दशरथ ने राम–राम कहकर इसी प्रकार प्राण त्याग दिये।[392]

तुलसी ने प्रेम की उपर्युक्त स्थिति अंध प्रेम के प्ररिप्रेक्ष्य में दिखायी लेकिन जिस प्रेम में विवेक का नाश नहीं होता उसके सम्बन्ध में उनका कहना है कि जैसे ही व्यक्ति को पता चलता है कि उसके प्रिय को दूर कष्टदायक स्थान में जाना पड़ रहा है तो उसके हृदय में वाण लगने के समान कसक होने लगती है, वह सहम जाता है। उसके हृदय में अकथनीय विषाद होने लगता है लेकिन फिर तुरन्त ही धैर्य धारण कर सारी बात समझता है और फिर विवेक पूर्ण निर्णय लेकर अपने को संभालता है। कौसल्या को जब यह पता लगा कि राम को माता और पिता दोनों की आज्ञा प्राप्त हो गयी है तो वह भी राम को वन जाने की अनुमति दे देती है और साथ ही अनेक शिक्षायें भी देती है। वह राम के वनगमन में बाधक नहीं बनतीं।[393] मोह और आसक्ति बढ़ाने वाले प्रेम में विवेक दब जाता है और कर्तव्यपालन में व्यक्ति प्रमाद कर बैठता है जिससे समाज में यश समाप्त होकर उसका अपयश फैल जाता है।[394]

तुलसी ने प्रेम के प्रत्येक रूप का अध्ययन किया है। कौसल्या में सीता के प्रति जो प्रेम का विकास था उसको समझने से ज्ञात होता है कि तुलसी ने एक प्रेम सहज प्रेम माना है और प्रेम का आधार व्यक्ति का रूप/शील/गुण माना है। कौसल्या का सीता के प्रति यही प्रेम था

इसीलिए पुत्र वधू के रूप में आने के बाद सीता को उन्होंने नेत्रों की पुतली की तरह चाहा था और उसी तरह से प्रेम बढ़ाया था। प्राणों की तरह उनकी रक्षा की थी। जिस तरह से कल्पलता को व्यक्ति इच्छापूर्ति के लिए जल में सींचता है इसी तरह से सीता रूप कल्पलता को उन्होंने स्नेह रूपी जल से सींचा था। जब उस लता में फल-फूल आने का समय आया तभी वनगमन का प्रसंग उपस्थित हो गया। इसीलिए कौसल्या कहतीं है कि भाग्य मेरे विपरीत हो गया। पता नहीं आगे क्या परिणाम हों। यहाँ पर प्रेम में कामना भी मिली हुई है और जब उस कामना की पूर्ति में विपरीत भाग्य के कारण अवरोध आया तो कौसल्या और दुखी हो गयी।[395]

तुलसी इसी प्रेम के विवेचन के दौरान यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि कभी-कभी प्रेम के केन्द्र पर सबका जीवन निर्भर रहता है। तुलसी ने राम को प्राणों का प्राण और जीवन का जीवन बताया है। यहाँ (राम वनगमन प्रसंग में) यह कैसे सम्भव था कि प्राणों के प्राण और जीवन के जीवन राम का विछोह परिजन तथा अवधवासी बिना प्राण त्यागे सह लें। उनकी प्राण रक्षा का भी तो कोई न कोई आधार होना चाहिये। यहाँ प्रेम संवेग के मनोविज्ञान की एक दो विचित्र बातों पर ध्यान जाना आवश्यक है। प्रेम में व्यक्ति प्रिय को देखना चाहता है अगर परिस्थितिवश वह दूर चला जाये फिर भी उससे मिलने /उसे देखने की आशा ही उसके प्राणों को धारण करती है और जब आने या दूर रहने की अवधि तय हो तो आशा उसी अवधि के सहारे व्यक्ति को जीवित बनाये रखती है। अगर उस अवधि पर प्रिय न आये तो निराशा के आघात अथवा आशा टूटने से उसकी मृत्यु हो सकती है। इसलिए यहाँ कौसल्या उसी अवधि को जल और प्रिय परिजनों को मीन बताकर राम से यह कहना चाहतीं है कि यदि तुम परिजनों को जीवित देखना चाहते हो तो उस अवधि के बीतते ही अवश्य आ जाना। प्रिय जब दूर चला जाता है और उसके लौटने की अवधि तय होती है तो सभी इसीलिए जीवित रहना चाहते हैं कि उसे पुनः आँखों से देख लें। उससे मिलने और देखने की इच्छा कभी नहीं जाती। इसीलिए जो किसी से इतना प्रेम करता है कि उसी पर उसका जीवन निर्भर है तो उसका भी यह कर्तव्य है कि अपने सान्निध्य सुख से उसके प्राणों की रक्षा का उपाय करे।[396]

राम के वनगमन के पश्चात् भरत और शत्रुघ्न को राम वियोग में व्याकुल देखकर कौसल्या ने अपने स्नेह का प्रदर्शन किया। कौसल्या के उस स्नेह का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने से कुछ महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष सामने आते हैं। उन्होंने जिस स्नेह का प्रदर्शन किया वह कौसल्या ही कर सकतीं थीं। उनके इस स्नेह की सबने प्रशंसा की।

असल में पाश्चात्य मनोविज्ञान या संवेगों की सहज अभिव्यक्ति के अनुसार यहाँ कौसल्या का व्यवहार अत्यन्त उदात्त और संतुलित है। उसे असामान्य अर्थात् एवनार्मल नहीं कहा जा सकता। कारण उनका विवेक उनके साथ है। यहाँ प्रेम में मनोवेगों की सहजता के अनुसार कौसल्या

के मन में भरत के प्रति अत्यधिक स्नेह या वात्सल्य नहीं उमड़ना चाहिये था क्योंकि उनका पुत्र/पुत्र वधू और पुत्र का अनन्य सेवक लक्ष्मण भरत के कारण वन ही नहीं गये उन्हें राज्याभिषेक से भी वंचित होना पड़ा था किन्तु कौसल्या ने तो अपने पुत्र स्नेह का ही परिचय दिया। भरत को देखकर उन्हें अपने दुःख का कारण न समझकर उनके दुःख से दुखी हो गयीं। गले लगाते समय उन्हें ऐसा लगा जैसे मेरा पुत्र राम ही आ गया है वे अपना सारा दुःख भूल गयीं। वे जानतीं थीं भरत के पीछे जो कुछ हुआ उसमें भरत का हाथ नहीं था। यहाँ कौसल्या ने जिस अपत्य स्नेह का परिचय दिया वह अत्यन्त परिष्कृत संतुलित मानसिक स्थिति का ही परिणाम है। संवेगों के मनोविज्ञान, उनके उद्‌भव और विकास की दृष्टि से यह स्थल इसीलिए विचारणीय है।[397]

तुलसी ने अपने साहित्य में वात्सल्य के प्रस्तुत अनेक मनोवैज्ञानिक तथ्यों को उभारा है। उन्होंने बताया कि जब प्रिय का सुकुमारता और उसके भावी कष्ट का अनुभव किया जाता है तो व्यक्ति में वात्सल्य का आवेग तीव्र हो जाता है और वह अतिशय प्रेम से व्याकुल होने लगता है[398] इसी प्रकार संतान के जन्म को सुनकर भी अतिशय प्रेम उमड़ पड़ता है।[399] प्रिय का दुलार करने तथा देर तक उसका रूप दर्शन करते रहने से भी व्यक्ति प्रेमानन्द से विभोर हो पड़ता है।[400]

अनेक स्थलों पर तुलसी ने यह भी बताया है कि यदि व्यक्ति धर्मसंकट में पड़ जाये अथवा व्यक्ति को प्रिय के कल्याण की कामना से उसके वर्तमान कष्ट की उपेक्षा करनी पड़े तो ऐसी अवस्था में प्रेम का आवेग तीव्र होने पर भी उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है। दशरथ की रीति निभाने के कारण न तो राम को रोक सकते थे और न ही उन्हें प्रेम वश हो जाने के लिए ही कह सकते थे। परिणाम स्वरूप जब राम वन जाने के लिए तैयार हो उनके समक्ष आते हैं तो वे कुछ कह नहीं पाते और मूर्च्छित हो जाते हैं। इसी प्रकार हिमवान भी पार्वती के कल्याण को सोच उन्हें तप करने के लिए जाने देने से नहीं रोक पाते हैं।[401]

वात्सल्य के मनोविज्ञान को समझने से यह महत्वपूर्ण बात और पता चलती है कि यह संवेग परिस्थिति वश नष्ट भी हो जाता है और फिर पुनः जाग्रत भी हो जाता है। यदि अचानक व्यक्ति की महत्वाकांक्षा प्रबल हो जाये तो फिर प्रिय के लिए हृदय में कोई स्थान नहीं रह जाता।[402] लेकिन यदि उसे चारों ओर से स्वयं उसके प्रिय द्वारा ही अपनी निष्ठुरता के कारण भर्त्सना सुननी पड़े तो फिर उसमें प्रेम पुनः. जाग्रत भी हो जाता है। कैकेयी में तुलसी ने प्रेम के इस तथ्य को स्पष्ट रूप से दिखाया है।[403]

कभी–कभी वात्सल्य भाव प्रिय के असाधारण कार्य अथवा गुण के विकास को देख पहले से अधिक बढ़ भी जाता है। कौसल्या का भरत के प्रति जो स्नेह था वह स्नेह राम के वियोग में भरत को ग्लानि करते देख और अधिक बढ़ गया।[404]

कभी–कभी ऐसा भी देखा गया है कि व्यक्ति को स्नेह व्यक्त करने की आवश्यकता

पड़ती है। यदि प्रिय कहीं दूर जा रहा है तो व्यक्ति उसके प्रति अधिक स्नेह व्यक्त करके उसे जाने से रोकना चाहता है[405] इसी प्रकार यदि सभी को दुःख पहुँचा कर प्रिय के लिए किसी सुख का प्रबन्ध किया गया है तो ऐसी अवस्था में जैसे ही प्रिय का आगमन होता है व्यक्ति अधिक स्नेह इस उद्देश्य से व्यक्त करता है किस उसका प्रिय उस सुख को अवश्य अपना ले।[406]

जब स्नेह का बार–बार अनुभव किया जाता है और बार–बार उसकी अभिव्यक्ति की जाती है तो स्नेह पुष्ट हो जाता है। राम के वन चले जाने पर कौसल्या वियोग दुःख को सहन करती निरन्तर राम के चिन्तन में डूबी रहतीं है।[407] सीता की विदा के समय मातायें पुत्रियों से बार–बार मिलती हैं।[408]

वात्सल्य के निर्वाह को स्पष्ट करते हुए तुलसी ने बताया कि स्नेह का निर्वाह प्राण त्याग कर किया जाता है जैसा कि दशरथ ने राम के लिए किया[409] और दूसरे प्रकार में प्रेम का निर्वाह प्रिय के सुख के लिए सबसे बुराई लेकर तथा अपनी हानि करवाकर किया जाता है जैसा कि कैकेयी ने भरत के राज्य सुख के लिए किया।[410]

तुलसी ने स्पष्ट किया कि यह स्नेह अनेक क्रियाओं को सार्थक करता है। किसी को गोद में बैठाना, उसे बार–बार हृदय से लगाना, उसका दुलार करना, उसका श्रृंगार करना, दूध पिलाना, भोजन कराना आदि क्रियायें स्नेह युक्त होकर करने पर ही सार्थक हो पाती हैं।[411]

वात्सल्य स्नेह भी कई प्रकार का होता है। जिस प्रेम में प्रिय की दिव्यता का ज्ञान रहता है इसे परम प्रेम कहते हैं। राम का जन्म सुनकर दशरथ उसी प्रकार के प्रेम से भर गये थे।[412] एक प्रेम होता है सत्य प्रेम और दूसरा प्रेम होता है झूठा प्रेम। सत्य प्रेम में व्यक्ति का प्रिय से प्राणों जैसा सम्बन्ध हो जाता है।[413] और झूठे प्रेम में व्यक्ति प्रिय के मार्ग में अनेक बाधायें उपस्थित करता है। कौसल्या इसीलिए कहतीं हैं कि राम मैं तुम्हें झूठा स्नेह दिखाकर रोकना नहीं चाहती।[414]

<u>भातृ प्रेम और भगिनी प्रेम</u> :–

तुलसी ने अपने साहित्य में भातृ प्रेम का बहुकोणीय विकास राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघन के प्रेम में मुख्य रूप से दिखाया है। प्रेम की तीव्रता, उसके स्तर तथा उसकी गुणवत्ता में भेद होता है। एक अनन्य प्रेम होता है, एक प्रेम ऐसा होता है जो अन्य संबंधों / स्नेह / राग आदि का निर्वाह करके चलता है किन्तु एक प्रेम ऐसा होता है जो एकनिष्ठ प्रेम के निर्वाह में अन्य सम्बन्धों को त्याग देता है।

एक प्रेम ऐसा होता है जिसमें महत्वाकांक्षा / अपनी प्रतिष्ठा / यश / कीर्ति प्रधान होती है। ऐसे प्रेम में व्यक्ति यश / कीर्ति और प्रतिष्ठा को चुन लेता है प्रेम को छोड़ देता है। कोई–कोई

प्रेम हमारी आकांक्षा पूर्ति का साधन बन जाता है वहाँ प्रेम नहीं हमारी इच्छा प्रधान होती है और एक प्रेम ऐसा भी होता है जिसके लिए हम मान, प्रतिष्ठा, कीर्ति की आकांक्षा सब कुछ त्याग देते हैं केवल प्रिय के साथ रहकर उसकी सेवा करना चाहते हैं।[415]

लक्ष्मण का राम के प्रति ऐसा ही प्रेम था। उनकी राम पर एकनिष्ठा थी। इसी कारण जब उन्हें यह समाचार मिला कि राम वन जा रहे हैं तो वे अत्यधिक अधीर और व्याकुल हो गये। उनका मुख कुम्हला गया और हृदय कंपित होने लगा। वे राम के सामने बिना कुछ कहे इस तरह असहाय अवस्था में खड़े हो गये जैसे मछली को जल से बाहर कर दिया हो। राम ने उन्हें हाथ जोड़े सामने खड़े देखा और उनकी मन:स्थिति पर ध्यान दिया। उन्हें ऐसा लगा जैसे वे सबसे नाता तोड़कर राम की आज्ञा और साथ चलने की प्रतीक्षा में हों। ऐसा उस समय घटित होता है जब कोई एक अपने अस्तित्व को दूसरे के अस्तित्व में विलीन कर चुका हो और उनमें इतनी अभिन्नता हो कि एक की दूसरे के बिना कल्पना ही न की जा सके। लक्ष्मण के लिए राम ही सब कुछ थे।[416] राम लक्ष्मण को ऐसी अवस्था में देखकर सीख देने लगे। क्योंकि प्रेम में व्यक्ति अधीर हो जाता है और उस अधीरता के कारण उसे परिणाम में जो आनन्द मिलने वाला है उसे सोचकर अपने कर्वव्य या नीति को भी नहीं सोच पाता। ऐसी स्थिति में जिस व्यक्ति से उसका प्रेम है, जिसका साथ वह एक क्षण भी नहीं छोड़ सकता, एक तरह से जिसके अस्तित्व में ही अपना अस्तित्व विलीन कर चुका है ऐसा व्यक्ति यदि मनीषी और स्थिरप्रज्ञ है तो अपने प्रति उसकी प्रेम अधीरता को देखकर या परिणाम में मिलने वाले आनन्द से उल्लसित होकर नीति / न्याय या अपने कर्तव्य को कभी नहीं भूलता। वह अपने प्रति स्नेह व्यक्त करने वाले को भी उसी नीति पथ के अनुसरण का आग्रह करता है।

इसीलिए राम ने लक्ष्मण से प्रेम में अधीर न होने की बात कही और माता–पिता की आज्ञा पालन और परिजन प्रजा के पालन की सलाह दी।[417]

इससे यह निष्कर्ष निकला कि अन्य संवेगों की तरह प्रेम संवेग भी व्यक्ति के स्तर और उसके मनोभाव पर निर्भर है। प्रेम में व्याकुलता / अधीरता / तीव्रता आदि प्रतिक्रियायें व्यक्ति के आन्तरिक संस्थान पर निर्भर हैं। प्रेम की जो लहर सामान्य व्यक्ति को बहा ले जाती हैं हो सकता है एक धैर्यवान में प्रेम की पूरी गहराई होते हुए भी ऊपर से उसकी कोई प्रतिक्रिया दिखायी न दे और अगर होगी भी तो प्रेम की किसी गम्भीर स्थिति या असामान्य स्थिति में। इसीलिए लक्ष्मण साथ छूटने से जो इतने व्याकुल हो गये, राम पर इसका कोई असर नहीं पड़ा वे सीता और लक्ष्मण दोनों को ही कर्तव्यबोध / नीति न्याय समझाते रहे और अपने साथ चलने से विरत करते रहे।

प्रेम और नीति, प्रेम और कर्तव्य और प्रेम और न्याय इनका द्वन्द्व बहुत समय से चला आया है। इस द्वन्द्व में सदैव प्रेम की विजय हुई है। उसका कारण यह है कि प्रेम इन सबसे ऊपर है। वहाँ कोई नियम नहीं चलता। आवेग में तो प्रवाह होता है, उसमें सब कुछ बह जाता है।

इसलिए राम के नीति युक्त / कर्तव्य प्रेरक वचन सुनकर लक्ष्मण के प्रेमयुक्त हृदय पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। उनका मुख सूख गया, हृदय कांपने लगा, वाणी अवरूद्ध हो गयी। नीति के वचन उनमें उल्लास / उत्साह जाग्रत नहीं कर पाये। वे कोई उत्तर नहीं दे सके प्रेम के आवेग के कारण। उन्होंने दुख से व्याकुल होकर उनके चरण पकड़ लिए और बोले– मैं तो आपके लिए बच्चा हूँ। आपके स्नेह में पला। नीति और न्याय की बातें मेरे जैसे शिशु के लिए मेरु तुल्य हैं मैं उनका पालन नहीं कर सकता। मुझे तो साथ ले चलिए।[418]

लक्ष्मण के प्रेम का वैशिष्ट्य राम पर उनकी एकान्त निर्भरता है। वे राम के अलावा और किसी को जानते ही नहीं थे। राम ही उनके सब कुछ थे। संसार के सारे सम्बन्ध/प्रीति और विश्वास उन्होंने राम पर ही छोड़ दिया था।

लक्ष्मण के प्रेम का एक वैशिष्ट्य यह भी है कि उन्हें कार्य/नीति के वचनों की अपेक्षा प्रभु के प्रति प्रेम अधिक प्रिय था। उनकी प्रकृति में लोकैषणा भी वही थी। राम प्रेम को छोड़कर उन्हें कीर्ति/वैभव/सुन्दर गति में कोई रुचि नहीं थी। उनका प्रेम अनन्य था। उन्होंने अपना अस्तित्व राम में ही लीन कर दिया था। इसलिए लक्ष्मण में प्रेम संवेग की एकान्तता/एकनिष्ठा ध्यान देने योग्य है। एक प्रेम का उद्देश्य प्रेम या प्रेमास्पद को प्रसन्न करना होता है वही लक्ष्मण में था जिसे देखकर राम ने उन्हें साथ चलने की अनुमति दे दी।[419]

राम और लक्ष्मण के प्रेम विश्लेषण के उपरान्त अब हम भरत और राम में उनके प्रेम के मनोवैज्ञानिक तत्वों को परखेंगे।

जिससे जितना गम्भीर प्रेम उसके वियोग में उतना ही गम्भीर दुःख होता है। उसे देखने की उतनी ही तीव्र लालसा होती है। अगर व्यक्ति उसे देख सकता है, मिल सकता है तो उससे मिलने का अवश्य प्रयास करता है और उस समय यह इच्छा और तीव्र हो जाती है जब प्रिय को व्यक्ति के कारण ही उसे घर/राज्य/परिवार छोड़कर जाना पड़ा हो। इसीलिए भरत जैसे ही कौसल्या को देखते हैं और वह मूर्च्छित हो जाती हैं– सचेत होने पर भरत सबसे पहली आकांक्षा/बलवती इच्छा राम लक्ष्मण को देखने की रखते हैं। अर्थात् जिसका जिससे अत्यधिक लगाव होता है उसे देखने की उसकी तीव्र इच्छा होती है। प्रेम संवेग का यही तत्व अर्थात् दर्शन लालसा भरत में व्यक्त हुई है। इसी से प्रेरित होकर वे चित्रकूट वन में राम को देखने/उनसे मिलने जाते हैं।[420]

हमारे परोक्ष में कोई ऐसी घटना घट जाय जिसके कारण हमारे स्नेहास्पद/श्रद्धेय को दुःख में पड़ना पड़े तथा अन्य प्रियजन भी शोक में डूब जायँ तो व्यक्ति अपने को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयास करता है।

इस प्रयास में वह स्वयं ही बड़े से बड़े अपराध का जो दण्ड हो सकता है उसी दण्ड को

स्वयं भोगना चाहता है। अब उसे दण्ड तो कोई दे नहीं सकता है क्योंकि सब उसे निर्दोष समझते हैं किंतु वह ग्लानि से मुक्त नहीं हो पाता। तब ऐसी स्थिति में वह विधाता से सभी पातकों के दण्ड अपने लिए मांगता है कि यदि इसमें मेरा हाथ हो तो मुझे यह सारे पातक लगें और उनके दण्ड का भागी मुझे विधाता बनाये।[421]

फिर व्यक्ति प्रिय के स्नेह के कारण सुविधाएँ त्यागकर कष्टमय जीवन स्वीकार कर प्रिय के प्रति अपनी श्रद्धा और प्रेम का परिचय देता है। भरत ने ऐसा ही किया। उनके मन में यह ग्रंथि बैठ गई थी कि मेरे कारण ही मेरे परम प्रेमास्पद राम–सीता और भाई लक्ष्मण वन में गये और घोर संकट सह रहे हैं। पिता की मृत्यु हो गई, माताएं और पूरा अयोध्या दुःखी है इसीलिए वे इन सबके दुःखी / सहभागी होकर स्वयं कष्ट का जीवन बिताते हैं।

भरत के भातृ प्रेम का एक पक्ष यह भी है कि उन्होंने अपने राम प्रेम को कर्तव्य निष्ठा से भी अधिक महत्व दिया। भरत के सामने दो स्थितियाँ है– राज्य संभालने वाला कोई नहीं, दूसरा पिता की आज्ञा का पालन। जिस सिद्धान्त निष्ठा के कारण दशरथ ने मरण स्वीकार किया और प्रिय पुत्र को वन भेजा और आज्ञा पालन के लिए राम सहर्ष वन गये। सिंहासन छोड़ा। अब भरत के सामने एक ओर आज्ञापालन की समस्या है और दूसरी ओर प्रेम निर्वाह की। भरत प्रेम का निर्वाह करते हैं, उनका एक मात्र लक्ष्य राम को प्रसन्न करना है जो उनके ही कारण वन–वन कष्ट सहते हुए भटक रहे हैं। इसलिए जब भरत से यह कहा गया कि राजा की आज्ञा शिरोधार्य कीजिए। राजा ने राज्य पद तुम्हें दिया है। तुम्हारे राज्य सिंहासन पर बैठने से राजा को स्वर्ग में और राम को वन में संतोष होगा। कौशल्या भी कहतीं हैं कि वशिष्ठ की आज्ञा पथ्य के समान है। इस विषम स्थिति में तुम्हीं सबके सहारे हो, लेकिन इन बचनों को सुनकर भरत के हृदय में राम के वियोग के नवीन अंकुर उत्पन्न हो गये। आँखां से आँसू बहने लगे, वे व्याकुल हो गये। यहाँ पर प्रेम संवेग की दृष्टि से भरत के मन का विश्लेषण महत्वपूर्ण है। भरत के मन में यश का, सिंहासन का लोभ अधिक होता और सिद्धान्त निष्ठा को वे व्यक्ति प्रेम से अधिक महत्व देते तो सबका कहना मानकर चुपचाप राज्य करने लगते लेकिन सबकी सीखें भरत को राम से और अलग करने वाली लगीं। उनके मन में राम से मिलने की जो आशा थी वह निराशा में बदलने लगी और ऐसा लगा जैसे सब मिलकर राम से उन्हें छुड़ाना चाहते हैं। इसीलिए यहाँ प्रिय के वियोग की आशंका से जो विषाद होता है जो व्याकुलता होती है, आँसू बहने लगते हैं और व्यक्ति अपनी सुध–बुध खो बैठता है, उसके लक्षण हमें दिखायी देते हैं जो इस बात की पुष्टि करते हैं कि भरत के मन में वचन, पालन, कर्तव्य निष्ठा से बढ़कर राम के प्रति प्रेम था। इसलिए वे विनय पूर्वक कहते हैं कि सिंहासन पर बैठने से मेरा हित नहीं होगा। हां ! सबके स्वार्थ की पूर्ति अवश्य हो जायेगी। जब राज्य सिंहासन / वचन पालन / सिद्धान्त निष्ठा एक ओर होती है और दूसरी ओर व्यक्ति के प्रति प्रेम होता

है तो कभी–कभी व्यक्ति प्रेम विजयी सिद्ध होता है। इसलिए वे कहते हैं कि जब तक राम को मैं देख नहीं लेता, तब तक मुझे चैन नहीं मिलेगा। लोग मुझे चाहें जितना बुरा भला कहें मुझे उसकी परवाह नहीं है। राम और सीता को मेरे कारण दुख झेलना पड़ रहा है इससे बड़ा संताप मेरे लिए कुछ नहीं है। इसलिए मेरी तो एक मात्र यही इच्छा है कि राम लौटकर अयोध्या आ जायें। यहाँ पर यह विचारणीय है कि प्रिय के सान्निध्य में रहना ही प्रेम की परणति है। भरत भी यहीं चाहते हैं। भरत का यहीं प्रस्ताव सबको प्रिय से संयोग कराने वाला था इसलिए सबको अच्छा लगा। सबके हृदय में राम के प्रति स्नेह और व्याकुलता उत्पन्न हो गयी। सब भरत की सराहना करने लगे। वे उन्हें राम प्रेम की मूर्ति लगने लगे।

यहाँ पर सभी व्यक्ति प्रेम की सराहना करते हैं अब कोई सिद्धान्त की बातें नहीं कर रहा है इसलिए पीछे प्रेम संवेग के सम्बन्ध में मेरा जो संकेत रहा है कि इसके रूपों में पात्र की रुचि, प्रकृति, मानसिक गठन और संस्कारों के कारण अन्तर आ जाता है– पुष्ट होता है।[422]

यहाँ एक स्थल की ओर संकेत और आवश्यक है। प्रेम का आलम्बन जब अनेक व्यक्तियों का एक होता है और जिसके प्रति प्रेम होता है उसके प्रति पूज्य बुद्धि / श्रद्धा और आदर भी होता है तब जब उनमें से किसी एक के हृदय में उस प्रेम / श्रद्धा / भक्ति के आलम्बन के प्रति प्रेम उमड़ता है। या वियोग प्रत्यक्ष सताने लगता है, आँसू आ जाते हैं। व्याकुलता बढ़ जाती है तब ऐसे व्यक्ति की प्रेम दशा को देखकर उपस्थित समुदाय प्रेम में विभोर होकर अपनी सुध–बुध बिसार देता है। प्रेम में बिरह–व्याकुलता का ऐसा संक्रामक प्रभाव होता है। इसी कारण भरत के हृदय में जब राम विरह के नवीन अंकुर फूटने लगे और अश्रुपात होने लगा। उनकी व्याकुलता बढ़ गयी तो सभी उनके चित्त की दशा देखकर अपनी सुध–बुध भूल गये। प्रेम संवेग की संक्रामकता की यह भी एक दिशा है।[423]

एक प्रेमी के लिए प्रिय ही सब कुछ है। उसके बिना संसार की सारी वस्तुएं / सुख के सारे साधन / यश कीर्ति के मान दण्ड व्यर्थ हैं। इसी कारण भरत कहते हैं राम के बिना मेरे लिए सब व्यर्थ है।[424]

भरत में जो प्रेम जनित कष्ट उत्पन्न हुआ उस कष्ट के शमित होने के मनोविज्ञान में भी महत्वपूर्ण तथ्य ज्ञात होते हैं। प्रिय के दुःख का कारण हमीं हों और यह संयोग हमारे अनजानते, हमारी अनुपस्थिति में बना हो, जिसके पीछे प्रत्यक्ष या परोक्ष में हमारा कोई हाथ न हो ऐसी दशा में हमारे मन में प्रिय के कष्ट / दुखपूर्ण जीवन को सोचकर जो दाह उत्पन्न होता है वह दो प्रकार से शमित होता है। एक– प्रिय का दर्शन करें और अपनी स्थिति से उसे अवगत करायें फिर उसके प्रेम और स्नेह को पूर्ववत् प्राप्त करें क्योंकि प्रिय का वियोग तो सह सकता है

किन्तु इस बात को कभी नहीं सह सकता कि उसके प्रति प्रिय की दृष्टि अर्थात् पहले की तरह प्रेम की धारा का प्रवाह बदल गया है। भरत यही जानना चाहते थे, इसीलिए उनका चित्त दोहरे परिताप से अशान्त था।[425]

प्रिय अदर्शन से नेत्रों और मन को जो एक प्रकार का संताप होता है उस संताप को कभी–कभी हम उसकी स्मृतियों के सहारे दूर करने का प्रयास करते हैं। हम उन वस्तुओं / स्थानों को भी देखने जाते हैं– जिनका प्रिय ने उपयोग किया हो या जहाँ वह कभी रहा हो। उन स्थलों को देखकर हमें प्रिय से मिलने जैसा आनन्द आता है और हमारे हृदय का वियोग दुःख या प्रिय से न मिलने के कारण उत्पन्न पीड़ा कम हो जाती है।[426]

प्रेम में यह सदैव इच्छा होती है कि हमारा प्रिय सदैव सुखी रहे और जब हम उन स्थलों / उन परिस्थितियों को देखते हैं जो अत्यन्त कठोर और असुविधाओं से भरी हुई हैं और यह पाते हैं कि हमारे श्रद्धेय प्रिय ने इसी में समय व्यतीत किया है तो उसके दुःखों को याद करके हम और दुखी हो जाते हैं। जहाँ उन स्थलों को देखकर हमें प्रिय से मिलने जैसा आनन्द आता है वहीं कष्टकर परिस्थितियों को देखकर उनके कारण हम दुखी भी हो जाते हैं।[427]

प्रिय से मिलने की कोई सम्भावना न हो ऐसे में कोई उससे मिलने की सम्भावना के द्वार खोल दे तो हमारा हृदय हर्ष से भर जाता है उसके बाद हम सोचने लगते हैं कि मिलने कब चलेंगे। उस समय यदि मिलने के लिए प्रस्थान का समय तय हो जाय और उस समय/क्षण/दिन के आने में कुछ समय/दिन। रात ही क्यों न शेष हों तो उसी क्षण की प्रतीक्षा और उत्कष्ठा में हमारा मन ऊभ–चूभ करने लगता है। उस घड़ी की प्रतीक्षा में बड़ी उतावली/बेसब्री होती है उसके बाद जब मिलने के लिए चल देते हैं तब यह उतावली और उत्कष्ठा मनोवेग के रूप में व्यक्त न होकर शीघ्र पहुँचने की तीव्रता में व्यक्त होती है। अगर प्रिय से मिलने का रास्ता वही हुआ जिससे हमारा प्रिय गया है तो उसके विश्राम स्थलों को देखने/उससे मिलकर आये मार्गवासियों के संदेशों को सुनकर प्रिय मिलन जैसे आनन्द का अनुभव करते जब हम उस स्थल पर पहुँच जाते हैं जहाँ हमारे प्रिय का स्थायी निवास है, तो हम उसे दूर से देखकर ही प्रेम विह्वल हो जाते हैं, फिर हम अपने को संभाल नहीं पाते। पैरों की गति बढ़ जाती है, अंग शिथिल हो जाते हैं, हृदय भर आता है, हम थकित हो जाते हैं और प्रिय की दृष्टि सीमा में आते–आते मूर्च्छित भी हो सकते हैं। पहले जो उत्कष्ठा थी वही यहाँ विह्वलता 'और मिलने की उतावली में बदल जाती है। व्यक्ति अपने को संभाल नहीं पाता, गद्‌गद वाणी से कुछ ही बोल पाता है। राम से मिलने के लिए जाते समय भरत की यही दशा है।

प्रिय राम से मिलने की अयोध्या से चलते समय जो उत्कष्ठा थी वही मार्ग में राम विश्राम स्थलों को विलोकते, उनके जैसे वर्ण की यमुना तरंगों को देख उनसे मिलने जैसा आनन्द पाते, वास्तविक दूरी को देख पुनः वियोग दुःख से दुखी होते, जिन स्थलों पर राम–सीता–लक्ष्मण ने रातें बिताईं उन

कष्टकर परिस्थितियों सुविधाहीन स्थलों को देखकर मैं ही उनके इस दुःख का कारण हूँ, यह सोचते ही ग्लानि से और दुखी होते जब उन्होंने शैल शिरोमणि कामदगिरि को देखा और यह समाचार सुना कि राम, लखमण, सीता यहीं रह रहे हैं तो वे विह्वल, शिथिलगात, गद्गद् गिरा और बहुत उतावले हो गये। राम के प्रति उनका प्रेम इससे बढ़ा और पूर्ण संवेग में प्रकट होकर उन्हें विह्वल करने लगा।[428]

प्रेम में व्यक्ति अपने प्रिय की रुचि को सर्वोपरि स्थान देता है। उसकी रुचि को ध्यान में रखकर वह कुछ भी कर सकता है इसकी सम्भावना सदा बनी रहती है। प्रेमी का प्रिय से बात मनवाने का दबाब सदा बना रहता है। यह दबाब और प्रिय से बात मनवाने की बात से स्वार्थी व्यक्ति बड़ी परेशानी में पड़ जाते हैं। वे सोचते हैं इस दबाब से कहीं वह ऐसा काम न कर बैठे जिससे हमारी योजना पर पानी फिर जाय। वे सोचते हैं प्रेम के दबाब में व्यकित लोक मंगल के कामों से भी फिर सकता है, लेकिन ऐसा नहीं होता। प्रेम लोक मंगल के कामों में कभी आड़े नहीं आता वहीं पर एक तथ्य यहाँ और व्यक्त हुआ है कि सच्चाप्रेम, श्रद्धा और भक्ति सदा प्रिय की इच्छा का अनुगामी होता है वह प्रिय को अपने अनुसार न चलाकर उसके अनुसार चलने का प्रयास करता है, यही प्रेम की विशेषता है। भरत राम के अनुसार चले न कि राम को उन्होंने अपने अनुसार चलाया।[429]

प्रेम के कारण भरत के चित्त की दशा अकथनीय हो गई किन्तु उनके उमड़ते प्रेम को देखकर पशु–पक्षी भी मग्न हो गये। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रेम संवेग संक्रामक होता है और चेतन क्या जड़ वस्तुओं को भी प्रभावित कर देता है।

स्नेह या अनुराग की अधिकता में व्यक्ति मार्ग भी भूल सकता है क्योकि इस समय उसका चित्त पूर्ण रूप से अन्तर्मुखी होता है।[430]

राम भरत के आराध्य थे। इसीलिए भरत में ऐसा दिव्य प्रेम था। यदि भरत का राम के प्रति ऐसा अनुराग न होता तो चेतन को अचेतन और अचेतन को चेतन कौन करता। यहाँ चेतन/अचेतन पर सहज प्रेम के प्रभाव का संकेत है।[431]

प्रेम की गम्भीरता या उथलापन या उसका स्वरूप भेद व्यक्ति के स्त्र के अनुसार होता है। भरत गम्भीरता के समृद्ध थे। उनके चित्त की गम्भीरता की थाह लेना बहुत कठिन था इसलिए उनके हृदय में उठने वाले संवेगों की थाह लेना भी कठिन था। राम के विरह के कारण भरत के चित्त रूपी गम्भीर समुद्र से प्रेम रूपी अमृत मथा जाकर प्रकट हो गया।

मंगलमय / सर्वप्राणमय / राम जैसे आलम्बन के प्रति व्यक्त प्रेम सर्वमंगलकारी होता हैं। तुलसी ने संवेगों का मूल्यांकन उन्हें मंगल / अमंगल से जोड़कर किया है। यह उनकी

नैतिक दृष्टि है।[432]

प्रेम में प्रिय पात्र का रूप दर्शन/उसका सौन्दर्य/बाह्य रूप के साथ उसके शील स्वभाव की सुन्दरता महत्वपूर्ण रोल अदा करती है। भरत को राम वियोग का दुख था। बिना राम को देखे उनके हृदय का विरह ताप दूर नहीं हो सकता था। आश्रम में पहुँचकर जैसे ही राम, सीता, लक्ष्मण की दृष्टि सीमा में आते हैं वे कुछ समय तक उनकी रूप माधुरी/उन्हें देखने के सुख में ही मग्न रहे। प्रेम संवेग में ऐसी दशा उस समय विशेष होती है जब प्रिय हमें न देख रहा हो और हमें उसे देखने का सौभाग्य मिल जाये। यहाँ भरत को ऐसा ही क्षण मिल गया जब वे तो राम को देखने में मग्न हो गये किन्तु राम की दृष्टि उन पर नहीं पड़ रही थी। राम को देखकर पहले तो उनका दुख दाह मिटा। उन्हें देखकर वे प्रेम में मग्न हो गये। उस समय भरत के चित्त की दशा हर्ष–विषाद, सुख–दुख दोनों से रहित हो गयी।

इससे यह निष्कर्ष निकला कि प्रेम/अनुराग मनुष्य के चित्त को द्वन्द्वों से मुक्त कर देता है। सम्भवतः इस समय (अर्थात् प्रेमानुभूति में) मात्र एहसास या अस्वादन रहता है– चित्त निमग्न हो जाता है इसलिए इससे इतर या उससे प्रतिक्रिया जनित हर्ष/सुख के आनुषंगिक प्रेमानुभूति से उत्पन्न संवेगों की अनुभूति नहीं रहती। चित्त में विभोरता एक प्रकार की डूबन/अनुभूति रहती है। उससे तटस्थ होकर अनुभव करने/उसका विश्लेषण करने की क्रिया थम जाती है। भरत के चित्त की दशा ऐसी ही हो गयी थी– विसरे हरष सोक दुख–सुख गन।[433]

प्रेमी अगर आर्त हो/दुःखी हो रक्षा की याचना करे/ बहुत अधीर हो/ अप्रत्याशित रूप से आया हो/ हमारा बहुत अधिक प्रिय हो तो उसे देखकर हम बहुत अधिक अधीर हो जाते हैं। हम उसके आगमन की बात सुनकर ही अस्त व्यस्त हो जाते हैं। बरबस उठाकर प्रिय को हृदय से लगा लेते हैं। मिलना हृदय की एकता/ एकात्मकता/ दो हृदय की तरंगों की एकमयता का प्रतीक है। मिलन की प्रगाढ़ता का पता उसके प्रभाव की घनता/ प्रभाव शीलता वे चलता है। इसीलिए भरत–राम का मिलना देखकर सब बेखबर हो गये– "बिसरे सबहिं अपान।" इस प्रेम निमग्नता का अन्य व्यक्तियों पर प्रभाव है। निमग्नता वैसे आन्तरिक वस्तु है। उसे नापा नहीं जा सकता किंतु विभोरता की रेखाएँ शरीर पर उभर आतीं हैं– शिथिलता/ रोमांच/ और एक विशेष प्रकार की तरंगों का फैलकर उपस्थित लोगों को प्रभावित करने लगना। इसीलिए इस प्रसंग में कवि को प्रेषित करने के लिए कोई उपादान/ माध्यम नहीं मिल रहा है। वह सोचता है इसे कैसे पकड़े और कैसे प्रेषित करें– "मिलन प्रीति किमि जाइ बखानी। कविकुल अगम करम मन बानी।" मिलने में जो प्रेम उमड़ा उसे कैसे कहें कवियों के लिए वह अगम है। रचना कर्म/ कवि की वाणी के लिए वह अगभ है– वहाँ उसकी पहुँच नहीं। इसका अर्थ है चरम प्रेम शब्दों से परे है। वह केवल अनुभव की वस्तु है।

परम प्रेम की तन्मयता में अपना होश नहीं रहता। शरीर में रोमांच–पुलकन–सिहरन–आँखों का रंग बदलना। शिथिलता यह तो उसके ऊपरी प्रभाव द्योतक रेखाएँ हैं। तुलसी ने इस संवेग का बड़ी गहराई से वर्णन किया है। उनका कहना है कि दोनों भाई परम प्रेम से पूर्ण हो गये अर्थात् चेतना के सभी स्तर/ चेतना की सारी परतें– उनका समस्त अन्तःकरण परम प्रेम के भाव से ही आपूरित हो गया– इसमें मन, बुद्धि, चित्त और अहं चारों का पूर्ण रूपेण विस्मरण हो गया। इसका अर्थ यह निकला कि प्रेम का भाव मन/ बुद्धि/ चित्त और अहं की परतों का भेदन करता हुआ चेतना के मूल आत्मप्रदेश में उतर गया तभी मनुष्य की ऐसी दशा हो सकती है। इस दशा में और समाधि की दशा में कोई अन्तर नहीं है। इसे आत्मा का आत्मा से मिलन कहा जाता है। इसका अर्थ है तुलसी ने प्रेम संवेग के प्रभाव का/ प्रकृति का/ गुण का आत्मा के छोरों का वर्णन किया है। ऐसे प्रेम का सिर्फ आस्वादन/ अनुभावन हो सकता है उसका कथन नहीं क्योंकि वह आत्मा की तरह अनिर्वचनीय हो जाता है। ऐसा प्रेम पूर्ण कुंठा से रहित अर्थात् बैकुण्ठ में पहुँचाने वाला होता है। वहाँ बहिर्मुखी वृत्ति नहीं। चेतना का बाहर स्फुरण नहीं/ कोई आलम्बन नहीं तो कवि किसके सहारे उसका चित्रण करे। ऐसा स्नेह कविमात्र के लिए अगभ्य है।[434]

प्रेम में प्रिय का वियोग सहना बड़ा कष्टदायी होता है लेकिन यदि कुछ ऐसी आशंका होने लगे कि प्रिय से हमारा जीवन भर के लिए वियोग हो जायेगा अर्थात् प्रिय की मृत्यु आदि हो जायेगी तब तो इस आशंका से असहनीय कष्ट होने लगता है। राम को लक्ष्मण–मूर्च्छा से ऐसा ही कष्ट हुआ। लक्ष्मण राम को बहुत ही अधिक प्रिय थे। कारण– लक्ष्मण उनके कारण सारे सुखों को त्याग कर वन में उनकी सेवा के लिए आये थे तथा उनके समस्त सुख–दुखों में भागी हुये थे। लक्ष्मण की मूर्च्छा से राम के नेत्रों में जल भर आया तथा समस्त अंग परिताप से संतृप्त हो गये। उनके मुख से अनायास ही ये वचन निकले कि अब सेवक, सखा, भक्ति और भातृत्व के सारे गुण अस्त होने वाले हैं। राम के प्रेम का यह पक्ष भातृ प्रेम के मनोविज्ञान का एक महत्वपूर्ण तथ्य है जिसे तुलसी ने गीतावली में मानस में विशेष रूप से विवेचित किया है।[435]

तुलसी ने भगिनी प्रेम को रावण और खरदूषण में शूर्पणखा के प्रति व्यक्त किया है। बहन–भाई के स्नेह में स्नेह के कारण भाई के कुछ कर्तव्य भी बन जाते हैं। भाई बहन का अपमान नहीं सह पाता। यदि कोई बहन का किसी प्रकार का भी अपमान करता है उसे कष्ट पहुँचाता है तो वह इसका प्रतिशोध लेता हे और इस प्रतिशोध में वह अपने नुकसान को भी भूल जाता है। शूर्पणखा राम–लक्ष्मण से अपमानित होकर जब खरदूषण के पास जाती है तो वे तुरन्त सेना सजा कर राम पर आक्रमण करते हैं और फिर मारे भी जाते हैं। रावण जब बहन का अपमान सुनता है तो वह इसका बदला सीता हरण के द्वारा लेता हैं।[436]

तुलसी के भातृ प्रेम के विवेचन का और भी सूक्ष्म विश्लेषण करने से अन्य अनेक

मनोवैज्ञानिक तथ्य प्रकाश में आते हैं। तुलसी ने प्रेम को वातावरण से जोड़ा है। उन्होंने बताया कि जब छोटा भाई बड़े भाई का लिहाज करे अर्थात् संभ्रम के कारण अपनी इच्छा व्यक्त न करे और इसका पता बड़े भाई को चल जाये तो बड़े भाई में भाई के प्रति स्नेह उमड़ पड़ता है। लक्ष्मण राम के भय से जनकपुर देखने की इच्छा व्यक्त नहीं कर रहे। राम लक्ष्मण की ऐसी मनः स्थिति का परिचय पा कर अत्यधिक प्रेम से भर जाते हैं।[437] वियोग की आशंका दूर होते देख भाई के प्रति अगाध स्नेह उमड़ता है। लक्ष्मण की मूर्च्छा दूर हो जाने पर राम अत्यधिक स्नेह से भर गये।[438] प्रेम की आवश्यकता वाले पक्ष पर बल देते हुए तुलसी बताते हैं कि जब भाई को किसी बात के लिए राजी करवाना हो तो भाई को अत्यधिक प्रेम व्यक्त करना आवश्यक हो जाता है। लक्ष्मण राम के साथ वन जाना चाहते हैं इसलिए वे राम के सामने अपने प्रेम को तरह–तरह से व्यक्त करते हैं।[439] प्रेम का निर्वाह मुख्य रूप से तरह–तरह के त्याग से होता है। लक्ष्मण राम के लिए सारे सुखों का परित्याग कर देते हैं और भरत भातृ प्रेम के कारण राजगद्दी को स्वीकार नहीं करते तथा अपनी माता का भी परित्याग कर देते हैं। प्रेम की सामर्थ्य अकथनीय होती है यह धैर्यवानों को भी अपने पथ से विचलित कर देता है लक्ष्मण के प्रेम से राम इतना प्रभावित हुए कि उन्होंने लक्ष्मण को अपने साथ चलने की अनुमति दे दी।[440] प्रेम का पोषण प्रिय का निरन्तर चिन्तन मनन करने से होता है। भरत अयोध्या में राम के लिए तरह–तरह के नियम–व्रत करते ध्यान में मग्न रहते हैं। उनके ऐसा करने से उनका भातृ प्रेम बहुत ही अधिक पुष्ट हो जाता है।[441]

मातृ तथा पितृ प्रेम :

तुलसी ने अपने साहित्य में मातृ–पितृ प्रेम के उदाहरण राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघन में दशरथ तथा तीनों माताओं के प्रति व्यक्त किये हैं, पार्वती में मैना तथा हिमवान् के प्रति व्यक्त किये हैं। सीता में सुनयना तथा जनक के प्रति व्यक्त किये हैं। मातृ–पितृ प्रेम में एक सबसे महत्वपूर्ण तत्व है माता–पिता की आज्ञा/इच्छा का पालन करना/ पूर्ण करना।

जो उत्तम संतान होती है वह माता–पिता की प्रत्येक इच्छा का पालन करती है चाहे ऐसा करने में उसे ही कष्ट क्यों न हो। पार्वती और राम में हमें इसी प्रकार का प्रेम दिखायी पड़ता है। कैकेयी के विवश किये जाने पर दशरथ की वन जाने की आज्ञा को जैसे ही राम जान पाते हैं स्नेह के कारण तुरन्त सहर्ष वन जाने के लिए तैयार हो जाते हैं। वे कहते हैं– वही पुत्र बड़ भागी है, जो पिता–माता के वचनों का अनुरागी है।[442]

यदि पुत्र को किसी कारण से लम्बी अवधि के लिए जाना पड़े और माता उससे सहारे के लिए अपनी पुत्रबधू छोड़ने के लिए कहे तो स्नेही पुत्र ऐसा करने के लिए तैयार हो

जाता है। राम कौसल्या के संतोष के लिए जानकी से वन के अनेक दोषों को बताने लगे।[443]

सतांन स्नेह वश माता-पिता को कोई कष्ट नहीं देना चाहती। लेकिन यदि अनजाने में उससे ऐसा हो जाता है तो पुत्र अत्यन्त दुखी हुआ तरह-तरह से अपने को निर्दोष सिद्ध करना चाहता है। राम के वन चले जाने पर भरत कैकेयी का सान्निध्य छोड़ कौसल्या के पास आते हैं और उन्हें दीन अवस्था में देखकर बहुत दुखी हो अनेक प्रकार से अपने को निर्दोष सिद्ध करने लगते है।[444] मातृ-पितृ प्रेम के कारण कभी-कभी पुत्र माता-पिता को समझाता भी है उन्हें तरह-तरह से संतोष भी कराता है। वन में कैकेयी को अपने किये पर बड़ी ग्लानि हो रही थी। राम उनके मन की अवस्था जान प्रेम वश अपने सरल स्वभाव से कैकेयी को संकोच रहित करने का प्रयत्न करने लगे।[445]

तुलसी ने भरत-कैकेयी प्रेम में इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का भी संकेत किया है कि मातृ-पितृ प्रेम नष्ट भी हो जाता है। यदि माता ने कोई ऐसा कार्य किया है जिसके कारण हमारे परम स्नेही को कष्ट मिला है तथा समाज में हमें अपयश प्राप्त हुआ है तो ऐसा मालूम होते ही हमारा माता के प्रति प्रेम नष्ट हो जाता है और हम क्रुद्ध होकर उसके इस निन्दनीय कार्य की भर्त्सना करने लगते हैं।[446]

गुरू-शिष्य प्रेम :

गुरू-शिष्य का प्रेम सम्बन्ध गुणों के आधार पर बनता है। गुरू-शिष्य की बुद्धि, कुशलता तथा अन्य अनेक गुणों से प्रभावित होता है और उसे जीवन में काम आने वाली अच्छी विद्या प्रदान करता है। विश्वामित्र ने राम-लक्ष्मण को अनेक ऐसी विद्यायें प्रदान कीं जिससे जीवन में उन्हें अनेक परेशानियों से मुक्ति मिल सके।[447]

गुरू प्रेम वश शिष्य की प्रत्येक जिज्ञासाओं को पूर्ण करता है[448] उसकी इच्छाओं को पूरी करता है, आशीर्वाद देता है। विश्वामित्र का राम-लक्ष्मण के प्रति स्नेह इसी प्रकार का दिखायी पड़ता है।

प्रेम में एक विशेष बात देखने को मिलती है वह यह कि चाहे प्रिय सब प्रकार से पूर्ण क्यों न हो प्रेमी उसे अपनी ओर से अवश्य कुछ न कुछ देना चाहता है। वह ऐसा करके ही अपने को संतुष्ट कर पाता है। राम यद्यपि सब प्रकार से पूर्ण थे, विद्या का भण्डार थे लेकिन फिर भी विश्वामित्र ने उनकी जिज्ञासाओं को शान्त किया, अनेक महत्वपूर्ण विद्यायें दी तथा आशीर्वाद दिया।[449] इसके अतिरिक्त उचित अवसर जान कर उन्होंने राम को धनुष के लिए भी प्रेरित किया और उन्हें सुख से वंचित नहीं होने दिया।[450]

चूंकि गुरू-शिष्य सम्बन्ध गुणों पर निर्भर है इसलिए जैसे ही शिष्य का कोई गुण

गुरू के हृदय को स्पर्श करता है, उसका शरीर प्रेम से पुलकित हो जाता है और वह नेत्रों में जल भरकर उसे हृदय से लगा लेता है। जनकपुर में राम ने नम्रता के कारण पिता से मिलने की इच्छा को विश्वामित्र से नहीं कहा। विश्वामित्र ने जब यह जाना तो वे प्रेम मग्न हो उठे।[451]

प्रेम में व्यक्ति अपने पद की प्रभुता का भी परित्याग कर देता है। प्रेम का यह तत्व हमें वशिष्ठ–राम प्रेम सम्बन्ध में देखने को मिलता है। दशरथ से राम का राज्याभिषेक करने का विचार जान वशिष्ठ जो इतने अधिक भाव विभोर हो गये कि वे स्वयं ही राम को उनके महल से बुलाने चले गये। राम कहते भी हैं कि आपने प्रभुता छोड़कर जो स्नेह किया है, इससे आज यह घर पवित्र हो गया।[452]

गुरू का स्नेह उस समय अत्यधिक महत्व रखता है जब उसका शिष्य किसी कारण से व्याकुल हो अपने कर्म को भूल रहा हो, उस समय गुरू धैर्य धारण कराता है और शिष्य को समयानुकूल कर्म में प्रवृत करता है। भरत पिता मरण और राम वन गमन से दुखी हो रहे थे, ऐसे समय में बशिष्ठ जी ने उन्हें पिता के अन्तिम संस्कार के कार्य की ओर सचेत किया।[453]

स्वामी–सेवक प्रीति का स्वरूप भी तुलसी ने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से परखा है। स्वामी सदैव अपने प्रिय सेवक से ही अपने कार्य के पूर्ण होने की आशा करता है और जब वह ऐसा होते देखता है तो प्रेम के कारण उसके नेत्रों में प्रेमाश्रु भर आते हैं, शरीर पुलकित हो जाता है। हनुमान जब सीता का पता लगाने में सफल हो जाते है तो राम की ऐसी ही दशा हो जाती है।[454]

मित्र प्रेम :

तुलसी ने मित्र प्रेम को राम–निषाद, राम–सुग्रीव, राम–विभीषण आदि इन प्रंसगों में मुख्य रूप से दिखाया है। मित्र प्रेम के सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है– मित्र की सहायता करना तथा मित्र से सलाह लेना। तुलसी के प्रेम मनोविज्ञान का जानने के लिए यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि उन्होंने प्रेम के जिस भी रूप का विवेचन प्रस्तुत किया है उसमें अन्य प्रेम रूपों का भी मिश्रण है। जैसे राम ने जिस–जिससे से मित्रता की उस पर उन्होंने स्वामी जैसा भाव भी रखा। राम निषाद को मित्र मानते हैं लेकिन निषाद सेवक भाव से राम के लिए सुन्दर साथरी सजाते हैं तथा पवित्र मीठे और कोमल फलों को और पानी को स्वामी के लिए रख देते हैं।[455] मित्र को सदैव अपने बराबर में बैठाया जाता है। राम इस बात का सदैव ध्यान रखते हैं।[456]

राम ने सुग्रीव से मित्रता की, उसके दु:ख को जाना और उसका दु:ख दूर किया। सुग्रीव ने भी अपनी सेना सहित राम की सहायता की और सीता से उनका मिलाप कराया। राम–विभीषण की मित्रता सलाह लेने में अधिक व्यक्त हुई। जब भी कोई समस्या उत्पन्न होती है राम विभाषण

से सलाह लेते हैं और विभीषण भी उन्हें अपनी बुद्धि के अनुसार उचित सलाह देते हैं। वे राम को लंका विजय में बाधक रावण के मरने का रहस्य भी बताते हैं।[457]

दिव्य सौन्दर्यवान् के प्रति प्रेम :

तुलसी ने एक नवीन प्रेम सम्बन्ध की विवेचना की है वह प्रेम सम्बन्ध है– दिव्य सौनदर्यवान् के प्रति प्रेम। तुलसी ने इस प्रेम की विवेचना दिव्य सौन्दर्यवान् राम लक्ष्मण के प्रति की है। उनका विचार है कि जब कहीं ऐसी विशेषता वाले व्यक्ति का दर्शन हमें होता है तो हम उसके साथ लग जाते है, उसका सान्निध्य नहीं छोड़ना चाहते, उसकी रूप माधुरी पर लुभा जाते हैं, जनकपुर में जब लोगों ने राम लक्ष्मण को देखा तो इसी प्रकार से प्रेम वश हो गये।[458] दिव्य सौन्दर्य ब्रह्मानन्द प्रदान करता है इसलिए यह उन लोगों को भी विभोर कर देने की सामर्थ्य रखता है जो सदा ही विदेह रहते हैं। जनक जी विदेह माने जाते हैं लेकिन वे भी राम दर्शन से परमानन्द में मग्न हो गये।[459] दिव्य सौन्दर्यवान् को व्यक्ति भाँति–भाँति से सुख देना चाहता है, उसका स्वागत करता है। उसे अपने नेत्रों का फल समझता है, मन में बसा लेता है[460], उस पर बलिहारी जाता है। राम लक्ष्मण जब मार्ग में चलते हैं तो बादल छाया करते हैं। राम जन्म सुनकर सखियाँ उनकी सराहना करतीं हैं और बलिहारी जातीं है। हृदय में यह प्रेम समाता नहीं है। व्यक्ति इस प्रेम का पोषण करना चाहता है और यह भी चाहता है कि इस प्रेम का अन्य लोग भी पोषण करें।[461] चूँकि दिव्य सौन्दर्यवान् को हम सदैव अपने समीप रखना चाहते हैं इसलिए जब कभी हमें उसका वियोग सहना पड़ता है तो हमारा शरीर दुबला, मन दुखी और मुख उदास हो जाता है। हम हाथ मल–मलकर पछताने लगते हैं।[462]

मानव प्रेम :

तुलसी ने अपने साहित्य मे मानव प्रेम का भी विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने बताया कि किसी–किसी का स्वभाव मानव मात्र से प्रेम करने का होता है। जिस किसी में यह प्रेम होता है वह कोई भी सुख अकेले नहीं लेता है बल्कि सभी को इस सुख में शामिल करना चाहता है। राम को मानव मात्र से प्रेम था। वे जब भोजन करते थे तो अपने सखाओं के साथ करते थे।[463] मानव प्रेम को धारण करंने वाला व्यक्ति किसी के कष्ट को जानकर उसे दूर करना चाहता है। राम विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा के लिए इसी कारण गये[464], उन्होंने बालि को मारकर सुग्रीव के कष्ट को भी इसी प्रेम के कारण ही दूर किया। यहाँ तक कि राम का सारा व्यवहार ही मानव प्रेम का ही परिचायक है।

सिद्धान्त प्रेम :

प्रेम वस्तु भेद से कई प्रकार का हो सकता है। एक प्रेम व्यक्ति के प्रति होता है

और एक प्रेम सिद्धान्त के प्रति होता है। उसे व्यक्ति की सिद्धान्त निष्ठा/ व्रत पालन की निष्ठा कहा जाता है। सिद्धान्त निष्ठा या सिद्धान्त प्रेम के सामने व्यक्ति के प्रति प्रेम को फिर मोह अथवा आसक्ति की संज्ञा दी जाती है। सिद्धान्त प्रेम की निष्ठा वचन पालन/ नियम पालन/ कर्तव्य पालन पर निर्भर होती है। इसलिए किसी में यह प्रेम होता है उसमें फिर व्यक्ति प्रेम अधिक गहराई तक नहीं जा पाता। लेकिन तुलसी ने दशरथ के चरित्र में इन दोनों ही प्रेमों को चरम सीमा में रखकर उसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उन्होंने बताया कि अगर किसी व्यक्ति में सिद्धान्त निष्ठा भी चरम सीमा पर हो और किसी से प्रेम भी चरम सीमा यहाँ तक कि प्राणों से भी अधिक करता हो और उसके सामने दोनों में से एक को चुनने का अवसर आ जाये तो उसके मन की स्थिति बहुत जटिल और द्वन्द्वमयी हो जाती है। दशरथ इसी तरह के पात्र हैं। वे सत्य सिद्धान्त के प्रति पूर्ण रूपेण समर्पित थे और राम को भी प्राणों से बढ़कर चाहते थे। उनके सामने सत्य वचन पालन और वचन पालन के फलस्परूप राम त्याग दोनों प्रेमों को निबाहने की विषम परिस्थिति आ गयी। संवेगात्मक दृष्टि से उन्होंने वचन प्रेम अर्थात् सिद्धान्त निष्ठा/ सत्य निष्ठा के कारण परम प्रेमास्पद/ प्राणों से भी प्रिय राम को बनवास दिया। उनका वियोग सहा और प्राण त्याग दिये। इस तरह अपने सत्य प्रेम का निर्वाह किया। यहाँ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से छानबीन करने पर उनकी सिद्धान्त निष्ठा अधिक वजनदार ठहरती है जिसके पालन के लिए प्राणों से प्रिय राम को भी वनगमन का आदेश देना पड़ा अगर व्यक्ति (राम) के प्रति प्रेम विजयी होता तो वे कैकेयी को दिये वचन का पालन न करते और इस दशा में अपने व्यक्ति प्रेम की रक्षा करते किंतु इससे उनका यश सत्य और सिद्धान्त निष्ठ रहने का चला जाता। इससे सिद्ध होता है कि दशरथ को समाज में यश और सिद्धान्त निष्ठा अधिक प्रिय थी। यहाँ यह निष्कर्ष निकलता है जो सिद्धान्तों से अधिक प्रेम करता है वह लोकैषणा अर्थात् लोक में अपनी कीर्ति से भी अधिक प्रेम करता है, व्यक्ति को उतना नहीं चाहता। यह सिद्धान्त निष्ठा राम के उत्तर जीवन में जानकी त्याग के समय भी परिलक्षित होती है। जिससे हमारे मंतव्य की पुष्टि होती है।[465] सत्यनिष्ठा/ सिद्धान्त निष्ठा या कर्तव्य प्रेम को महत्व आगे भी दिया गया है। और जो–जो कर्तव्य पालन अथवा सिद्धान्त निष्ठा से गिर जाते हैं उन्हें शोक करने योग्य ठहराया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कर्तव्य प्रेम/ सिद्धान्त प्रेम की अवहेलना नहीं करनी चाहिए क्योंकि उससे लोक में यश क्षीण होता है। इन उदाहरणों से दशरथ के परिप्रेक्ष्य में सिद्धान्त निष्ठा/ कर्तव्य प्रेम की महत्ता ठहरायी गयी है।

इसीलिए कौसल्या वशिष्ठ आदि भरत से राज्य स्वीकारने/ प्रजा पालने का आग्रह करते हैं। वे उनके सामने अनेक उदाहरण रखकर यह कहना चाहते हैं कि वचन पालन/ सत्यनिष्ठा/ कर्तव्य निष्ठा/ सिद्धान्त निष्ठा के कारण दशरथ ने प्राण त्यागे/ प्राणों से प्रिय पुत्र को वन जाने का आदेश दिया इसलिए आपको भी कर्तव्य पालन के लिए राज्य और प्रजा का पालन करना चाहिये और व्यक्ति प्रेम या उसके वियोग दु:ख में इसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए।[466]

सिद्धान्त प्रेम के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि इस प्रेम की दो प्रकार की स्थिति आयीं हैं– एक में कर्तव्य प्रेम, सिद्धान्त प्रेम, कर्तव्य निष्ठा इतनी अधिक रही है कि व्यक्ति प्रेम की भी बलि दे दी गयी है। दशरथ ने सत्यव्रत निबाहा लेकिन राम को वन भेजा लेकिन कहीं–कहीं इसका ठीक उल्टा हुआ है। व्यक्ति प्रेम के कारण व्यक्ति राज्य सिंहासन तक त्याग देता है। व्यक्ति प्रेम के आगे वह सिद्धान्त प्रेम, कर्तव्य प्रेम की परवाह ही नहीं करता। भरत के सामने दो स्थितियाँ है। राज्य संभालने वाला कोई नहीं है इसके लिए पिता की आज्ञा का पालन तथा दूसरी ओर प्रेम का निर्वाह। भरत प्रेम का निर्वाह करते हैं उनका एक मात्र लक्ष्य राम को प्रसन्न करना है जो उनके ही कारण वन–वन कष्ट सहते हुए भटक रहे हैं। इसलिए जब भरत से यह कहा गया कि राजा की आज्ञा शिरोधार्य कीजिए। राजा ने राज्य पद तुम्हें दिया है। तुम्हारे राज्य सिंहासन पर बैठने से राजा को स्वर्ग में और राम को वन में संतोष होगा। कौसल्या भी कहतीं हैं कि वशिष्ठ की आज्ञा पथ्य के समान है। इस विषम स्थिति में तुम्हीं सबके सहारे हो लेकिन इन वचनों को सुनकर भरत के हृदय में राम के वियोग के नवीन अंकुर उत्पन्न हो गये। आँखों से आँसू बहने लगे, वे व्याकुल हो गये। यहाँ पर प्रेम संवेग की दृष्टि से भरत के मन का विश्लेषण महत्वपूर्ण है। भरत के मन में यश का, सिंहासन का लोभ अधिक होता और सिद्धान्त निष्ठा को वे व्यक्ति प्रेम से अधिक महत्व देते तो सबका कहना मानकर चुपचाप राज्य करने लगते लेकिन सबकी सीखें भरत को राम से अलग करने वाली लगीं। उसके मन में राम से मिलने की जो आशा थी वह निराशा में बदलती गयी और ऐसा लगा जैसे सब मिलकर राम से उन्हें छुड़ाना चाहते हैं। इसीलिए यहाँ प्रिय के वियोग की आशंका से जो विषाद होता है, जो व्याकुलता होती है, आँसू बहने लगते है, और व्यक्ति अपनी सुध–बुध खो देता है, उसके लक्षण हमें दिखायी देते हैं, जो इस बात की पुष्टि करते हैं, कि भरत के मन में वचन पालन, कर्तव्य निष्ठा से बढ़कर राम के प्रति प्रेम था। इसीलिए वे विनयपूर्वक कहते हैं कि सिंहासन पर बैठने से मेरा हित नहीं होगा। हां! सबके स्वार्थ की पूर्ति आवश्य हो जायेगी। जब राज्य सिंहासन/ वचन पालन/ सिद्धान्त निष्ठा एक ओर होती है तो कभी–कभी व्यक्ति प्रेम विजयी सिद्ध होता है। इसीलिए वे कहते हैं कि जब तक राम को मैं देख नहीं लेता तब तक मुझे चैन नहीं मिलेगा।[467]

जन्मभूमि के प्रति प्रेम :

प्रेम मनोविज्ञान में जन्मभूमि के प्रति प्रेम भी अपना स्थान रखता है। इस प्रेम में व्यक्ति अपनी जन्मभूमि को सिर नवाता है[468] कहीं दूर चले जाने पर उसकी सुरक्षा के लिए चिन्तित रहता है[469], उसे अपनी जन्मभूमि की याद आती है जिससे उसके नेत्रों में आँसू आ जाते हैं।[470] राम में अयोध्या के प्रति प्रेम इसी प्रकार व्यक्त होता है। वे जब वन के लिए प्रस्थान करते हैं तो हृदय से अयोध्या को सिर नवाते हैं और जब वे वन से लौटते हैं तब भी वे जैसे ही

अयोध्या का दर्शन करते हैं आनन्दित हो उठते हैं और प्रणाम करते हैं। वे सभी लोगों को अयोध्या के दर्शन कराते हैं। वन में भी जब भरत सहित समस्त अयोध्या वासी आ जाते है तो उन्हें सूनी अयोध्या की ही चिन्ता हो उठती है।

प्रकृति प्रेम :

प्रेम मनोविज्ञान में प्रकृति प्रेम का भी अपना स्थान है इस प्रेम के कारण यह देखा जाता है कि व्यक्ति को जब कोई बात स्पष्ट करनी होती है तो वह प्रकृति के व्यापारों का सहारा ले कर ऐसा करने का प्रयास करता है। तुलसी मानस में प्रारम्भ में राम यश की महत्ता स्थापित करने के उद्देश्य से कहते हैं कि राम के यश से मेरी कविता सभी को प्रिय लगेगी जिस प्रकार मलय पर्वत के संग से काष्ठमात्र वन्दनीय हो जाता है।[471] तुलसी के इस प्रकार से कहने से उनका प्रकृति प्रेम दृष्टिगोचर होता है आगेवे किष्किन्धाकाण्ड में राम द्वारा वर्षा ऋतु की सुन्दरता का भी भाँति–भाँति वर्णन कराते हैं।[472] प्रकृति प्रेम के कारण व्यक्ति खुले वातावरण में निवास करना चाहता है। सीता की यही इच्छा थी कि वे वन में जाकर तपस्वियों का पूजन करें।[473]

दिव्य प्रेम अर्थात् भक्ति :

श्रद्धा और प्रेम के मिश्रित रूप को भक्ति का नाम दिया जाता है। शब्द कोशों में सेवा, आराधना, ईश्वर या पूज्य व्यक्ति के प्रति अत्यनुराग श्रद्धा[474] इन विभिन्न अर्थों में भक्ति को रखा गया है। भारतीय मनोविज्ञान में इसे ईश्वर के प्रति किसी के दृढ़, अनन्य, अकाम और पवित्र अनुराग के अर्थ में विशेष रूप से स्वीकार किया गया है– "भक्तिः परानुरक्तिरीश्वरे" अर्थात् ईश्वर में प्रकृष्ट अनुराग को भक्ति कहते हैं।[475] चूँकि भक्ति में ईश्वर के प्रति प्रेम का भाव होता है इसलिए इसे दिव्य प्रेम का नाम भी दिया जा सकता है।

तुलसी साहित्य में प्रेम मनोविज्ञान के विश्लेषण के दौरान हम देखते हैं कि तुलसी ने दिव्य प्रेम का बड़ा ही सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है। तुलसी के दिव्य प्रेम अर्थात् भक्ति का मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करने से पूर्व हम यह बता देना चाहते हैं कि तुलसी साहित्य का पूर्ण प्रतियाद्य भक्ति ही है। "विनय पत्रिका" तो पूरा भक्तिपरक ग्रन्थ है। तुलसी के आराध्य भगवान राम हैं। तुलसी का सदैव यह प्रयास रहा है कि वे संवेग जो भगवत् प्रेम में बाधक है उनसे दूर रहें तथा जो संवेग भगवत् प्रेम में सहायक है उनको गृहण करें। वे इसके लिए भगवान राम से तथा अन्य देवी–देवताओं से याचना करते हैं और उनकी दया/ करूणा और कृपा चाहते हैं। विनय पत्रिका में कवि का हृदय पूरा संवेगों का अखाड़ा है, जिसमें उपर्युक्त प्रकार की गतिविधयाँ होतीं रहतीं हैं। वे भगवान शंकर से याचना करते हैं कि आप कामदेव के शत्रु हैं इसलिए मुझे भगवान राम के

चरणों में रति दीजिए। यहाँ कवि ने काम और भगवत् रति दो परस्पर विरोधी संवेगों को आमने–सामने रखा है। अर्थात् जब तक काम है तब तक भगवान में रति कैसे होगी। इसलिए हे कामरिपु ! पहले आपके कारण काम दूर होगा तब भगवत् चरणों में रति स्वतः हो जायेगी।[476]

तुलसी भक्त होने के साथ–साथ बहुत बड़े मनोवैज्ञानिक थे। उन्हें इस बात का पूरा ज्ञान था कि भगवत् प्रेम के लिए किस प्रकार के मानसिक संस्थान की आवश्यकता होती है। वे कहते हैं कि जब प्रेम में नियम, निष्ठा, अनन्यता तथा दृढ़ता हो तभी हम ईश्वरीय प्रेम में स्थित हो पाते हैं। यदि आराध्य से सम्बन्धित स्थान का नियम पूर्वक सेवन किया जाय, वहाँ वास किया जाय तो उस स्थान के साथ–साथ आराध्य से भी प्रेम हो जाता है।[477] भक्ति में नियम, दृढ़ता आदि तत्वों के साथ–साथ यह भी आवश्यक है कि प्रेम में स्वाभाविकता हो। भरत जब चित्रकूट राम से मिलने जाते हैं तो मार्ग में ब्रह्म रूप गंगा जी से यह वर माँगते हैं कि श्री रामचन्द्र जी के चरणों में हमारा स्वाभाविक प्रेम हो।[478]

भगवत् प्रेम में अनन्यता का आदर्श तुलसी के लिए घन के प्रति चातक का प्रेम है। तुलसी दास राम के प्रति उसी प्रकार का अनन्य प्रेम चाहते हैं।[479] राम चरणों में परम प्रेम और अचल नेम भी चाहते हैं[480] और वे यह भी कहते हैं कि सीताराम के चरणों में मेरा प्रेम दिन–दिन बढ़ता रहे। मेघ चाहे जन्म भर चातक की सुध भुला दे और जल माँगने पर वह चाहे वज्र और पत्थर ही गिरावे। पर चातक की रटन घटे से तो उसकी बात ही घट जायेगी। उसकी तो प्रेम बढ़ने में ही सब तरह से भलाई है। इस प्रकार भगवत् प्रेम भी चाहे जितनी कठिन परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाये बढ़ते ही रहना चाहिये। भरत राम के प्रति ऐसी ही कामना करते हैं। जिस प्रकार तपाने से सोने पर आब आ जाती है वैसे ही प्रियतम के चरणों में प्रेम का नियम निबाहने से प्रेमी सेवक का गौरव बढ़ जाता हैं।[481]

तुलसी ने अपने साहित्य में भक्ति की पूरी प्रक्रिया अर्थात् इसके विविध सोपानों का भी विवेचन प्रस्तुत किया है। राम शबरी से जो नवधा भक्ति कहते हैं वह नवधा भक्ति भक्ति सोपान ही हैं। जिसमें ये नवों प्राकर की भक्ति दृढ़ होती है वह प्रभु अत्यन्त प्रिय होता है। नवधा भक्ति इस प्रकार बतायी गयी है– पहली भक्ति है संतों का सत्संग। दूसरी भक्ति है– रामकथा प्रसंग में प्रेम। तीसरी भक्ति है– अभिमान रहित होकर गुरू के चरण कमलों की सेवा। चौथी भक्ति है– कपट छोड़कर राम गुण समूहों का गान। पाँचवीं भक्ति है– राम मंत्र का जाप और राम में दृढ़ विश्वास। छठी भक्ति है– इन्द्रियों का निग्रह शील बहुत से कार्यो से वैराग्य और निरन्तर संत पुरूषों के धर्म में लगे रहना। सॉतवीं भक्ति है– जगत भर को समभाव से राम में ओत–प्रोत देखना और संतों को राम से भी अधिक करके मानना। आठवीं भक्ति है– जो कुछ मिल जाय उसी में संतोष करना और स्वप्न में भी पराये दोषों को न देखना। नवीं भक्ति है– सरलता और सबके साथ कपट रहित बर्ताव

करना, हृदय में राम का भरोसा रखना और किसी भी अवस्था में हर्ष और दैन्य का न होना।[482]

तुलसी ने भगवत् प्राप्ति के लिए सत्संग प्रेम इसलिए बताया है क्योंकि संतों में अनेक गुणों के साथ-साथ दो गुण प्रधान होते हैं- विरति और रति। विरति तो होती है संसार के प्रति लेकिन रति होती है भगवान् के प्रति। ऐसा समझ में आता है कि जहाँ परम वैराग्य होता है वहाँ परम प्रेम होता है। बिना वैराग्य के यह प्रेम उत्पन्न नहीं होता है।[483]

तुलसी ने भगवत् प्रेम के विवेचन के दौरान राम कथा में लगाव की तो चर्चा की ही है अपितु यह भी बताया है कि जिसका राम से प्रेम होता है उसको राम की हर वस्तु अच्छी लगती है। इसलिए राम का नाम, राम का रूप, राम की कथा, राम का धाम, राम की चर्चा, राम जहाँ रहे वह स्थल, राम की भक्ति, राम के आभूषण, राम के गुण, राम से सम्बन्द्ध पशु-पक्षी, पहाड़, नदी तथा राम ने जो-जो कार्य किये अर्थात् राम की लीला ये सब चीजें रामभक्त को अच्छी लगतीं हैं। तुलसी इन सबकी वन्दना और सराहना करते हैं। भरत जी जब राम से मिलने के लिए जाते हैं तो मार्ग में उस पवित्र अशोक वृक्ष को, जहाँ राम ने विश्राम किया था आदरपूर्वक प्रणाम करते हैं, कुशों की सुन्दर साथरी देखकर उसकी प्रदक्षिणा करके प्रणाम करते हैं और राम के चरण चिन्हों की रज को आँखों में लगाते हैं।[484]

तुलसी ने राम कथा श्रवण/ मनन/ चिन्तन को बहुत महत्व दिया है। राम कथा भाषा बद्ध करने का लक्ष्य भी उन्होंने अपने आपको प्रबोध देना माना है। प्रारम्भ में भी रघुनाथ गाथा का उद्‌देश्य स्वान्तः सुखाय ही तुलसी ने माना है।[485]

प्रेम संवेग की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुसार हम जिसे चाहते हैं/ जिसके प्रति आदर/ श्रद्धा और पूज्य बुद्धि होने के साथ प्रेम भी होता है। यह भाव जब चरम सीमा पर पहुँचता है तो हमें प्रेम पात्र की चर्चा को छोड़कर और कुछ अच्छा नहीं लगता। इस कारण तुलसी ने राम प्रेम और भक्ति की परिसीमा राम कथा को माना है।[486] भागवत में भी इसका समर्थन किया गया है-

तव कथामृतं तप्त जीवनं ,
श्रवण मंगलम् भक्तिदातदम्।

प्रेम संवेग का यह मनोविज्ञान होता है कि उससे हम प्रेम पात्र की उपस्थिति को निरन्तर महसूस करने लगते हैं और अगर किसी से हमारा लगाव अर्थात् प्रेम न हो तो उसका हमारे पास रहना या होना/ न होना दोनों बराबर लगते हैं। तुलसी ने लिखा है- ऐसे प्रभु के जीव (मनुष्य) के हृदय में निरन्तर विद्यमान रहने के बाद भी सभी प्राणी दीन और दुखी बने रहते हैं। इसी आधार पर यहाँ तुलसी ने यही बात रूपक के माध्यम से यों कही है कि रामकथा मंदाकिनी है और भक्त का चित ही सुन्दर चित्रकूट है और भगवान राम के प्रति सुन्दर स्नेह ही सघन और सुन्दर वन है जिसमें सीता राम निरन्तर विहार करते रहते हैं।[487]

विनय, विनम्रता, नम्रता और प्रेम का सम्बन्ध है। विनय या विनम्रता के पीछे प्रेम जरूर छिपा रहता है तभी उसे सच्ची विनय कहते हैं। अच्छे स्वामी विनय में छिपी प्रीति को पहचान लेते हैं। सामान्य राजा का भी यह स्वभाव होता है कि वह विनय करने वाले की बाजी, भक्ति, विनम्रता और उसकी निष्ठा तथा रुख को पहचान कर उसका सम्मान करता है। तब जब सामान्य राजा सराहना के पीछे छिपे भाव को पहचानने में समर्थ होता है तब भगवान राम के लिए क्या कहूँ वह तो राजाओं में श्रेष्ठ हैं। उनका स्वभाव ही स्नेह को देखकर रीझने का है।[488]

किसी संवेग का अंकुरण होना ही आवश्यक नहीं है अंकुरण के साथ–साथ उसका जब तक पोषण नहीं किया जायेगा तब तक वह बढ़ेगा नहीं। ठीकउसी तरह जैसे बाग–बाटिका तो लगा दी गयी किन्तु उसे सींचा नहीं गया। ठीक इसी तरह राम प्रेम रूपी वाटिका को स्नेह के आश्रुओं से यदि सींचा नही जायेगा तो वह धीरे–धीरे कुम्हला जायेगी। तुलसी ने यहाँ संत सभा को अभराई कहा है। उस अभराई के लिए श्रद्धा वसन्त ऋतु के समान है। उस संत सभा रूपी अमराई के प्रति जब हमारे हृदय में श्रद्धा का भाव होता है तभी इसमें भक्ति निरूपण क्षमा, दया, दम रूपी लताएँ और यम–नियम रूपी फूल तथा ज्ञान रूपी फल जिसमें हरिपद प्रेम रूपी रस उत्पन्न होता है। राम कथा के साथ जिन अन्य प्रसंगों का चित्रण होता है वही मानो अमराई की शोभा बढ़ाने वाले शुक पिक रूपी विहंग हैं। भक्ति निरूपण सुनकर जो रोमाञ्च होता है वही वाटिका/ बाग/ वन हैं जिसमें सुख रूपी पक्षी जल बिहार करता है और इसे सुन्दर मन रूपी माली प्रेमाश्रु रूपी जल से सींचता है। निष्कर्ष यह है कि यदि प्रेम में आसूँ नहीं आते हैं अर्थात् इस सीमा तक स्नेह नहीं बढ़ता है कि जिससे हृदय पिघल जाय और आँसुओं के रूप में स्नेह बह चले तब फिर फूल फल आदि धीरे–धीरे मुरझा जायेंगे। इसलिए प्रेम की चरमसीमा जहाँ गद्‌गद होना है वहीं प्रेम से आँखों का छलछलाना भी है।[489] मानस के अयोध्याकाण्ड में तुलसी ने एक तापस को इसी प्रकार के भक्ति के लक्षणों से युक्त दिखाया है। वह तपस्वी राम को पहचान कर सजल नेत्रों का हो जाता है, उसका शरीर पुलकित होने लगता है, वह दण्ड की भाँति पृथ्वी पर गिर पड़ता है।[490]

तुलसी ने भक्ति के विवेचन के दौरान यह भी बताया है कि भक्ति को अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं है। यह स्वतन्त्र है तथा सुगमता से प्राप्त भी हो जाती है। हाँ! इतना अवश्य हे कि इसके लिए ब्राह्मणों के चरणों में प्रेम तथा वेद की रीति के अनुसार अपने अपने कर्मों में लगा रहना आवश्यक है। ऐसा होने पर विषयों से वैराग्य हो जाता है, धर्म में प्रेम उत्पन्न होता है, तथा नवों प्रकार की भक्तियाँ दृढ़ होतीं हैं और भगवत् लीला में अत्यन्त प्रेम उत्पन्न हो जाता है। भक्ति में भक्त प्रभु को ही गुरु, पिता, माता, भाई पति और देवता सब कुछ समझता है। प्रभु का गुण गाते समय उसका शरीर पुलकित, वाणी गद्‌गद् और नेत्रों से जल बहने लगता है। काम, मद और दम्भ आदि दुष्प्रवृत्तियों का उसमें नामोनिशान भी नहीं होता है। ऐसे कर्म वचन और मन से तथा निष्काम भाव से भजन करने वाले भक्त के भगवान

वश में हो जाते हैं।[491]

तुलसी ने भक्ति को कृपा साध्य बताया है।[492] वे कहते हैं कि यह अनुग्रह प्रधान है[493], भगवत् प्रसाद से उत्पन्न होती है[494], देव प्रदत्त होती है[495], करूणा प्रेरित होती है। भक्ति के जाग्रत होने पर मन तर्क-वितर्क से रहित हो जाता है[496], व्यक्ति ज्ञानी और गुणों का धाम हो जाता है[497], अन्तःकरण पवित्र हो जाता है।[498]

भक्ति के प्रभाव से वाणी में मृदुलता, मनोहरता और मधुरता आ जाती है[499], भक्त में चेतना आ जाती है[500], कठिन कार्य पूर्ण हो जाते हैं[501], मन को सन्तोष और सुख प्राप्त हो जाता है, भक्त पूर्ण काम हो जाता है और फिर उसे लालची की तरह नहीं भटकना पड़ता है।[502] भक्ति में बड़ी ही सामर्थ्य होती है। उसमें ऐसी क्षमता होती है कि उससे इष्ट प्रत्यक्ष तक हो जाता है।[503] भक्ति अनेक प्रकार की होती है। एक होती है प्रेमा भक्ति। दूसरी ज्ञान वैराग्य से युक्त भक्ति। तीसरी- विमल भक्ति। चौथी- भाव भक्ति। पॉचवी- भायप भक्ति। छठवीं- श्रद्धा भक्ति। सातवीं- अनुपम भक्ति। आठवीं- अनपायनी भक्ति। नौवीं- पावनी भक्ति।

निष्कर्ष

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में रागात्मक वृत्तियों के विश्लेषण से हमने यह पाया कि "काम" संवेग युग्म की इच्छा है। यह एक सहज प्रवृत्ति है। इसका जागरण सौन्दर्य दर्शन से होता है, तथा यह सांसारिकता से ग्रस्त मन में ही उत्पन्न होता है।

काम संवेग के जाग्रत होने पर व्यक्ति उतावला हो जाता है, समय का बोध नहीं रहता और यदि लक्ष्य का अभाव हो तो वह विरह से व्याकुल हो जाता है। तुलसी बताते हैं कि काम का नाश तभी हो पाता है जब मन संसार से परमार्थ की ओर उन्मुख हो जाये। काम बड़ा ही शक्तिशाली संवेग है। क्योंकि यह धैर्यवानों को भी विचलित कर देता है। इसके सहकारी संवेग- अहंकार, दम्भ, कपट, मद मान आदि होते हैं तथा विरोधी संवेग- समस्त परमार्थिक भाव होते हैं।

काम संवेग एक कोमल और जटिल संवेग है क्योंकि जितनी शीघ्र इसका जागरण होता है उतनी ही जटिलता से भी इसका जागरण होता है। काम सदैव व्यक्ति को अनीतिकर कार्य की ओर ही अग्रसर करता है। इसलिए तुलसी ने इसके रूप को दुःख दायक ही माना है।

काम के पश्चात् हमने रागात्मक संवेग प्रेम का विवेचन किया है। तुलसी ने प्रेम को सौहार्द्र का भाव माना। उन्होंने बताया कि इसकी उत्पत्ति रुचि से होती है। जो हमें रुचता है वही हमारे प्रेम का आधार हो जाता है। विभिन्न सम्बन्धों के आधार पर प्रेम के अनेक रूप भी होते हैं। पति-पत्नी प्रेम, मातृ-पुत्र प्रेम, भ्रातृ-प्रेम, गुरू-शिष्य प्रेम, मित्र प्रेम, सेवक-स्वामी

प्रेम, दिव्य सौन्दर्यवान् के प्रति प्रेम, मानव प्रेम, मातृभूमि के प्रति प्रेम, दिव्य प्रेम। तुलसी ने इन विभिन्न प्रेम रूपों का बड़ा ही सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उन्होंने पति–पत्नी प्रेम का मनोविज्ञान बताते हुए कहा है कि इस प्रेम में राग की छोटी–छोटी उर्मियाँ इस प्रकार लीन हो जातीं हैं कि अन्य सब सम्बन्ध फीके पड़ जाते हैं। इसमें समुद्र जैसी गहराई होती है। इस प्रेम में अनेक प्रकार की इच्छायें जैसे– प्रिय को देखने की लालसा, उसके सान्निध्य की इच्छ, उसको सुख देने की इच्छा, उसको अपने अनुकूल रखने की इच्छा, रुझान देने का भाव, सुरक्षित रखने की चाह आदि होती है। इसके उत्पन्न होने पर नेत्रों में, भौहों में, वाणी में, हाथ–पैरों में विविध प्रकार के परिवर्तन देखे जाते हैं। इस प्रेम का पोषण निरन्तर प्रिय के मनन से होता है तथा यह प्रिय के अप्रत्याशित आचरण से नष्ट भी हो जाता है।

मातृ भावना के मनोविज्ञान को प्रस्तुत करते हुए वे बताते हैं कि माता–पिता का संतान के प्रति जो प्रेम होता है वह उनके जन्म के समय चरम सीमा पर होता है। वात्सल्य के कारण माता शिशु का श्रृंगार करती है, मुख निहारती है, दुग्धपान कराती है और हृदय से लगा लेती है। इस प्रेम में व्यक्ति अपनी संतान को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने देना चाहता। वह सदैव उसके कल्याण के लिए चिन्तित रहता है। वात्सल्य प्रेम में वियोग का क्षण बड़ा ही कष्टदायी होता है। वियोग में व्यक्ति मछली की तरह लगता है और उसके प्राण तक चले जाते हैं। तुलसी ने इस प्रेम का आधार व्यक्ति का रूप, शील, गुण भी माना है। कौसल्या का सीता के प्रति इसी प्रकार का प्रेम था। यह प्रेम प्रिय की सुकुमारता और उसके भावी कष्ट का अनुमान करके तीव्र हो जाता है और कभी–कभी ऐसा भी देखा जाता है कि यदि महत्वाकांक्षा प्रबल हो जाये तो यह नष्ट भी हो जाता है। इस प्रेम का निर्वाह प्राण त्याग कर किया जाता है।

तुलसी ने भातृ प्रेम का विवेचन एक नये रूप में किया है। जब एक भाई दूसरे भाई में अपना अस्तित्व विलीन किये होता है तो वह अपने भाई का क्षणिक वियोग भी नहीं सहन कर पाता। वह प्रेम में अधीर हो साथ जाने के लिए व्याकुल हो जाता है। उसके लिए अपने भाई की सेवा को छोड़कर अन्य कोई सुख का आधार नहीं होता है। तुलसी ने इस सम्बन्ध में एक और बात बतायी कि प्रेम की लहर सामान्य व्यक्ति को तो बहा ले जाती है किन्तु धैर्यवान् को उसके कर्तव्य का बोध कराती है। वह प्रेमाकुल हुए भाई को कर्तव्य बोध और नीतिं–न्याय की बात समझाता है।

यदि भाई का भाई से सेवक–स्वामी का सा सम्बन्ध स्थापित हो गया है तो वह उस समय बहुत ही व्याकुल हो जाता है जब परोक्ष में उसी को माध्यम बनाकर उसके प्रेमास्पद को कष्टकारी परिस्थितियों में डाल दिया जाता है। ऐसी परिस्थिति में व्याकुल हुआ प्रेमी तरह–तरह से अपने को दोष मुक्त सिद्ध करने का प्रयास करता है और वह यह भी चाहता

है कि उसका प्रिय उस पर पहले जैसा ही प्रेम बनाये रखे। तुलसी ने इसी प्रेम के विश्लेषण में यह भी बताया है कि प्रिय के पास पहुँचने की बहुत अधिक उतावली होती है और जब प्रिय से मिलन हो जाता है तो प्रिय से मिलते समय प्रेम के कारण दो प्रेमी द्वन्द्व रहित हो जाते हैं। जो भाई भातृ सेवा के लिए सब सुखों को त्यागकर साथ आया है यदि उससे सदा के वियोग की आशंका हो जाये तो भाई बहुत ही व्याकुल हो जाता है। भगिनी प्रेम बहन के अपमान के प्रतिशोध लेने में व्यक्त होता है। मातृ–पितृ प्रेम में संतान प्रेम के कारण ही उनकी आज्ञा का पालन करती है, उनके लिए अपने सुखों का भी परित्याग कर देती है और यदि माता उसके साथ दुर्व्यवहार भी करती है तो भी वह अपने सरल स्वभाव से उसे ही संकोच रहित करने का प्रयत्न करती है।

गुरू शिष्य प्रेम में गुरु शिष्य को उत्तम विधायें प्रदान करता है, उसकी जिज्ञासाओं/ इच्छाओं को पूर्ण करता है/ आशीर्वाद देता है। गुरू शिष्य को विपरीत समय में धैर्य धारण कराता है। मित्र प्रेम मित्र की सहायता करने तथा सलाह लेने में व्यक्त होता है।

तुलसी ने दिव्य सौन्दर्यवान् के प्रति भी प्रेम की बात की। उन्होंने बताया कि जब कोई ऐसे सौन्दर्यवान् को देखता है तो वह उसके साथ ही रहना चाहता है, सुख देना चाहता है, उसे नेत्रों का फल समझता है। मानव प्रेम में व्यक्ति जो भी सुख लेता है सभी को शामिल करके लेना चाहता है। सिद्धान्त प्रेम में व्यक्ति प्रेम से अधिक अपने व्रत/ वचन को महत्व देता है और व्यक्ति प्रेम की बलि दे देता है। जन्मभूमि प्रेम में व्यक्ति जन्मभूमि के प्रति सम्मान रखता है तथा उसकी सुरक्षा के लिए चिन्तित रहता है। प्रकृति प्रेम के कारण व्यक्ति प्रकृति के गुणों तथा व्यापारों की चर्चा करता है, खुले वातावरण में रहना चाहता है।

दिव्य प्रेम/ भक्ति को तुलसी ने ईश्वर के प्रति दृढ़ आस्था बताया। उन्होंने बताया कि इसकी उत्पत्ति संतों के संग से, भगवत् कथा के श्रवण से होती है। विनय/ विनम्रता/ अनन्यता/ निर्भरता/ विश्वास भक्ति के आवश्यक अंग हैं। आँखों का छलछला जाना भक्ति के चरम रूप को दर्शाता है। भक्ति कृपा साध्य होती है। इससे वाणी में मृदुलता/ मनोहरता आ जाती है यह सुख का मूल होती है इससे व्यक्ति यशस्वी हो जाता है।

****

सन्दर्भात्मक टिप्पणियाँ

द्वितीय अध्याय

1. मनोविज्ञान और शिक्षा – सरयु प्रसाद चौबे, पृ0 286
2. रस सिद्धान्त – डा0 नगेन्द्र, पृ0 222
3. हरि माया कत दोष गुन बिनु हरि भजन न जाहिं ।
   भजिअ राम तजि काम सब अस बिचारि मन माहिं ।। 7/104क (मानस)
4. पसु पच्छी नभ जल थल चारी।
   भए काम बस समय बिसारी।। 1/84/4 (मानस)
5. सोशल साइकोलाजी, पृ0 38–43
6. डा0 यदुनाथ सिन्हा "इण्डियन साइकोलॉजी", भाग–2, पृ0 179–82
7. "कामसूत्र" (सं0आ0 शिवाजी राम), पृ0 12
8. सिद्ध बिरक्त महामुनि जोगी ।
   तेषि काम बस भए बियोगी ।। 1/84/8 (मानस)
9. देखि रूप मुनि बिरति बिसारी ।
   बड़ी बार लगि रहे निहारी ।। 1/130/1 (मानस)
10. In Introduction to Social Psychology-William Mc Dugall, P.341
11. रामनाथ शर्मा– सामान्य मनोविज्ञान, पृ0 114
    सरयु प्रसाद चौबे – मनोविज्ञान और शिक्षा, पृ0 204
12. रिबो – "द साइकोलॉजी ऑव दि इमोशन्स", पृ0 253
13. नारि नयन सर जाहि न लागा ।
    घोर क्रोध तम निसि जो जागा ।। 4/20/4 (मानस)
14. जानि कुअवसरु प्रीति दुराई ।
    सखी उछंग बैठी पुनि जाई ।। 1/67/6 (मानस)
15. कंकन किकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदय गुनि।।
    मानहुँ मदन दुंदुभीं दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्हीं।।
    अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा। सिय मुख ससि भए नयन चकोरा।।
    भए बिलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजे दिगंचल।।
    देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदयँ सराहत बचनु न आवा।। 1/229/1–5(मानस)
16. रामचरित मानस – 1/230/3
17. वही, 1/230/7–8

18. कामायनी : श्रद्धा सर्ग, पृ0 40

19. सोशल साइकोलॉजी, पृ0 345–56

20. मानस – 1/125/4–5

21. मानस – 1/231/5–6

22. मानस – 1/130/1, 1/132/4

23. प्रसाद काव्य में भाव व्यंजना, पृ0 115

24. मुनि अति बिकल मोहँ मति नाठी ।
मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी ।। 1/134/5(मानस)

25. वेषु बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा ।
तिन्हहि सराप दीन्ह अति गाढ़ा ।। 1/134/8 वही

26. मानस – 3/16/4 – 17

27. मानस – 3/16/19 – 3/17

28. मानस – 5/9/1–2 मा0

29. मानस – 2/24 – 2/29 तक

30. ब्रह्मचर्य ब्रत संजम नाना। धीरज धरम ग्यान बिग्याना।।
सदाचार जप जोग बिरागा। समय बिबेक कटकु सबु भागा।।
सबके हृदयँ मदन अभिलाषा। लता निहारि नवहिं तरू साखा।।
मदन अंध व्याकुल सब लोका। निसि दिनु नहिं अवलोकहिं कोका।।
सिद्ध बिरक्त महामुनि जोगी। तेपि कामबस भए बियोगी।। 1/83/7–1/84/6

31. In Introduction to Social Psychology-William Mc Dugall, PP.342

32. धरी न काहूँ धीर, सब के मन मनसिज हरे। 1/85(मानस)

33. सिवहि बिलोकि ससंकेउ मारू ।
भयउ जथाथिति सबु संसारू ।। 1/85/2(मानस)

34. भए तुरत सब जीव सुखारे ।
जिमि मद उतरि गएँ मतवारे ।। 1/85/3 (मानस)

35. बन उपबन बापिका तड़ागा। परम सुभग सब दिसा बिभागा।।
जहँ तहँ जनु उमगत अनुरागा। देखि भुएहुँ मन मनसिज जागा।। 1/85/7–8(मानस)

36. सकल कला करि कोटि बिधि हारेउ सेन समेत ।
चली न अचल समाधि सिव कोपेउ हृदय निकेत ।। 1/86 (मानस)

37. मानस – 1/125/7

38. मानस – 1/86

39. वही, 3/29/6–16

40. मानस – 3/36/3 – 3/38ख

41. 1/130/6 – 1/134/5 मा0

42. जोबन–जुर जुबती कुपथ्य करि, भयो त्रिदोष भरि मदन बाय। 83/4 (विनय)

43. लोभ के इच्छा दंभ बल काम के केवल नारि ।

    क्रोध कें परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि ।। 3/38ख (मानस)

44. काम क्रोध मद मत्सर भेका ।

    इन्हहि हरषप्रद बरषा एका ।। 3/43/3 (मानस)

45. दीप सिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग। 3/46ख (मानस)

46. In Introduction to Social Psychology- William Mc Dugall, P.341

47. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, पृ0 239

48. 1/125/4 (मानस)

49. 1/130/1 (मानस)

50. 3/431 (मानस)

51. 7/120 (मानस)

52. महाभारत खण्ड 6 : शान्ति पर्व – 254/1–3, पृ0 5081

53. विनयपत्रिका : 1/187/3

54. कवितावली : 7/109/1–2 जागै जोगी–जंगभ, जती–जमाती ध्यान धरै,

    डरै डर भारी लोभ, मोह, कोह, काम के ।

55. मानस 2/204 "अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान ।

    जनम जनम रति राम पद यह वरदानु न आन ।।"

56. वही, 5/श्लोक 2/4 "भक्ति प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे

    कामादि दोष रहितं कुरु मानसं च ।"

57. विनयपत्रिका 45/10, 211/8 मानस– 3/38/3, 7/30/4

58. मानस – 1/34/6, 6/120/6.2, 1/42/5 विनय– 46/7

59. मानस 7/112ख, 7/33/8

60. मानस 7/119/6

61. वही, 7/56/2

62. सूल कुलिस असि अँगव निहारे ।

    ते रतिनाथ सुभन सर मारे ।। 2/24/4 (मानस)

63. "जे सजीव जग अचर चर नारि पुरुष अस नाम ।

    ते निज निज मरजाद तजि भए सकल बस काम ।।" 1/84 (मानस)

    "सिद्ध विरक्त महामुनि जोगी ।

    तेपि काम बस भए बियोगी ।।" 1/84/8 (मानस)

64. त्रिरोगधामः वसन्त ऋतु अंक 1989, पृ0 32
65. मानस 1/84/6-7
66. कवितावली 7/117/1
67. विनयपत्रिका - 187/3
68. मानस 7/120/30-37
69. महाभारत : शान्ति पर्व अध्याय 254/1-3 खण्ड 6, पृ0 5081
70. भगवद्गीता 2/62-63 एवं 60
71. अग्नि पुराण - 349/4,5
72. मानस, 1/231/6, 1/233/6
73. वही, 1/229/3-8
74. मानस - 1/85/3
75. In Introduction to Social Psychology- William Mc Dugall,MBFRS
76. मानस 7/120/35-36
77. 3/129/1 मा0
78. महाभारत : शान्ति पर्व अध्याय 254, खण्ड 6, पृ0 5081
79. श्रीमद् भगवत्गीता 2/62-63
80. मानस 1/83/7-8
81. वही 1/86/3-4
82. गीतावली 1/25/22
83. गीतावली 1/25/22
84. मानस 3/46ख
85. वही 5/38
86. वही 1/130/1
87. 1/230/3 मानस
88. मानस 3/36/3
89. मानस 7/119/6
90. "महाभारत" खण्ड 6 : 13/12-18, पृ0 6127
91. मानस मुक्तावली भाग 4, रामकिंकर उपाध्याय, पृ0 180-181
92. विनय 74/10
93. वही, 127/3
94. वही, 93/11

95. वही, 187/3
96. मानस 1/67/2,6
97. वही, 1/229/4
98. मानस 7/39/4
99. वही 7/72/2
100. कवितावली 7/94/1
101. मानस 7/39/7
102. मानस 7/98/3
103. मानस 1/11/3
104. विनय 187/4
105. मानस 1/11/2
106. कवितावली 7/119/6
107. विनय 232/6
108. मानस 1/124/7 – 1/125
109. मानस 1/250/2
110. विनय 143/8
111. वही 74/9
112. मानस 1/84
113. वही 7/99/8
114. वही 1/266/3
115. वही 5/38
116. वही 6/30
117. मानस 6/32/6
118. मानस 6/109/4
119. वही 6/113/10
120. वही 7/38/5
121. वही 7/39/4
122. गीता 3/37
123. वही 16/21
124. मानस 1/31/7, 6/114/4
125. (1) "चली सुहावनि त्रिबिध बयारी। काम कृसानु बढ़ाव निहारी।" 1/125/3 (मा0)
(2) 1/85/60

126. जोबन-जुर-जुबती कुपथ्य करि, भयो त्रिदोष भरि मदन बाय । 83/4 (वि०)
127. मानस- "ते निज निज मरजाद तजि भए सकल बस काम।" 1/84
128. विनय - 58/7
129. वही - 74/10
130. वही - 93/10
131. मानस - 7/71क
132. विनयपत्रिका - 127/3
133. विनयपत्रिका - 59/7
134. मानस - 7/73क
135. जो एहि बरइ अमर सोइ होई ।
समरभूमि तेहि जीत न कोई ।।
सेवहिं सकल चराचर ताही ।
बरइ सील निधि कन्या जाही ।। 1/130/3-4 (मानस)
136. माया बिबस भए मुनि मूढ़ा। 1/132/3 (मानस)
137. मानस 3/16/19
138. मानस - 1/125/4
139. वही - 1/131
140. वही - 1/84/8
141. सोशल साइकोलॉजी, पृ0 332
142. विनयपत्रिका - 93/11, कवितावली 7/100/5
143. मानस - 7/120/30, विनय - 125/4
144. मानस - 3/42/9
145. विनय - 232/6, मानस - 1/11/3, 7/69/7, कवितावली - 7/101/2
146. मानस - 1/84/5, 1/132/3, 2/24/6
147. मानस - 1/130/7, 1/131
148. वही - 1/84/6, 3/16/5, 2/27/3-4
149. वही - 1/83/7-8
150. वही - 7/127/29 - 7/121क
151. विनय - 205/4, मानस - 7/100ख
152. मानस - 1/84/8, 3/38क
153. विनय - 93/11, 211/8, 26/2, मानस - 3/38क
154. गीता - 3/37 - 3/38

155. महाभारत : अध्याय 254/1-3 खण्ड 6

156. मानस - 5/38

157. वही - 3/42/9

158. मानस - 1/36/9, कवितावली - 7/158/7

159. विनय - 29/3

160. मानस - 1/154

161. मानस - 1/36/9

162. मानक हिन्दी कोश - पहला खण्ड - पृ0 305, 153, 513

दूसरा खण्ड - पृ0 237

चौथा खण्ड - पृ0 577

पाँचवा खण्ड - पृ0 484

163. वही, पहला खण्ड, पृ0 305

164. मानस पर्याय शब्दावली : प्रेमलता भसीन, पृ0 243, 244, 246

165. श्रीमद् भगवत्गीता (तत्व विवेचनी टीका), 2/55

166. ग्रेट बुक्स ऑफ द वेस्टर्न वर्ल्ड द ग्रेट आइडियॉज, पी0पी0 328

167. एक लालसा बड़ि उर माहीं ।

सुगम अगम कहि जाति सो नाहीं ।। 1/148/3 मा0

168. प्रभु प्रसाद सिव सबइ निबाहीं ।

यह लालसा एक मन माहीं ।।

पुनि न सोच तनु रहउ कि जाऊँ ।

जेहिं न होइ पाछें पछिताऊ ।। 213/4 मा0

169. 1/248/6 मा0

170. 1/217/1 मा0

171. 2/109/3 मा0

172. असन पान सुचि अभिअ अमी से ।

देखि लोग सकुचात जमी से ।।

सुर सुरभी सुरतरु सबही कें ।

लखि अभिलाषु सुरेस सची कें ।। 2/214/5-6 मा0

173. अब अभिलाषु एकु मन मोरें ।

पूजिहि नाथ अनुग्रह तोरें ।। 2/217 मा0

174. अस अभिलाषु नगर सब काहू । 2/23/7 मा0

175. एकु मनोरथ बड़ मन माहीं ।
सभयँ सकोच जात कहि नाहीं ।। 2/307/1 मा0

176. मोर मनोरथ जानहु नीकें ।
बसहु सदा उरपुर सबहीं के ।। 1/235/3 मा0

177. नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा । 5/श्लोक 2/5–6 मा0

178. नृप सब रहहिं कृपा अभिलाषे ।
लोकप करहिं प्रीति रुख राखें ।। 2/113 मा0

179. स्वामि सुजानु जानि सबही की ।
रुचि लालसा रहनि जन जी की ।। 2/313/3 मा0

180. 2/109/3 मा0

181. सुत बित लोक ईषना तीनी ।
केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी ।। 7/70/6 मा0

182. तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो । 162/7 वि0

183. 222/3 वि0

184. सहत सकृत चहत सकल जुग जुग जगमगाति। 2/82/3 गीता

185. 1/70/8 गीता

186. 2/32/8 गीता

187. 2/55/10 गीता

188. 3/17/1/4 गीता

189. 1/18/4 कविता

190. 7/148/6 कविता

191. 75/3 वि0

192. प्रभु आगवनु श्रवन सुनि पावा ।
करत मनोरथ आतुर धावा ।। 3/9/3 मा0

193. एहिं लालसाँ मगन सब लोगू ।
बरु साँवरो जानंकी जोगू ।। 1/248/6 मा0

194. छूटी त्रिबिधि ईषना गाढ़ी ।
एक लालसा उर अति बाढ़ी ।।
रामचरन बारिज जब देखौं ।
तब निज जन्म सकल करि लेखौं ।। 7/109/14 मा0

195. सेवहिं सुचि मुनि भृंग–बिहग मन मुदित मनोरथ पाए । 7/14/7 गीता

196. हरि दरसन फल पायो है ग्यान विमल,जाँचत भगति मुनि चाहत जवनि। 3/5/8 गीता

197. तुलसी तीज उभय लोक रामचरन–चहनि। 2/81/6 गीता

198. सुकृत सँभारि,मनाइ पितर–सुर सीस ईसपद नाइ कै ।
रघुबर–कर–धनु भंग चहत सब अपनो सौ हितु चितुलाइ कै ।। 1/70/8 गीता

199. 1/324/5 मा0

200. लखन हृदयँ लालसा बिसेषी ।
जाई जनकपुर आइअ देखी ।।
प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं ।
प्रगट न कहहिं मनहिं मुसुकाही ।। 1/217/1–2 मा0

201. पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा ।
सत्य सत्य पन सत्य हमारा ।। 1/151/5 मा0

202. 4/8/10 मा0

203. दानि सिरोमनि कृपानिधि नाथ कहउँ सतिभाउ ।
चाहउँ तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ ।। 1/149 मा0

204. मेरो यह अभिलाषु विधाता ।
कब पुरवै सखि सानुकूल हे हरि सेवक सुखदाता ।। 2/55/1–2 गीता

205. 2/82/3 गीता

206. दूसरो, भरोसो नाहिं,बासना उपासना की, बासव बिरंचि सुर–नर–मुनि गन की । 75/3 वि0

207. राम । रावरो नाम साधु–सुरतरु है ।
सुमिरे त्रिबिध धाम हरत, पूरत काम,
सकल सुकृत सरसिज को सरु है। 255/2 वि0

208. जद्यपि भग्न–मनोरथ बिधिबस, सुख इच्छत दुख पावै। 119/7 वि0

209. संभु चरित सुनि सरस सुहावा ।
भरद्वाज मुनि अति सुखु पावा ।।
बहु लालसा कथा पर बाढ़ी ।
नयनन्हि नीरु रोमावलि ठाढ़ी ।। 1/103/1–2 मा0

210. भूप के भाग की अधिकाई ।
टूटयौं धनुष, मनोरथ पूज्यौ, विधि सब बात बनाई । 1/19/2 गीता

211. 1/293/2–3 मा0

212. कुल कलंक मल–मूल, मनोरथ तव बिनु कौन करैगौ? 2/60 गीता

213. 3/17/7/2 गीता

214. 2/89/1 गीता

215. 5/18/5 गीता

216. 3/17/7/2 गीता

217. 59/4 वि0

218. 209/6 वि0

219. 59/13 वि0

220. 47/3 वि0

221. बृहत् हिन्दी कोश : पृ0 1203

222. मानक हिन्दी कोश : चौथा खण्ड, पृ0 601

223. निरोगधाम : ग्रीष्म ऋतु अंक 1989, पृ0 42

224. चिन्तामणि : पं0 रामचन्द्र शुक्ल

225. श्री मद् भगवत् गीता 2/42/43/44, 16/21, 18/27

226. श्री मद् भगवत् गीता (तत्व विवेचनी टीका) : जयदयाल गोयन्दका 2/55

227. मानस मुक्तावली भाग–2 : रामकिंकर उपाध्याय, पृ0 89–90

228. ज्यों नासा सुगंध रस–बस, रसना षटरस–रति मानी ।
राम–प्रसाद–माल जूठन लगि त्यों न ललकि ललचानी।। 170/6 वि0

229. अरुन पराग जलजु भरि नीकें ।
ससिहि भूष अधि लोभ अमी कें ।। 1/324/9 मा0

230. अस बिचारि हरि भगत सयाने ।
मुक्ति निरादर भगति लुभाने ।। 7/118/7 मा0

231. 227/5 वि0

232. 260/12

233. सकुचन्ह कहि न सकत गुरु पाहीं ।
पितु दरसन लालचु मन माही ।। 1/306/5 मा0

234. 1/212/1 मा0

235. बय किसोर, घन–तड़ित–बस तनु, नख सिख अंग लोभारे । 1/91/3 गीता

236. 1/91/3 गीता

237. सब नर काम लोभ रत क्रोधी ।
देव बिप्र श्रुति संत बिरोधी ।। 7/98/3 मा0
काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि ।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि ।। 3/43 मा0
लोभ के इच्छा दंभ बल काम के केवल नारि। 3/38ख मा0
चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार–द्वार जग बागे। 170/11 वि0

238. तृस्नाँ केहिन कीन्ह बौराहा। 7/69/8 मा0, 7/38/5 मा0, 1/206/6 मा0, 1/247/8 मा0, 1/231/4 मा0

239. करत बतकही अनुज सन मन सिय रूप लोभान ।
मुख सरोज मकरंद छबि करई मधुप इव पान ।। 1/231

240. अरुन पराग जलजु भरि नीके ।
ससिहि भूष अहि लोभ अमी कें ।। 1/226/3 मा0, 4/12/1 मा0, 1/324/9 मा0

241. ब्रह्म ग्यान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात ।
कौड़ी लागि लोभ बस करहिं बिप्र गुर घात ।। 7/99क मा0

242. भए लोग सब मोह बस लगे ग्रसे सुभ कर्म ।
सुनु हरिजान ग्यान निधि कहउँ कछुक कलिधर्म ।। 7/97ख

243. रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई ।
बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई ।। 7/117/7 मा0, 7/73क मा0, 139/4 वि0

244. जहँ जहँ लोभ–लोल लालच बस निज हित–चित चाहनि चहौं। 222/3 वि0

245. एकहि एक खात लालच बस, नहिं देखत निज नासा। 92/12 वि0

246. 222/3 वि0

247. महिष मत्सर क्रूर, लोभ शूकर रूप, फेरू छल, दंभ मार्जा रधर्मा। 59/8 वि0

248. 92/12 वि0

249. तम, मोह, लोभ, अहंकारा ।
मद, क्रोध, बोध–रिपु मारा ।। 125/8 वि0

250. लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों, गरे आसा डोरि। 158/9 वि0

251. 170/6 वि0

252. काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह मिलि ग्यान बिराग हरो सो। 173/7 वि0

253. बहु बासना बिबिध कंचुकि भूषन लोभादि भरयो ।
चर अरु अचर गगन जल थल में, कौन न स्वाँग करयो ।। 91/3–4 वि0

254. 2/1/3 गीता

255. 7/29/3 गीता

256. 7/66/6 कविता

257. 7/70क मा0

258. 222/3 वि0

259. 4/27/5 मा0

260. 7/73क मा0

261. 7/15 कविता

262. बिरति चर्म असि ग्यान मद लोभ–मोह–रिपु मारि। 7/120ख मा0

263. मद–मोह–लोभ–विषाद–क्रोध सुबोध तें सहजहि गये। 136/10/6 वि0

264. लोभ अति मत नागेंद्र पंचाननं भक्तहित हरण संसार–भारं। 46/8 वि0

265. भक्त कल्प पादप आरामः ।
तर्जन क्रोध लोभ मद कामः ।। 3/10/13 मा0

266. लोभ मोह मृग जूथ किरातहि। 7/29/6 मा0

267. तौलों लोभ, लोलुप ललात लालची लबार,
बार बार, लालच धरनि धन धाम को । 7/124/1–2 कविता

268. 4/15/3 मा0

269. नहिं राग न लोभ न मान मदा ।
तिनह कें सम बैभव वा बिपदा ।। 7/13/13 मा0

270. लोभ न रामहि राजु कर बहुत भरत पर प्रीति। 2/31 मा0

271. सम अभूत रिपु बिमद बिरागी ।
लोभा मरष हरष मय त्यागी ।। 7/37/2 मा0

272. 6/41/10 मा0

273. 6/41/10 मा0

274. 7/39/1 मा0

275. 136/8/6 वि0

276. 260/5 वि0

277. 187/3 वि0

278. 58/8 वि0

279. 1/31/6

280. 6/14/5 मा0 , 1/179/2 मा0, 6/101/1 मा0

281. 175/3 वि0

282. 143/6 वि0

283. 136/8/6 वि0

284. 276/7 वि0

285. 5/37/8 मा0

286. 5/37/8 मा0

287. 2/129/1 मा0

288. 206/7 वि0

289. 2/1/3 गीता

290. मानस पर्याय शब्दावली, पृ0 209

291. शब्द साधना, पृ0 191

292. मानस पर्याय शब्दावली, पृ0 209

293. अविद्याऽस्मिता राग द्वेषाभि निवेंशाः पंच क्लेशाः ।
(भल्लिनाथ कृत शिशुपाल वध की टीका से शब्द कल्पद्रुभ में उद्‌घृत)

294. मानस पर्याय शब्दावली, पृ0 210

295. वही, पृ0 211

296. वही, पृ0 211

297. वही, पृ0 212

298. वही, पृ0 212

299. मानक हिन्दी कोश, पृ0 665

300. वही, पृ0 663

301. वही,

302. प्रसाद काव्य में भाव व्यजंना, पृ0 64

303. Dionysious Say- "Beauty and goodness are beloved by all things" - Great Book of the Western World the Great Ideas.

304. महादेव अवगुन भवन विष्नु सकल गुन धाम ।
जेहिं कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम ।। 1/80 मा0

305. सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत । 1/229 मा0

306. कृपा सिंधु प्रभु होहिं दुखारी ।
धीरजु धरहिं कुसमउ बिचारी ।।
लखि सिय लखनु बिकल होइ जातीं ।
जिमि पुरुषहिं अनुसर परिछाहीं ।।
प्रिया बंधु गति लखि रघुनंदनु ।
धीर कृपालु भगत उर चंदनु ।।
लगे कहन कछु कथा पुनीता ।
सुनि सुखु लहहिं लखनु अरु सीता ।।

307. महादेव अवगुन भवन विष्नु सकल गुन धाम ।
जेहि कर मन रम जाहि सन तेहि तेही सन काम ।। 1/80 मा0

308. बिसरी देह तपहिं मनु लागा । 1/73/3 मा0

309. अधिक सनेहँ देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।।
लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी।। 1/231/7 मा0

310. जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते ।
पिय बिनु तियहि तर निहु ते ताते ।।
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू ।
पति बिहीन सबु सोक समाजू ।। 2/64/4 मा0

311. थके नयन रघुपति छबि देखे ।
पलकन्हिहुँ परिह नमेषे ।। 1/231/5 मा0

312. चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत। 1/229 मा0

313. लोचन मग रामहिं उर आनी ।
दीन्हे पलक कपाट सयानी ।। 1/231/7 मा0

314. बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी ।
पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी ।। 2/116/4 मा0

315. धरि धरि धीर बीर कोसलपति किए जतन, सके उतरु दै न। 5/21/7 गीता

316. 5/18/2-3 गीतावली

317. 4/1/2 गीतावली

318. 5/15 गीतावली, 1/263/4 मा0

319. तासु बचन अति सियहि सोहाने ।
दरस लागि लोचन अकुलाने ।। 1/228/7 मा0
1/247/8 मा0, 1/263/4 मा0, 1/107/1-2 गीता, 1/17/2 कविता, 2/13/6 गीता, 2/26/1 कविता

320. उर धरि उमा प्रानपति चरना।
जाइ विपिन लागीं तपु करना।। 1/73/1 मा0

321. 2/6 गीतावली, 3/11/4 गीता

322. चिन्तामणि भाग-1 लोभ और प्रीति, पृ0 69

323. कहहि पुरातन कथा कहानी।
सुनहि लखनु सिय अति सुखु मानी।। 2/14/2 मा0

324. देखि मृगा मृगनैनी कहे प्रिय बैन, ते प्रियतम के मन भाए।
हेम कुरंग के संग सरासन सायक लै रघुनायक धाए।। 3/1 कविता

325. मानस मुक्तावली भाग-2 पृ0 164

326.

327. कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला।
सत्यधाम प्रभु दीन दयाला।। 1/56/6 मा0

328. पिता भवन उत्सव परम जौं प्रभु आयसु होइ ।
तौ मैं जाउँ कृपायतन सादर देखन सोइ ।। 1/61 मा0

329. लै जानकिहि जाहु गिरि कंदर ।
आवा निसिचर कटकु भंयकर ।। 3/17/11 मा0

330. कर गहि पतिहि भवन निज आनी ।
बोली परम मनोहर बानी ।।
चरन नाइ सिरु अंचलु रोपा ।
सुनहु बचन पिय परिहरि कोपा ।। 6/5/3–4 मा0

331. सुनि कपि बचन हरष उर छायो । 6/106/8 मा0

332. भूषन बसन बिलोकत सिय के ।
प्रेम बिबस मन, कंप पुलक तनु, नीरज नयन नीर भरे पिय के। 4/1/1–2 गीता

333. समाचार तेहि सभय सुनि सीय उठी अकुलाइ ।
जाइ सासु पद कमल जुग बंदि बैठि सिरु नाइ ।। 2/57 मा0

334. सिव अपमानु न जाइ सहि हृदय न होइ प्रबोध ।
सकल सभहि हठि हटकि तब बोली बचन सक्रोध ।। 1/63 मा0

335. तासु बचन अति सियहि सोहाने ।
दरस लागि लोचन अकुलाने ।।
चली अग्र करि प्रिय सखि सोई ।
प्रीति पुरातन लखइ न कोई ।। 1/231/7–8 मा0

336. देखन मिस मृग बिहग तरु फिरइ बहोरि बहोरि ।
निरखि निरखि रघुवीर छबि बाढ़इ प्रीति न थोरि ।। 1/234 मा0

337. 2/67 मानस

338. थके नयन रघुपति छबि देखें ।
पलकन्हिहुँ परिहरीं निमेषें ।।
अधिक सनेह देह मै भोरी ।
सरद ससिहि जनु चितव चकोरी ।।

339. जाइ समीप राम छबि देखी ।
रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी ।।
चतुर सखी लखि कहा बुझाई ।
पहिरावहु जयमाल सुहाई ।। 1/263/5 मा0

340. सिय राम अवलोकनि परस पर प्रेम काहु न लखि परै ।
मन बुद्धि बर बानी अगोचर प्रगट कबि कैसे करै ।। 1/323/62 मा0

341. नित नव चरन उपज अनुरागा ।
बिसरी देह तपहिं मनु लागा ।।
संबत सहस मूल फल खाए ।
सागु खाइ सत बरष गवाएँ ।। 1/73/2–3 मा0

342. प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेषी । 1/260/4 मा0

343. जानकी नाह को नेह लख्यो, पुलको तनु, बारि बिलोचन बाढ़े । 2/12/4 कविता

344. भूषन–बसन बिलोकत सिय के ।
प्रेम–बिबस मन,कंप पुलक तनु नीरज नयन नीर भरे पिय के ।
सकुचत कहत, सुमिरि उर उमगत, सील सनेह–सगुन गन तियके ।। 4/1/1–3 गीता

345. मैं पुनि करि प्रवान पितु बानी ।
बेगि फिरब सुनु सुमुखि सयानी ।। 2/61/1 मा0
प्रभु जब जात जानकी जानी ।
सुख सनेह सोभा गुन खानी ।। 1/234/1–2 मा0

347. बोली सती मनोहर बानी ।
भय संकोच प्रेम रस सानी ।। 1/60/8 मा0

348. उर धरि उमा प्रानपति चरना ।
जाइ बिपिन लागीं तपु करना ।। 1/73/1 मा0

349. अस कहि परी चरन धरि सीसा ।
बोले सहित सनेह गिरीसा ।।
बरु पावक प्रगटै ससि माहीं ।
नारद बचनु अन्यथा नाहीं ।। 1/70/7–8 मा0

350. कपट–कुरंग कनक मनिमय लखि प्रिय सो कहति हँसि बाला ।
पाए पालिबे जोग मंजु मृग, मारेहु मंजुल छाला ।
प्रिया–बचन सुनि विहसि प्रेम बस गवहिं चाप–सर लीन्हें । 3/3/3–5 गीता

351. पति हियँ हेतु अधिक अनुमानी ।
बिहसि उमा बोली प्रिय बानी ।। 1/106/6 मा0

352. तजिहउँ तुरत देह तेहि हेतू ।
उर धरि चंद्रमौलि वृषकेतू ।। 1/63/7 मा0

353. स्याम सरोज राम सम सुन्दर ।
प्रभु भुज करि कर दसकंधर ।।
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा ।
सुनु सठ अस प्रवान पन मोरा ।। 5/9/3–4 मा0

354. आरत गिरा सुनी जब सीता ।

कह लछिमन सन परम सभीता ।।

जाहु बेगि संकट अति भ्राता ।

लछिमन बिहसि कहा सुनु माता ।। 3/27/2–3 मा0

355. देखि दसा रघुपति जियँ जाना ।

हठि राखें नहिं राखिहि प्राना ।।

कहेउ कृपाल भानुकुल नाथा ।

परिहरि सोचु चलहु बन साथा ।। 2/67/3–4 मा0

356. 1/50/3–4 मा0

357. 5/35/5–6 मा0

358. भए मगन सिव सुनत सनेहा ।

हरषि सप्तरिषि गवने गेहा ।।

359. 2/67/3–4 मा0

360. अति सुकुमार न तनु तप जोगू ।

पति पद सुमिरि तजेउ सब भोगू ।।

नित नवचरन उपज अनुरागा ।

बिसरी देह तपहिं मनु लागा ।। 1/73/2–3 मा0

361. देखन मिस मृग बिहग तरु फिरइ बहोरि–बहोरि ।

निरखि–निरखि रघुबीर छबि बाढ़इ प्रीति न थोरि ।। 1/234 मा0

362. जद्यपि गृहँ सेवक सेवकिनी ।

बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी ।।

निज कर गृह परिचरजा करई ।

रामचन्द्र आयसु अनुसरई ।। 7/23/5–6 मा0

363. देखि परम बिरहाकुल सीता । 5/11/12 मा0

364. 1/73/3 मानस

365. सिय राम अवलोकनि परसपर प्रेमु काहु न लखि परै। 1/322/6–2 मा0

366. सीय राम पद अंक बराएँ ।

लखन चलहिं मगु दाहिन लाएँ ।।

राम लखन सिय प्रीति सुहाई ।

बचन अगोचर किमि कहि जाई ।। 2/122/7 मा0

367. एक बार चुनि कुसुम सुहाए ।

निज कर भूषन राम बनाए ।।

सीतहिं पहिराए प्रभु सादर ।

बैठे फटिक सिला पर सुंदर ।। 3/श्लोक/4 मा0

368. तब लछिमन सीतहिं लै आए ।

प्रभु पद परत हरषि उर लाए ।। 3/30/2 मा0

369. पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पायँ पखारिहौं भूभुरि डाढ़े। 2/12/2 कविता

370. हरषे हेतु हेरि हर ही को ।

किय भूषन तिय भूषन तीको ।। 1/18/7 मा0

371. जौ अब करउँ सती सन प्रीती ।

मिटइ भगति पथु होइ अनीती ।। 1/55/8 मा0

372. सुनि मुनि गिरा सत्य जियँ जानी ।

दुख दंपतिहि उमा हरषानी ।। 1/67/1 मा0

373. 1/80 मा0

374. देखि मनहि महुँ कीन्ह प्रनामा ।

बैठेहिं बीति जात निसि जामा ।।

कृस तनु सीस जटा एक बेनी ।

जपति हृदय रघुपति गुन श्रेनी ।। 5/7/7-8 मा0

375. सुनि बिधि बिनय समुझि प्रभु बानी ।

ऐसेइ होउ कहा सुखु मानी ।। 1/88/5 मा0

376. 1/67 – 1/67/1 मानस

377. तब संकर प्रभु पद सिरु नावा ।

सुमिरत रामु हृदयँ अस आवा ।।

एहिं तन सतिहि भेट मोहि नाहीं ।

सिव संकल्पु कीन्ह मन माहीं ।। 1/56/1-2 मा0

378. जौं मोरे सिव चरन सनेहू ।

मन क्रम बचन सत्य ब्रतु एहू ।।

तौ सबदरसी सुनिअ प्रभु करइ सो बेगि उपाइ ।

होइ मरनु जेहिं बिनहिं श्रम दुसह बिपत्ति बिहाइ ।। 1/58/8-1/59 मा0

379. अधिक सनेहँ देह भै भोरी ।

सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी ।। 1/231/6 मा0

380. चितई सीय कृपायतन जानी बिकल बिसेषि ।

प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेषी ।। 1/260-1/260/4 मा0

381. तन सकोचु मन परम उछाहू। गूढ़ प्रेमु लखि परइ न काहू ।। 1/263/3 मा0

382. हिन्दी साहित्य दर्पण 3/251-53

383. "सोशल साइकोलॉजी", पृ0 142-43

384. दसरथ पुत्र जन्म सुनि काना ।
मानहुँ ब्रह्मानंद समाना ।।
परम प्रेम मन पुलक सरीरा ।
चाहत उठन करत मति धीरा ।। 1/192/1-2 मा0

385. लै उछंग कबहुँक हलरावै । कबहुँ पालने घालि झुलावै ।
प्रेम मगन कौसल्या निसिदिन जात न जान ।
सुत सनेह बस माता बाल चरित कर गान ।। 1/199/8-1/200 मा0

386. 1/202/9 मानस

387. सुनि मुनि गिरा सत्य जियँ जानी ।
दुख दंपतिहिं उमा हरषानी ।। 1/67/1 मा0

388. प्रिय परिवार पिता अरु माता ।
भए बिकल मुख आव न बाता ।। 1/72/8 मा0

389. रावन बान छुआ नहिं चापा ।
हारे सकल भूप करि दापा ।।
सो धनु राजकुँअर कर देहीं ।
बाल मराल कि मंदर लेहीं ।। 1/255/1-2 मा0

390. व्याकुल राउ सिथिल सब गाता ।
करिनि कलप तरु मनहुँ निपाता ।।
कंठु सूख मुख आव न बानी ।
जनु पाठीनु दीन बिनु पानी ।। 1/2/34/1-2 मा0

391. 1/43/3-6 मानस

392. सूत वचन सुनतहिं नर नाहू ।
परेउ धरनि उर दारुन दाहू ।।
तलफत विषम मोह मन मापा ।
माजा मनंहुँ मीन कहुँ व्यापा ।। 2/152/5-6 मा0

393. बचन बिनीत मधुर रघुबर के ।
सर सम लगे मातु उर करके ।।
सहमि सूखि सुनि सीतलि बानी ।
जिमि जवास परे पावस पानी ।। 2/53/1-2 मा0

394. 2/76/5 मा0

395. मैं पुनि पुत्र बधू प्रिय पाई ।
रूप रासि गुन सील सुहाई ।।
नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई ।
राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई ।।
कलपबेलि जिमि बहु बिधि लाली ।
सींचि सनेह सलिल प्रतिपाली ।।
फूलत फलत भयउ विधि बामा ।
जानि न जाइ काह परिनामा ।। 2/58/1–4 मा0

396. अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना ।
तुम्ह करुनाकर धरम धुरीना ।।
अस बिचारि सोइ करहु उपाई ।
सबहि जिअत जेहिं भेंटहु आई ।। 2/5/2–3 मा0

397. मातु भरत के बचन मृदु सुनि पुनि उठी सँभारि ।
लिए उठाइ लगाइ उर लोचन मोचति बारि ।। 2/164 मा0

398. मातु पितहिं बहु बिधि समुझाई ।
चलीं उमा तप हित हरषाई ।।
प्रिय परिवार पिता अरु माता ।
भए बिकल मुख आव न बाता ।। 1/72/8 मा0

399. दसरथ पुत्र जन्म सुनि काना ।
मानहुँ ब्रह्मानन्द समाना ।।
परम प्रेम मन पुलक सरीरा ।
चाहत उठन करत मति धीरा ।। 1/192/3 मा0

400. बालकेलि गावति हलरावति । पुलकति प्रेम–पियूष पिये । 1/7/4 गीता

401. 1/71/1–2 मा0

402. 2/20/1 मा0, 2/28/3 मा0

403. गरइ गलानि कुटिल कैकेयी ।
काहि कहै केहि दूषन देई ।। 2/272/1 मा0

404. मातु भरत के बचन सुनि साँचे सरल सुभाँय ।
कहति रामप्रिय तात तुम्ह सदा बचन मन कायँ ।। 2/168 मा0

405. सीय सहित सुत सुभग दोउ देखि देखि अकुलाइ ।
बारहिं बार सनेह बस राउ लेइ उर लाइ ।। 2/76 मा0

406. कैकेई हरषित एहि भाँती ।
मनहुँ मुदित दव लाइ किराती ।।
सुतहि ससोच देखि मनु मारें ।
पूँछति नैहर कुसल हमारें ।। 2/158/5–6 मा0

407. बूझी हौं न बिहँसि मेरे रघुबर कहाँ री। सुमित्रा माता? 2/51/5 गीता

408. पहुँचावहिं फिरि मिलहिं बहोरी ।
बढ़ी परस्पर प्रीति न थोरी ।।
पुनि पुनि मिलत सखिन्ह बिलगाई ।
बाल बच्छ जिमि धेनु लवाई ।। 1/336/7–8 मा0

409. राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम ।
तनु परिहरि रघुबर बिरहँ राउ गयउ सुरधाम ।। 2/155 मा0

410. 2/28–2/36 मा0

411. चुपरि उबटि अन्हवाइ कै नयन आँजे ।
चिर रुचि तिलक गोरोचन को कियो है ।। 1/10 गाता

412. दसरथ पुत्र जन्म सुनि काना ।
मानहुँ ब्रह्मानंद समाना ।।
परम प्रेम मन पुलक सरीरा ।
चाहत उठत करत मति धीरा ।। 1/192/1–2 मा0

413. बंदहु अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद ।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परि हरेउ । 1/16 मा0

414. 2/56 मा0

415. मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी ।
दीनबन्धु उर अंतरजामी ।। 2/71/6 मा0

416. राम बिलोकि बंधु कर जोरें ।
देह गेह सब सन तृनु तोरें ।। 2/69/6 मा0

417. अस जियँ जानि सुनहु सिख भाई ।
करहु मातु पितु पद सेवकाई ।।
भवन भरतु रिपुसूदन नाहीं ।
राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं ।।
मैं बन जाउँ तुम्हहि लेइ साथा ।
होइ सबहि बिधि अवध अनाथा ।।
गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू ।
सब कहुँ परइ दुसह दुख भारू ।। 2/70/1–4 मा0

418. उतरु न आवत प्रेम बस गहे चरन अकुलाइ ।
नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह तजहु त काह बसाइ ।। 2/71 मा0
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला ।
मंदरु मेरु कि लेहिं मराला ।।
गुर पितु मातु न जानउँ काहू ।
कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू ।। 2/71/4 मा0

419. जहँ लगि जगत सनेह सगाई ।
प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई ।।
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी ।
दीनबन्धु उर अन्तर जामी ।। 2/71/6 मा0

420. मातु तात कहँ देहि देखाई ।
कहँ सिय राम लखनु दोउ भाई ।। 2/163/3 मा0

421. 2/166/5 – 2/167/8 मा0

422. पितु सुरपुर सिय रामु बन करन कहहु मोहि राजु ।
एहिं तें जानहु मोर हित कै आपन बड़ काजु ।
हित हमार सिय पति सेवकाई ।
सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई ।।
मैं अनुमानि दीख मन माहीं ।
आन उपायँ मोर हित नाहीं ।। 2/177 – 2/177/2 मा0

423. सानी सरल रस मातु बानी सुनि भरतु व्याकुल भए ।
लोचन सरोरुह स्त्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नए ।
सो दसा देखत समय तेहि बिसरी सबहि सुधि देह की ।
तुलसी सराहत सकल सादर सीवँ सहज सनेह की । 2/175/छं मा0

424. हित हमार सियपति सेवकाई ।
सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई ।। 2/177/1 मा0

425. आपुनि दारुन दीनता कहउँ सबहिं सिरु नाइ ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ ।
आन उपाय मोहि नहिं सूझा । को जिय कै रघुबर बिनु बूझा । 2/182–2/182/1 मा0

426. पूँछत सखहिं सो ठाउँ देखाऊ ।
नेकु नयन मन जरनि जुड़ाऊ ।।
जहँ सिय राम लखनु निसि सोए ।
कहत भरे जल लोचन कोए ।। 2/197/6–7 मा0

427. 2/198/–2/200/6 मा0

428. 1/183/1 मा0

429. करि बिचारु मन दीन्ही ठीका ।
राम रजायस आपन नीका ।।
निज पन तजि राखेउ पनु मोरा ।
छोहु सनेहु कीन्ह नहिं थोरा ।। 2/265/7–8 मा0

430. देखि भरत गति अकथ अतीवा ।
प्रेम मगन मृग खग जड़ जीवा ।।
सखहिं सनेह बिबस मग भूला ।
कहि सुपंथ सुर बरषहिं फूला ।। 2/237/5–6 मा0

431. होत न भूतल भाउ भरत को ।
अचर सचर चर अचर करत को ।। 2/237/8 मा0

432. पेम अमिअ मंदरु बिरहु भरत पयोधि गंभीर ।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर ।। 2/238 मा0

433. सानुज सखा समेत मगन मन ।
बिसरे हरष सोक सुख दुख गन ।। 2/239/1 मा0

434. बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान ।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान ।।
मिलनि प्रीतिं किमि जाइ बखानी ।
कवि कुल अगम करम मन बानी ।।
परम प्रेम पूरन दोउ भाई ।
मन चित अहमिति बिसराई ।। 2/240/–2 मा0

435. ओर निबाहि भली बिधि भायप चल्यो लखन सो भाई ।
पुर,पितु–मातु सकल सुख परिहरि जेहि बन–बिपति बँटाई ।
ता संग हौं सुरलोक सोक तजि सक्यों न प्रान पठाई । 6/62–4 मा0

436. कह लंकेस कहसि निज बाता ।
केइँ तव नासा कान निपाता ।। 3/21/2 मा0

437. राम अनुज मन की गति जानी ।
भगत बछलता हियँ हुलसानी ।। 1/217/3 मा0

438. हृदयँ लाइ प्रभु भेंटेउ भ्राता ।
हरषे सकल भालु कपि ब्राता ।। 6/61/3 मा0

439. राम बिलोकि बंधु कर जोरें ।
देह गेह सब सन तृनु तोरें ।। 2/69/6

440. गुर पितु मातु न जानउँ काहू ।
कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू ।। 2/71/4 मा0

441. लखन राम सिय कानन बसहीं ।
भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं ।। 2/325/2 मा0

442. सुनु जननी सोई सुतु बड़भागी ।
जो पितु मातु बचन अनुरागी ।।
तनय मातु पितु तोष निहारा ।
दुर्लभ जननि सकल संसारा ।। 2/40/7–8 मा0

443. कहि प्रिय बचन बिबेकमय कीन्हि मातु परितोष ।
लगे प्रबोधन जानकिहि प्रगटि बिपिन गुन दो ।। 2/60 मा0

444. जे परिहरि हरि हर चरन भजहिं भूतगन घोर ।
तेहि कइ गति मोहि देउ बिधि जौं जननी मत मोर ।। 2/167/ मा0

445. प्रथम राम भेंटी कैकेई । सरल सुभायँ भगति मति भेई ।।
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी । काल करम बिधि सिर धरि खोरी ।। 2/243/7–8 मा0

446. धीरज धरि भरि लेहिं उसासा ।
पापिनि सबहिं भाँति कुल नासा ।। 2/160/6

447. तब रिषि निज नाथहि जियँ चीन्ही ।
विधा निधि कहुँ विद्या दीन्ही ।।
जाते लाग न छुधा पिपासा ।
अतुलित बल तनु तेज प्रकासा ।। 1/208/7–8 मा0

448. पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी ।
सकल कथा मुनि कहा बिसेषी ।। 1/209/12 मा0

449. सुफल मनोरथ होहुँ तुम्हारे ।
रामु लखनु सुनि भए सुखारे ।। 1/236/4 मा0

450. उठहु राम भंगहु भव चापा ।
मेटहु तात जनक परितापा ।। 1/253/6 मा0

451. विस्वामित्र बिनय बड़ि देखी । उपजा उर संतोषु बिसेषी ।।
हरषि बंधु दोउ हृदयँ लगाए। पुलक अंग अंबक जल छाए।। 1/306/6–7 मा0

452. प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू ।
भयउ पुनीत आजु यहु गेहू ।। 2/8/7 मा0

453. तात हृदयँ धीरजु धरहु करहु जो अवसर आजु । 2/169 मा0

454. पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता ।
लोचन नीर पुलक अति गाता ।। 5/31/8 मा0

455. गुहँ सँवारि साँथरी डसाई ।
कुसकिसलय मय मृदुल सुहाई ।।
सुचि फल मूल मधुर मृदु जानी ।
दोना भरि भरि राखेसि पानी ।। 2/88/7-8 मा0

456. सुनु सुग्रीव मारि हउँ बालिहि एकहिं बान ।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान ।। 4/6 मा0

457. नाभि कुंड पियूष बस याकें ।
नाथ जिअत रावनु बल ताकें ।।
सुनत बिभीषन बचन कृपाला ।
हरषि गहे कर बान कराला ।। 6/101/6 मा0

458. बालक बृंद देखि अति सोभा ।
लगे संग लोचन मनु लोभा ।। 1/218/2 मा0

459. मूरति मधुर मनोहर देखी ।
भयउ विदेहु विदेहु बिसेषी ।। 1/214/8 मा0

460. उर धीरजहि धरि, जनम सफल करि,
सुनहिं सुमुखि । जनि बिकल होही ।
को जानै, कौने सुंकृत लह्यो है लोचन लाहु,
ताहिं तें बारहिं बार कहति तोही । 2/19/8-11 गीता

461. तुलसी निरखि सिय प्रेम बस कहै तिय,
लोचन सिसुन्ह देहु अभिय घूटी । 2/21/6-7 गीता

462. तबहिं लखन रघुबर रुख जानी ।
पूँछेउ मगु लोगन्हि मृदु बानी ।।
सुनत नारि नर भए दुखारी ।
पुलकित गात बिलोचन बारी ।। 2/117/5-6 मा0

463. अनुज सखा सँग भोजन करहीं । 1/204/4 मा0

464. पुरुष सिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि भय हरन । 1/208ख मा0

465. भूप धरम ब्रतु सत्य सराहा। जेहिं तनु परिहरि प्रेमु निबाहा । 2/170/6 मा0

466. 2/171/3–2/175 मा0

467. 2/176/1–2/184 मा0

468. चढ़ि रथ सीय सहित दोउ भाई ।
चले हृदयँ अवधहि सिरुनाई ।। 2/82/2 मा0

469. सब समेत पुर धरिअ पाऊ ।
आपु इहाँ अमरावति राऊ ।। 2/247/7 मा0

470. जब जब रामु अवध सुधि करहीं ।
तब तब बारि बिलोचन भरहीं ।। 2/140/3 मा0

471. प्रिय लागिहि अति सबहि मम भनिति राम जस संग ।
दारु बिचारु कि करइ कोउ बंदिअ मलय प्रसंग ।। 1/10क/मा0

472. 4/13/.... मा0

473. तीय–तनय समेत तापस पूजिहों बन गाइ। 7/27/7 गीता

474. मानक हिन्दी कोश पृ0
वृहत् हिन्दी कोश पृ0

475. तुलसी दर्शन : डा0 बलदेव प्रसाद मिश्र, पृ0 57

476. देहु काम–रिपु रामचरन रति, तुलसिदास कहँ कृपानिधान । 3/8 विनय

477. तुलसी जो राम पद चाहिय प्रेम ।
सेइय गिरि करि निरुपाधि नेम ।। 23/9 वि0

478. जोरि पनि बर मागउँ एहू ।
सीय राभ पद सहज सनेहू ।। 2/196/8 मा0

479. देहि मा, मोहि पन प्रेम यह नेम निज, राम घनस्याम तुलसी–पपीहा । 15/10 वि0

480. रघुपति–पद–परम प्रेम, तुलसी यह अचल नेम
देहु है प्रसन्न पाहि प्रनत–पालिका । 16/12 वि0

481. 2/204/2–5 मा0

482. 3/34/7–3/35/8 मा0

483. 57/18 वि0

484. जहँ सिंसुया पुनीत तर रघुबर किय विश्रामु ।
अति सनेहँ सादर भरत कीन्हेउ दंड प्रनामु ।। 2/198/मा0

485. स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा
भाषा निबन्धमति मञ्जुल मात नोति । 1/श्लोक 7/मा0

486. रघुबर भगति प्रेम परमिति सी । 1/30/14मा0

487. रामकथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारू ।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु । 1/31/मा0

488. लोकहुँ बेद सुसाहिब रीती ।
बिनय सुनत पहिचानत प्रीती ।। 1/27/5 मा0

489. पुलक बाटिका बाग सुख सुबिहंग बिहारु ।
माली सुमन सनेह जल सींचत लोचन चारु ।। 1/37/मा0

490. सजल नयन तन पुलकि निज इष्टदेउ पहिचानि ।
परेउ दंड जिमि धरनितल दसा न जाइ बखानि ।। 2/110/मा0

491. 3/15/3–3/16/मा0

492. तुलसिदास तेन्हि अवसर मांगी भगति अनूप ।
मृदु मुसुकाई दीन्ह तब कृपा दृष्टि रघुभूप ।। 7/21/49–50 मा0

493. पुरी प्रभाव अनुगह मोरें ।
राम भगति उपजिहि उर तोरें ।। 7/108/10 मा0

494. मैं कृतकृत्य भइउँ अब तब प्रसाद बिस्वेस ।
उपजी राम भगति दृढ़ बीते सकल कलेस ।। 7/129/मा0

495. 2/102/मा0

496. भगति पच्छ दृढ़ नहिं सठताई ।
दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई ।। 7/45/8 मा0

497. राम भगति पथ परम प्रबीना ।
ग्यानी गुन गृह बहु कालीना ।। 7/61/3 मा0

498. प्रेम भगति जल बिन्दु रघुराई ।
अमि अंतरमल कबहुँ न जाई ।। 7/48/6 मा0

499. 1/65/9 गीता

500. 5/46/8 गीता

501. 7/84/7--8 मा0

502. 7/30/4 कविता

503. 1/186/4–5 मा0

तृतीय – अध्याय

– तुलसी साहित्य में विरागात्मक वृत्ति
पर आधारित मूल संवेग– 2
: घृणा या विकर्षण का भाव

– आत्मरक्षा प्रवृत्ति पर आधारित संवेग
: भय
: क्रोध
: दीनता

– जिज्ञासा एवं कुतूहल (विस्मय) प्रवृत्ति

– स्व–प्रतिष्ठापन अथवा अहं प्रवृत्ति

– निष्कर्ष

:: तृतीय – अध्याय ::

(क) विरागात्मक वृत्ति पर आधारित मूल संवेग :–

विरागात्मक वृत्ति पर आधारित संवेग "घृणा" (विकर्षण का भाव) है। विरागात्मक वृत्ति की प्रेरणा से अरुचि और द्वेष जाग्रत होता है, वस्तु से दूर हटने की प्रवृत्ति जागती है। इसके कारण व्यक्ति को दुःखात्मक अनुभूति भी होती है। प्रस्तुत अध्याय में हम तुलसी साहित्य में विवेचित इस विकर्षण के भाव के मनोविज्ञान को समझने का प्रयास करेंगे।

विकर्षण या घृणा :

अरुचिकर विषयों से दूर रहने की जो प्रवृत्ति होती है। उसे विकर्षण कहते हैं। पं0 रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार अरुचिकर विषयों के उपस्थित होने पर अपने ज्ञान पथ से उन्हें दूर रखने की प्रेरणा करने वाला जो दुःख होता है इसे घृणा कहते हैं।[1] भारतीय मनोविज्ञान में यह संवेग द्वेष नाम से परिभाषित है। वेंकटनाथ का कथन है कि, द्वेष का स्वरूप दुःखद् या हानिप्रद वस्तु के दर्शन से संताप उत्पन्न करने वाला है।[2] भारतीय काव्य शास्त्र में भी इसे अरुचिकर वस्तु के दर्शन श्रवण आदि से उत्पन्न माना गया है। भरत ने इसके दो भेद माने हैं (1) रुधिर आदि से उत्पन्न होने वाला शुद्ध अथवा क्षोभण और (2) विष्ठा, कृमि आदि से उत्पन्न होने वाला अशुद्ध अथवा उद्वेगी। भट्टतोत ने शुद्ध और अशुद्ध वीभत्स अर्थात् विकर्षण की बात की और कहा कि शुद्ध वीभत्स तो वह है जो संसार के प्रति जुगुपसा उत्पन्न करने के कारण मोक्ष साधक होता है।[3] पश्चमी मनोविज्ञान में मैक्डूगल मूल प्रवृत्तियों का विवेचन करते हुए विकर्षण की प्रवृत्ति के बारे में कहते हैं कि उस प्रवृत्ति की प्रेरणा भय की तरह अरुचि और द्वेष की होती है। यह प्रवृत्ति या प्रेरणा भय से इस बात में भिन्न है कि भय के कारण वस्तु से व्यक्ति शारीरिक रूप से दूर हो जाता है जबकि घृणा में बाधक वस्तु को व्यक्ति या तो हटा देता है या उसे अस्वीकृत कर देता है।[4]

तुलसी ने इस प्रवृत्ति को सामान्य अर्थ में ही ग्रहण किया है। उन्होंने अनेक विषयों के प्रति विकर्षण का भाव माना है। उन्होंने बताया कि सज्जनों को दुर्जनों अर्थात् दुष्टों से विकर्षण होता है क्योंकि वे जब मिलते हैं तो दारुण दुःख देते हैं।[5] जिस वस्तु से हमारे या हमारे प्रिय के अनिष्ट का संकेत मिलता हो उसके प्रति भी विकर्षण का भाव होता है। मैना ने शिवजी का भयानक वेश देखा तो वे यह सोचकर कि पार्वती इनके साथ जीवन कैसे बिता पायेगी, अत्यधिक विकर्षण के भाव से भर जातीं हैं।[6] जो हमारे प्राण प्रिय श्रद्धेय को और सारे समूह को दीर्घकालीन कष्ट पहुँचाये उसके प्रति विकर्षण जागता है। कैकेयी

ने जहाँ एक ओर राम को कष्ट दिया वहाँ दूसरी ओर सारी अयोध्या विशेषकर दशरथ को भयानक कष्ट भी दिया। कैकेयी के ऐसे कृत्य से उसके प्रति सभी में विकर्षण जागता है।[6] तुलसी ने बताया कि साधकों का दुष्पृवित्तियों के प्रति विकर्षण का भाव होता है। तुलसी एक साधक हैं। इसलिए उनमें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि संसारी संवेगों के प्रति अत्यधिक विकर्षण का भाव है। विनय पत्रिका में उन्होंने अपने विकर्षण की अभिव्यक्ति अनेक स्थानों पर की है।[8]

तुलसी ने साधक में स्त्रियों के प्रति भी विकर्षण माना है। क्योंकि स्त्रियां समस्त दुष्प्रवृत्तियों की जड़ होती हैं और भक्ति के पथ में बाधा डालतीं हैं। ये स्त्रियां पाप रूपी उल्लुओं को बहुत ही सुख प्रदान करतीं हैं।[9] साधक अथवा भक्त में प्रभु से विमुख रहने वाले के प्रति भी विकर्षण होता है।[10]

तुलसी ने विकर्षण का विस्तार से परिचय नहीं दिया है। जिसके प्रति उन्होंने विकर्षण व्यक्त किया है उसकी या तो निन्दा तरह-तरह से की है या केवल उसके दोषों को उभारा है। कैकेयी के दुष्कृत्यों से सारे अयोध्यावासी कैकेयी को गाली दे रहे हैं कि उस पापिन को क्या सूझ पड़ा जो इसने छाये घर पर आग रख दी।[11] स्त्री के दोषों का वर्णन करते हुए तुलसी कहते हैं- स्त्री अवगुणों की मूल, पीड़ा देने वाली और सब दुःखों की खान है।[12]

(ख) आत्म रक्षा-प्रवृत्ति पर आधारित संवेग :-

ये भावनायें वे हैं जिनसे व्यक्ति अपनी सुरक्षा करना चाहता है। भय, क्रोध, दीनता इसी प्रवृत्ति पर आधारित संवेग हैं। अपनी रक्षा के लिये व्यक्ति कष्टदायक परिस्थिति से दूर भागता है, डटकर मुकाबला करता है अथवा किसी सामर्थ्यवान् की शरण स्वीकार करता है। विवेचनाक्रम में अब तुलसी द्वारा निर्देशित आत्मरक्षा प्रवृत्ति पर आधारित- भय, क्रोध तथा दैन्य का विश्लेषण किया जायेगा।

भय :-

"भय" सुरक्षा की भावना से उत्पन्न प्रवृत्ति का नाम है। यह वह मानसिक स्थिति है जो किसी अनिष्ट या संकट सूचक सम्भावना से उत्पन्न होती है और जिससे प्राणी चिन्तित और विकल होने लगता है।[13] बृहत् हिन्दी कोश में इसे डर, खौफ, खतरा का नाम दिया गया है।[14] 'शब्द साधना' में लिखा है कि इसके (भय के) फलस्वरूप मनुष्य

का साहस छूट जाता है और वह कुछ कायर सा हो जाता है अथवा कुछ अवस्थाओं में वह अपनी जान पर खेलकर भय उत्पन्न करने वाले संकट का सामना करने के लिए तैयार हो जाता है।[15]

भारतीय मनोविज्ञान में "पतंजलि" के अनुसार भय अपने जीवन के प्रति अन्य प्राणी या वस्तु से अनिष्ट प्राप्ति की सम्भावना से उत्पन्न होता है। शंकर ने भय को त्रास अथवा दु:ख के रूप में व्यक्त किया है। रामानुज प्रिय वस्तु के विश्लेषण–कर्ता अथवा अप्रिय के आगमन में हेतु तत्व के दर्शन से उत्पन्न दु:ख को भय मानते हैं। वरवर मुनि एवं वेदान्त देशिक भविष्य में दु:ख के सम्भावित प्रदाता के दर्शन से भय की उत्पत्ति मानते हैं। आनन्दगिरि अपने से अतीत में अनिष्ट प्राप्त व्यक्ति के दर्शन से भय का जन्म मानते हैं। मधुसूदन एवं वेंकटनाथ का मत है कि अपनी प्रिय वस्तु के अनिष्ट के प्रतिकार में असमर्थ व्यक्ति की दीन मानसिक स्थिति ही भय है। रामकण्ठ के अनुसार काम्य वस्तु के खोने की सम्भावना या अप्रतिकार्य सुख–बाधक हेतु अथवा दुष्कर प्रतिकार्य दु:ख हेतु के दर्शनादि द्वारा उत्पन्न संत्रास ही भय है। इसके उत्पादन तत्व चोर व्याघ्र, सर्प अथवा अन्य भयानक तत्व हैं। कम्पन, रोमांच, अंग–शैथिल्य, त्वचा की जलन, नेत्रों में विषमता आदि इससे उत्पन्न शरीर क्रियायें हैं।[16]

भारतीय काव्य शास्त्र में आचार्य भरत, धनंजय, विश्वनाथ, जगन्नाथ इन सबने भय के सम्बन्ध में अपने विचार दिये हैं। आचार्य भरत इसे स्त्री एवं नीच प्रकृति के व्यक्तियों का भाव मानते हैं। इसके अनुभव हाथ, पाँव, शरीर व हृदय का कम्पन, स्तम्भ, मुख सूखना, जीभ चाटना, पसीना, त्रास, बचाव की खोज, भागना आदि हैं।[17]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं– "किसी आती हुई आपदा की भावना या दु:ख के कारण के साक्षात्कार से जो एक प्रकार का आवेग पूर्ण अथवा स्तंभकारक मनोविकार होता है उसी को भय कहते हैं।"[18]

विलियम मैक्डूगल भागने की मूल प्रवृत्ति का विवेचन करते हुए कहते हैं कि विपत्ति से भागने की सहज प्रवृत्ति जीवित रहने के लिए सभी प्राणियों में आवश्यक है। मनुष्य में भी इस प्रवृत्ति के कारण भागने की असाधारण इच्छा होती है। इसलिए जो सहज प्रवृत्ति भागने की क्रिया को निश्चित करती है उसे भय का नाम दिया गया है। आतंक जो इस संवेग की तीव्र मात्रा को व्यक्त करता है, मनुष्य के स्नायु संस्थान को अस्त–व्यस्त कर देता है। कभी–कभी इससे मृत्यु भी हो जाती है।[19]

कायर व्यक्ति का भय से रंग फीका पड़ जाता है, भयग्रस्त होने पर वह कभी एक पैर से खड़ा होता है कभी दूसरे से। मृत्यु के बारे में सोचते ही उसका हृदय धड़कने लगता

है और दाँत बजने लगते हैं जबकि वीर व्यक्ति भय को वश में करके निडर दिखायी पड़ता है।[20]

तुलसी ने भय को सामान्य अर्थ में ही ग्रहण करके इसे जीव को विनाशात्मक प्रवृत्तियों से दूर रखने के लिए एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में ग्रहण किया है। उन्होंने इसे एक विकार भी माना है जिससे प्रत्येक सांसारिक प्राणी अवश्य ही ग्रसित रहता है। तुलसी ने अपने साहित्य में भय के समस्त तत्वों (कारण, प्रभाव, विकास, विविध रूप आदि) को अपनी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखकर उसका विवेचन प्रस्तुत किया है।

तुलसी भय के कारणों का विवेचन करते हुए बताते हैं कि जो सामर्थ्यवान् होता है, उससे सभी को बहुत भय लगता है। राम सर्व सामर्थ्यवान् हैं इसलिए तुलसी कहते हैं कि उनके भय से डर को भी डर लगता है और यदि सामर्थ्यवान् क्रोध में हो तब तो व्यक्ति को बहुत ही अधिक भय लगता है। राम के क्रोध से समुद्र भयभीत हो उनके चरण पकड़ लेता है।[21] अतुलित सामर्थ्यवान् जब क्रोध में भरकर आक्रमण करता है तो पूरे वातावरण में भय व्याप्त हो जाता है।[22]

अगर कोई बड़ा ही बलवान शत्रु अथवा बलवान दुष्ट है तो उससे भी मन बड़ा ही भयभीत रहता है।[23] दुष्टों के निवास स्थल में जाने से सज्जनों को डर लगता है। रावण के बगीचे में वायु असमय आने में डरती है।[24] किसी के काल के समान भयानक रूप को देखकर व्यक्ति डर से थर्रा जाता है। लंका में हनुमान जी के रूप को देखकर बड़े–बड़े योद्धा काँपने लगे।[25] भयानकता चाहे वह व्यक्ति की हो अथवा किसी वस्तु या परिस्थिति की हो व्यक्ति को बहुत भयभीत करने वाली होती है जैसे घनघोर घटाओं या तेज धूप से भय उत्पन्न होता है।[26]

पहले से ही भंयकर दिखने वाला पापी यदि नाक–कान से रहित हो जाये तो वह और भयानक हो जाता है। कुम्भकर्ण युद्ध में नाक–कान से रहित हो बहुत अधिक भयानक हो गया। वन की भयानकता धैर्यवानों को भी भयभीत कर देती हैं।[27]

विषाद और परिताप दायक वस्तु से भय लगता है। व्यक्ति उस वस्तु को ही देखना चाहता है जिससे उसे सुख मिले किन्तु जो वस्तु उसका दु:ख बढ़ाने वाली हो उसे देखना तो वह चाहता ही नहीं बल्कि उससे भयभीत होकर दूर जाना चाहता है। अयोध्या के लोग राम के वन जाने पर एक–दूसरे का दु:ख बढ़ाने वाले हो गये थे। इसी कारण वे एक–दूसरे को देखकर भयभीत हो रहे थे।[28] भयंकर दु:खदायक असम्भावित घटना के घटित हो जाने पर व्यक्ति सहम जाता है।[29] जिससे हमारा जीवन तेजहीन हो जायेगा, जिससे हमारा सुख, हमारी प्रफुल्लता

चली जायेगी उससे भय लगता है। अनर्थ करने वाली वस्तु से डर लगता है।[30] भयंकर विषाद का जो विषम प्रभाव होता है उसकी तीव्रता से व्यक्ति को भय लगता है। इस भय से व्यक्ति उसी तरह दूर जाना चाहता है जैसे भयंकर धारा में पड़ती भँवर से।[31]

क्रोध का उद्‌देश्य व्यक्ति को भयभीत करना ही होता है। दुष्ट अत्याचारी को क्रोध से व्याकुल हो अपनी ओर दौड़ते देख भय लगता है। जिसका अपराध हो गया है उसको क्रोध युक्त जानकर भय लगता है। शत्रु की चेतावनी, शत्रु की गर्जना, शत्रु के तेज आक्रमण, उसके ध्वंसात्मक तथा व्याकुल कर देने वाले कार्य तथा शत्रु का प्रण उसके प्रतिपक्षी को निश्चित ही भयभीत करने वाले होते हैं। जिससे हम एक बार पराजित हो चुके हैं उसकी ललकार को सुनकर भय के कारण उसके निकट जाने की इच्छा नहीं होती। हनुमान के लंका दहन तथा उनके द्वारा अपनी पराजय को सोच मेघनाद हनुमान के निकट जाने में भय करता है। धनुष की अत्यन्त प्रचण्ड टंकार सुनकर भी भय लगता है।[32]

भयंकर विपत्ति की आशंका से भय लगता है। मंदोदरी रावण के दिन प्रतिदिन बढ़ते वैर से अनिष्ट की आशंका कर भयभीत हो जाती है।[33] कोई ऐसी बात जिसके कारण सामूहिक रूप से प्राणों पर संकट आने वाला है, सुनकर व्यक्ति सहम जाता है।[34] अपनी हानि की आशंका से भय लगता है।[35] यदि शत्रुपक्ष का कोई व्यक्ति हमारी सुरक्षा व्यवस्था को चुनौती देकर हमें बहुत अधिक हानि पहुँचाकर चला जाये और पुनः उसके आने की आशंका हो तो हम अपनी सुरक्षा की ओर से बहुत अधिक भयभीत होने लगते हैं।[36] अपशकुन देखकर भय लगता है।[37] जिस स्थान पर हमारी सुरक्षा को भारी संकट उत्पन्न हो गया हो और उसकी स्थाई सम्भावना भी बनी रहती हो, तो असुरक्षा का भय और चिन्ता हमें बराबर रहने लगती है।[38]

शत्रु को अपने पक्ष पर भारी पड़ते देखकर, शत्रु के अद्‌भुत सामर्थ्य और प्रभाव को देखकर, शत्रु के बल, प्रभाव और सामर्थ्य का बखान सुनकर बड़ा भय लगता है।[39]

प्रिय के अनिष्ट की आशंका से भी भय लगता है।[40] यदि अचानक अनेक लोग प्रिय के लिए कटु बचन कहने लगें और उसका अनिष्ट करने के लिए उतावले होने लगें तो उनके ऐसे कोलाहल को सुनकर प्रिय के अनिष्ट की आशंका से हम भयभीत हो जाते हैं। धनुष भंग के पश्चात् जब राजा लोग दुर्वचन कहते हुए राम का अनिष्ट करने के लिए उतावले होने लगे तो सीता भयभीत हो गयीं।[41] जिस दुःख, विपरीत और कठोर स्थिति की कल्पना न की हो उस स्थिति में किसी को देखकर हम सहम कर घबड़ा जाते हैं।[42] यदि हम प्रिय के किसी अनहोने, विचित्र, अद्‌भुत कार्य को देखें और उसका रहस्य न समझ पायें तो हम अनिष्ट की आशंका से भी डरते लगते हैं।[43]

प्रिय के सामर्थ्य को न जानने के कारण स्नेह में प्रिय के अकल्याण की आशंका से डर लगता है। दशरथ राम के सामर्थ्य को न जानने के कारण उन्हें विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा के लिए भेजते भयभीत होते हैं।[44] बालक गिर न जाये इस आशंका से माता को डर लगता है।[45] प्रिय पर आघात करने के लिए किसी को अपने अस्त्र–शस्त्र तैयार करते देख भय लगता है।[46]

किसी अदृश्य कारण से कोई अशुभ घटना घट जाय जिससे सबके आनन्द में व्याघात हो तो थोड़ी देर के लिए सब संशकित तथा भयभीत हो जाते हैं।[47]

कभी–कभी व्यक्ति विपरीत परिणाम की आशंका से कोई बात पूछने में डरता है कि उत्तर में दुःखद और अनहोनी बात न सुननी पड़े। भरत सारी अयोध्या को दुःखी देख किसी से कुछ नहीं पूछ पाते।[48] कोई अप्रिय अनचाही अवांछित बात न देखनी पड़े ऐसा सोचकर व्यक्ति उस स्थान पर जाने से डरता है। दशरथ कैकेयी के क्रोध को सुन कोप भवन में जाने से डरते हैं।[49] परिणाम की आशंका मात्र से भी व्यक्ति भयभीत हो जाता है कि कहीं जाने की अनुमति न मिले, वह बड़े ही भयभीत होकर अपनी बात कहता है। लक्ष्मण सुमित्रा से डरते हुए वन जाने की अनुमति माँगते हैं।[50] यदि किसी में स्पर्श करके रूप बदल देने का सामर्थ्य है तो हमें इस बात का भय होने लगता है कि कहीं इसके स्पर्श से हम भी दूसरा रूप धारण करके दूर न चले जाये। सीता राम के चरण छूते इसीलिए डरती हैं।[51]

किसी में प्रतिकूल भाव उत्पन्न होने की आशंका से भी डर लगता है।[52] जिसने हमारे प्रति बुरी–बुरी धारणायें बना रखी हों, उससे सत्य और हित की बात कहते डर लगता है।[53] कभी–कभी व्यक्ति को कुछ पूछते समय इस कारण भय लगता है कि कहीं मेरा प्रश्न गलत न समझा जाय। यदि गलत समझा गया तो प्रश्न का समाधान तो होगा नहीं उल्टे जिससे हम प्रश्न कर रहे हैं वह कहीं क्रोधित न हो जाय या उनके मन में यह शंका न हो जाये कि मेरी परीक्षा ली जा रही है और वे क्षुब्ध हो जाये। भरद्वाज याज्ञवल्क्य से राम के विषय में पूछते इसीलिए डरते हैं।[54]

मर्यादा उल्लंघन न हो जाये इसका भी भय होता है।[55] जिसके प्रति आदर होता है उसके समक्ष किये गये प्रत्येक व्यवहार में भय अवश्य रहता है कि कहीं हमसे कोई त्रुटि न हो जाये। लक्ष्मण राम चरणों को भय और प्रेम सहित परमसुख का अनुभव करते हुए दबा रहे हैं।[56]

कार्य में बाधक तत्वों से भय लगता है।[57] दुस्तर अवरोध चाहे मिथ्या ही हो किन्तु उससे भय लगता है।[58] स्वामी की आज्ञा भंग करने में डर लगता है।[59]

इच्छापूर्ति में सन्देह हो तो जब तक इच्छापूर्ति नहीं होती है हृदय में भय के कारण धुकधुकी धड़कती रहती है।[60] यदि एक व्यक्ति दूसरे की बात काटकर तर्क पूर्ण उत्तर दे तो हम दोनों में वाद विवाद होने की आशंका से सहम जाते हैं। जनक के वचनों को लक्ष्मण के द्वारा काट दिये जाने पर सारी सभा भयभीत हो गयी।[61]

सहारा छूट जाने पर असहाय स्थिति में व्यक्ति भयभीत हो जाता है।[62] कुसमय आने पर भयभीत होना स्वाभाविक है।[63] सुयश के नष्ट होने का डर लगता है।[64] कल्याणकारी के आविर्भाव से दुष्ट डर जाते हैं।[65]

संसार के आवागमन से भय लगता है।[66] किसी के लातों के आघात व्यक्ति डरते हुए सहता है।[67] बच्चे को अपनी परछायी से डर लगता है।[68]

अपराध बोध होने पर अपराधी दुष्फल की आशंका से भयभीत हो जाता है।[69] यदि हम किसी की महिमा, महत्व और उसके प्रताप को न समझ कर उसके साथ सामान्य व्यक्ति का सा व्यवहार करें तो जब हम उसके प्रभाव से परिचित होते हैं तो अपने भ्रम को समझकर इस इस कारण भयभीत हो जाते हैं कि हमने बहुत बड़ा अपराध किया है।[60] हम मिथ्या को सच मानकर किसी के साथ छल करें और वह हमारे छल को पहचान कर हमें कोई भयंकर दण्ड दे दें तो ऐसी अवस्था में जब हम अपने भ्रम से अवगत होते हैं तो वस्तु की मिथ्यात्मकता और दण्ड की भयंकरता को सोचकर बड़े भयभीत हो जाते हैं। प्रताप भानु ब्राह्मणों के शाप से भोजन को पहचानकर भयभीत हो गया[71]

यदि हम किसी पर तरह–तरह से छल–बल का प्रहार करें और उसका कुछ न बिगाड़ पायें तो ऐसी अवस्था में हम इस भय से भयभीत हो जाते हैं कि शत्रु हमसे इसका बदला लेगा। सुग्रीव बालि का कुछ न बिगाड़ पाने के कारण इसीलिए डर गया।[72] हम कोई छल करें और वह प्रतिकूल दिशा की ओर उन्मुख होने लगे तो हम ऐसा होते देख डर जाते हैं और दाँतों तले उँगली दबा लेते हैं। मंथरा कैकेयी के मरने की आशंका से भयभीत हो गयी।[73] हम किसी के बल प्रताप को कंम समझकर उसकी परीक्षा ले बैठें और तब पता लगे कि उसका प्रताप उसके अनुमान से अधिक है और उसकी विराट शक्ति भी देखें तो ऐसी अवस्था में हम डर जाते हैं। सती राम के प्रभाव को देख बहुत अधिक डर गयीं।[74] दो के संघर्ष में हम एक का पक्ष लेकर जिसके प्रति हमारे मन में दुर्भावना है उसे दण्डित करवाना चाहें लेकिन जिसे हमने उकसाया है या जिसका हमने पक्ष लिया है वह स्वयं ही समर्पण कर उससे मैत्री भाव स्थापित कर ले तो ऐसी अवस्था में हममें भय उत्पन्न होना स्वाभाविक है क्योंकि जिसके विरोध में हम खड़े हैं वह हमसे

बदला लेगा इसीलिए दुष्ट राजा राम के आगे परशुराम के नत मस्तक होने और बिना कुछ किये तप के लिए चले जाने पर राम से डरने लगे।[75] हम किसी को किसी के कार्य में बाधा पहुँचाने के लिए भेजें और वह उसके क्रोध का शिकार बन जाये तो हम ऐसी अवस्था में इस कारण डरने लगते हैं कि कहीं हम भी उसके क्रोध का कारण न बन जायें– यहाँ पर देवताओं के डर का कारण शिव का क्रोध, उनका उग्र रूप तथा कामदेव का जलना था। असल में देवताओं ने ही भगवान शंकर की समाधि भंग करने के लिए कामदेव को भेजा था जब शंकर ने उसी को जला दिया तो कहीं उनका क्रोध अब हमारा भी अनिष्ट न कर दें। इस कारण देवता भयभीत हो गये। उन्हें इसके अलावा इसका भी भय था कि तारक असुर के मरने की भी अब कोई सम्भावना नहीं है।[76] जब व्यक्ति भय और आतंक से भागकर एकान्त में छिपकर रहता है तो वह वहाँ आने वाले हर अपरिचित को देखकर भयभीत होता है। सुग्रीव इसीलिए राम लक्ष्मण को अपनी ओर आते देख भयभीत हो जाते हैं।[77] भेद खुल न जाये इसका भी हमें डर होता है। शंकर को राम दर्शन की इच्छा थी लेकिन उनके गुप्त रूप से अवतार लेने का रहस्य खुल न जाये इसका उन्हें भय था।[78] एकाएक किसी से व्यक्तिगत बातें पूछने में डर लगता है। गाँव की स्त्रियाँ सीता से परिचय पूछते डरती हैं।[79] जो लोग अत्यधिक स्वार्थी/कामी और लालची होते हैं उन्हें सदैव इस बात का भय रहता है कि कहीं हमारा छल खुल न जाये। इसीलिए उनका स्वभाव सदैव डरते और सबसे सावधान रहने का होता है।[80] अपराधी अपराध करने में यदि सफल भी हो जाये तो भी मन में वह भयभीत रहता है। रावण सीता को हरण करके ले जाता बड़ा भयभीत होता है।[81]

दुविधा की स्थिति में व्यक्ति स्वयं भयभीत होने लगता है अगर व्यक्ति का मन किसी से उचटे और कभी उसके प्रति लगाव महसूस करे ओर ऐसा कई बार हो तो अपने ही मन के द्वन्द्व से व्यक्ति भयभीत हो जाता है और अस्थिर चित्तता के कारण कोई एक बात निश्चित नहीं कर पाता। इस स्थिति में अपने ही मन की स्थिति से व्यक्ति घबड़ाने और भयभीत रहने लगता है यहाँ भय का कारण अपने ही मन की स्थिति है, कोई और बात नहीं। अयोध्यावासी देवताओं की भाषा से दुविधा ग्रस्त हो इसी प्रकार भयभीत हो गये।[82]

कभी–कभी व्यक्ति प्रेम, निराशा, चिन्ता, संकोच इन संवेगों से ग्रसित होने पर भी भयभीत हो जाता है।[83] कभी–कभी व्यक्ति भ्रम या अत्यधिक विनय के कारण ऐसे अपराध के भय से ग्लानि करने लगता है जो अपराध उसने किया ही नहीं है। ऐसी दशा में व्यक्ति उस अपयश से भयभीत रहता है जो अपयश उसे लगता ही नहीं है। इस अवस्था में व्यक्ति के भय का कारण न होने पर भी अत्यधिक मर्यादा का ध्यान भय का कारण होता है। भरत कैकेयी के कार्य से इसी कारण भयभीत हो रहे हैं।[84]

भय उत्पन्न होने के पश्चात् फिर उसका अनेक प्रकार से प्रभाव दिखलाई पड़ने लगता है। तुलसी ने भय का अनेक प्रकार से प्रभाव माना है। अपराध बोध से उत्पन्न भय के प्रभाव को बताते हुए तुलसी कहते हैं कि यह भय जैसे ही उत्पन्न होता है वैसे ही हृदय काँपने लगता है और देह की सुध-बुध चली जाती है। अत्यन्त भयभीत होने के कारण व्यक्ति आँख मूंदकर जहाँ होता है वहीं बैठ जाता है। राम की परीक्षा लेने गयीं सती को जब अपनी गल्ती का बोध हुआ तो उनकी भय के कारण ऐसी ही दशा हुई।[85] जिससे व्यक्ति को दण्ड का भय होता है उससे व्यक्ति छिपाव भी करता है। व्यक्ति अपनी गल्ती अपने भय को छिपाकर सामान्य व्यवहार करता है। सती ने भी यही किया। शिवजी के पूछने पर कि किस प्रकार तुमने राम की परीक्षा ली ? सती ने सारी बात छिपा ली।[86] यदि कोई हमारे अपराध को समझकर हमसे कुछ कहे बिना दण्ड रूप में कुछ करने का निश्चय कर ले और हमें इसकी आंशका हो जाये तो हम आगत संकट से भयभीत हो सकुचाते हुए किये हुए इसके निश्चय को पूछते हैं। सती ने शिव को प्रतिज्ञा करते देख भय से सकुचाते हुए प्रतिज्ञा के बारे में पूछा।[87] जिसका हमसे कोई अपराध बन जायें और हम उसके दण्ड को भी भुगत लें तो ऐसी अवस्था में यदि हमें उससे किसी कार्य को करने की अनुमति लेनी पड़े तो हमारी वाणी भय के साथ-साथ संकोच और प्रेम से मनोहर होकर ही व्यक्त होती है। सती ने दक्ष के यहाँ जाने के लिए इसी प्रकार की वाणी से शिव से अनुमति मांगी।[88]

प्रिय के भावी अनिष्ट की आशंका से उत्पन्न भय में व्यक्ति चिन्तित और दुखी हो जाता है। और ऐसे उपाय करने लगता है जिससे उसके प्रिय पर भविष्य में कोई विपत्ति न आ सके। पार्वती के पति के दोषों को जानकर मैना और हिमवान् बड़े दुखी और चिन्तित हो गये और मैना शीघ्र ही पार्वती का योग्य वर तलाश कर विवाह कर देने के लिए उतावली हो गयी।[89] किसी के भयानक वेश को देखकर उत्पन्न डर में व्यक्ति भाग कर किसी सुरक्षित स्थान में छिप जाता है। शिवजी के भयानक वेश को देख स्त्रियाँ बहुत भयभीत हो भाग कर घर में घुस गयीं।[90] लेकिन भय में यदि भागना सम्भव न हो तो व्यक्ति भय के कारण जहाँ होता है वहीं व्याकुल होने लगता है, उस भयकारी वेश वाले का सम्मान करने लगता है। परशुराम के भयानक वेश को देखकर सब राजा यज्ञशाला में भय से व्याकुल हो उठ खड़े हुए और पिता सहित अपना नाम कह-कहकर दण्डवत् प्रणाम करने लगे।[91] जिससे हमें भय लगता है उसका रूख यदि हमारी ओर हो जाये तो हम और भी अधिक भयभीत हो अपनी आयु को पूरी हुई जान लेते हैं। परशुराम जिसकी ओर देख लेते हैं वह समझता है मानो मेरी आयु पूरी हो गयी।[92]

बलवान व्यक्ति के क्रोध से उत्पन्न अत्यन्त डर में व्यक्ति के मुख से आवाज नहीं निकल पाती। परशुराम के धनुष तोड़ने वाले के बारे में पूछने पर जनक भी डर के कारण उत्तर नहीं दे पाते।[93] भय में आधा क्षण कल्प के समान बीतता जान पड़ता है। परशुराम के स्वभाव से सीता को भय लगा और उन्हें आधा क्षण कल्प के समान बीतता जान पड़ा।[94] किसी के चरमसीमा तक बढ़े हुए क्रोध का लक्ष्य कोई बालक बन रहा हो तो हम भयभीत हो अनुचित है, अनुचित है की पुकार करने लगते हैं। परशुराम ने जब अपना फरसा अति क्रोध में भर लक्ष्मण पर चलाना चाहा तो सब लोग भयभीत हो अनुचित–अनुचित की पुकार करने लगे।[95] सामर्थ्यवान् के क्रोध से सबको जो भय होता है, उससे वे काँप उठते हैं और हाहाकार मच जाता है। शिवजी के क्रोध से भयभीत तीनों लोक काँप उठे।[96] कुटिल व्यक्ति जिससे डरता है उसको छल करके हानि पहुँचाना चाहता है। इन्द्र नारद की तपस्या से भयभीत हो गया और कामदेव को उनकी तपस्या भंग करने के लिए भेजा।[97] यदि हम किसी का प्रत्यक्ष रूप से बिगाड़ करना चाहें ओर कुछ बिगाड़ न कर पायें तो ऐसी अवस्था में हम अपने अपराध के दण्ड के भय से आर्त्त हो उसी की शरण में रक्षा के लिए चले जाते हैं। कामदेव जब नारद का कुछ नहीं बिगाड़ पाया तो अपने नाश के भय से आर्त वचन कहता मुनि की शरण में चला गया।[98] किसी को उदास देख व्यक्ति भयभीत हो आत्मीय जनों की कुशलता पूछने लगता है। मन्थरा की उदासी से डर कर कैकेयी राम, लक्ष्मण सभी की कुशलता पूछने लगीं।[99]

अपने अनिष्ट की आशंका से उत्पन्न भय में व्यक्ति सूख जाता है, कुछ बोल नहीं पाता, शरीर में पसीना आने लगता है और वह केले की तरह काँपने लगता है। कैकेयी मंथरा की बातों से भयभीत हो ऐसी ही स्थिति में हो गयी। यदि किसी की हमारे कारण दयनीय दशा हो जाये तो हम डर कर अपनी जीभ को दाँतो तले दबा लेते हैं। मन्थरा कैकेयी की दशा देखकर डरकर ऐसा ही करने लगी।[100] भय के कारण व्यक्ति का विवेक नष्ट हो जाता है और वह भय से मुक्त होने के लिए किसी के भी कहे में चलने लगता है और न करने योग्य कार्य को करने के लिए तैयार हो जाता है। कैकेयी भय के कारण मंथरा के वश में हो उसी के कहे अनुसार चलने लगी।[101]

किसी के क्रोध से जो भय लगता है उससे व्यक्ति सहम जाता है। डर के मारे पाँव आगे नहीं पड़ता। व्यक्ति एकदम सूख जाता है। कैकेयी के क्रोध को सुनकर दशरथ की ऐसी ही दशा हो गयी। वे डरते–डरते कैकेयी के पास गये और कोमल वाणी में क्रोध का कारण पूछने लगे।[102]

यदि कोई हमसे प्रिय का दीर्घकाल के लिए वियोग करा देने वाली बात कहे तो हम उसे सुनते ही सहम जाते हैं, कुछ कह नहीं पाते। हमारा रंग उड़ जाता है। कैकेयी के राम को वन भेजने वाले वचन से दशरथ भयभीत हो ऐसी ही दशा में हो गये।[103]

भय के कारण भंयकर वस्तु के पास न तो जाया जा पाता है और न उसकी ओर देखा जा पाता है। सुमन्त्र भयानक महल को देख इसी प्रकार डर रहे हैं।[104] प्रिय से वियोग हो जाने के भय से व्यक्ति सहम कर सूख जाता है, व्याकुल होने लगता है, नेत्रों में जल भर आता है और शरीर थर–थर काँपने लगता है। कौशल्या राम के वन जाने वाले वचनों से इसी प्रकार भयभीत हो उठी।[105]

हमारी इच्छा पुरी होगी या नहीं इस भय में व्यक्ति का शरीर काँपने लगता है, शरीर में रोमात्र्च होने लगता है और नेत्र आँसुओं से भर जाते हैं व्यक्ति बहुत अधीर और दीन होने लगता है। लक्ष्मण की राम के साथ जाने की इच्छा है। यह इच्छा पूरी हो पायेगी या नहीं इस इस भय से वे इसप्रकार भयभीत हो रहे हैं।[106] व्यक्ति जिससे भी डरता है उसके समीप ज्यादा देर नहीं रुकना चाहता। लक्ष्मण माता से जाने की अनुमति पाकर कहीं कोई बाधा न आ जाये इस भय से तुरन्त वहाँ से चल दिये।[107]

बलवान के भय से बड़े–बड़े शक्तिशाली काँपने लगते हैं।[108] व्यक्ति भय में सहायता के लिए अपने आश्रय की शरण में जाकर पुकार करता है।[109] भय में व्यक्ति नम्रता पूर्वक बलवान व्यक्ति की भौहें ताकता है।[110] चारों ओर से विपत्ति से घिर जाने पर व्यक्ति भय से घबरा जाता है, भागने लगता है, भयकारक वस्तु पर नियंत्रण करना चाहता है। सभी लोग व्याकुल हो जाते हैं और सबमें भयानक भगदड़ मच जाती है, हाहाकार मच जाता है, जो जैसी अवस्था में होता है वैसे ही भागने लगता है। लंका में चारों ओर आग लग जाने पर इसी प्रकार का चारों ओर भय का वातावरण छा गया। लोग घबराकर भागने लगे, हनुमान जी को पकड़ने का प्रयास करने लगे, चारों ओर बचाओ बचाओं की पुकार लगने लगी।[111] बलवान शत्रु के गर्जन से भयभीत हो व्यक्ति अपने कान मूँद लेता है। लंका में अंगद की गर्जना से राक्षसों ने अपने कान मूँद लिए। वे उन्हें हनुमान समझकर भय से सूख गये और जहाँ–तहाँ छिपने लगे।[112]

अत्यधिक भय में कभी–कभी व्यक्ति के मुख से आवाज नहीं निकल पाती।[113] भय में रात को नींद नहीं आती न भूख लगती है। देवताओं को रावण के भय से रात में नींद नहीं आती और दिन में वे अन्न नहीं खाते।[114]

अपशकुन होने पर जो आत्मीय जनों की अकुशलता का भय उत्पन्न होता है उसमें व्यक्ति करोड़ों प्रकार की बुरी–बुरी कल्पनाएँ करने लगता है, धार्मिक कृत्य करने लगता है, भगवान से विनती करने लगता है। ननिहाल में भरत को अपशकुनों से जो भय हुआ, उसके कारण वे यहीं सब करने लगे।[115] प्रियजनों के अनिष्ट के भय में व्यक्ति शीघ्र अति शीघ्र उनके पास पहुँच जाना चाहता है।[116]

मर्यादा उल्लंघन के भय में व्यक्ति इच्छा होने तथा सामर्थ्य होने पर भी किसी कार्य को नहीं करता है। अंगद राम के डर से रावण के दाँत नहीं तोड़ते।[117] भय के कारण व्यक्ति कभी–कभी किसी को अनीतिकर बातें कहने से नहीं रोकता।[118] भय के कारण व्यक्ति गलत परामर्श भी देता है। इसीलिए भयभीत रहने वाले व्यक्ति के परामर्श के अनुसार चलने पर व्यक्ति को कभी भी विजय और वैभव प्राप्त नहीं हो सकता। भय में व्यक्ति भयकारी वस्तु के पास लौटना नहीं चाहता। ऐसी अवस्था में न आँखों से कुछ दिखायी पड़ता है न सुनायी पड़ता है।[119] भय से हृदय में दरारें पड़ जाती हैं।[120] डर में कभी–कभी व्यक्ति के प्राण भी निकल जाते हैं।[121] भय व्यक्ति को परेशानी में डाले रहता है, इसमें जो घबराहट होती है उससे हृदय जलने लगता है।[122] डर में व्यक्ति भौचक्का सा रह जाता है और आज्ञा पालन के लिए तैयार रहता है।[123] आत्मीय को कहीं पीड़ा न हो, इस भय से व्यक्ति दुःख सह लेता है किन्तु उसे प्रकट नहीं करता।[124] भय के कारण व्यक्ति का रूप परिवर्तन हो जाता है।[125] कभी–कभी व्यक्ति भय में भ्रमित हो जाता है, जिसके कारण व्यक्ति उससे अभय चाहने लगता है जिसमें भय रहित करने की सामर्थ्य ही नहीं होती।[126]

किसी ने हमारा अपराध किया और हम उसे दण्ड दे दें तो जिस व्यक्ति को हमने दण्ड दिया है वह व्यक्ति उससे क्षुब्ध या क्रुद्ध न होकर उसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार ले और बदले में विनम्र वचन बोले। उसी समय हमें बोध हो जाये कि उस व्यक्ति ने हमारा अपराध किया ही नहीं था बल्कि जो कुछ किया वह हमारे कल्याण के लिए किया या हमारे ही भ्रम के कारण घटित हो गया। उस समय हमारे द्वारा अपराध का जो दण्ड देना है वही एक अपराध बन जाता है और हमको ऐसा लगता है कि उस व्यक्ति ने हमारा अपराध किया नहीं था बल्कि हमसे ही अपराध बन गया है, तब हम उस व्यक्ति के क्षमा शीतल, कल्याणकारी रूप से प्रभावित होकर उसी की शरण में जाते हैं और अपने द्वारा भूलवश किये अपराध को याद करके और भयभीत हो जाते हैं।

नारद और विष्णु प्रसंग में नारद में इसी प्रकार भय उत्पन्न हुआ।[127] यदि बलवान शत्रु के क्रोध से हम भयभीत हैं तो या तो उसकी आधीनता स्वीकारेंगे या उससे दूर चले जायेंगे, यदि बराबरी के शत्रु के क्रोध से भयभीत है तो उस पर आक्रमण करने की सोचेंगे और अगर क्रोध करने वाला हमारा हितैषी, रक्षक तथा अतिबलशाली है, उसका क्रोध हमारे किसी अपराध के कारण है और उसके दण्ड की आशंका है तो हम किसी प्रकार अपने अन्य मित्रों या आत्मीयों की सहायता से उसके क्रोध का शमन कर भय से मुक्त होने का प्रयास करेंगे और पुनः उसका विश्वास और स्नेह प्राप्त करेंगे। इन तीनों स्थितियों में भय के आलम्बन के प्रति तीन प्रकार की प्रतिक्रिया होती हैं– पलायन, आक्रमण अथवा क्रोध शमन के बाद पुनः मैत्री।

अन्य संवेगों की भाँति "भय" संवेग भी स्वभाव पर निर्भर है, जिसका स्वभाव अच्छा होता है, जो सज्जन प्रकृति के होते हैं उन्हें दुष्ट प्रकृति के लोगों से डर लगता है।[128] नीच, सब साधनों से रहित, कुटिल और मलिन मन वाले व्यक्ति को अपनाने में सन्त पुरुषों को डर लगता है।[129] स्वार्थी/कामी और लालची को भेद खुल न जाये इस बात का सदा भय रहता है।[130] ऐसे व्यक्तियों को मिथ्या भय भी होते हैं।[131] कायर लोग वीरता प्रदर्शित करने वाले कार्य से घबराकर जहाँ–तहाँ भाग जाते हैं।[132] युद्ध के वाद्य यंत्रों को सुनकर तथा युद्ध के भयंकर दृश्य को देखकर कायरों का मन डर जाता है।[133] भयानक वस्तु यदि मिथ्या भी हो तो भी कोमल हृदय का व्यक्ति उसे देखकर डरता है।[134] सच्चे सेवक को अपने स्वामी के अपमान होने का बड़ा भय रहता है।[135] दुर्बल मन के व्यक्ति को अनुकूल समय में भी अमंगल होने का भय सताता है।[136] दुष्ट व्यक्ति सामर्थ्यवान् से या फिर जिसे सामर्थ्यवान् की अनुकूलता प्राप्त है उससे डरता है।[136] भय बालकों में अधिक व्याप्त रहता है।[138] दुर्बल को बलशाली से डर लगता है।[139] अपने से शक्तिशाली व्यक्ति के समक्ष दुष्ट व्यक्ति अपने सहायकों सहित डर जाता है।[140] वैराग्यवानों को लोभ, मोह, कोह और काम से भय लगता है।[141] भक्त केवल आराध्य से ही डरता है।[142] जिसमें दयनीयता या याचकता होती है उसमें भीरुता अर्थात् डरने की प्रवृत्ति होती है।[143] दूसरों से द्रोह करने वाला हर समय डरता रहता है।[144]

तुलसी बताते हैं कि किसी–किसी का स्वभाव सदैव निडर रहने का होता है। ऐसे व्यक्तियों की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि जो अभिमानी और शक्तिशाली होता है, वह सदैव निडर रहता है, वह शीघ्रता से भयभीत नहीं होता।[145] क्योंकि वह अभिमान के कारण आसन्न भय के कारण को नहीं समझ पाता और प्रबल शत्रु के समीप आ जाने पर नहीं डरता।[146] अभिमानी और

जिद्दी व्यक्ति का ध्यान अगर भय के कारण की ओर दिलाया जाय तो भी वह उसे अनदेखा कर जाता है। ऐसा व्यक्ति अपने साथियों को भयभीत देखकर भय के कारण को हंसी में उड़ा देता है और अपने डर को (यदि वह डर रहा होता है तो) प्रकट नहीं होने देता। इस प्रकार अभिमानी व्यक्ति वैसे तो डरता नहीं है और यदि डरता भी है तो उसे प्रदर्शित नहीं होने देता।[147] दुष्ट व्यक्ति को दुष्परिणाम से कभी भय नहीं लगता।[148] वीर/बलवान को किसी से भी डर नहीं लगता वह शत्रु के निवास स्थान में भी निर्भय चला जाता है।[150] परमसुख का अनुभव करने वाले को भय नहीं लगता।[151] निष्ठुर और निरंकुश व्यक्ति लोक की परवाह नहीं करता, इसलिए उसे लोगों का भय नहीं होता।[152]

जो अजातशत्रु है, जिसे अपने बल का मान है जो वास्तव में परमवीर भी है, सामर्थ्यवान् है ऐसा व्यक्ति किसी प्रकार के भय से भयभीत नहीं होता।[153] जो द्वन्दों से परे होता है उसे दूसरे के छल/छद्मपूर्ण व्यवहार से किसी प्रकार भय नहीं होता।[154] जो स्वभाव से निर्भय है ऐसा व्यक्ति शील विनय के कारण तो किसी के सामने झुक सकता है लेकिन भय के कारण नहीं।[155] स्वामी के प्रताप को जानने वाला किसी भी स्थिति में भयभीत नहीं होता।[156] जिसको विजय पाने का अन्दर से पूर्ण विश्वास होता है उन पर कोई अपने बल का कितना भी प्रदर्शन करें किन्तु उससे वे तनिक भी भयभीत नहीं होते।[157] कभी–कभी व्यक्ति वंश परम्परा से मिले स्वभाव के कारण भय से रहित होता है।[158] अति अनुराग और भक्ति में व्यक्ति परमार्थ अथवा परलोक बिगड़ने का भय नहीं करता।[159] प्रेम के कारण उत्पन्न भीषण दुःख के समक्ष व्यक्ति किसी भी डर की परवाह नहीं करता अर्थात् वह हर लौकिक–पारलौकिक डर से रहित हो जाता है।[160] अभय की साधना की चरम सीमा काल से भी न डरने में होती है।[161] अभय की पूर्ण साधना का मापदण्ड यह है कि उससे किसी को किसी प्रकार का भय नहीं होता। वह सबका मित्र होता है।[162] कभी–कभी दिखावे के लिए व्यक्ति मुस्कराकर किसी बात को हल्केपन से लेता है जबकि परिणाम की गम्भीरता के कारण मन ही मन वह बुरी तरह डरा हुआ होता है।[163] जिसके आतंक और बल से बड़े–बड़े शक्तिशाली त्रसित रहते हों, उसके आश्रय में रहने वाले को यदि भय हो तो हँसी का ही विषय है।[164] सामर्थ्यवान् के बल पर व्यक्ति को किसी से भी डर नहीं लगता।[165] जो आत्म विश्वास से भरा हो और किसी सर्वशक्तिमान का सहारा लिए हो तो फिर उसे कितना भी सताये उसे भय नहीं लगता।[166] आराध्य पर एक मात्र निर्भर रहने वाले को किसी प्रकार का भय नहीं लगता।[167]

भय को दूर करने का शीघ्रातिशीघ्र प्रयास किया जाता है क्योंकि भय बड़ा ही

कष्टदायक संवेग है इससे व्यक्ति के समक्ष अनेक प्रकार की समस्या उठ खड़ी होती है– वह न तो कोई कार्य ठीक से कर पाता है, न प्रसन्न रह पाता है और न ही बाधाओं के पार जा अपने लक्ष्य को पा पाता है और जब वह भय से रहित होता है तो तुलसी का विचार है वह निश्चिंत और उत्साह से युक्त रहता है,[168] उसे हर स्थान पर सुख का अनुभव होता है[169] और वह रहस्यमय और अनजान स्थान पर भी चला जाता है।[170] निडर होने पर ही कही हुई बात का प्रभाव पड़ता है,[171] हम निडर होने पर ही किसी कार्य को एकाग्रता से कर पाते हैं और किसी से आत्मीयता स्थापित की जा सकती है।[172]

भयहीन अवस्था में ही व्यक्ति किसी को अनीतिंकर बात से रोक सकता है,[173] किसी की अवहेलना करके आगे जा सकता है, बाधाओं की उपेक्षा कर सकता हे।[174] भयरहित होकर विचरण करने से ही आनन्द का अनुभव हो पाता है।[175]

भय दूर करने की प्रेरणा करूणा से मिलती है। जो करूणार्द्र हृदय होता है वही भय दूर करने के लिए उत्साहित हो जाता है।[176] जिसका स्वभाव कृपाल होता है वही भयभीत की रक्षा करता है। इसीलिए भगवान को भय का नाश करने वाला माना गया है।[177]

भय को कौन–कोन दूर कर सकता है तथा यह किस प्रयास से दूर होता है यह बताते हुए तुलसी कहते हैं जो व्यक्ति सामर्थ्यवान् होता है अथवा जिस स्वामी का स्वभाव शरणागत के भय को हर लेना होता है, जो करूणावान् होता है वही किसी के भय को दूर कर पाता है।[178] करुणावान् तो अपराधी के भय को भी दूर कर देता है।[179] परम शक्तिवान्, परम तत्व, विज्ञान का धाम भय को रहित करने वाला होता है।[181] भगवत् वचन / भगवत् साक्षात्कार / परम शक्तिवान् की कृपा से भवत्रास दूर हो जाता है।[182] अवतारी बालक संसार के समस्त भयों को दूर करने में समर्थ होता है।[183] आराध्य से भक्त का भय दूर हो जाता है।[184]

रामकथा / राम नाम भक्त के भय को निश्चित ही दूर कर देता है।[185] जो व्यक्ति व्यक्तिगत मोह से ग्रस्त नहीं होता है वही लोक के भय को दूर कर लोक का कल्याण करता है।[186] सामर्थ्यवान् का आश्रय मिल जाने पर भय समाप्त हो जाता है।[187] दुष्टों के नाश से सज्जनों का भय दूर हो जाता है।[188] प्रभु से लगाव होने पर सांसारिक भय मिट जाता है।[189]

स्वप्न का भय जागने पर ही दूर होता है।[190] सुलभ और सुखदायक वस्तु से

व्यक्ति का भय दूर हो जाता है।[191] दुष्ट के अथवा शत्रु के सहायकों सहित नाश हो जाने पर भय फिर नहीं सताता।[192] जो वस्तु शीतल होती है, ताप नाशक होती है वहीं भय को दूर करने में समर्थ होती है।[193] जो परम प्रेम भय, आनन्द भय और अत्यन्त सुन्दर है उसके सान्निध्य में व्यक्ति विरोध और भय के कारण को भूल जाता है।[194] भय के कारण को दूर करने में किसी को संलग्न देख व्यक्ति भय रहित हो जाता है।[195] जो हमारे भय और दुःख का कारण है उसके विनाश का कोई आश्वासन दे दे तो हमारा भय दूर हो जाता है।[196] श्रद्धेय की अप्रसन्नता की आशंका से उत्पन्न भय श्रद्धेय को अनुकूल देख दूर हो जाता है। भरत का भय सीता को अनुकूल देखकर दूर हो गया।[197] कभी–कभी एक वस्तु का भंयकर भय बाकी सब वस्तुओं से व्यक्ति को निर्भय बना देता है।[198] आशा पूरी कहीं न हुई इस आशंका से उत्पन्न भय संतोष करने से दूर हो जाता है।[199] भय में व्यक्ति अपनी सुरक्षा के लिए रखवालों की भी व्यवस्था करता है।[200] प्रेम भय को नष्ट कर देता है। यदि हमारा प्रेमपात्र भयोत्पादक है तो प्रेम के कारण व्यक्ति को उससे भय नहीं होता है।[201]

कहाँ पर अर्थात् किस अवस्था में भय संवेग किसी में भी उत्पन्न नहीं होता इसकी भी तुलसी ने जानकारी दी है। जहाँ हमसे मुकाबला करने वाला कोई न हो तो वहाँ हम निर्भय रहते हैं।[202] सुरक्षित स्थान पर व्यक्ति निडर होकर बसता है। लंका समुद्र से घिरी होने के कारण ही रावण उसमें निडर होकर रहता था।[203]

स्वधर्म पालन में लगे रहने से फिर किसी प्रकार का भय नहीं होने पाता।[204] जहाँ आपस में वैर भावना नहीं होती है वहाँ व्यक्ति निर्भय रहता है।[205] जब शत्रु आक्रमण की स्थिति में न हो तब हम बिना किसी भय के उसके सुरक्षित किले पर धावा बोल देते हैं।[206] शत्रु के अचेत होने पर जब उससे हमें कोई खतरा नहीं रहता तभी हम बिना डर के उसके पास जाने का साहस कर पाते हैं।[207] तप्त वस्तु के छूने से हमारी कोई हानि नहीं होगी। जब हमें यह विश्वास होता।[208] स्वेच्छापूर्वक जब कोई किसी कष्ट स्वीकार कर लेता है तब उसमें उसके कारण होने वाले अनिष्ट से भय उत्पन्न नहीं होता।[209] क्षमाशील के आगे भय त्यागकर जाया जा सकता है।[210] साधु और भक्तों से किसी भी प्रकार का भय मिथ्या होता है।

भय को दूर करने के अतिरिक्त भय का एक दूसरा भी महत्वपूर्ण पक्ष है कि भय दूसरे में उत्पन्न भी किया जाता है। व्यक्ति किसी को भयभीत करके उससे अपने अनेक काम बनाता है। भय दिखलाकर किसी से अपनी बात मनवाने का प्रयास किया जाता है। व्यक्ति को अपने अनुसार चलाया जा सकता है, कोई काम करवाया जा सकता है, अपना काम बनाया जा सकता है। रावण ने सीता को भयभीत करके उसे अपनी रानी बनाने के लिए प्रयास किया।[211] पंचवटी

में भी रावण ने सीता को भयभीत किया।[212] कपटी मुनि ने प्रतापभानु में ब्राह्मणों का भय जगाकर अपने अनुसार चलने के लिए विवश कर दिया।[213] सुग्रीव जब अपने वायदे को भूल गया तो राम ने उसे भयभीत करके सीता की खोज के कार्य में लगाया।[214] शूर्पणखा ने भंयकर रूप धारण करके राम से विवाह करने की इच्छा पूरी करनी चाही।[215]

भय दिखलाकर किसी को किसी वस्तु से विमुख किया जा सकता है। दशरथ वन की भंयकरता बताकर सीता को वन जाने से रोकना चाहते हैं।[216] भय तीव्र इच्छा अर्थात् लोभ को नियंत्रित कर देता है।[217] मूर्ख व्यक्ति बिना भय के प्रेम नहीं करता।[218] कभी–कभी लोग कुल परम्परा का पालन इस भय से करते हैं कि पालन न करने से कलंक / अपयश लगेगा। इस प्रकार अपयश का भय अच्छे कामों का प्रेरक है।[219]

"भय" सदैव त्यागीय नहीं होता वह स्वीकार करने योग्य भी होता है। भयभीत होकर ही करूणावान् स्वामी को द्रवित किया जा पाता है, उसमें करुणा जगायी जा पाती है। देवताओं ने भय को प्रदर्शित करके ही भगवान में करुणा जगायी और उनसे भय मुक्त करने का आश्वासन पाया।[220] भय से संसार के सभी प्राणी ग्रस्त होते हैं। जिससे सभी प्राणी भयभीत रहते है, वह भी किसी न किसी से भयभीत रहता है।[221] "भय" संवेग में दोष होते हुए भी उसका अपना महत्व भी है। तुलसी साहित्य में भय का एक रूप हमें वहाँ मिलता है जहाँ भगवान / राम / या रामराज्य की व्यवस्था समाज / परिजनों / भक्तों / शरणागत व्यक्तियों को निडर रहने का आश्वासन देते हैं या भय दूर करने के लिए जन्म लेने का निश्चय बताते हैं। यहाँ भय संवेग का महत्व इस बात से रेखांकित होता है कि श्रद्धा / भक्ति / प्रेम / महत्व / सम्मान उसी के प्रति उमड़ेगा जो हमारे कष्टों को दूर कर हमें अभय / निर्भय कर सकता है। इस प्रकार पर्याय से भय संवेग की मनोवैज्ञानिक भूमिका व्यक्ति के करूणा जागरण में परिणत होती है। जो भयभीत है, डर रहा है उसे प्रभु निर्भय / निडर रहने का आशीर्वाद देकर अपनी शरणागत वत्सलता व्यक्त करते हैं।

भय संवेग एक दूसरे रूप में भी महत्वपूर्ण है प्रायः हमारे मन में अभय / निर्भय / निडर / विगत भय / त्रास रहित अवस्था में ही हर्ष / उल्लास / आनन्द के संवेग जाग पाते हैं इसलिए सुखद संवेगों की पुष्टि और उनके आविभाव के लिए भय संवेग का अभाव परम आवश्यक है। कोई भयभीत और हर्षित एक साथ नहीं हो सकता। क्योंकि भय की स्थिति में कोई अच्छा कार्य हो ही नहीं सकता। इस प्रकार भय संवेग का तीन दृष्टियों से महत्व है। पहला दैवी गुणों में भय को दूर करने का गणना अवश्य होती है,[222] दूसरा इष्ट / आराध्य या राम की एक विशेषता भक्तों / साधुओं / शरणागतों को निर्भय करना,[223] तीसरा भगवान की एक विशेषता है कि उससे किसी को भय नहीं होता।[224]

भय संवेग के उपर्युक्त विश्लेशण से इसके सम्बन्ध में अनेक तथ्य स्पष्ट होते हैं कि भय एक सामान्य संवेग है। संसार के समस्त जीवों का स्वभाव भयभीत रहने का होता है।[225] भय व्यक्ति की मानसिक स्थिति पर निर्भर है। अगर किसी में आशंका या हानि की धारणा बैठ जाये तो वह कितनी भी सुरक्षित स्थिति में रहे, उसे भय लगा ही रहेगा। संवेग का विनाशकारी परिणाम जिस समय जितना व्यापक होगा वह समय, स्थान और संवेग उतना ही भयंकर लगेगा। इससे निष्कर्ष निकलता है कि संवेग और काल का अन्योन्याश्रित सम्बध है। दुष्परिणाम की भंयकरता से व्यक्ति जो संकुलित हो जाता है उसे सहमता कहते हैं। इसमें आघात भी शामिल रहता है केवल अनुमान ही नहीं होता। भय में पवन की तरह अपने स्थान से हटाने की शक्ति होती है। भय कांटे के समान चुभन पैदा करता है। भयभीत व्यक्ति दया का पात्र होता है। सामान्यतः लोग भयभीत को सहारा नहीं देते। अभयदान सबसे बड़ा दान है। जो भय अत्यन्त तीव्र होता है वह असहनीय होता है। भंयकर विषाद की तीव्रता का भय व्यक्ति को उसी तरह अपनी चपेट में ले लेता है जैसे भयंकर बाढ़ में आयी भँवरें। कभी–कभी व्यक्ति अन्दर से भय न होते हुए भी ऊपर से उसे व्यक्त करता है और कोई–कोई भय आवेग शून्य होता है। भय होते हुए भी व्यक्ति उसे व्यक्त नहीं होने देता। मर्यादा उल्लंघन का भय मन को बड़ा सुहाता है क्योकि इसमें संकोच और विनय का मिश्रण होता है। यह भय शीलवान् सात्विक प्रकृति के पुरूषों में होता है।

क्रोध :–

क्रोध मन का वह भाव है जो किसी के द्वारा हमें अथवा हमारे किसी आत्मीय जन को दुःख पहुँचाने अथवा उससे किसी प्रकार के दुःख मिलने की आशंका हो जाने पर उसके प्रति उत्पन्न होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं– "क्रोध दुःख के चेतन कारण के साक्षात्कार या अनुमान से उत्पन्न होता है।"[226] शब्द कल्पद्रुम में क्रोध के सम्बन्ध में लिखा है कि किसी वस्तु, स्थिति या कार्य के प्रतिकूल होने पर आश्रय की तीक्ष्ण अनुभूति क्रोध है– "प्रतिकूल सति तैक्ष्णस्य प्रबोधः"। शब्दकोशों में इसे मन का ऐसा उग्र और तीव्र मनोविकार कहा गया है। जिसमें अनुचित कार्य, करने वाले को कुछ कठोर दंड अथवा उसका उपकार करने की तीव्र इच्छा होती है।[227]

विलियम मैक्डूगल मूल प्रवृत्तियों के विवेचन में लिखते हैं कि इस संवेग की उत्तेजना किसी भी प्रकार की सहज प्रवृत्ति की मुक्त अभिव्यक्ति में बाधा के कारण होती है। यह प्रवृत्ति उस

हर बाधा को तोड़ डालना चाहती है अथवा नष्ट कर डालना चाहती है। यह प्रवृत्ति बाधक प्रवृत्ति जितनी शक्तिशाली होती है उसी के अनुपात में अथवा दूसरों की उत्तेजना के अनुपात में बढ़ती जाती है।[228]

क्रोध का एक रूप वैर भी है। वैर को शुक्ल जी ने क्रोध का अचार या मुरब्बा कहा है[229] क्योंकि यह क्रोध के बहुत समय पर हृदय में बने रहने और उसके वेग के शान्त न होने पर उत्पन्न मनोदशा का नाम है। रामचन्द्र वर्म्मा लिखते हैं एक–दूसरे के साथ शत्रुता होने पर उसके प्रति जो विरोधी भाव बना रहता है वही वैर कहलाता है।[230]

तुलसी साहित्य में क्रोध दो रूपों में विवेचित हुआ है। पहले रूप में इसे एक विकार कहा गया है जो साधक के चित्त की निर्मलता को नष्ट करता है और भक्ति एवं ज्ञान की प्राप्ति में कंटक–रूप सिद्ध होता है। दूसरे रूप में यह प्रतिकूल कार्य अथवा वस्तु से उत्पन्न व्यक्ति का उद्वेग और उत्तेजना है। तुलसी ने क्रोध के समानार्थक शब्दों में कोप, रोष, रिस, क्षोभ शब्दों को रखा है और वैर का विवेचन भी उसके सामान्य अर्थ में ही किया है।

तुलसी ने अपने साहित्य में क्रोध के हल्के, तीव्र, गहन तथा चरम अनेक रूप प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने इसके कारणों की भी एक अच्छी सूची प्रस्तुत की है ओर इसके प्रभाव बताते हुए अनेक प्रकार से इसका विकास माना है।

क्रोध के कारणों की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि यदि कोई हमारे आत्मीय को दुःख पहुँचाये, उसे प्रताड़ित करें, उसका अनिष्ट करे, आघात करे, बड़ा ही घातक दुःख पहुँचाये तो ऐसे व्यक्ति पर क्रोध आता है।[231] अपमान चाहे वह स्वयं का हो अथवा हमारे प्रिय तथा श्रद्धेय का हो अपमान करने वाले पर बहुत ही क्रोध आता है। कोई श्रद्धेय की प्रतिष्ठा में ठेस पहुँचाने वाली बात कहे, हमारे तथा श्रद्धेय के लिए अवज्ञा सूचक दुर्वचन कहे, हमारे आत्मीय की उपेक्षा तथा निन्नदा करे, हमारा तिरस्कार करे, उपहास करे तो ऐसी अवस्था में अपमान करने वाले पर बहुत क्रोध आता है।[232] जिसके कारण हमारा भरे समाज में अपमान और उपहास हुआ हो तथा हमारी इच्छा भी पूरी न हुई हो यदि वह हमारे अपमान और उपहास को रोकने की सामर्थ्य रखने वाला है, तो ऐसे व्यक्ति को सामने देखकर और उसके द्वारा भी हमारी हँसी उड़ाने पर उस पर बहुत क्रोध आता है। नारद जी को भगवान पर बहुत क्रोध आया क्योंकि वे ही उनके समस्त दुःखों के कारण थे।[233] अपने आत्मीय के अहित की सम्भावना से व्यक्ति दुखित, व्याकुल और उन लोगों पर क्रोधित हो जाता है जिसके बल पर उसे भरोसा था। जनक को धनुष भंग करने के लिए आये राजाओं पर बड़ा क्रोध आया क्योंकि उन्हीं के कारण सीता के विवाह के न होने की सम्भावना उत्पन्न हुई थी।[234]

अगर कोई हमारे आत्मीय से ईर्ष्या करे तो बदले में उस पर क्रोध आना स्वाभाविक होता है। दशरथ के वैभव और विलास की वृद्धि देखकर जिन्हें ईर्ष्या हुई उन पर कीर्ति, कुशल, वैभव और सिद्धि सभी कुपित हो गयी।[235]

प्रिय वस्तु की हानि से भी क्रोध उत्पन्न होता है। परशुराम धनुष को टूटा देखकर क्रोधित हो उठे, रावण अपने सिरों की बाढ़ देखकर शरीर की क्षति से क्रोधित हो उठा, अशोक वाटिका में हनुमान को वाटिका उजाड़ते देख रखवाले हनुमान पर क्रोधित होने लगे।[236] अपराधी पर उसके अपराध के कारण क्रोध आता है। यदि कोई कुटिलता करे, भयानक पाप करे, अपार दुःख दे, बाधा पहुँचाये, समाज विरुद्ध कार्य करे, हमारी आज्ञा का उल्लघंन करे हमसे छल करे, तो ऐसे व्यक्ति पर उसके दोषों के कारण बहुत क्रोध आता है।[236] यदि किसी के विनय और नम्र व्यवहार के पीछे हमारे प्रतिपक्षी की चालाकी छिपी हो तो उस पर हमें हँसी मिश्रित क्रोध आता है।[238]

जिसको हमने भयंकर कष्ट से उबारा है वह यदि दिये हुए वचन को भूल जाये तो उस पर क्रोध आता है। जिसकी हम आशा में हों तथा जिसने हमारा कार्य पूर्ण करने का वचन दिया हो, जिस पर हमारी प्रतिष्ठा निर्भर हो वह हमारे नाम को भूल जाये तो उस पर हमें क्रोध आना स्वाभाविक है।[239] कुतर्की पर क्रोध आता है। यदि किसी सिद्धान्त पर कोई अड़ा रहे और उस सिद्धान्त को कुतर्क के आधार पर काटता ही जाय तब फिर उसके प्रतिपादन में हमारा क्रोध झलक उठता है।[240]

समझाने पर भी कोई भूल न माने और उसे चेत न आये तो उस पर क्रोध की सम्भावना बढ़ जाती है।[241] जो बात हमें नहीं रुचे उस बात को यदि कोई जबरदस्ती समझाये तो समझाने वाले पर हम क्रोधित हो उठते हैं।[242] बड़े व्यक्ति की यदि अत्यन्त अवज्ञा की जाये तो उसके हृदय में भी क्रोध के चिन्ह पैदा हो जाते हैं।[243] शत्रु यदि हमारी बात मानकर उत्तर नहीं देता है तो उस पर क्रोधित हो हम आक्रमण कर देते हैं।

शत्रु की चुनौती/शत्रु की ललकार/शत्रु का गर्जन/शत्रु के शक्ति अर्जित करने वाले कार्य ये सब हमें बहुत क्रोधित होने को मजबूर कर देते हैं। यदि कोई विनम्र शब्दों में हमें हीन समझे और हमारे वीरत्व को चुनौती दे अथवा हमारी निन्दा करता हुआ हमें चुनौती दे तो हमारे अन्दर क्रोध का वेग उत्पन्न हो जाता है।[244] यदि कोई दुर्बल शत्रु हमारी असावधानी से हमें घायल कर दे तो उसके प्रति तीव्र क्रोध जागकर हम उस पर घातक प्रहार करते हैं।[245] शत्रु हमारे अधिकार में होकर भी हमसे दब न रहा हो तो हमें क्रोध आना स्वाभाविक है।[246]

अपराध करने के बाद यदि कोई हमें उल्टे सीख देने लगे अथवा क्रोधित अवस्था में

कोई हमें सीख देने लगे तो क्रोध संवेग में बाधा उत्पन्न होती है और क्रोध नेत्रों से व्यक्त होने लगता है।[247]

यदि शत्रु हमारे दल पर भारी पड़ने लगे तो हमारे दल के लोगों को अत्यन्त क्रोध उत्पन्न होता है और उसकी अभिव्यक्ति वे प्रचण्ड गर्जना के द्वारा करते हैं।[248] युद्ध के उत्साह में भरा योद्धा शत्रु के प्रति काल के समान क्रोधित होता है।[249] जो शत्रु को शरण देता है उसके प्रति भी क्रोध उत्पन्न होता है। अपने योद्धाओं को भागते देखकर भी क्रोध आता है।[250] शत्रु पक्ष के व्यक्ति के सामने यदि हमारे समर्थक सम्मान व्यक्त करें तो हमारे हृदय में विशेष क्रोध जाग्रत होता है लेकिन उस क्रोध की अभिव्यक्ति बाहर नहीं, मन में होती है। अंगद के सभागृह में आते ही रावण के सभी सभासद् उठ खड़े हुये यह देख रावण के हृदय में बड़ा क्रोध उत्पन्न हुआ।[251] जिससे हम द्वेष करते हैं उसकी सफलता, उसका यश देखकर हम क्रोध से भर जाते हैं। राम का धनुष भंग देख उनसे द्वेष करने वाले क्रोध और ईर्ष्या से भर गये।[252]

बहुत प्रयत्न करने पर भी कार्य में सफलता न मिले तो क्रोध आने लगता है। धनुष भंग बहुत प्रयास करने पर भी जब राजा लोग न कर सके तो वे स्वयं पर अनखाने लगे।[253] कभी–कभी क्रूर काल के वशीभूत होने पर भी व्यक्ति तमकने लगता है।[254] उद्विग्नकारी/इच्छा की विघातक वस्तु को देखकर उस पर क्रोध होता है। जिससे संतुलन भंग हो उसके प्रति क्षोभ व क्रोध पैदा होता है।[255] हमारे श्रद्धेय को क्रोध आ जाये तो हमें भी क्रोध आ जाता है अन्तर इतना रहता है कि उसका क्रोध केवल भाव रूप में व्यक्त होता है और हमारा क्रोध सक्रिय रूप धारण कर लेता है।[256] पराये दोषों का वर्णन व्यक्ति रोष के साथ करता है।[257] जिसके प्रति अरुचि और विरोध है उसके बलात् सान्निध्य से क्रोध होना स्वाभाविक होता है।[258] जिससे बात करने की हमारी इच्छा नहीं है उसके बार–बार सहायता के लिए पुकारने पर हम क्रोधित होने लगते हैं।[259] यदि कोई हमारे नियंत्रण से मुक्ति पाने का प्रयास करे तो हमें अपना अधिकार जाने की आशंका से उस पर क्रोध आता है।[260] अभिमान के कारण क्रोध उत्पन्न होता है।[261] जिस पर श्रद्धा होती है उसी से व्यक्ति हल्के क्रोध से रूठ भी जाता है।[262]

जो लोग अहं को व्याघात पहुँचाते हैं उनसे व्यक्ति अत्यधिक द्रोह करता है। जिस कार्य से हमारा यश जाता हो यदि वह कार्य हमसे कोई अचेतन अवस्था में करवा ले तो चेतनावस्था में आने पर हम उस पर क्रोधित होने लगते हैं, खीझने लगते हैं।[263] कुछ लोग अकारण ही पूज्य बुद्धिजीवियों से द्रोह करते हैं।[264]

तुलसी ने क्रोध को इस प्रकार विभिन्न उद्दीपकों द्वारा उद्दीप्त करके उसके विभिन्न प्रकार के प्रभाव भी स्पष्ट किये हैं। क्रोध का प्रभाव क्रोध के उद्दीपक तथा क्रोध करने वाले के

स्वभाव पर निर्भर है। यदि क्रोध प्रिय के अपमान आदि से किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति उत्पन्न है जिसका हम किसी प्रकार का अनिष्ट नहीं कर सकते तो ऐसे क्रोध में हम क्रोध उत्पन्न करने वाले के सहयोगियों पर अपना क्रोध व्यक्त करने लगते हैं। हम उन सबको डाँटते हुए अनेक प्रकार के अनिष्टकारी वचन कहते हैं। हमारी इस अवस्था में विचार शक्ति पूर्णतया नष्ट हो जाती है, जिसके कारण लोगों के बहुत प्रकार से समझाने पर हृदय में कुछ भी प्रबोध नहीं होता है। हम अपने को नियंत्रित नहीं कर पाते हैं और आवेश में आकर क्रोध के कारण का कुछ न बिगाड़ कर स्वयं का ही अनिष्ट कर डालते हैं। दक्ष यज्ञ में शिव अपमान से सती में इसी प्रकार से क्रोध की अभिव्यक्ति हुई।[265]

क्रोध में आलम्बन के अनिष्ट की बड़ी तीव्र प्रवृत्ति होती है। यदि किसी सामर्थ्यवान् में किसी की उद्दण्डता के कारण तीव्र क्रोध पैदा हो जाये तो वह उसका बिना सोचे समझे घोर अनिष्ट कर डालता है। कामदेव के कारण शिवजी में समाधि भंग होने से जब तीव्र क्रोध पैदा हुआ तो उन्होंने कामदेव को देखते ही अपना तीसरा नेत्र खोलकर उसे भस्म कर दिया।[266]

क्रोध में जब कुछ भी कर सकने की असमर्थता होती है और व्यक्ति किसी का घोर अनर्थ करना चाहता है तो ऐसे क्रोध की अभिव्यक्ति कटु वचन कहते हुए शाप देने में होती है। शाप देने की क्रिया क्रोध की उस अवस्था में भी दिखलाई देती है जब व्यक्ति किसी दूसरे के क्रोध में बह रहा हो और कोई उसका उपहास आदि करने लगे।

नारद जी को जब विश्वमोहिनी प्राप्त नहीं हुई तो वे बहुत विकल हो गये इसी बीच उनमें शिवगणों द्वारा उपहास करने से क्रोध भी जागा। चूँकि उनके इस क्रोध का कारण शिवगणों के उपहास करने से अधिक भगवान द्वारा दिया गया बन्दर का रूप था इसलिए उन्होंने शिवगणों को क्रोधवश केवल शाप ही दिया। भगवान के प्रति क्रोध से उनके ओंठ फड़क रहे थे। उनका क्रोध असली रूप प्राप्त कर लेने पर भी शान्त नहीं हुआ। वे सोचने लगे या तो मैं भगवान को शाप दूँगा या फिर प्राण ही दे दूँगा। यदि व्यक्ति आलम्बन का कुछ भी बिगाड़ करने में असमर्थ है तो वह उस चरमसीमा के क्रोध में अनेक कटु वचन कहता हुआ भयंकर शाप दे देता है। नारद की भगवान के प्रति क्रोध की अभिव्यक्ति और उसका विकास इसी ढंग से हुआ।[267] चरम सीमा में पहुँचा हुआ क्रोध तुरन्त शान्त भी हो जाता है जब व्यक्ति को यह पता चलता है कि उसका क्रोध उसकी एक बड़ी भूल थी और ऐसा करके उसने बहुत बड़ा अपराध किया है। वह तुरन्त नम्र और विनीत हो उठता है ओर जिसके प्रति उसे क्रोध था उसे अपना हितेषी समझने पर वह बहुत श्रद्धा से भर आर्न्त हो जाता है। नारद ने जैसे ही भगवान की माया को समझा वे भयभीत हो उठे और भगवान के चरणों को पकड़कर रक्षा की पुकार करने लगे।[268]

किसी शिकार को मारने के लिए हम उसका पीछा कर रहे हों और वह बार–बार छल करके बचकर हमें चुनौती दे रहा हो तो हम उस दशा में क्रोध के कारण हठपूर्वक बिना सोचे समझे उसी के पीछे भागे चले जाते हैं। उसका पीछा करने में हम किसी संकट में पड़ सकते हैं इस पर हम ध्यान ही नहीं देते। प्रताप भानु ने सुअर को ललकारा कि अब तेरा बचाव नहीं हो सकता लेकिन सुअर छल करके शरीर को बचाता रहा। राजा भी क्रोध के वश हो उसके साथ लगा बहुत दूर घने जंगल में चला गया। प्रताप भानु ने वहाँ भी उसका पीछा नहीं छोड़ा। जब सुअर एक गहरी गुफा में घुस गया तब वहाँ जाना ठीक न समझ वह लौटने लगा। वह भूख–प्यास से बेहाल हो रास्ता भूल जाने के कारण एक कपटी मुनि के चक्कर में फँस गया।[269]

यदि कोई हमारे श्रद्धेय की प्रतिष्ठा पर आघात करता हुआ वचन कहता है तो वे वचन हमें वाण के समान कष्ट पहुँचाते हैं। हम उन वचनों को सुनकर तमतमा उठते हैं, हमारी भौहें टेढ़ी हो जाती हैं, ओंठ फड़कने लगते हैं और नेत्र लाल हो जाते हैं। हम अपने क्रोध को रोक नहीं पाते और श्रद्धेय की आज्ञा के बिना ही हम श्रद्धेय के चरणों में सिर नवाकर ऐसे यथार्थ वचन कहने लगते हैं जिससे हमारे तथा हमारे श्रद्धेय का प्रभाव व्यक्त हो। राजाओं द्वारा प्रयास करने पर भी जब धनुष भंग नहीं हो पाया तो जनक निराश होकर सबको लज्जित करने वाले वचन कहने लगे। लक्ष्मण इन वचनों से राम का अपमान समझ क्रोधित हो उठे। उनमें यह क्रोध उपर्युक्त ढंग से व्यक्त हुआ।[270]

प्रिय वस्तु की हानि से उस व्यक्ति के प्रति क्रोध उत्पन्न होता है जिसके पास हमारी वह प्रिय वस्तु सुरक्षित रखी हुई थी। हम क्रोध में भर उस व्यक्ति से कठोर वचनों द्वारा वस्तु को हानि पहुँचाने वाले का पता पूछते हैं। धनुष भंग हो जाने पर परशुराम बहुत क्रोधित हो गये और उसे जनक पर इसी प्रकार व्यक्त करने लगे।[271]

अति क्रोध में कभी–कभी ऐसा होता है कि जब व्यक्ति को अपने प्रतिपक्षी अर्थात् दुःख पहुँचाने वाले का पता नहीं चल पाता तो वह पूरे समूह को ही अपने क्रोध का शिकार बनाना चाहता है।[272]

क्रोध की अवस्था में यदि कोई हमसे बहस करने लगे तो हम क्रोध में भर उसकी तीक्ष्ण आलोचना करते हैं और यदि वह बहस करते–करते अनिष्ट करने वाले की सफाई देने लगे तो हम बहुत क्रोधित हो अपने कठोर स्वभाव और अपने कठोर कार्यों का बहुत बखान करने लगते हैं। परशुराम का क्रोध लक्ष्मण के वचनों से इसी प्रकार भड़क रहा था।[273]

जिसका हम अनिष्ट नहीं करना चाहते हैं अथवा जिसको हानि पहुँचाना अनुचित है उसके लिए हम चाहते हैं कि वह हमें क्रोधित न करे। लेकिन यदि वह ऐसा नहीं करता है, दुर्बल होकर भी हमारे वीरत्व को चुनौती देता है, हमारे क्रोध की हँसी बनाता है, अपनी शक्ति/सामर्थ्य को व्यक्त करता है और साथ ही साथ विनीत वचनों द्वारा हमें लज्जित करने का प्रयास भी करता है तो उससे तो हम कुछ नहीं कहते लेकिन जिसकी शरण में वह होता है उससे उसके (क्रोध उद्दीप्त करने वाले के) अपराध को बताकर उसको उसे रोकने के लिए कहते हैं,[274] क्रोध उत्पन्न करने वाले से अनेक कठोर वचन कहते हैं, उससे अपनी वीरता बघारते हैं, उसे अपने अस्त्र-शस्त्र से डराते हैं, लेकिन इतना सब करने पर भी जब कोई लाभ नहीं होता तो उसे मारने के लिए उद्यत भी होने लगते हैं। इस बीच यदि कोई हमें शान्त करने का प्रयास करता है तो हम क्रोध से कुछ ठंडे हो अपने प्रतिद्वन्दी की उससे शिकायत करने लगते हैं। यदि हमें शान्त करने वाला व्यक्ति हमारे प्रतिद्वन्दी के पक्ष का ही है तो हम उसे भी अपने वीर रूप से परिचित कराने लगते हैं। परशुराम में लक्ष्मण के प्रति क्रोध का संवेग इसी रूप में विकसित हुआ।

इच्छा के विपरीत होने की सम्भावना तथा इससे अपनी हानि की आशंका होने से व्यक्ति उस कार्य के कर्ता पर क्रोधित हो बुरा वेश धारण कर लेता है। ऐसा वह उस व्यक्ति के क्रोध में ही करता है जो उसके सदा वश में रहता है। राम के राज्याभिषेक को सुनकर कैकेयी दशरथ के क्रोध से भर गयी। उसने शरीर पर मोटा कपड़ा पहन लिया और सारे आभूषण उतार कर जमीन में पड़ गयी।[275]

जिस बात को हम अवश्य ही मनवाना चाहते हैं यदि उस बात को मानने में कोई आनाकानी करता है तो उस पर हम अपने अधिकार को समझते हुए प्रचण्ड क्रोध से भर जाते हैं। हम कठोर वचन कहने लगते हैं। उसके अनेक प्रकार से विवशता व्यक्त करने पर भी हम अपने वचनों से डिगते नहीं है। हम क्रोध से ऐसे भयानक हो जाते हैं जैसे म्यान से निकली नंगी तलवार हो। ऐसी अवस्था में हम बहुत से कड़वे और कठोर वचन कहते रहते हैं और भविष्य के दुष्परिणाम को नहीं देखते। कैकेयी का दशरथ के प्रति क्रोध इसी रूप में व्यक्त हुआ।[276]

यदि कोई हमें विवश करके अपनी कोई ऐसी इच्छापूर्ति कराना चाह रहा हो जिससे भयंकर अनिष्ट हो जाने की सम्भावना हो तो हम उस पर क्रोधित होकर चाहते हैं कि वह हमारी आँखों के सामने न रहे और मुझसे जीवन भर कुछ न बोले। दशरथ में कैकेयी के प्रति क्रोध की अभिव्यक्ति में यही विशेषता दिखलायी दी।[277]

यदि हमारा आत्मीय प्रिय से हमारा विरोध ओर वियोग करा दे तो हम क्रोधित होकर

लम्बी सांस लेते हुए उससे अनेक कटु वचन कहने लगते हैं उससे सम्बन्ध विच्छेद कर लेते हैं उसे मुँह में स्याही पोत कर आँखों की ओट बैठने के लिए कहते हैं। भरत का कैकेयी पर क्रोध इसी प्रकार व्यक्त हुआ।[278]

श्रद्धेय का अनिष्ट करने के लिए जा रहे व्यक्ति पर क्रोध आता है। इस क्रोध में हम अपने सहयोगियों को इकट्ठा करके उसे श्रद्धेय के पास पहुँचने देने से पहले ही नष्ट करना चाहते हैं। भरत को सेना सहित आते देख निषाद और लक्ष्मण में इसी आशंका से क्रोध उत्पन्न हुआ और वे भरत को मारने के लिए उद्यत हो उठे। लक्ष्मण का चेहरा अत्यन्त क्रोध से तमतमा गया।[279]

भयंकर आघात प्रतिशोध की भावना को जन्म देता है। यदि कोई हमें हानि पहुँचाये और हम उसका बदला लेने में असमर्थ हो तो हम प्रतिशोध की भावना को ले अपने आत्मीयों को उस हानि पहुँचाने वाले के विरूद्ध भड़काते हैं। शूर्पणखा नाक कान से विकराल हो जाने पर पहले खरदूषण और फिर रावण के पास राम से बदला लेने के लिए भड़काने गयी।[280]

क्रोध में खिसिया कर कभी–कभी व्यक्ति भयंकर रूप भी धारण कर लेता है। शूर्पणखा ने इधर–उधर बार–बार जाने से खिसिया कर अपना भयंकर रूप प्रकट किया।[281]

क्रोध में व्यक्ति अपने शत्रु को भारी हानि पहुँचाना चाहता है। वह गरजता है और शत्रु को ललकारता है। खरदूषण शूर्पणखा की बात जान क्रोधित हो सेना लेकर राम लक्ष्मण पर आक्रमण करने के लिए चल देता हैं। वे भयानक गर्जना करता हैं और राम लक्ष्मण को ललकारता हैं।[282] क्रोधित होकर व्यक्ति शत्रु पर तीक्ष्ण शस्त्रों से प्रहार करता है और उसके शरीर को क्षत–विक्षत कर डालता है। खरदूषण के सहयोगी राक्षण राम को मारने के लिए विविध शस्त्रों को धारण किये दौड़ते हैं। राम भी ऐसे भयानक वाण चलाते हैं जिससे राक्षसों के शरीर के सैकड़ों टुकड़े हो जाते हैं।[283]

क्रोध में व्यक्ति कभी–कभी शत्रु पर प्रत्यक्ष आघात नहीं करता बल्कि उसकी कोई प्रिय वस्तु पर चालाकी से अधिकार कर उसे उस प्रिय वस्तु के वियोग दु:ख से प्रताड़ित करता है। रावण ने सीता का हरण कर राम को जो दु:ख पहुँचाया वह उसके क्रोध की ही प्रतिक्रिया थी।[284]

अति क्रोध में व्यक्ति अपने शत्रु को बहुत अधिक मारता भी है और उसका सर्वस्व छीन लेता है। बालि ने सुग्रीव को जब राजा बने देखा तो सुग्रीव को शत्रु की तरह बहुत अधिक मारा और स्त्री आदि सभी छीन लिया।[285]

क्रोध में व्यक्ति अपने प्रतिपक्षी को छिपकर भी हानि पहुँचाता है। राम ने बालि को वृक्ष की आड़ से वाण मारा।[286] यदि किसी वस्तु को अपेक्षित सामर्थ्य न होने के कारण हम पा न सके, कोई दूसरा उसे प्राप्त कर ले तो हम उसके रोष में भर उससे अनेक दुर्वचन कहने लगते हैं और लज्जा को त्याग कर उसका अनिष्ट करने के लिए अपने अस्त्र–शस्त्र निकालने लगते हैं। राम को धनुष चढ़ा लेने और सीता प्राप्त कर लेते देख समस्त राजा रोष भर गये और अनेक प्रकार के दुर्वचन कहते युद्ध के लिए भाले निकालने लगे और तलवार चमकाने लगे।[287]

तुलसी ने क्रोध के दूसरे रूप "वैर" की मनोवैज्ञानिकता कपटी मुनि और प्रताप भानु के प्रसंग में स्पष्ट की। मन में जब वैर जाग्रत हो जाता है तब व्यक्ति शत्रु से बदला लेने के लिए अवसर की प्रतीक्षा करता है और उपयुक्त अवसर पा जाने पर छल द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से उससे अपना बदला ले लेता है। चूँकि वैर भाव क्रोध की तुष्टि बहुत समय तक न होने पर उत्पन्न होता है इसलिए इससे उत्पन्न प्रभाव बड़ा घातक होता है। जब कभी शत्रु कब्जे में आ जाता है तो उसकी छाती क्रोध के भड़क उठने से आँवें की आग की तरह सुलगने लगती है लेकिन वह अपने इस भाव को व्यक्त नहीं होने देता क्योंकि वह पूरी योजना से किसी षडयंत्र को रचकर शत्रु का नाश करना चाहता है। वह इस कार्य में लोगों का सहयोग भी लेता है और पूरी तरह से शत्रु को जाल में फँसाकर उसका पूर्ण नाश कर डालता है। कपटी राजा का प्रताप भानु के प्रति वैर इसी प्रकार व्यक्त हुआ। उसने प्रताप भानु को अपने मित्र की सहायता से पहले वन में भटकाया, बहुत प्रकार से प्रेम दिखाकर अपने वश में किया और फिर उसके द्वारा ब्राह्मणों को मांस खिलवाकर ब्राह्मणों के शाप से उसका नाश करवा दिया।[288] वैर में व्यक्ति हठी हो जाता है। वह हठ कर करके अपने वैर को बढ़ाता है। रावण ने राम से हठ करके ही वैर बढ़ाया था।[289] वैर में व्यक्ति करोड़ों उपाय करके अपने प्रतिपक्षी का बिगाड़ करना चाहता है।[290] वैर के कारण व्यक्ति बिल्कुल विवेकहीन हो जाता है[291] जिससे उसे अपना भला–बुरा कुछ नहीं दिखायी देता।[292] वह वैर निकालने के लिए बहुत व्याकुल रहता है।[293] उसे वैर करते समय किसी प्रकार का डर नहीं लगता।[294]

यदि कोई हमारे बल को चुनौती दे तो हम कुपित होकर कोई ऐसा काम ठानते हैं जिससे हमारी वीरता प्रमाणित हो जाये और जिसे न कर पाने के कारण शत्रु की बल हीनता सिद्ध हो जाये और प्रतिपक्षी का घमण्ड चूर हो जाये।[295] क्रोध में व्यक्ति शत्रु पर आक्रमण करने के लिए न टूटने वाली व्यूह रचना करता है।[296] क्रोध में व्यक्ति तमक कर शत्रु की ओर ताकता है और फिर उससे भिड़ जाता है। वानर और राक्षस सभी युद्ध में तमक कर एक दूसरे से भिड़ते हैं।[297] क्रोध में व्यक्ति बिल्कुल प्रतिकूल हो जाता है,[298] पर्वत की तरह कठोर हो जाता है,[299] उन्मत्त हो जाता है, उसकी दृष्टि बदल जाती है और उसकी बिना सोचे समझे कार्य करने की प्रवृत्ति हो जाती है।[300]

क्रोध में व्यक्ति उद्यत और कालाग्नि की तरह जलाने वाला हो जाता है।[301] क्रोध में व्यक्ति प्रतिपक्षी को गालियाँ देता है, डाँटता है, दोषारोपण करता है, भयभीत करता हुआ कष्ट पहुँचाता है।[302]

कभी–कभी व्यक्ति शत्रु की ओर झपटता है और पकड़ो–पकड़ो कहकर उसे भागने के लिए विवश करता है।[303]

इस प्रकार क्रोध की विविध प्रकार की विकास प्रक्रिया को देखने से ज्ञात होता है कि क्रोध में व्यक्ति अनेक प्रकार कठोर/अनिष्टकारी/चुभने वाले/तीखे/गर्व से सने और तिरस्कार पूर्ण वचन बोलता है। प्रतिपक्षी पर आक्रमण करता है, प्रचण्ड शक्ति से शत्रु पर प्रहार करता है,[304] शस्त्र–अस्त्र चलाता है,[305] शत्रु को पीड़ित करता है, वध तक कर डालता है।[306] उसका अनिष्ट करना चाहता है,[307] कभी–कभी प्रामाणिक सौगन्ध भी खा लेता है,[308] शत्रु के मार्ग में तरह–तरह की बाधाएँ उपस्थित करता है।[309] क्रोध के आवेग से उसकी भौहें टेढ़ी हो जाती हैं, नेत्र लाल हो जाते हैं, ओंठ फड़कने लगते हैं, मुख मुद्रा में परिवर्तन आ जाता है, मुख लाल हो जाता है, वह तमतमा जाता है, उसकी दृष्टि क्रूर हो जाती हे, वह ओंठ काँटने लगता है।[310] क्रोध के कारण व्यक्ति की आन्तरिक अवस्था में भी परिवर्तन आ जाता है– क्रोध की अवस्था में हृदय/छाती तथा सभी अंगों में जलन होने लगती है।[311] स्वभाव रुखा और कठोर हो जाता है।[312] व्यक्ति बड़ा निर्दयी तथा असहिष्णु हो जाता है।[313] मन अशान्त/असन्तुलित होने लगता है,[314] शरीर में अत्यधिक शक्ति और वेग का आभास होता है।[315] वह अत्यधिक आतुर और मतवाला और विवेकहीन हो जाता है[316] उसमें सद्‌गुणों को धारण करने की वृत्ति चली जाती है, वह स्वार्थ और परमार्थ दोनों की सिद्धियों से रहित हो जाता है।[317] और उसमें ज्ञान, वैराग्य, योग, जप, तप तथा भगवत् प्रेम नहीं जाग पाता[318] और वह अच्छे मार्ग को छोड़कर विपत्तियों के मार्ग में चलने लगता है।

तुलसी ने क्रोध/वैर के सम्बन्ध में इस बात को भी स्पष्ट किया है कि यह कैसे हृदय में उत्पन्न होता है। उन्होंने बताया कि यह संवेग चूँकि समस्त दुःखात्मक संवेगों का सहायक हैं तथा भक्ति का विरोधी है इसलिए यह ऐसे हृदय में ही उत्पन्न होता है जो भगवत् प्रेम से रहित लोभ, मद, मोह, काम, राग–द्वेष, मत्सर से युक्त होगा।[319] तमोगुण से युक्त हृदय सदैव आपस में विरोध और शत्रुता बढ़ाने वाला होता है।[320]

जो स्वार्थी/अहंकारी/दानवी प्रकृति/कुटिल होता है वह क्रोध न करने वाले विषय पर भी क्रोध करता है।[321] तुलसी जिन लोगों को अकारण क्रोध करने वाला बताते हैं वे निश्चित ही इसी प्रकार की प्रकृति के होते हैं।[322] ऐसे लोग दुष्ट होते हैं,[323] कायर होते हैं। तुलसी कहते हैं कि कायर व्यक्ति निरीह और दुर्बल मनुष्य पर क्रोध करता है।[324] अंहकारी व्यक्ति छोटे से अपराध

पर बहुत अधिक क्रोध करता है।[325] दुष्ट/दंभी व्यक्ति को यदि नीतिं की बात समझाई जाय तो उसे क्रोध आता है।[326] कोई–कोई स्वभाव ऐसा होता है जो दुष्ट प्रकृति का न होते हुए भी चरमसीमा के क्रोध के वश रहने वाला होता है।[327] बालकों में जरा–जरा सी बात में रूठने की प्रवृत्ति होती है।[328]

तुलसी ने ऐसे मनों का भी संकेत दिया है जो समस्त विकारों से दूर क्रोध से सर्वथा रहित होते हैं। ऐसे मन वाले व्यक्ति स्वप्न में भी क्रोध नहीं करते।[329] ऐसे व्यक्ति वे होते हैं जो दयावान् होते हैं, करुणा से पूर्ण/सम्यक् बोध सम्पन्न और क्षमाशील होते हैं। लेकिन ऐसा नहीं है कि ये लोग क्रोधित होते ही नहीं है।[330] निरीह को दुःख देने वाले पर करुणावान् को बहुत क्रोध आता है।[331]

क्रोध को एक विकार माना गया है, क्योंकि यह बहुत ही दुःखदाई और अंहितकारी संवेग है,[332] यह व्यक्ति को शत्रु के समान कष्ट पहुँचाता है।[333] यदि व्यक्ति इसके वश में हो जाये तो यह व्यक्ति को विपत्ति और दुःख के रास्ते पर ले जाता है[334] और फिर उसका दुष्फल पाता है।[335] क्रोध व्यक्ति को दिव्य चेतना से दूर अंधेरे में जाने वाला संवेग है।[336] यदि व्यक्ति बिना ही कारण क्रोध करने के स्वभाव वाला है तो व्यक्ति की कुशल नहीं रहने पाती।[337] क्रोध से धर्म नष्ट हो जाता है, योग साधना नहीं होती।[338] यह समस्त सद्‌वस्तुओं को नष्ट कर भगवत् प्रेम में बाधक बनता है।[339] यदि कोई सामर्थ्यवान् से वैर करता है तो उसे कहीं शरण नहीं मिलती और उसकी बड़ी दुर्दशा होती है। इसके विपरीत यदि व्यक्ति क्रोध के वश नहीं रहता है तो वह किसी विचारणीय बात पर विचार कर पाता है, शत्रु के प्रभाव को समझ पाता है और किसी भी सीख ग्रहण कर पत्ता है।[340] क्रोध रहित होने पर ही व्यक्ति मन, वचन और कर्म से किसी की सेवा कर पाता है,[341] भगवान के चरित्र की रचना और गान कर पाता है।[342] क्रोध से दूर रहने पर व्यक्ति बड़ा प्रसन्न रहता है,[343] किसी पर कृपा कर सकता है,[344] किसी से मित्रता कर सकता है।[345] यदि क्रोध उत्पन्न करने वाली बात को सह लिया जाये तो बदले में क्रोध उत्पन्न नहीं होता।[346] किसी के प्रति वैर त्याग देने पर ही व्यक्ति किसी की इच्छापूर्ति कर पाता है, उससे आत्मीयता स्थापित कर पाता है।[347] वैर भूल जाने से आपस में प्रेम बढ़ता है और वह साथ–साथ विचरण कर पाता है।[348] वैर रहित होने पर व्यक्ति किसी वस्तु की सराहना करता है।[349] क्रोध रहित होने पर गले से मधुर ध्वनि निकलती है, व्यक्ति की मधुर याद कर पाता है, और मांगलिक साज–सिंगार करता है।[350]

क्रोध के इन दोषों के कारण तुलसी ने मनुष्य को इससे मुक्त रहने की सलाह दी

ओर इससे मुक्ति के अनेक उपायों की चर्चा की। उन्होंने अन्य विकारों के समान क्रोध को भी आध्यात्मिक बोध से ही दूर करने के लिए कहा। उन्होंने बताया कि भक्ति संवेग के उत्पन्न होने से क्रोध संवेग नष्ट हो जाता है।[351] यदि किसी का प्रभु लीला तथा प्रभु गुणों के प्रति लगाव है तो उसमें क्रोध तनिक भी नहीं रहता। नीतियुक्त वचन सुनने और समझने पर व्यक्ति का सामर्थ्यवान् से वैर दूर हो जाता है।[352] अवतारी के प्रताप से आपस का सारा वैर चला जाता है।[353] कविता का आनन्द सहज शत्रुता को भुला देता है।[354] प्रतिपक्षी से आत्मीयता स्थापित होने पर क्रोध दूर हो जाता है।[355] भगवत् कृपा/भगवत् दया/दैवी चेतना इन सबकी प्राप्ति से भी क्रोध दूर हो जाता है।[356] तुलसी ने बताया कि यदि हमें क्रोध के दुष्परिणाम का बोध हो जाये तो भी हमारा क्रोध चला जाता है। स्त्रियाँ कैकेयी से यह कहकर क्रोध छोड़ने के लिए कहतीं है कि तुम शोक ओर कलंक की कोठरी मत बनो और क्रोध छोड़ दो।[357] मनोकामना पूर्ण हो जाने पर भी क्रोध दूर हो जाता है।[358] क्रोध का कारण जान लेने पर ही क्रोध को दूर किया जा पाता है। दशरथ इसीलिए कैकेयी से क्रोध का कारण पूँछते हैं।[359] क्रोध तभी शान्त होता है जब उसके आवेग को क्रियान्वित किया जाय। राम इसीलिए परशुराम से उन्हें अपने क्रोध की अभिव्यक्ति करने के लिए कहते हैं।[360] चरमसीमा के क्रोध का अन्त क्रोध के कारण को नष्ट कर में होता है।[361] शील स्वभाव वाले व्यक्ति के आगे क्रोध ठंडा पड़ जाता है।[362] आत्मज्ञान उत्पन्न होने पर क्रोध फिर नहीं रहता, नष्ट हो जाता है।[363]

तुलसी ने क्रोध के सम्बन्ध में इस बात की भी चर्चा की कि वैसे तो सभी क्रोध त्यागनीय और व्यर्थ होते हैं लेकिन कुछ क्रोध ऐसे होते हैं जिन्हें व्यक्ति को अवश्य ही त्याग देना चाहिए। ऐसे क्रोध पूर्णतया व्यर्थ समझे जाते हैं। किस–किस पर व्यक्ति को क्रोध नहीं करना चाहिए, यह बताते हुए तुलसी कहते हैं सीधे और दुध मुह बच्चे पर क्रोध नहीं करना चाहिए।[364] अज्ञानी और नादान व्यक्ति पर क्रोध नहीं करना चाहिए।[365] यदि कोई अपराधी आर्त्त होकर हमारी शरण में आ जाये तो हमें उस पर तनिक भी क्रोध नहीं आता। नारद इसीलिए कामदेव के शरण में आ जाने पर क्रोधित नहीं होते।[366] जो अत्यन्त प्रिय होता है उस पर हृदय से कभी क्रोध नहीं होता है दिखावटी क्रोध हो सकता है।[367] अपने अनुचरों पर क्रोध के स्थान पर दया करी जाती है।[368] कृपा से सुरक्षित व्यक्ति पर किसी का क्रोध काम नहीं करता।[369] कुछ लोग अपराध करने पर भी क्रोध के पात्र नहीं होते।[370] सत्य बात पर क्रोध नहीं किया जाता।[371]

कोई–कोई क्रोध विवश क्रोध होते हैं। ऐसे क्रोध में व्यक्ति दूसरे का कोई नुकसान नहीं कर पाता और स्वयं ही कष्ट का भागी बनता है। जिस क्रोध में व्यक्ति क्रोध के पात्र का कुछ नहीं विगाड़ पाता उस क्रोध में अपनी इस विवशता के कारण कोई अपना ही अनिष्ट कर लेता है,[372]

कोई विधाता पर क्रोधित होने लगता है और दोष देने लगता है,[373] कोई अत्यधिक ग्लानि से भर क्रोध को दबा लेता है।[374] कभी–कभी व्यक्ति प्रति पक्षी पर आक्रमण न कर पाने अथवा अन्य किसी प्रकार से क्रोध को निकालने में जब असमर्थ होता है तो वह हाथ मलने लगता है, होठ काटने लगता है, इधर–उधर देखने लगता है तथा कसमखाता है।[375] ईर्ष्या और अंहकार में भरकर यदि कोई अनुचित बात कहे और उसकी वहीं भर्त्सना कर दी जाय तो विवश क्रोध वहीं शान्त भी हो जाता है।[376]

तुलसी ने वैर के सम्बन्ध में भी बताया है कि किस–किस से व्यक्ति को कभी वैर नहीं करना चहिए। जो सर्वसमर्थ है, जिसकी बड़े–बड़े लोग आधीनता स्वीकार करते हैं उससे वैर नहीं करना चाहिए।[377] जिसका आविर्भाव दुष्टों के नाश के लिए तथा धर्म की रक्षा के लिए हुआ हो उससे वैर त्याग देना चाहिए।[378] अद्‌भुत शक्तिवान् से वैर करने में भलाई नहीं होती।[379] जो बल और बुद्धि से जीता जा सके उसी से वैर करना उचित होता है।[380] अपने समान बल वाले से वैर करना उचित होता है।[381]

किस क्रिया से क्रोध बढ़ता है– क्रोध उत्तर प्रति उत्तर से उसी तरह भड़कता है जिस तरह अग्नि में आहुति डालने से वह और प्रज्वलित होती है।[382] प्रति पक्षी की निर्भय वाणी हमारे क्रोध को बढ़ाती है। परशुराम का क्रोध लक्ष्मण की वाणी से बढ़ता ही हैं।[383] शत्रु के कटु वचन/प्रतिपक्षी के व्यंग्य पूर्ण मधुर वचन तथा उसका मधुर व्यवहार हमारा क्रोध और उभारता है।[384] क्रोध के मूल कारण को यदि हम साज सिंगार में देखें तो हमारा क्रोध उभरकर अति भीषण रूप धारण कर लेता है।[385] प्रतिपक्षी का टेढ़ी दृष्टि से देखने पर हमारा क्रोध कम होने की बजाय और भड़कता है।[386] जिस समय हम क्रोध कर रहे हों और कोई हमारी ओर देखकर व्यंग्य से मुस्करा दे तो हमारे पूरे शरीर में पुनः क्रोध छा जाता है।[387] युद्ध में वीर व्यक्ति का क्रोध ग्लानि होने पर और बढ़ जाता है।[388]

क्रोध और स्वभाव का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो व्यक्ति जैसे लक्षणों वाला होगा उसका क्रोध वैसा ही प्रभाव उत्पन्न करेगा। जो व्यक्ति सामर्थ्यवान् होता है, शक्तिशाली और बलवान होता है उसका क्रोध बड़ा ही घातक होता है। उसके क्रोध से किसी की रक्षा नहीं की जा सकती, वह बड़ा ही अनिष्ट कारक होता है, सभी को भयभीत कर देता है।[389] विधाता के क्रोध से रक्षा की जा सकती है किन्तु यदि गुरू क्रोध करे तो संसार में कोई रक्षा नहीं कर सकता।[390] स्त्री का क्रोध बड़े–बड़े बलशालियों, धैर्यवानों और निर्भयों को भयभीत कर देता है।[391] करूणावान और क्षमाशील व्यक्ति के आश्रित का कोई अपराध करे तो उसका क्रोध अग्नि की तरह अपराध करने

वाले को जला देता है।[392] करुणा से प्रेरित क्रोध कल्याणकारी होता है।[393] दुष्ट का क्रोध यमराज के समान अत्यन्त अनर्थकारी होता है।[394] कामनापूर्ति में विरोध करने से जो क्रोध उत्पन्न होता है उसमें दूसरे पक्ष की अत्यधिक हानि करने की प्रवृत्ति होती है। कैकेयी का दशरथ के प्रति क्रोध ऐसा ही था।[395] अपमान और उपहास से उत्पन्न क्रोध इतना गहरा और तीव्र होता है कि वह अपमान और उपहास का कारण समाप्त हो जाने पर भी दूर नहीं होता। नारद का क्रोध असली रूप पा लेने पर भी दूर नहीं हुआ।[396] जो क्रोध निर्बलों का कष्ट देखकर उत्पन्न होता है वह क्रोध लोकमंगलकारी होता है। इस क्रोध में करुणा, और उत्साह संवेग भी मिले रहते हैं। जटायु का सीता के दुःख को देखकर उत्पन्न क्रोध लोकमंगलकारी ही था।[397] एक क्रोध तो वैर भाव या किसी को प्रतिपक्षी समझकर उत्पन्न होता है। एक क्रोध स्नेह के कारण उत्पन्न होता है। स्नेह के कारण व्यक्ति को एक प्रकार का जो अधिकार प्राप्त हो जाता है अथवा एक जो इच्छा रहती है कि मुझसे पूछकर करे अथवा मेरी जो इच्छा है वैसा करे। जब ऐसा नहीं होता है और उसकी इच्छा बाधित होती है तो उसमें अपना अधिकार पाने के लिए क्रोध उत्पन्न होता है। ऐसे क्रोध में मान भी सम्मलित रहता है। जो बलशाली होता हे अथवा जिसे अपने स्वामी के प्रताप पर भरोसा है वही क्रोध में आकर शत्रु को चुनौती दे पाता है।[399] अत्यन्त बलशाली व्यक्ति के क्रोध को सहन करना सबके वश की बात नहीं होती।[400] परम सामर्थ्य-वान् के क्रोध के समक्ष शक्तिशाली से शक्तिशाली का बल भी कमजोर पड़ जाता है।[401] सामर्थ्यवान् के क्रोधित होने पर किसी की कुशल नहीं रह पाती।[402] अतुलित शक्तिवाला व्यक्ति जब क्रोधपूर्वक शत्रु पर वार करता है तो उसका विनाश हो जाता है।[403] नियति का क्रोध महाविनाश करने वाला होता है।[404] नियति के क्रोध से संसार में दिन प्रतिदिन दरिद्रता बढ़ती है।[405] अपने से बलशाली से क्रोध और विरोध करने पर परिणाम अच्छा नहीं निकलता।[406]

महापुरुष का क्रोध करुणा से पूर्ण होने के कारण कृपातुल्य होता है।[407] स्वामी का अनखनाना भी सेवक के लिए दुःख हरणकारी होता है।[408] प्रभु की क्रोधपूर्ण दृष्टि पापियों का उद्धार कर देती है।[409] बलवान के भयंकर क्रोध को देखकर शत्रु का सारा उत्साह दूर हो जाता है।[410]

जो क्रोध अत्यन्त भंयकर हो, जिस क्रोध में सामर्थ्यवान् सत्य सौगन्ध ले ले, जिस क्रोध में सबको जलाने की सामर्थ्य हो ऐसे क्रोध से सभी भयभीत हो जाते हैं, इधर–उधर भागने लगते हैं, प्रतिकूल चलना छोड़ देते हैं।[411]

जो क्रोध भारी क्षति और हमें दर–दर की ठोकरें खाने के लिए विवश करने वाले

के प्रति उत्पन्न होता है उससे यदि हम बदला लेने में असमर्थ होते हैं तो ऐसी दशा में हम क्रोध को अपने हृदय में छिपाकर बदला लेने के उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में रहते हैं। प्रतापभानु से हार कर कपटी में क्रोध ने यही रूप ले लिया।[412] जिसने हमें दुःख पहुँचाया है उस पर तो क्रोध आता ही है बल्कि उन पर भी क्रोध आता है जो उसका सहयोग करते हैं। सती को दक्ष यज्ञ में सारी सभा पर क्रोध आया।[413]

क्रोध के लिए अनेक बातों का होना आवश्यक होता है। जिस क्रोध का लक्ष्य कोई व्यक्ति न हो सारी व्यवस्था ही क्रोध उत्पन्न करने वाली हो तो व्यक्ति किस पर क्रोध करें।[414] जिस क्रोध की कोई सार्थकता न हो उसे व्यक्ति प्रकट नहीं करना चाहता।[415] कोई क्रोध हमें उस समय निरर्थक लगने लगता है जब उसके कारण में हमारी ही नीति हो।[416]

इस प्रकार क्रोध के पूरे विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह बन्धनकारी संवेग है। यह व्यक्ति को गुलाम बना देता है अर्थात् व्यक्ति को इसी के अनुसार चलना पड़ता है।[417] यह संवेग अत्यन्त शक्तिशाली होने के कारण नष्ट होने में अत्यन्त दुष्कर होता है तथा यह सभी मनुष्यों को हर क्षण ग्रसित किये रहता है और यह अपरिमित मात्रा में उत्पन्न होता है।

क्रोध संवेग में अत्यधिक आवेग और उफान होता है। इसमें अग्नि के समान दूसरों को जलाने की शक्ति होती है।[418] इसमें नदी की भाँति उमड़न होती है।[419] क्रोध ऐसा भाव होता है जिसे अवश्य ही पहचाना जा सकता है।[420] क्रोध को झेलना अत्यन्त कठिन होता है।[421] क्रोध व्यक्ति पर पूरी तरह हावी हो जाता है।[422] चरम सीमा पर पहुँचा क्रोध हृदय में रुकता नहीं है।[423] क्रोध का प्रतिपक्षी संवेग भी हृदय में क्रोध के साथ ही जग सकता है।[424] क्रोध में नंगी तलवार की सी भयानकता होती है,[425] पुराना और दबा हुआ क्रोध अवसर आने पर जरूर प्रकट हो जाता है।[426] क्रोध का कोई न कोई आलम्बन अवश्य होता है,[427] क्रोध बिना कारण किसी पर नहीं किया जाता।[428] तीव्र क्रोध विध्यांचल की तरह उग्र हो जाता है।[429]

तुलसी ने वैर के मनोविज्ञान की विचित्रता को भी स्पष्ट किया है। शत्रु यदि हमारे जाल में फँस जाये तो 'हम पूराने वैर का बदला सरलता से ले सकेंगे, यह सोचकर हमें हर्ष होता है।[430] यदि वैर असफल हो जाये तो व्यक्ति को अपनी ही हानि की आशंका होने लगती है।[431]

किसी से वैर तभी निकाला जा सकता है जब शत्रु सामने हो या किसी प्रकार हमारे वश में हो।[432] एक वैर जन्म से ही व्यक्ति में होता है और एक वेर जन्म के बाद परिस्थितिवश

उत्पन्न होता है। जन्म से उत्पन्न वैर पशु–पक्षियों में अधिक पाया जाता है।[433]

क्रोध में केवल बुराई ही बुराई नहीं होती, अच्छाई भी होती है। क्रोध की अवस्था में ही व्यक्ति अपने प्रभाव का विस्तार कर पाता है व्यक्ति के असली सामर्थ्य का पता क्रोध में चलता है।[434] क्रोध आने पर ही व्यक्ति शत्रुओं का नाश कर विश्व में मंगल की स्थापना कर पाता है इस दृष्टि से क्रोध अपेक्षित ओर ग्रहणीय है।

दीनता :–

"दीनता" मन की वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति अपने दु:ख से व्याकुल होकर उससे मुक्ति के लिए किसी की सहायता चाहता है। इस अवस्था को दीन अवस्था अथवा आर्त्त अवस्था कहते हैं। "शब्द साधना" में रामचन्द्र वर्म्मा लिखते हैं कि दीनता आपसे आप हमारे मन में दया उत्पन्न करती है और हमसे यह विचार उत्पन्न करती है कि हो सके तो इसकी कुछ सहायता भी की जाय। पर इसमें सहायता की प्रेरणा वाला भाव गौण ही है और मुख्य तत्व देखने वाले के मन में दया का भाव जाग्रत होना ही है।[435]

भारतीय काव्य शास्त्र में दैन्य का विवेचन संचारी भावों के अन्तर्गत किया गया है। भरत ने दैन्य की उत्पत्ति दुर्गति एवं मनस्ताप आदि विभावों से मानी है। अधीरता, सिर–दर्द, शरीर का भारीपन, अन्मनस्कता एवं शरीर–शुद्धि का त्याग आदि इसके अनुभाव हैं– ('नाट्य शास्त्र' पृ0 448)[436] "गीता तत्व विवेचनी" में लिखा है कि दैन्य भाव उत्पन्न होने पर ही व्यक्ति किसी की शरण स्वीकार करता है, आत्म समर्पण करता है, उससे कल्याणकारी उपदेश की याचना करता है।[437] पं0 रामकिंकर जी ईश्वर के प्रति शरणागत अर्थात् दीनता की बात करते हुए कहते हैं कि ईश्वर की सच्ची शरणागति तभी होती है जब व्यक्ति के लिए विश्व में कोई आश्रय न रह जाये। स्वयं में असामर्थ्य की अनुभूति के पश्चात् ईश्वर की सर्व समर्थता पर विश्वास ही शरणागत की समग्रता तक पहुँचाता है।[438] शरणागत होने पर व्यक्ति की द्वैत दृष्टि का विनाश हो जाता है।[439]

कोई भी जब तक अपनी क्षमताओं की सीमा तक नहीं पहुँच जाता तब तक अभाव और दैन्य की मन: स्थिति का उदय होना सम्भव नहीं है।[440]

पाश्चात्य मनोविज्ञान में इस संवेग का विवेचन मूल प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में किया गया है। शरणागति एक मूल प्रवृत्ति है जो सभी प्राणियों में पाई जाती है। इसका विकास प्राय: युयुत्सा के

साथ होता है। अन्य मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाओं की असफलता पर शरणागति जागृत होती है। इस प्रकार 'शरणागति' का ज्ञानात्मक अंग युयुत्सा की असफलता है। 'कष्ट का होना' इसका संवेगात्मक अंग है। सहायता के लिए चिल्लाना इसका क्रियात्मक भाग है।

तुलसी ने भी दीनता अर्थात् आर्त्त अवस्था को इसी अर्थ में लिया है और ईश्वर के प्रति समर्पण के भाव को अधिक रूचि के साथ लिया है। उनकी विनय पत्रिका में बार–बार दैन्य का स्वर मुखर होता है किन्तु आत्मविश्वास की वाणी का अभाव वहाँ कहीं नहीं रहता।

हम दीनता संवेग का बहुत कुछ विवेचन दुःख संवेग के अन्तर्गत करेंगे। लेकिन यहाँ भी हम इस संवेग पर स्वतन्त्र रूप से विचार करके इसके मुख्य–मुख्य तत्वों को उजागर करेंगे।

तुलसी कहते हैं कि दीनता का भाव उस व्यक्ति में उत्पन्न होता है जो अत्यधिक दुखी होता है[441] और असहाय होता है।[442] जब कोई व्यक्ति दुष्टों के दुर्व्यवहार के वश हो जाता है तो इससे मुक्ति पाने के लिए बहुत ही आर्त नाद करता है। [443] प्राण जाने की सम्भावना से भी व्यक्ति भय से व्याकुल हो रक्षा की पुकार करता आर्त्त वाणी निकालता है।[444] ग्लानि तथा पछतावा के कारण व्यक्ति अत्यधिक दीन हो जाता है।[445] सुख के आधार के वियोग में व्यक्ति बड़ा ही आर्त्त हो जाता है।[446] हमारे श्रद्धेय को यदि हमारे कारण भयंकर कष्ट झेलना पड़े तो ऐसी अवस्था में दारूण दीनता दिखलाई पड़ती है।[447] आनन्द स्रोत के विमुख रहने पर व्यक्ति नित्य ही दीन रहता है।[448] प्रतिष्ठा के पद से अगर किसी को गिरा दिया जाय तो उसमें दीनता आ जाती है।[449] यदि हम अपने बड़े की किसी आज्ञा का पालन करने में असमर्थ हों और उसका उल्लघंन करना भी अनुचित समझ रहे हों तो ऐसी अवस्था में हम धर्म संकट में पड़ कर आर्त्त हो जाते हैं।[450]

भयंकर दण्ड से मुक्ति की प्रार्थना व्यक्ति अत्यन्त दीन होकर करता है।[451] कोई हमारे प्रस्ताव को स्वीकार कर ले इसलिए कभी–कभी हम उसे अत्यन्त कातरता और बैचेनी के साथ व्यक्त करते हैं।[452] जिस संयोग और अवसर के आने से हमें अत्यधिक सुख मिला है। यह संयोग और अवसर हमारे जीवन में बार–बार आये इसकी उत्कट लालसा से कातरता हमारे मन में जग जाती है।[453] जिस क्षण इच्छापूर्ति होगी उस क्षण की प्रतीक्षा करते समय जो व्याकुलता होती है, वह आर्त्त होने के कारण होती है।[454] यदि व्यक्ति कोई इच्द्दा करे और इच्छा करते ही उसकी पूर्ति के लिए बेचैन होने लगे तो ऐसी अवस्था भी आर्त्त अवस्था कहलाती है।[455] गम्भीर और दीर्घकालीन दुःख के दूर होने की जो आतुरता होती है उस आतुरता को भी आर्त्त अवस्था कहा

जाता है।[456] दिनों दिन बढ़ती दरिद्रता से व्यक्ति आर्त्त हो जाता है।[457]

तुलसी दीन व्यक्ति के स्वभाव की बात करते हुए कहते हैं कि पापी, बुद्धिहीन, जातिहीन व्यक्ति ही दीन होता है।[458] स्त्री के वियोग में वे ही लोग दीन दिखलाई पड़ते हैं जो कामी होते हैं।[459] लेकिन जिसे प्रभु पर भरोसा है[460] जिनका हृदय भक्ति से युक्त है उनमें किसी भी अवस्था में दीनता नहीं जागती।[461]

तुलसी ने दीनता संवेग के प्रभाव का भी विवेचन प्रस्तुत किया। वे कहते हैं कि आर्त्त अवस्था में व्यक्ति चाहता है कि कोई समर्थ स्वामी मेरा पालन करे। तुलसी अति दीन हो राम के द्वारा रक्षित होना चाह रहे हैं।[462] आर्त्त होकर व्यक्ति रक्षा की पुकार करता है,[463] सामर्थ्यवान् की शरण में जाता है, आर्त्तनाद करता है।[464] दीनता से संताप और दुःख होता है,[465] दीनता के कारण व्यक्ति जगह–जगह भटकता है।[466] दीनता में व्यक्ति कातर होकर अपनी बात कहने में फिर न नियम देखता है और न संकोच करता है।[467]

दीनता की अवस्था में यदि स्वामी की अनुकूलता तथा स्नेह प्राप्त हो तो व्यक्ति ढीठ हो जाता है।[468] दीनता में वाणी प्रेमयुक्त, नम्र और कोमल हो जाती है।[469] दीनता के कारण व्यक्ति व्याकुल हो जाता है,[470] और उसमें निर अहंकारत्व आ जाता है।[471] दीनता में व्यक्ति को सहज कार्य भी कठिन लगता है।[472] वह मलिन और उदास रहता है,[473] उसमें शिथिलता आ जाती है, कण्ठ सूखने लगता है जिससे मुख से बात नहीं निकलती।

दीनता में बड़ी शक्ति होती है। भक्त की आर्त्त अवस्था देखकर ही भगवान कृपा करते हैं[474] आर्त्त वाणी सुनकर स्वामी द्रवित हो जाता है,[475] उसमें दया उत्पन्न होती है[476] और उसकी आत्मीयता प्राप्त होती है।[477] दीनता सामर्थ्यवान् को संकट दूर करने की प्रेरणा देती है।[478]

दीनता कौन दूर कर सकता है इसकी बात करते हुए तुलसी कहते हैं कि जो सामर्थ्यवान् होता है कृपालु होता है वही किसी की दीनता दूर कर पाता है। भगवान दीनता दूर करने में पूर्णरूप से समर्थ होते हैं।[479]

दीनता सामर्थ्यवान् से मित्रता करने पर दूर हो जाती है और व्यक्ति निर्भय हो जाता है। सुग्रीव बहुत दीन अवस्था में था। राम से मित्रता करने पर वह निर्भय हो गया।[480] प्रभु की कृपा से दीनता अवश्य ही दूर हो जाती है।[481]

जो व्यक्ति दीनता दूर करने में समर्थ होता है वह यश का पात्र होता है।[482] दीनता

दूर करने के लिए अगणित उपाय किये जाते हैं।[483] भक्ति में भक्त को अपने समान कोई दु:खी नहीं लगता और प्रभु के समान कोई दु:खों का नाश करने वाला नहीं लगता,[484] जहाँ सुख ही सुख हो, वहाँ दीनता तनिक देर भी नहीं ठहर सकती।[485]

(ग) जिज्ञासा एवं कुतूहल (विस्मय) प्रवृत्ति :-

आश्चर्य/कौतूहल/जिज्ञासा इन तीनों ही संवेगों का सम्बन्ध किसी नवीन घटना, नवीन दृश्य तथा नवीन भाव के ज्ञान से है। लेकिन इनमें परस्पर बहुत अर्थ भिन्नता है। किसी अद्‌भुत, विलक्षण, विचित्र वस्तु के दर्शन से हममें जो स्तब्धता आ जाती है उसे आश्चर्य कहते हैं। किसी नवीन प्रकार के दृश्य आदि को देखने की हममें जो उत्सुकता जगती है उसे कौतूहल होना कहते हैं और कोई नवीन जानकारी प्राप्त करने की जो इच्छा मन में जगती है उसे जिज्ञासा कहते हैं। इस प्रकार कौतूहल का सम्बन्ध देखने से है और जिज्ञासा का सम्बन्ध ज्ञान से है। आश्चर्य का सम्बन्ध वस्तु की उपस्थिति से उत्पन्न स्तब्धता से है। "मानक हिन्दी कोश" और "बृहत हिन्दी कोश" में भी आश्चर्य की इसी स्थिति का संकेत है। "मन का वह कुतूहल पूर्ण भाव या स्थिति जो कोई अद्‌भुत, अप्रत्याशित, असाधारण या विलक्षण बात या वस्तु के सहसा देखने अथवा ऐसी घटना घटित होने पर इसलिए होती है कि उसका कारण रहस्य या स्वरूप समझ में नहीं आता।"[486] "शब्द साधना" में रामचन्द्र वर्मा कौतूहल और जिज्ञासा को एक साथ परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि कौतूहल जनक वह है जो अपनी विचित्रता के कारण अपने प्रकार, रूप आदि के सम्बन्ध में हमारे मन में कुछ उत्सुकतापूर्ण जिज्ञासा उत्पन्न करें।[487]

भारतीय काव्य शास्त्र में रसों के विवेचन में आश्चर्य का संबंध वस्तु-वैचित्र्य से माना है और इसके अनुभाव नेत्र-विस्फारण, स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, गद्‌गद् होना, सम्भ्रम, उत्फुल्लता ये माने गये हैं। धनंजय के अनुसार अलौकिक पदार्थो के द्वारा विस्मय की उत्पत्ति होती है। साधुवाद, अश्रु, कम्प, गद्‌गद् स्वर इसकी चेष्टायें है।[488]

पाश्चात्य मनोविज्ञान में मैक्डूगल के विचार में आश्चर्य के भाव अथवा उत्सुकता की सहज प्रवृत्ति की प्रेरणा वस्तु को नजदीक से देखने और उसके पास पहुँचने की होती है।[489] सरयू प्रसाद चौबे लिखते हैं- जिज्ञासा की मूल प्रवृत्ति सभी चेतन प्राणियों में पाई जाती है। बाजा बजते हुए सुन भैंस अपने कान खड़े कर इधर-उधर देखने लगती है। बालकों में इस प्रवृत्ति का उदय उनकी चेतनता से प्रारम्भ हो जाता है। बहुधा इस प्रवृत्ति की क्रियाशीलता अन्य मूल प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में हुआ करती हैं। यदि व्यक्ति अपनी किसी मूल प्रवृत्ति को उत्तेजित करने वाली वस्तु

को देखकर उसे समझ नहीं पाता तो उसकी जिज्ञासा प्रवृत्ति स्वभावतः उत्तेजित हो जाती है। अतः किसी रहस्य को न समझना इसका ज्ञानात्मक अंग हुआ। रहस्य के न समझने पर 'आश्चर्य' का होना इसका संवेगात्मक अंग हुआ।[490] मधुसूदन विस्मय का स्वरूप चित्त चमत्कार मानते हुए इसके लौकिक अलौकिक दो भेद करते हैं।

तुलसी आश्चर्य/कौतूहल/जिज्ञासा इन सबका प्रयोग विशेष रूप से राम की लीला के सन्दर्भ में करते हैं। उन्हें राम की अद्‌भुत/अलौकिक लीला को देखकर आश्चर्य होता है, उन्हें देखने का कौतूहल होता है और राम के स्वरूप के सम्बन्ध में सब कुछ जानने की उनमें तीव्र इच्छा जाग्रत होती है। तुलसी ने इन संवेगों को भक्ति मार्ग में बड़े सहायक संवेग के रूप में देखा है और इसीलिए इसे बहुत महत्व भी दिया है, क्योंकि आश्चर्य, कौतूहल, जिज्ञासा ये संवेग व्यक्ति को लक्ष्य के अति निकट पहुँचा देते हैं और तुलसी प्रत्येक मनुष्य को परम सत्य के निकट पहुँचा देना चाहते हैं।

तुलसी ने आश्चर्य को अनेक प्रकार के उद्‌दीपकों से उत्पन्न होना माना है। वे कहते हैं यदि हम विचित्र प्रकार की वस्तुएँ अथवा दृश्य देखें तो हम ऐसी वस्तुएँ अथवा दृश्य को देखते ही आश्चर्य से भर जाते हैं।[491] सीता ने जब हनुमान को अद्‌भुतरूप कथा को कहने वाला जाना तो वे आश्चर्य से भर गयीं।[492] देवता लोग राम विवाह के विचित्र मण्डप तथा नाना प्रकार की सब अलौकिक रचनाओं को देख चकित हो जाते हैं।[493] कौतुक पूर्ण,[494] अलौकिक[495] तथा अद्‌भुत घटनायें[496]/दृश्य/वस्तुएँ बहुत ही आश्चर्य उत्पन्न करने वाले होते हैं। तुलसी ने ऐसे अनेक दृश्यों का परिचय दिया है। सती को अपने प्रभाव से अवगत कराने के लिए राम ने जो दृश्य उपस्थित किया वह बड़ा ही कौतुकपूर्ण था। राम ने तीस वाण मारकर बीस भुजाएँ और दसों सिर काट दिये लेकिन वे कटते ही पुनः उत्पन्न हो गये। राम का चरित्र राम के परस्पर विरोधी गुणों से युक्त होने के कारण बड़ा ही विचित्र, अलौकिक है, इसीलिए वह सबको आश्चर्य में डालने वाला है।[497] अलौकिक बात की चर्चा सुनकर विस्मय होता है और जब ऐसी बात हम किसी सामान्य व्यक्ति के मुख से सुने तो और विस्मय होता है।[498] वस्तु कला का अद्‌भुत सौन्दर्य देखकर सब चकित हो जाते हैं। जनक का निवास स्थान, उनका विलास, राजमहल के परकोटे देख मनुष्य क्या देवता भी चकित रह जाते हैं।[499] राम के चलने से मणिमय आंगन में उनके प्रतिबिम्ब से ऐसा लगता है कि पृथ्वी पद–पद पर कमल का आसन देती हो। यह विचित्र सुन्दरता देख माताएँ चकित हो जाती हैं।[500] ऐसी अद्‌भुत वाणी जो सुगम, अगम, सुन्दर, कोमल और कठोर हो जिसमें अक्षर थोड़े और अपार अर्थ भरा हो, जिसका आशय समझ में न आता हो सुनकर आश्चर्य होता है। चित्रकूट में भरत ने जो वचन कहे वे इसीप्रकार के थे।[501] किसी में जो वस्तु अपने गुण

में अत्यन्त विशिष्टता लिए हुए हो तो वह वस्तु आश्चर्य में डालने वाली होती है।[502]

जनक ने जो भोजन कराया वह स्वाद, प्रकार सभी में विशिष्ट था।[503] यदि घोड़े ताल के विधान से जरा भी इधर-उधर होकर न नाचे तो यह देख आश्चर्य होता है।[504] किसी में अद्‌भुत सामर्थ्य देखकर आश्चर्य होता है।[505] राम का अद्‌भुत और चमत्कार पूर्ण प्रभाव कि उनके पैरों की धूल से अहल्या तक तर गयीं सबको चकित करने वाला है।[506] सीता में यह अद्‌भुत सामर्थ्य कि जितनी सासुएँ उतने ही वेश बनाकर उन्होंने उनकी सेवा की।[507] काम का यह अद्‌भुत प्रताप कि दशरथ जैसा प्रतापी राजा भी उससे डर गया।[508] किसी में परस्पर विरोधी प्रभाव हो तो यह देख आश्चर्य होता है। रामकथा महामोह रूपी महिसासुर के लिए कालिका और संत रूपी चकोर के लिए शशि जैसी मृदु और शीतल है।[509] श्रद्धेय के प्रति यदि किसी का प्रेम धन, जीवन और प्राण तुल्य हो जाय तो आश्चर्य होता है। दशरथ का प्रेम राम के प्रति इसी प्रकार का था।[510] कभी-कभी व्यक्ति पूर्व की स्मृतियों में ऐसा मग्न हो जाता है कि उसे यथार्थ स्थिति का बोध नहीं होता लेकिन जब उसे अपनी स्थिति का बोध होता है तो वह चकित हो चित्र लिखित सा रह जाता है।[511] कोई कार्य बिना पूर्व संकेत या सूचना के अचानक हो जाये तो व्यक्ति आश्चर्य चकित हो जाता है। अगर अचानक धूल उड़कर आकाश में छाने लगे और बहुत से पशु-पक्षी व्याकुल होकर भागने लगें तो व्यक्ति आश्चर्य चकित हो जाता है।[512] वियोग दुःख से ग्रस्त व्यक्ति प्रिय का नाम सुनते ही चौंक पड़ता है।[513] जिस व्यक्ति या वस्तु के जहाँ न होने की सम्भावना हो वहाँ उन्हें देखकर चकित होना स्वाभाविक है। हनुमान भरत और शत्रुघ्न को राम-लक्ष्मण समझ चकित हो गये।[514] असम्भव क्रिया-कलाप आश्चर्य उत्पन्न करने वाले होते हैं। विष्णु भक्त और ज्ञानी नारद के मोह के वश होने की बात सुन पार्वती आश्चर्य चकित हो गयीं।[515] यदि किसी को किसी कला में अपने से भी विशिष्ट देखें तो व्यक्ति (जिसे अपने गुण का अभिमान था) वह आश्चर्य से भर जाता है। ब्रह्मा राम विवाह के लिए हुई तैयारी को देख आश्चर्य से युक्त हो गये।[516] जिसका अपराध हमें स्पष्ट दिखाई दे रहा है यदि उसको कोई सत्यवादी और निर्दोष बताये तो हम चकित हो जाते हैं।[568] किसी को प्रतिष्ठा से गिर कर काम करते देख आश्चर्य होता है राम को बालक की भाँति रोते देख काकभुशुण्डि चकित हो उठे।[518] जिसके श्वांस-प्रश्वांस में वेद बसे हो अर्थात जो ज्ञान का धाम है वह लोक शिक्षण के लिए सामान्य व्यक्ति की तरह विद्या-अर्जन करे तो उसकी विनय देख आश्चर्य होता है।[519] अपने को महाबलशाली कहलाने वाला जब किसी कार्य को नहीं कर पाता है ओर दूसरा सामान्य सा दिखने वाला कर डालता है तो यह देख आश्चर्य होता है।[520] जिस कार्य को सामान्य जन कर सकते हो उसे यदि अति सामर्थ्यवान् मिलकर भी न कर पाये तो इससे आश्चर्य होता है।[521] किसी स्थान को आशा के विपरीत उजड़ा-उजड़ा सा देखें तो हम आश्चर्य से ज्यों का त्यों रह जाते हैं।

राम पंचवटी को देख आश्चर्य चकित हो गये।[522] जिसके प्रतिकूल चलने की सम्भावना थी उसके अनुकूल व्यवहार करने पर हमारा चित्त चकित हो जाता है।[523] जो कभी नियम भंग न करता हो उसके नियम से व्यती क्रम देखकर आश्चर्य होता है। दशरथ देर तक जब नहीं जगे तो लोगों को आश्चर्य हुआ।[524] सुख सुविधाओं में पले व्यक्ति को सुख–सुविधाओं का त्यागकर कष्टमय जीवन व्यतीत करते देख आश्चर्य होता है।[525] छोटे स्थान पर बड़ा दृश्य देखकर आश्चर्य होता है।[526] भयंकर ध्वनि अथवा बाँके वीर की हुंकार सुनकर बड़े–बड़े तक चौंक जाते हैं।[527] कभी–कभी अत्यधिक त्रास से भी लोग चकित होकर भागते हैं।[528] जितने भय की अपेक्षा न हो उतने भय के कारण भी व्यक्ति आश्चर्य में पड़कर भागने लगता है।[529] किसी शक्तिशाली तथा बड़े मायावी की माया के सामने छोटा मायावी भयग्रस्त होकर चकितसा उसके संकेत की ओर देखता रहता है।[530]

तुलसी ने जिज्ञासा और कौतूहल के भी उद्दीप्तकारी विषयों की चर्चा की है। असम्भावित कार्य को देखने का कौतूहल होता है, उसके रहस्य को जानने की जिज्ञासा होती है। कोश की हरिभक्ति पाने की बात सुनकर पार्वती को उसके बारे में जानने की इच्छा हुई।[531] जिस आश्चर्यजनक ओर अलौकिक कार्य के रहस्य को भगवत् कृपा से ही समझा जा सकता है उसके प्रति बड़ा कौतूहल होता है।[532] आश्चर्यजनक क्रीड़ाओं से कौतूहल उत्पन्न होता है। शंकर जी की बारात में भाँति–भाँति के कौतुक होते जाते हैं।[533] अपने प्रिय से सम्बन्धित हर वस्तु और हर स्थान को देखने की मन में उत्सुकता होती है। भरत वह स्थान देखने के उत्सुक हैं जहाँ राम, सीता तथा लक्ष्मण सोये थे।[534] प्रिय को देखने की अत्यन्त उत्सुकता होती है इसलिए व्यक्ति प्रिय के स्थान को खोजना चाहता है। भरत पूछते हैं कि राम–सीता किस वन में है।[535] प्रिय के नये–नये कृत्यों, चरित्रों को देखने का कौतूहल होता है। नारद जी राम के नित्य नये–नये चरित्र देखकर जाते हैं और ब्रह्मलोक में जाकर सब कथा कहते हैं।[536] राम विवाह में जो अद्भुत अलौकिक कार्य हो रहे थे, उसे देखने का आकाश और नगर दोनों में कोतूहल था।[537] अपने आराध्य को देखने का भक्त में बड़ा कौतूहल होता है। शतरूपा और मनु को यही अभिलाषा हुआ करती है कि हम उन परम प्रभु को आँखों से देखें।[538] प्राकृतिक स्थलों को देखने का सभी को कौतूहल होता है और उन स्थलों का विशेष कौतूहल होता है जहाँ–जहाँ हमारे प्रिय ने भ्रमण किया हो। भरत इसीलिए चित्रकूट का भ्रमण करना चाहते थे।[539] सुन्दर नगर को देखने का भी कौतूहल होता है। लक्ष्मण सुन्दर नगर जनकपुर देखना चाहते हैं।[540] किसी के अद्भुत सौन्दर्य को सुनकर उसे देखने का कौतूहल होता है। राम–लक्ष्मण के सौन्दर्य को देखने के लिए जनकपुरवासी दौड़ पड़े।[541] आत्मीय जनों के पास से लौटे प्रिय को उदास देख प्रियजनों की कुशलता जानने की इच्छा होती है। भरत को उदास देख

कैकेयी ने नैहर की कुशलता पूछी।[424] प्रिय को दुखी देख उसका कारण जानने की इच्छा होती है।[543] विरहिणी को प्रिय के बारे में सब कुछ जानने की इच्छा होती है।[544] पत्र में क्या लिखा है, इसे जानने की सहज इच्छा स्वाभाविक है।[545] प्रिय के अमानुषी कर्म हमें आश्चर्य से भर देते हैं। हमें जिज्ञासा होती है कि कोमल अवस्था वाले हमारे प्रिय ने यह कार्य कैसे किया। कौसल्या विवाह कर आये राम से बार-बार पूँछ रहीं कि तुमने ताड़का को कैसे मारा।[546] रहस्य के प्रति मानव में सहज जिज्ञासा होती है। राम रहस्यों और अलौकिक बातों के भण्डार हैं इसलिए उनके स्वरूप को जानने की जिज्ञासा पार्वती के मन में हो रही है।[546] जिसके प्रति हमारी चेतना आकर्षित हो जो असामान्य और अलौकिक सौन्दर्य से युक्त हो, जिसने हमारे हृदय को प्रभावित किया हो उसके बारे में अधिक जानने की इच्छा उत्पन्न होती है। इसलिए जनक के मन में राम-लक्ष्मण का अलौकिक रूप देखकर उनका परिचय जानने की इच्छा हुई।[548] जो बात हमसे सम्बन्धित हो और जिसका प्रभाव हम पर पड़ने वाला हो उसको जानने की जिज्ञासा और उत्सुकता होना स्वाभाविक है। इसीलिए आकाशवाणी द्वारा भगवान शंकर की प्रतिज्ञा की प्रशंसा सुनकर सती के मन में उन्होंने कौन सी प्रतिज्ञा की है यह जानने की इच्छा हुई।[549] यदि कोई इच्छित कार्य हमारा श्रद्धेय हमें न करने दे तो उसका कारण जानने की इच्छा होती है। नारद ने भगवान से यह जानना चाहा कि उन्होंने उन्हें विवाह क्यों नहीं करने दिया।[550] किसी की भयावह और असम्भावित स्थिति देखकर कारण जानने की इच्छा होती है।[551] स्वार्थी व्यक्ति अपने हित की बात बार-बार पूछना चाहता है। कैकेयी इसीलिए मंथरा से सारी बात बार-बार पूछ रही है।[552] जो व्यक्ति हमारे पक्ष को छोड़कर शत्रु पक्ष में मिल जाये उसके बारे में जिज्ञासा होती है। रावण को विभीषण के बारे में बड़ी जिज्ञासा हुई।[553] यदि हम किसी को कहीं छिपकर रहते देखें तो इसका कारण जानने की इच्छा होती है। राम को भी सुग्रीव के बारे में जानने की इच्छा हुई।[554] यदि कोई अपरिचित व्यक्ति निर्जन स्थान पर हमें आश्रय दे और अपनी आत्मीयता भी व्यक्त करे तो हमारे मन में उसके बारे में जानने की तीव्र इच्छा होती है। प्रतापभानु तपस्वी के बारे में जानने के लिए इसीलिए उत्सुक हो उठा।[555] कोई अद्‌भुत और नई घटना या समारोह में लोगों को जाते देखकर व्यक्ति के मन में कौतूहल और जाने के कारण को जानने की इच्छा होती है। इसी कारण सिद्ध, किन्नर गंधर्वों का आकाशमार्ग से जाना देखकर सती को कौतूहल हुआ और कहाँ जा रहे हैं इसे जानने की जिज्ञासा हुई।[556] व्यक्ति में अपराध जानने की इच्छा होती है।[557] विशेष रूप से सुन्दर, विचित्र, पवित्र और दिव्य स्थलों को देखकर उनके बारे में जानने की इच्छा होती है। भरत जी में चित्रकूट के स्थलों के बारे में जानने की बड़ी इच्छा है।[558]

तुलसी ने आश्चर्य के कारणों में ईश्वर/राम की कृपा के चमत्कार की विशेष रूप से

बात की। ईश्वर की कृपा को देखकर हम आश्चर्य में पड़ जाते हैं हम सोचते हैं कि उसकी कृपा देखिये कि मूक बोलने लगता है और पंगु पर्वत चढ़ने लगता है। सामान्य जीवन में ये घटनायें असम्भव हैं और इसीलिए आश्चर्यकारी है।[559] संत समाज रूपी तीर्थ राज के प्रभाव का चित्रण तुलसी ने चमत्कार पूर्ण ढंग से किया है। वे कहते हैं इसमें स्नान का फल तुरन्त मिलता है। काक कोयल हो जाता है और बगुला हंस जैसे स्वभाव वाला। तुलसी ऐसी चमत्कार पूर्ण बातें वहीं लिखते हैं जहाँ उन्हें भक्ति/इष्ट/मंत्र या संत संगति/संतों के प्रभाव का निर्देश करना होता है।[560]

वस्तु की विचित्रता का आधार उसका रहस्यमय और जटिल रूप है। अगर कोई उस रहस्य और जटिलता को जानता हो तो उसे उस वस्तु की विचित्रता पर आश्चर्य नहीं होता है। तुलसी के अनुसार रामकथा भी विचित्र और आश्चर्य में डालने वाली है जिस पर ज्ञानी आश्चर्य नहीं करते। किन्तु जो उसकी अलौकिकता/असामान्यता/रहस्यमयता से परिचित नहीं हैं उन्हें उस पर आश्चर्य होता है।[561] तुलसी ने राम कथा और राम चरित्र की विचित्रता का स्थान–स्थान पर संकेत इसलिए किया है कि पाठक उसे अन्यथा लेकर कुछ का कुछ न समझ बैठे। विचित्रता का एक बहुत बड़ा कारण परस्पर विरोधी गुणों का होना है। जैसे वे सदा एक रस हैं फिर भी उनमें सहज मानवीय संवेगों की अभिव्यक्ति सामान्य व्यक्ति की तरह होती है उनकी यही बात जनसामान्य को आश्चर्य के साथ–साथ भ्रम में भी डालने वाली है।[562] भगवान राम के जन्म के समय लोगों ने जो उत्सव मनाया; अयोध्या को जैसा सजाया। आनन्द को जिस तरह प्रकट किया उससे वहाँ अनुपम, आश्चर्यजनक और विलक्षण दृश्य उपस्थित हो गया। अगरू, धूप आदि के कारण संध्या जैसा दृश्य लगने लगा। इस कौतुकपूर्ण दृश्य को देखकर सूर्य भी अपनी गति भूल गया ऐसा लगने लगा जैसे एक मास का एक दिन हुआ हो। तात्पर्य यह कि लोग काल बोध भी भूल गये। तुलसी ने इसे कौतुक कहा है। कौतुक में विलक्षणता तथा मन में भुलाने वाली आश्चर्य जनक शक्ति होती है।[563]

तुलसी ने धनुष के अद्भुत तथा आश्चर्यजनक भारीपन का चित्रण अनेक राजाओं द्वारा उसका उठाना और धनुष का रंचमात्र भी न डिगना या तिलभर भूमि भी न छुड़ा सकना आदि के द्वारा किया है।[564] जनक ने जिस समय दुखी होकर पृथ्वी को वीर विहीन कहा। इसे सुनकर रोष में भरकर, लक्ष्मण ने अपनी विलक्षण शक्ति का परिचय देने के लिए जिन कार्यों का विवरण दिया वे आश्चर्य में डालने वाले हैं जैसे कंदुक के समान पूरा ब्रह्माण्ड उठाना, कच्चे घड़े के समान उसे फोड़ डालना, सुमेरू पर्वत को मूली की तरह तोड़ देना इस प्रकार का चमत्कार दिखाने को कहना। जिस समय लक्ष्मण ने ऐसा कहा लोग आश्चर्य में पड़ गये।[565] अनुपम में विचित्रता का भी अंश रहता है जैसे राम सीता का प्रतिबिम्ब मणियों के खम्भों में अनेक रूपों में जगमगाने लगना।[566]

आश्चर्य का व्यक्ति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जिस वस्तु से व्यक्ति को आश्चर्य होता है उसे देख वह देर तक देखता रह जाता है। विवाह के समय राम जिस घोड़े पर बैठे हैं उसकी ललित लगाम को देखकर देवता, मनुष्य और मुनि ठगे रह जाते हैं।[567] रावण की माया से बहुत से राम लक्ष्मण देखकर वानर लोग चित्र लिखे से जहाँ के तहाँ खड़े से रह गये।[568] राम के अद्भुत सौन्दर्य की बाते सुनकर नवयुवियाँ थकीं सी रह गयी।[569] यज्ञशाला में जानकी के सौन्दर्य रूपी दीपक को निहारकर नर नारी अपलक नेत्रों से चकित से रह गये।[570] कौसल्या राम के चलने से आंगन में उत्पन्न विचित्र सौन्दर्य को देख कौसल्या उसे चकित होकर निहारतीं हैं।[571] इस प्रकार तुलसी ने आश्चर्य में वस्तु को देखने की अनेक स्थितियों का परिचय दिया है।[572] आश्चर्य जनक वस्तु को देखकर कभी-कभी आँखें ऐसी चौंध जातीं है कि उस वस्तु को देख भी नहीं पातीं। चकाचौंध की स्थिति में व्यक्ति अपनी सुध-बुध खो बैठता है, विवेक रहित हो जाता है।[573] आश्चर्य में व्यक्ति उसी में अभिभूत हो जाता है मानो वस्तु की विलक्षणता मन को हरे ले रही हो।[574] अनुपम सौन्दर्य को देखने के लिए व्यक्ति बड़ी उतावली से जाता है। राम का जन्म होने पर रोने की आवाज सुन रानियाँ बड़ी उतावली से उनके अनुपम सौन्दर्य को देखने के लिए दौड़ीं।[575]

तुलसी ने आश्चर्य संवेग के सम्बन्ध में ऐसे लोगों का भी परिचय दिया है जिन्हें आश्चर्य होने की अवस्था में आश्चर्य नहीं होता है। जिसे ईश्वर की अलौकिक शक्ति में विश्वास होता हे, उसे किसी आश्चर्यजनक घटना पर अधिक आश्चर्य नहीं होता है।[576] अगर कोई वस्तु का रहस्य और उसकी जटिलता को जानता है तो फिर उस वस्तु की विचित्रता पर आश्चर्य नहीं होता।[577]

कोई-कोई विषय ऐसे होते हैं जिनके सम्बन्ध में आश्चर्य नहीं होता है। जिसका होना बिल्कुल असम्भव हो उसको हुआ देख आश्चर्य होता है लेकिन यदि यह कार्य किसी समर्थ साधन द्वारा किया गया है तो फिर आश्चर्य नहीं होता।[578]

दुष्ट प्रकृति का व्यक्ति यदि किसी कोई असामान्य कार्य करता है तो उसके कार्य पर किसी को आश्चर्य नहीं होता।[579] अलौकिक शक्ति सम्पन्न व्यक्ति कोई भी आश्चर्यजनक चमत्कार कर सकता है।[580] सामर्थ्य के अनुसार कोई कार्य करे तो उसके लिए आश्चर्य की कोई बात नहीं होती।[581] जो प्रभु को परमप्रिय है उसके लिए ऋद्धि-सिद्धियों की प्राप्ति कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं है।[582]

व्यक्ति को आश्चर्य चकित होने की चाह होती है। आश्चर्य चकित करने वाला दृश्य व्यक्ति छिपकर भी देखना चाहता है। देवता लोग राम विवाह के कौतुकपूर्ण दृश्य वेश बदलकर देख रहे हैं।[583]

मनुष्य में सामान्यतः कौतूहल अर्थात् जो नहीं जानता है उसे जानने/देखने का कौतूहल होता है। वह हर उस घटना का कारण जानना चाहता है जो उसके सामने घटित होती है। बच्चों और स्त्रियों में यह वृत्ति ज्यादा होती है।

(घ) स्व–प्रतिष्ठापन अथवा अहं प्रवृत्ति :

अहंकार :–

'अहंकार' मन की वह भावना है जिसके कारण व्यक्ति अपने 'अहं' की प्रतिष्ठा के लिए प्रवृत्त होता है। 'शब्द साधना' में रामचन्द्र वर्म्मा ने इसे बहुत अच्छी तरह समझाया है। प्रत्येक मनुष्य को इस बात का सहज और स्वाभाविक ज्ञान होता है कि मैं हूँ– मेरी स्वतंत्र सत्ता है। यही कुछ अधिक विस्तृत और विकृत होकर अहंकार बन जाता है। मनुष्य इस भावना के कारण अपनी और अपने कार्यों की चर्चा करना और सुनना पसन्द करता है। साधारणतः अहंकार में मनुष्य औरों की अपेक्षा अपना कुछ अधिक महत्व समझने लगता है। उसमें स्वार्थ का भाव आ जाता है। यही भावना कुछ और अधिक बढ़ने और विकृत होने पर अहंमन्यता बन जाती है। इसमें मनुष्य समझता है कि जो कुछ हूँ, वह मैं ही हूँ और जो कुछ है, वह सब मेरे लिए ही होना चाहिए। अपने सामने उसे और लोग प्रायः तुच्छ और नगण्य से लगने लगते हैं। वह समय–कुसमय और जगह–जगह अपने मुँह से आप ही अपनी बड़ाई करने लगता है।[585] मानक हिन्दी कोश में भी वर्म्मा जी ने अहंकार की यही परिभाषा दी– अंतःकरण की वह स्वार्थपूर्ण वृत्ति जिससे मनुष्य समझता है कि मैं कुछ हूँ या कुछ करता हूँ। मन में रहने वाला "मैं" और "मेरा" का भान।[586] बृहत किन्दी कोश में इसे अपनी सत्ता का बोध , गर्व, घमंड कहा गया है।[587] अहंकार स्वार्थ वृत्ति की चरम सीमा है, इसीलिए इसे विनाश का मूल कारण कहा गया है–

अहङ्कारश्च सर्वेषां पाप बीजम मगंलम्।
ब्रहाण्डेषु च सर्वेषां गर्व पर्य्यन्त मुन्नतिः।[588]

भारतीय मनोविज्ञान में सृष्टि की उत्पत्ति की दृष्टि से इसे विशेष महत्व दिया गया हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार त्रिगुणमयी प्रकृति का सर्वोच्च प्रकाश महत् या बुद्धि तत्व है। इससे अहंकार या अहंतत्व की और अहंतत्व से सूक्ष्म भूतों की उत्पत्ति होती है। ये सूक्ष्म भूत ही परस्पर मिलकर वाह्य स्थूल भूतों में परिणत होते हैं, जिनसे स्थूल जगत की उत्पत्ति होती है।[589] भारतीय काव्यशास्त्र में इसे 'गर्व' नाम के संचारी भाव के रूप में ग्रहण किया गया है। बाबू गुलाबराय गर्व नाम संचारी भाव के बारे में लिखतें हैं– प्रभाव, विद्या, सम्पत्ति और कुलीनता के अभियान को गर्व

कहते हैं। मद में मोह और आनन्द सा रहता है, गर्व में कुछ तेजी रहती है।[590] रामचन्द्र शुक्ल गर्व नामक संचारी भाव को गुण, धन और वैभव से उत्पन्न होना मानते हैं।[591]

पाश्चात्य मनोविज्ञान में इसे आत्म-स्थापन की प्रवृत्ति बताते हुए कहा गया है कि यह वह प्रवृत्ति है जिससे वह अपने आपको श्रेष्ठ या शक्तिशाली प्रमाणित करना चाहता है। एडलर का विचार है कि व्यक्ति की जब यह अभिप्रेरणा सन्तुष्ट होती है तो फलस्वरूप व्यक्ति में श्रेष्ठता की भावना उत्पन्न हो जाती है।[592] आत्म प्रदर्शन की मूल प्रवृत्ति के विवेचनमें सरयु प्रसाद चौबे लिखते हैं कि इससे सम्बन्ध संवेग आत्माभिमान है। इसका क्रियात्मक अंग किसी प्रकार की आत्मशक्ति का प्रदर्शन है। आत्मप्रदर्शन प्रवृत्ति के अवदमन से व्यक्तित्व का ह्रास निश्चित है। अवदमन से व्यक्ति के चरित्र में शैथिल्य आ जाता है।[593]

तुलसी भी 'अहंकार' को गुण, धन, शक्ति, वैभव आदि के कारण उत्पन्न श्रेष्ठता की भावना के अर्थ में ही ग्रहण करते हैं। वे इसे उस अर्थ में भी ग्रहण करते हैं जो किसी वीर में आत्मविश्वास के कारण उत्पन्न होता है और जो उसे उसके लक्ष्य तक पहुँचने में बहुत ही सहायक होता है।

तुलसी ने अहंकार के लिए अभिमान, मान, घमंड, गर्व, गरब, दम्भ, मद, दर्प, दाप आदि शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने बताया कि अहंकार उत्पन्न होने के अनेक कारण हैं। किसी को धन का मद[594] हो सकता है, किसी को अधिकार का मद[595] हो सकता है और किसी को ज्ञान के कारण[596] अहंकार हो सकता है। यदि किसी की स्वस्थ और शक्तिशाली देह हो,[597] ऐसा सामर्थ्य हो कि वह कल्पान्त में भी नष्ट न होने वाला हो[598] तो ऐसे शरीर और सामर्थ्य के कारण भी व्यक्ति में अहंकार आ जाता है। सहस्त्र वाहु, इन्द्र, त्रिशंकु को अपने राज्य का बड़ा ही मद थे।[599] ब्रह्मा ने दक्ष को जब प्रजापतियों का नायक बना दिया तो वह बड़ा अधिकार पाकर हृदय में अत्यन्त अभिमान से भर गया।[600]

धनुष यज्ञ में जितने भी राजा लोग आये हुए थे सभी को अपने बल का बड़ा ही गर्व था।[601] अपने रूप/सौन्दर्य का भी एक प्रकार घमण्ड होता है।[602] यह मद कभी-कभी व्यक्ति की बुद्धि को भ्रम में डाल देता है जिससे व्यक्ति अपनी स्थिति का सही आकलन नहीं कर पाता। नारद में इसी प्रकार का अहंकार उत्पन्न हो गया था भगवान से रूप पाकर अहंकार के कारण उनकी बुद्धि नष्ट हो गयी। यदि व्यक्ति किसी कठिन काम को करने में सफल हो जाये तो उसमें अपनी सफलता के कारण अहंकार आ जाता है।[603] समाधि में लीन नारद जी जब कामदेव के प्रभाव से

विचलित नहीं हुए तो उन्हें अपनी इस सफलता पर बहुत अहंकार हो गया और वे सारी बात बताने के लिए शिवजी के पास गये।[604] जिस वस्तु, व्यक्ति, गुण के कारण व्यक्ति दूसरों से बढ़कर माना जाने लगता है उससे उसे गर्व हो जाता है। रावण ने अपनी शक्ति से देवता और गन्धर्व सभी को वश में कर लिया था इसलिए उसे अपने बल का बड़ा ही घमंड था।[605] यदि हमें विधाता की अनुकूलता से कोई बड़ा लाभ मिल जाये तो हमारा हृदय गर्व से भर जाता है। मन्थरा कहती है कि राम के युवराज पद के उत्सव से कौसल्या को अत्यधिक गर्व हो रहा है।[606]

किसी की यदि अधिक प्रशंसा कर दी जाये तो उसका हृदय गर्व से भर जाता है। भगवान से अपनी प्रशंसा सुन नारद जी के मन में गर्व का भारी अंकुर पैदा हो गया।[607] अपने किसी गुण के कारण भी व्यक्ति को अहंकार होने लगता है। अपनी कला का घमण्ड हो सकता है, अपनी भक्ति का घमण्ड हो सकता है किसी भी विशेषता का व्यक्ति को गर्व हो सकता है।[608] असम्भव और अवांछित वस्तु यदि मिल जाये तो व्यक्ति को घमण्ड हो जाता है। नारद भगवान से रूप पाकर बहुत ही अभिमान से भर गये।[609] कभी–कभी जब व्यक्ति को दूसरे की तुलना में अधिक स्नेह दिया जाता है और उसकी बात मानी जाती है तब भी उसे घमण्ड हो जाता है।[610] जब किसी सामर्थ्यवान् के बल का आश्रय हमें मिल जाता है तो हम अपने स्वामी के बल से दर्पित होने लगते हैं। वानर लोग राम के बल से दर्पित हुए राक्षसों के झुंडों को मसले डालते हैं।[611] अस्त्र–शस्त्र सजकर सच्चे वीर को यदि कोई चुनौती दे तो उसका वीरोचित अहंकार अवश्य उत्तर देता है।[612] अहंकार का मूल कारण मोह होता है इसीलिए मूर्ख व्यक्ति को बहुत अधिक घमण्ड होता है।[613] कभी–कभी व्यक्ति बिना ही कारण के समय के दुष्प्रभाव से भी अभिमान करने लगता है। काक भुशुण्डि जी गरूड़ से कहते हैं कि कलियुग के प्रभाव से अभिमान आदि विकार सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो गये।[614] जो प्रण किया जाता है उसके पीछे व्यक्ति का सहज अभिमान होता है।[615]

तुलसी ने बताया कि किसी–किसी का स्वभाव ही अहंकार करने का होता है।[616] जो दुष्ट और मलिन मति के होते हैं वे चाहे साधना में लीन भी हो जाये लेकिन उसमें अहंकार बढ़ता ही हैं। काकभुशुण्ड़ि जी अपनी बात बताते हुए कर रहे हैं कि मैं शिव मंदिर में जाकर मंत्र जपता लेकिन मेरे हृदय में दम्भ और अहंकार बढ़ता ही गया।[617] दुष्ट व्यक्ति की बात–बात से अहंकार टपकता है।[618] वे थोड़ी सम्पदा पर भी घमण्ड करने लगते हैं।[619] धीर और बलवान वीर को लड़ने का अभिमान होता है।[620] संत पुरुषों को चाहें जितना बड़ा पद मिल जाये कभी राज्य का मद नहीं होने पाता। भरत के लिए राम कहते हैं कि भरत ब्रह्मा, विष्णु और महादेव

का भी पद पा लें तो भी उन्हें राज्य का मद नहीं होगा।[621] दैवी चेतना, परम तत्व चिदानन्द सुख का धाम मद से सर्वथा रहित होता है।[622]

अहंकार बड़ा ही प्रभावशाली संवेग है। यह व्यक्ति में जैसे ही उत्पन्न होता है, उसे विवेकहीन कर देता है। विवेकहीन होने के कारण व्यक्ति कोई भी विवेकपूर्ण विचार नहीं कर पाता।[623] और कभी-कभी अस्थायी महत्व वाली वस्तु भी माँग बैठता है। अभिमान के कारण व्यक्ति किसी की सीख नहीं सुन पाता, उस पर ध्यान नहीं दे पाता।[624] रावण इतना अधिक अभिमानी था कि उसे मंदोदरी, महोदर और माल्यवान सभी ने समझाया लेकिन उसने किसी की बात को नहीं सुना।[625] अहंकार में व्यक्ति कहने न कहने योग्य सभी बातें कहने लगता है।[626] वह मद से मतवाला हो जाता है।[627] उसे आचार-विचार कुछ नहीं रुचता है।[628] रावण ने अभिमान वश ही विभीषण को लात मारी थी।[629] अहंकार पूर्ण वचन ऐसे आघात करने वाले होते हैं, जिससे दूसरे का क्रोध उभरता है।[630] अभिमान से युक्त हृदय में ही क्रोध की ज्वाला उठती है।[631] अहंकार के कारण व्यक्ति हित-अनहित नहीं पहचान पाता।[632] वह बहुमूल्य वस्तु को भी खो देता है,[633] और सहज सुख से वंचित हो जाता है।[634] मद के कारण व्यक्ति को कभी भी परमार्थ पथ और शान्ति नहीं मिलती।[635] उसे विपरीत समय की भयकंरता नहीं दिखाई देती।[636] मद में चित्त स्थिर नहीं रहने पाता व्यक्ति का ध्यान बट जाता है, उसका राक्षसों जैसा स्वभाव हो जाता है।[637] वह आत्मीय सम्बन्धों को भूल जाता है।[638] अभिमान के कारण व्यक्ति दूसरे को दलित करने की कोशिश करता है।[639] घमण्ड में व्यक्ति अपने को सर्वज्ञ और सर्वश्रेष्ठ समझता है।[640]

अहंकार में व्यक्ति अपने सामने किसी को कुछ नहीं समझता, शत्रु को तिनके के समान समझता है, अपने बल को बहुत अधिक आंकने लगता है, अपने मत, मान्यताओं को सबसे बढ़कर समझता है।[641] अभिमानी को अपनी प्रशंसा बहुत अच्छी लगती है।[642] दर्प और शक्ति के मद में व्यक्ति ऐसा प्रदर्शन करता है मानो सम्पूर्ण विश्व को प्रभाव में लेलेगा।[643] लक्ष्मी के मद से व्यक्ति टेढ़ा चलने लगता है, दूसरों के साथ बुरा बर्ताव करने लगता है, नियमों का उल्लंघन करने लगता है।[644]

गर्व में व्यक्ति किसी के आगे झुकता नहीं है, श्रद्धा व्यक्त नहीं करता है, उसमें समर्पण का भाव नहीं जगता है।[645] जिस बात का अहंकार होता है उसे वह जगह-जगह जाकर सुनाता है,[646] अहंकार के कारण व्यक्ति उत्तम वस्तु के दोषों को खोजता है, वह शत्रु से सामना करने जाते समय अपशकुनों पर ध्यान नहीं देता वह भय को भुला देता, समीप आये संकट पर

ध्यान नहीं देता है। रावण में अहंकार का ऐसा ही प्रभाव दिखलायी पड़ता है।[647] अभिमान बीहड़ वन की भाँति है जिससे व्यक्ति बाहर नहीं निकल पाता, व्यक्ति उसमें पूरी तरह लीन हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अहंकार भी अन्य दुखात्मक संवेगों की भाँति एक हानिकारक संवेग है यह व्यक्ति को दुःख की ओर ले जताा है इससे अनेक प्रकार के क्लेश और शोक प्राप्त होते हैं। इसे नरक का रास्ता कहा गया है क्योंकि इसके कारण व्यक्ति को अशान्ति ही अशान्ति प्राप्त होती है।[648] इसके लिए कहा जाता है कि यह समस्त मानसिक रोगों की जड़ है और यह हृदय को अशुद्ध कर देता है[649] और फिर भगवत् प्रेम उत्पन्न नहीं हो पाता।[650]

तुलसी ने प्रत्येक मनुष्य को अभिमान रहित रहने की सलाह दी, क्योंकि अभिमान रहित होने पर ही व्यक्ति को अपनी तुच्छता का भान हो पाता है,[651] व्यक्ति की भेद दृष्टि समाप्त हो पाती है।[652] और चित्त उपकार में लग जाता है।[653] उसे ईश्वर की गाथा के प्रति प्रेम उत्पनन होने लगता है[654] और हृदय में सच्चा समर्पण का भाव पैदा हो जाता है।[655] दम्भ/अहंकार रहित हृदय में ही भगवान का निवास होता है,[656] किसी दिव्य भाव का उदय होता है[657] और व्यक्ति भक्ति में परायण हो[658] सच्चे सुख को प्राप्त कर पाता है।[659]

तुलसी ने बताया कि मद का त्याग किसी के प्रति लगाव के लिए बहुत आवश्यक है। जब व्यक्ति के अन्दर अहंकार नहीं होता है तभी वह किसी की छवि को नेत्र भरकर देख सकता है,[660] उसके वचनों को सुन पाता है,[661] उसके आगे झुक पाता है,[662] मद रहित होने पर ही व्यक्ति योग साधना कर पाता है,[663] सत्य बात को समझ पाता है[664] और उसे प्रभु की कृपा प्राप्त हो जाती है।[665] मद रहित होने पर ही हृदय शोभित होता है।[666]

तुलसी ने अभिमान को दूर करने में प्रभु और उनसे सम्बन्धित वस्तुओं को ही अधिक सहायक माना। उन्होंने बताया कि भगवान के सामर्थ्य से बड़ा से बड़ा मद चूर्ण हो जाता है। राम ने जनकपुर में परशुराम के गर्व को दूर किया।[667] भगवान की सामर्थ्य के अतिरिक्त प्रभु की कृपा,[668] प्रभु की दया,[669] प्रभु का प्रताप,[670] प्रभु की भक्ति,[671] प्रभु की कथा,[672] प्रभु का चरित्र,[673] प्रभु का दर्शन,[674] प्रभु के गुण[675] आदि भी चित्त के अहंकार को पूर्णरूप से नष्ट करने में सहायक होते हैं। अहंकार की निवृत्ति भगवान के प्रति सच्चे समर्पण से होती है। वैराग्य, आत्म ज्ञान होने पर भी अहंकार नष्ट हो जाता है।[676]

अपनी शक्ति/बल का अभिमान करने वाले का अभिमान पराजित होने पर ही दूर

होता है।[677] जिस कार्य का हमें गर्व है यदि उस कार्य को दूसरा बिना परिश्रम के कर डाले तो हमारा गर्व चूर्ण हो जाता है।[678] अपरिमित सम्पदा देखकर थोड़ी सम्पदा पर टिका घमण्ड दूर हो जाता है।[679] रूप का गर्व तभी टूटता है जब सामान्य व्यक्ति को अपने से अधिक रूपवान देखें।[680] हनुमान ने अशोक वन उजाड़कर, नगर को जलाकर, पुत्र को मारकर रावण के मान का मंथन किया। राम ने शिवजी के कठोर धनुष को तोड़कर राजाओं का गर्व चूर्ण किया।[681] जनकपुर का वैभव देखकर कुबेर का धन का अभिमान नष्ट हो गया।[682] गर्व चतुराई से दूर होता है।[683] सच्चा वीर रण में शत्रु के गर्व को नष्ट कर देता है।[684] मद स्थान बदलने से नहीं मन बदलने से दूर होता है।[685]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अभिमान काम, क्रोध आदि संवेगों में एक है,[686] यह प्रत्येक जीव का धर्म है।[687] मद अनुकूल परिस्थिति में ही पनपता है।[688] यह हल्केपन का द्योतक है[689] यह सभी व्यक्तियों रहता है[690] मद से रहित व्यक्ति दुर्लभ है।[691] दम्भ में बड़ी ही प्रचण्ड शक्ति होती है[692] यह बड़ा ही शक्तिशाली और दुस्तर संवेग है।[693] अभिमान कई वस्तुओं का होता है। देह का अभिमान सागर की तरह भयंकर, अथाह, अनन्त और दुस्तर होता है।[694] अभिमान अंधकार के समान होता है,[695] इसमें तीखापन होता है।[696] इसका निवास स्थान व्यक्ति का हृदय होता है। कभी-कभी गर्व का आविर्भाव गुप्त रूप से होता है।[697]

तुलसी ने अपने को तुच्छ समझने का अभिमान न त्यागने योग्य बताया है।[698] जो दर्प या अभिमान आत्मविश्वास या सच्चे अभिमान का सूचक होता है उस अभिमान को तुलसी ने सराहा है क्योंकि इस अभिमान के रहने पर ही व्यक्ति में विनम्रता आती है और वह लोकहित की भावना से युक्त हो अपने से अधिक शक्तिवान के प्रति समर्पण कर पाता।[699]

– निष्कर्ष –

प्रस्तुत अध्याय में हमने विरागात्मक संवेगों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया। विरागात्मक संवेग विकर्षण (घृणा) के विश्लेषण में हमनें पाया कि तुलसी ने दुष्टों से, दुष्प्रवृत्तियों से, भावी अनिष्ट को सूचित करने वाले व्यक्ति अथवा वस्तु से, विकर्षण के भाव का जागना माना है। 'भय' संवेग को तुलसी ने संकट की सम्भावना से उत्पन्न भाव दशा माना। उन्होंने बताया कि सामर्थ्यवान् के क्रोध से, बलवान शत्रु से, विषाद और परितापदायक वस्तु से, अनिष्ट की आशंका से सभी को भय लगता है। भय के उत्पन्न होने पर हृदय काँपने लगता है, देह की सुध-बुध

चली जाती है, व्यक्ति आँखे मूंद कर ज्यों कि त्यों बैठा रह जाता है। अपराध बोध से उत्पन्न भय में व्यक्ति संकोच करते देखा जाता है, वह चिन्तित और दुखी हो जाता है। भय में व्यक्ति सुरक्षित स्थान में छिपना चाहता है, उसके मुख से आवाज नहीं निकल पाती, उसके पैर आगे नहीं बढ़ पाते, रोमांच होने लगता हे, नेत्र आँसुओं से भर जाते हैं, वह बहुत अधीर हो जाता है। वह भयावह वस्तु के समीप अधिक देर तक रुकना नहीं चाहता। तुलसी स्वभाव और भय का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि सज्जनों को दुष्टों से, स्वार्थी/कामी को भेद के खुलने से कायरों के युद्ध से, वैराग्यवानों को दुष्प्रवृत्तियों से भय लगता है। उन्होंने बताया कि भय दुःखकारक होता है इसलिए इससे शीघ्रातिशीघ्र मुक्त होने का प्रयास करना चाहिए। सामर्थ्यवान् के प्रयास से भय का नाश होता है। जो भय दूर करता है वह श्रद्धा का पात्र होता है। दुःख के कारण के प्रति उत्पन्न होने वाला भाव 'क्रोध' है। जो हमें अथवा हमारे आत्मीय को दुःख पहुँचाये, अपमान करे उपेक्षा करे, निन्दा करे, निरस्कार करे उसके प्रति तुलसी ने अवश्य ही क्रोध का उत्पन्न होना माना है। शत्रु की ललकार भी क्रोध की जननी होती है। क्रोध के उत्पन्न होने पर हम अनेक प्रकार के कटुवचन कहते हैं, आलम्बन का अथवा स्वयं का अनिष्ट करना चाहते हैं, बहुत व्याकुल हो जाते हैं, हमारे ओंठ फड़कने लगते हैं, नेत्र लाल और भौहें टेढ़ी हो जाती हैं, विवेक रहित हो जाते हें। चरमसीमा के क्रोध में प्राण भी देना चाहते हैं। क्रोध में कभी–कभी बुरा वेश भी धारण कर लिया जाता है। क्रोध के गहने रूप वैर में शत्रु का छलकपट के द्वारा पूरी तरह नाश करने का प्रयास किया जाता है। क्रोध सदा भक्ति रहित हृदय में ही उत्पन्न होता है। जो स्वार्थी, अहंकारी तथा दानवी प्रकृति का होता है वह क्रोध न करने वाले विषय पर भी क्रोध करता है। क्रोध शत्रु की भाँति कष्टदायक संवेग है। क्रोध का नाश पूर्ण रूप से आध्यात्मिक बोध होने पर ही होता है। क्रोध उत्तर प्रति उत्तर से भड़कता है। परम सामर्थ्यवान का क्रोध तीक्ष्ण प्रभाव वाला होता है।

'दीनता' तुलसी के अनुसार वह मनोदशा है जिसमें व्यक्ति व्याकुल होकर दूसरों की सहायता चाहता है। उन्होंने बताया कि अत्यधिक दुःख में व्यक्ति दीन होता है। दीन होने पर व्यक्ति सामर्थ्यवान् की शरण स्वीकार करता है, संकोच रहित और ढीठ हो जाता है। उसकी वाणी में विनम्रता, कोमंलता तथा प्रेम का भाव दिखलाई पड़ने लगता है। वह बड़ा ही उदास और शिथिल हो जाता है। दीनता में किसी को द्रवित करने की बड़ी तीव्र शक्ति होती है।

'आश्चर्य', 'कौतूहल', 'जिज्ञासा' के विश्लेषण से निष्कर्ष निकलता है कि तुलसी ने किसी के रहस्य को न समझ पाने से उत्पन्न स्तब्धता को आश्चर्य कहा है, किसी दृश्य

आदि को देखने की उत्सुकता को कौतूहल कहा है और जानकारी प्राप्त करने की इच्छा को जिज्ञासा कहा है। तुलसी ने बताया कि आश्चर्य की अवस्था में व्यक्ति उसे देरतक देखता रह जाता है, आँखें चकाचौंध हो जातीं हैं, व्यक्ति उसी में अभिभूत हो जाता है। कौतूहल होने पर व्यक्ति किसी को देखने बड़ी उतावली से जाता है। व्यक्ति में आश्चर्य चकित होने की इच्छा होती है, लेकिन कौतूहल और जिज्ञासा को शान्त करने के लिए वह व्याकुल हो जाता है। 'अहंकार' में व्यक्ति अपने अहं की प्रतिष्ठा करना चाहता है। अहंकार के इस विस्तृत विश्लेषण से ज्ञात होता है कि तुलसी ने धन से, अधिकार से, ज्ञान से, शक्तिशाली सुन्दर देह से अहंकार का उत्पन्न होना माना है। दुष्ट और मलिन मति वाले व्यक्ति में अहंकार अवश्य ही रहता है। अहंकार के उत्पन्न होने पर व्यक्ति विवेकहीन, मतवाला, क्रोधी, राक्षसी स्वभाव का हो जाता है। अहंकार के कारण व्यक्ति किसी को कुछ नहीं समझता। तुलसी की दृष्टि में अंहकार एक हानिकारक संवेग है। यह हृदय को अशुद्ध कर देता है। अहंकार का नाश केवल भक्ति के प्रादुर्भाव से ही हो सकता है।

****

सन्दर्भात्मक टिप्पणियाँ

तृतीय अध्याय

1. चिन्तामणि भाग–1 पं0 रामचन्द्र शुक्ल पृ0– 78
2. डॉ0 जदुनाथ सिन्हाः इण्डियन साइकोलाजी भाग–2, पृ0 128
3. रस सिद्धान्त– डा0 नगेन्द्र, पृ0 250
4. An Introduction to Social Psychology-
   William Mc Dugall P.P. 47-48
5. मिलत एक दुख दारुन देहीं। 1/4/4/ मा0
6. मैना हृदयँ भयउ दुखु भारी ।
   लीन्हीं बोलि गिरीस कुमारी ।। 1/95/6/ मा0
7. 2/46/1–6/ मा0
8. अति कठिन करहिं बरजोरा ।
   मानहिं नहिं बिनय निहोरा ।।
   तम, मोह, लोभ, अहंकार ।
   मद, क्रोध, बोध रिपु मारा ।। 125/3–4/ वि0
9. काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
   तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि ।। 3/43 मा0
10. राम–विमुख सुख लह्यो न सपनेहुँ। 83/6 वि0
11. एहि पापिनिहि बूझि का परेऊ।
    छाइ भवन पर पातकु धरेऊ ।। 2/46/2 मा0
12. अवगुन मूल सूल प्रद प्रमदा सब दुख खानि। 3/44/ मा0
13. मान हिन्दी कोशः राम चन्द्र वर्म्मा (चौथा खण्ड) पृ0 196-
14. बृहत् हिन्दी कोशः पृ0 10003
15. शब्द साधनाः रामचन्द्र वर्म्मा पृ0 216
16. "कर्म" सर्ग पृ0 101–02 ("प्रसाद की भाव व्यजंना" से उद्घृत)
17. "नाट्य शास्त्र" पृ0 427–28 (प्रसाद की भाव व्यजंना से उद्घृत)

18. चिन्तामणिः पं0रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 99

19. An Introduction to Social Psychology- William Mc Dngall, M.B. F.R.S. P.P. 43

20. Great Books of the Western Wold the Great Idieas- 1 1952 P.P. 252

21. 1/224/7 मा0, 255/4 वि0, 1/19/2 कविता,

समय सिंधु गहि पद प्रभु केरे ।

छमहु नाथ सब अवगुन मेरे ।। 5/58/1 मा0, 3/12/8 मा0

22. पवन पंगु पावक पतंग-ससि दुरि गए, थके बिमान ।

जाचत सुर निमेष, सुरनायक नयन-भार अकुलान ।।

5/22/9 गीता, 5/22/5 गीता0

23. 7/70/8 मा0, 4/5/13 मा0, 2/39 मा0, 5/21/9 मा0, 5/36/4 मा0, 6/103/11 मा0, 3/27/8 मा0,

प्रनत, बंधु-भय बिकल, विभीषन, उठि सो भरत ज्यों भेट्यो ।

145/4 वि0, 134/3 वि0, 61/18 वि0, 58/12 वि0, 5/46/6 गीता0

-नाम हरे प्रहलाद बिषाद, पिता भय सांसति सागर सूको । 7/90/2 कविता, 7/111/6 कविता, 6/29/4 कविता, 6/17/2 कविता0

24. 5/1/3 कविता

25. 5/4/6 कविता

26. 1/268/1 मा0, 1/94/4 मा0, 3/16/20मा0, 5/10/ मा0, 5/53/6 मा0, 6/50/8 मा0, 2/82/5 मा0, 2/37/4 मा0

सो परि डरै मरै रजु-अहि तें, बूझै नहीं व्यवहार । 188/10 वि0, 59/10 वि0, 92/9 वि0, 50/13 वि0, 155/8 वि0, 2/82/6 मा0

27. डरपहिं धीर गहन सुधि आएँ ।

मृगलोचनि तुम्ह भीरू सुभाएँ। 2/62/4 मा0, 6/65/10 मा0

28. घोर जंतु सम पुन नरनारी ।

डरपहिं एकहिं एक निहारी ।। 2/82/6 मा0, 2/275/3 मा0, 2/65/5 मा0, 3/36/10 मा0, 7/13/1 मा0, 6/21/5 कविता, 6/51/6 मा0

29. समुझि सहमे सुठि, प्रिया तौ न आई उठि,
तुलसी बिबरन परन–तृन–साल। 3/9/13–14 गीता

30. 2/78/4 गीता

31. 2/275/3 मा0

32. सठहु सदा तुम्ह मोर मरायल। असकहि कोपि गगन पर धायल ।।
हाहाकार करत सुर भागे। खलहु जाहु कहँ मोरें आगे ।।
1/181/6 मा0, 4/19/2 मा0, 5/56/1 मा0, 6/72 मा0, 6/96/छं4 मा0, 6/34/13 मा0, 6/43/3 मा0, 6/50/4 मा0, 6/90/छं0 मा0
रजनीचर घरनि घर गर्म–अर्भक स्रावत,
सुनत हनुमान की हाँक बाँकी । 6/44 कविता

33. दास "तुलसी" सभय बदति मय नंदिनी,
"मन्दमति कंत । सुनु मंत म्हाको । 6/21 कविता, 2/28/5 मा0

34. गई सहमि सुनि बचन कठोरा ।
मृगी देखि दव जनु चहु ओरा । 2/72/6 मा0,1/183/4 मा0

35. 5/24/9 मा0, 5/10/8 मा0, 2/19/1 मा0, 2/24/1 मा0, 1/229 मा0, 5/20/3मा0

36. उहाँ निसाचर रहहिं ससंका ।
जब तें जारि गयउ कपि लंका ।। 5 /35/1 मा0

37. 6/101/10 मा0, 6/13ख मा0

38. 5/35/1 मा0, 5/36/4 मा0, 6/319 मा0, 3/1/3 मा0

39. 6/95/6 मा0, 6/75/13 मा0, 6/98/2 मा0, 1/83/8 मा0, 6/15/4 मा0

40. 3/27/2 मा0, 2/13 मा0, 2/158 मा0, 1/50/3 गीता, 5/ 15/7 गीता

41. कोलाहलु सुनि सीय सकानी ।
सखीं लवाइ गई जहँ रानी । 1/266/5 मा0

42. सासु सकल जब सीयँ निहारीं ।
मूदे नयन सहमि सुकुमारीं ।। 2/245/4 मा0

43. बहुरि मातु तहवाँ चलि आई ।
भोजन करत देख सुत जाई ।।
गै जननी सिसु पहिं भयभीता ।
देखा बाल तहाँ पुनि सूता ।। 1/200/4–5 मा0

44. डरपत हौ साँचे सनेह बस सुत–प्रभाव बिनु जाने। 1/50/3 गीता

45. किलकि किलकि नाचत चुटकी सुनि, डरपति जननि पानि छुटकाये। 1/32/10 गीता

46. 1/95/4 गीता0

47. अस कौतुक करि राम सर प्रबिसेउ आई निषंग ।
रावन सभा ससंक सब देखि महा रस भंग ।। 6/13 ख मा0 6/88/ छं0 मा0, 7/79/1 मा0

48. पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु गवहि जोहारहिं जाहिं ।
भरत कुसल पूँछि न सकहिं भय विषाद मन माहिं।। /2/158/ मा0

49. 2/24/1 मा0

50. 2/72/8 मा0

51. सखीं कहहिं प्रभु पद गहु सीता ।
करति न चरन परस अति भीता ।। 1/264/8 मा0

52. 1/60/8 मा0, 2/16/3 मा0

53. तुम्ह पूँछहु मैं कहत डेराऊँ ।
धरेहु मोर घरफोरी नाऊँ ।। 2/16/3 मा0

54. नाथ एक संसउ बड़ मोरें ।
करगत बेदतत्व सब तोरें ।।
कहत सो मोहि लागत भय लाजा ।
जौं न कहउँ बड़ होइ आकाजा ।।. 1/44/7–8 मा0

55. 2/122/5 मा0, 1/266/8 मा0, 1/233/5 मा0, 1/224/6 मा0, 1/55/9 गीता0, 1/72/13 गीता0

56. चापत चरन लखनु उर लाएँ ।
सभय सप्रेम परम सचु पाएँ ।। 1/225/7 मा0

57. पद– राग जाग चहौं, कौसिक ज्यों कियो हौं ।
कलि– मल खल देखि भारी भीति मियो हौं ।। 181/6 वि0, 155/6 वि0, 250/14 वि0

58. 122/6 वि0

59. 5/6/6 गीता0

60. ठाढ़े हैं लषन कमलकर जोरे ।
उर, धकधकी, न कहत कुछ सकुचानि, प्रभु परिहरत सबनि तृन तोरे। 2/11/1–2 गीता

1 1/85/12 गीता

62. 1/32/ गीता0

63. 2/78/4 गीता0, 1/6/33 गीता0

64. 5/45/6 गीता0, 223/7 वि0

65. 1/4/8 गीता0, 1/6/33 गीता0

66. 7/151/5 कविता0, 45/1 वि0

67. 5/3/3 कविता0

68. 1/4/1 कविता0

69. 266/6 वि0, 141/2 वि0, 186/2 वि0, 270/5 वि0

70. 1/201/7 मा0

71. 1/173/8 मा0

72. बहु छल बल सुग्रीव कर हियँ हारा भय मानि ।
मारा बालि राम तब हृदय माझ सर तानि ।। 4/8 मा0

73. कैकय सुता सुनत कटु बानी ।
कहि न सकइ कछु सहमि सुखानी ।।
तन पसेउ कदली जिमि काँपी ।
कुबरी दसन जीभ तब चाँपी ।। 2/19/1-2 मा0

74. सोइ रघुवर सोइ लछिमन सीता ।
देखि सती अति भई सभीता ।। 1/54/3 मा0

75. अपभयँ कुटिल महीप डेराने ।
जहँ तहँ कायर गवँहि पराने ।। 1/284/8 मा0

76. हाहाकार भयउ जग भारी ।
डरपे सुर भए असुर सुखारी ।। 1/86/7 मा0

77. 4/ सो0 /3 मा0

78. संकर उर अति छोभु सती न जानहिं मरमु सोई ।
तुलसी दरसन लोभु मन डरु लोचन लालची ।। 1/48 ख/ मा0

79 2/115/6 मा0

80. 1/124/8 मा0, 1/284/8 मा0

81. क्रोध वंत तब रावन लीन्हिसि रथ बैठाइ ।
चला गगन पथ आतुर भयें रथ हाँकि न जाइ ।। 3/28/ मा0

82. 2/301/5 मा0

83. 250/16 वि0, 256/7 वि0, 276/10 वि0, 251/6 वि0, 263/6 वि0, 262/5 वि0

84. 2/209/2 मा0, 2/241/6 मा0

85. हृदय कंप तन सुधि कछु नाहीं ।
नयन मूदि बैठीं मग माहीं ।। 1/54/6 मा0

86. 1/55/ मा0

87. सुनि नभगिरा सती उर सोचा ।

88. बोली सती मनोहर बानी ।
भय संकोच प्रेम रस सानी ।। 1/60/8 मा0

89. 1/67/1 – 1/70/8 मा0

90. भागि भवन पैठीं अति त्रासा ।
गए महेसु जहाँ जनवासा ।। 1/95/5 मा0

91. देखत भृगुपति बेषु कराला ।
उठे सकल भय बिकल भुआला ।।
पितु समेत कहि कहि निज नामा ।
लगे करन सब दंड प्रनामा ।। 1/268/1–2 मा0

प्रनत, बंधु–भय–बिकल, उठि सों भरत ज्यों भेट्यो । 145/3 वि0, 166/13 वि0
91/8 वि0, 134/3 वि0, 1/4/8 गीता0,

92. 1/268/4 मा0

93. अति डरु उतरु देत नृपु नाहीं ।
कुटिल भूप हरषे मन माहीं ।। 1/269/5 मा0

94. भृगुपति कर सुभाउ सुनि सीता ।
अरध निमेष कलप सम बीता ।। 1/269/8 मा0

95. अनुचित कहि सब लोग पुकारे ।
रघुपति सयनहिं लखनु नेवारे 1/275/8 मा0

96. 1/86/6 मा0

97. मुनि गति देखि सुरेस डेराना ।
कामहि बोलि कीन्ह सनभाना ।।
सहित सहाय जाहु मम हेतु ।
चलेउ हरषि हियँ जलचर केतू ।। 1/124/5–6 मा0

98. सहित सहाय समीत अति मानि हारि मन मैन ।

गहेसि जाइ मुनि चरन तब कहि सुठि आरत बैन ।। 1/126/ मा0, 1/23/8 गीता0

99. सभय रानि कहसि किन कुसल रामु महिपालु ।

लखनु भरतु रिपुदमनु सुनि भा कुबरी उर सालु ।। 2/13 मा0

100. कैकय सुता सुनत कटु बानी ।

कहि न सकइ कछु सहमि सुखानी ।।

तन पसेउ कदली जिमि काँपी ।

कुबरीं दसन जीभ तब चाँपी ।। 2/1921-2 मा0

101. परउँ कूप तुअ बचन पर सकउँ पूत पति त्यागि ।

कहसि मोर दुखु देखि बड़ कस न करब हित लागि ।। 2/21/ मा0

102. 2/24/1-3 मा0

103. गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा ।

जनु सचान बन झपटेउ लावा ।।

बिबरन भयउ निपट नरपालू ।

हनेउ मनहुँ तरु तालू ।। 2/28/4-5 मा0

104. 2/36/3 मा0

105. सहमि सूखि सुनि सीतलि बानी ।

जिमि जवास परें पावस पानी ।।

कहि न जाइ कछु हृदय बिषादू ।

।। 2/53/3-4मा0

106. कंप तन नयन सनीरा ।

गहे चरन अति पुलक अधीरा ।। 2/69/2 मा0

107. 2/75 मा0

108. काल, लोकपाल मेरे डर डॉवाडोल हैं । 5/21/2 कविता, 6/43/5 कविता

109. –कछु मारेसि कछु जाइ पुकारे । 5/17/2 मा0

–दास तुलसी प्रणत भय– तमारी । 26/18 वि0, 94/4 वि0, 91/8 वि0, 138/7 वि0, 219/5 वि0, 207/5 वि0

–मनहुँ उभय अंमोज उ न सों विधु–मय विनय करत अति आरत । 1/23/8 गीता0, 5/32/5 गीता0, 7/111/6 कविता0

110. कर जोरें सुन दिसिप विनीता ।

भृकुटि बिलोकत सकल समीता ।।   5/19/7   मा0

111. – भाजे बीर धीर, अकुलाइ उठ्यो रावनो ।

"धाओ–धाओ धरो" सुनि धाए जातु धान धारि ।   5/8/1–2   कविता0

– परे पाइमाल जात, भ्रात ! तूँ निबाहि रे ।   5/16/4   कविता

– लपट–झपट झहराने हहराने बात,

भहराने भर परयो प्रबल परावनो ।   5/8/5–6 कविता,   6/8/6 कविता,

6/9/7 कविता, 5/25/3 मा0, 6/46/ मा0, 6/49/7 मा0

112. 5/9/5–8 कविता0

113. निसिचर निकर देखि   भारी ।

जहँ तहँ चले न सकहिं पुकारी ।।   6/17/6   मा0

114. जाकें डर सुर असुर   डेराहीं ।

निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं ।।   3/27/8   मा0.

115. देखहिं राति भयानक सपना ।

जागि करहिं कटु कोटि कलपना ।।

बिप्र जेवाँइ देहिं दिन दाना ।

सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना ।।

भागहिं हृदयँ महेस मनाई ।

कुसल मातु पितु परिजन भाई ।।   2/156/6–8   मा0

116. 2/157/2   मा0

117. तव सोनित की प्यास तृषित राम सायक निकर ।

तजउँ तोहि तेहि त्रास कटु जल्पक निसिचर अधम ।।   6/33 (ख)   मा0,

5/15/3   मा0

118. 7/42/6 मा0, 5/37 मा0, 1/257/3 मा0

119. 6/66/6 मा0

120. 6/40/3 मा0

121. सो परि डरैं मरैं रजु अहि तें ।   188/10 वि0

122. 34/5 वि0, 256/7 वि0

123. करभ, काल, सुभाउ गुन–दोष जीव जग माया ते,

सो सभै भौंह चकित चहति ।   246/10   वि0

124. तुलसिदास यहि त्रास जानि जिय, बरु दुख सहौं,
प्रगट कहि न सकति । 5/9/8

125. 5/22/13 गीता0

126. 92/1 वि0

127. 1/137/ मा0

128. पावक, पवन, पानी, भानु, हिमवानु, जमु, कालु, लोक पाल मेरे डर डाँवाडोल हैं।
5/21/1–2 कविता

129. मंद जन–मौलिमनि सकल, साधन–हीन,
कुटिल मन, मलिन जिय जानि जो डर हुगे । 211/1 –1 वि0, 260/4 वि0,

130. 1/124/2 मा0

131. अपमयँ कुटिल महीप डेराने । 1/284/8 मा0 3/23/8 मा0

132. जहँ तहँ कायर गवँहि पराने । 1/284/8 मा0

133. बाजहिं भेरि नकीरि अवारा ।
सुनि कादर उर जाहिं दरारा ।। 6/87 मा0, 6/86/10 मानस, 6/49/6 कविता,

134. सिय बन बसिहि "तात केहि भाँती ।
चित्र लिखित कपि देखि डेराती । 2/59/4 मा0

135. 6/29/8 मा0

136. मंगल महुँ भय अति काचा । 5/36/2 मा0

137. 7/115/5 मा0, 1/201/2 मा0

138. 1/94/5 मा0

139. 247/12 वि0

140. 70/4 वि0

141. जागैं जोगी जंगम, जती जमाती ध्यान धरैं,
डरै उर भारी लोभ मोह कोह काम के । 7/109/1–2 कविता

142. 1/166/4 कविता

143. 7/174/3 कविता

144. 7/111/2 मा0

145. एहि विधि करत विनोद बहु प्रात प्रगट दसकंध ।

सहज असंक लंकपति सभा गयउ मद अंध ।। 6/16 का मा0, 4/26/11 मा0

6/4/10/ मा0, 3/28/11 मा0

146. श्रवन सुनी सठ ता करि बानी ।

बिहसा जगत बिदित अभिमानी ।। 5/36/1 मा0, 6/10 मा0, 5/3/2 मा0

तुलसी कहत हित, मानतो न नेकु संक,

मेरो कहा जैहै, फल पैहै तू कुचालिको ।। 6/11/5-6 कविता0

147. 6/13/3 मा0, 5/56/1 मा0, 6/5/1 मा0

148. 7/39/1 मा0, 7/172/6 कविता0

149. 6/78/छ./3 मा0, 5/16/8 मा0, 3/18/10 मा0, 6/35/4 मा0, 6/7/4 मा0,

25/9 वि0

150. 143/3 वि0

151. 167/9 वि0, 7/20/1 मा0

152. 2/118/3 मा0

153. सम अभूत रिपु बिमद बिरागी ।

लोभामरष हरष भय त्यागी ।। 7/37/2 मा0, 6/10 मा0, 5/19/8 मा0

5/20/2 मा0, 1/277/6 मा0

154. 7/45/5 मा0, 5/45/3 मा0, 5/43/6 मा0

155. 1/283/ मा0

156. 6/95/छं० मा0, 6/17/2 मा0

157. देखि प्रताप न कपि मन संका ।

जिमि अहिगन महुँ गरूड़ असंका । 5/19/8 मा0

158. 3/18/10 मा0

159. 2/210/5 मा0

160. 2/210/5 मा0

161. कहउँ सुभाउ न कुलहि प्रसंसी ।

कालहु डरहिं न रन रघुवंसी ।। 1/283/4 मा0

162. 1/284/8 मा0

163. 5/56/1 मा0

164. 5/36/1 मा0

165. 7/102/3 कविता0

166. 7/102/3 कविता0

167. 7/77/5 कविता0

168. डहकि डहकि परिचेहु सब काहू ।
अति असंक मन सदा उछाहू ।। 1/136/3 मा0, 2/241/6 मा0

169. बैर न बिग्रह आस न त्रासा ।
सुखमय ताहि सदा सब आसा ।। 7/45/5 मा0

170. सैल बिसाल देखि एक आगें ।
ता पर धाइ चढ़ेउ भय त्यागें ।। 5/2/8 मा0

171. तदपि है निडर हौं कहौं करुना–सिंधु,
क्यों डब रहि जात सुनि बात बिनु हेरे । 210/6–7 वि0

172. 46/18 वि0

173. जौं अनीति कछु भाषौं भाई ।
तौ मोहि बरजहु भय बिसराई ।। 7/42/6 मा0

174. 3/28/ मा0

175. 7/22/3 मा0

176. सभय देव करुनानिधि जान्यो ।
श्रवन प्रजंत सरासनु तान्यो ।। 6/70/1 मा0

177. 7/183/7 कविता0, 7/152/1 कविता0

178. सेष सहस्त्र सीस जग कारन ।
जो अवतरेउ भूमि भय टारन ।।
सदा सो सानुकुल रह मो पर ।
कृपा सिंधु सौमित्रि गुनाकर ।। 1/16/7 मा0, 5/21/8 मा0, 5/44/4 मा0,
7/51/9 मा0, 7/91/क0 मा07/34/5 मा0, 5/42/8 मा0
– दास तुलसी त्रास शमन सीता रमण संग शोभित राम–राजधानी । 25/18 वि0
26/18 वि0, 166/8 वि0

179. जद्यपि द्रोह कियो सुनपति सुत, कहि न जाय अति भारी ।
सकल लोक अवलोकि सोकहत, सरन गये भय टारी ।। 166/7–8 वि0,
144/2 वि0,

180. राहु–रवि–शुक्र पवि–गर्व–खर्वीकरण शरण भय हरण जय भुवन भर्त्ता । 25/4 वि0
26/18 वि0, 13/9 वि0

181. 1/22/36 गीता0, 1/25/8 गीता0

182. 7/16/11 गीता0, 7/12/14 गीता0, 5/37/2 गीता0, 189/10 वि0,

183. 1/22/36 गीता0

184. 1/25/24 गीता0

185. 1/30/8 मा0, 7/14/6 मा0, 1/23/6 मा0, 7/90/2 कविता0

186. तुलसिदास जो रहौं मातु–हित, को सुर–बिप्र–भूमि–भय टारे । 2/2/10 गीता0

187. सोचैं सब याके अध कैसे प्रभु छमिहै ।
मेरे तौ न डरु रघुबीर।सुनौ साँची कहौ ।। 7/71/4–5 कविता0, 3/13/1 मा0, 4/3/3 मा0, 7/65/2 मा0

188. 7/142/1–2 कविता0

189. 63/17 वि0, 143/16 वि0

190. सुभग सेज सोवत सपने, बारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिहुँ नाव न पार पाव सो, जब लगि आपु न जागै ।। 121/5–6 वि0

191. 136/10/1 वि0

192. 181/7 वि0, 43/16 वि0

193. 7/91/क मा0, 7/14/1 मा0

194. 6/3/6 मा0

195. 3/28/9 मा0

196. जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा ।
तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा ।। 1/186/1 मा0, 5/45/10 गीता0

197. सब बिधि सानुकूल लखि सीता ।
मे निसोच उर अपडर बीता ।। 2/241/6 मा0

198. 1/283/5 मा0

199. 1/38/8 गीता0

200. 7/3/11 गीता0

201. 2/14/4 गीता0

202. 3/29/13 मा0

203. गूलरि फल समान तव लंका ।
बसहु मध्य तुम्ह जंतु असंका ।। 6/33/3 मा0

204. 7/20 मा0

205. 7/22/3 मा0
206. 6/84/5 मा0
207. 6/58/8 मा0
208. 6/108/6 मा0
209. 7/111/छं0/16 मा0
210. 6/19/8 मा0
211. 5/8/3 मा0
212. 3/27/11 मा0
213. 1/165/8 मा0
214. 4/18 मा0
215. 3/16/20 मा0
216. 2/81/3 मा0
217. 1/48 ख मा0
218. 5/57 मा0
219. 1/283/4 मा0
220. 1/186/ मा0, 3/16/20 मा0
221. 6/3/6 मा0
222. 1/186/9 मा0, 3/20/1 मा0, 3/36/5 मा0, 6/95/छं०–1 मा0
223. 1/16/7 मा0, 1/185/छं०·3/3 मा0, 6/70/1 मा0
224. 1/285/4 मा0, 7/91 क मा0
225. 7/121/1 मा0
226. चिन्तामणि भाग–1: आ0 रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 105
227. मानक हिन्दी कोश: पहला खण्ड, पृ0– 607
बृहत हिन्दी कोश: पृ0– 326
228. An Introduction to Social Psychology: William Mc Dugall पृ0 51
229. चिन्तामणि : भाग– 1
230. शब्द साधना : रामचन्द्र वर्म्मा, पृ0– 302
231. – सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा ।
करिहउँ जातुधान कर नासा ।।

धावा क्रोधवंत खग कैसें ।

छूटइ पवि परबत कहुँ जैसें ।। 3/28/9-10 मा0

– करुना-कोप-लाज-भय-भरों कियो गौन,

मौन ही चरन कमल सीस नायो । 5/15/7 गीता0

1/4/22 गीता0, 1/45/8 मा0, 1/64/1 मा0, 6/90/8 मा0, 6/84/छं0मा0,

, 6/94/छं0/3 मा0, 3/28/10 मा0

– भूमिजा-दु:ख संजात-रोषांतकृत जातना जंतु कृत जातुधानी । 29/8 वि0

232. – उग्यौ न धनु, जनु बीर बिगत महि, किधौं कहुँ सुभट दुरे ।

रोषे लखन बिकट भकुटी करि, भुज अरु अधर फुरे ।। 1/89/14 गीता0,

1/89/7 गीता0, 5/3/4 गीता0, 1/84/34 गीता0,

– सुनि अंगद सकोप कह बानी ।

बोलु सँभारि अधम अभिमानी ।। 6/25/1 मा0, 1/253/1 मा0, 1/251/8 मा0

1/267/ मा0, 1/62/8 मा0, 6/31/1 मा0, 6/93/4 मा0,

– अस कहि दोउ भागे भँय भारी ।

बदन दीख मुनि बारि निहारी ।।

बेषु बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा ।

तिन्हहि सराप दीन्ह अति गाढ़ा ।। 1/134/7-8 मा0,

1/135/6 मा0, 1/133/8 मा0,

233. सुनत बचन उपजा अति क्रोधा ।

माया बस न रहा मन बोधा ।। 1/135/6 मा0

सुनि सकोप कह निसिचर नाथा ।

अधर दसन दीस मीजत हाथा ।। 6/30/6 मा0, 3/28 मा0, 3/28/15 मा0

7/106 ख मा0, 6/32 ख मा0, 2/228/4 मा0, 1/262/ मा0, 1/63/ मा0,

1/19/3 कविता0

234. 1/89/10 गीता0

235. 1/ 4/22 गीता0

236. –दसमुख देखि सिरन्ह कै बाढ़ी ।

बिसरा मरन भई रिस गाढ़ी ।। 6/92/1 मा0, 1/269/ मा0,

1/292/1 मा0, 5/27/8 मा0

–बखसीस ईस जू की खीस होत देखियत,

रिस काहें लागति कहत हौं तो तेरी सी ।   6/10/4 कविता0

237.   –सुनहु तात! कोउ तुम्हहि पुकारत प्रान नाथ की नाईं।

कह्यो लषन, हत्यो हरिन, कोपि सिय हठि पठयो बरिआई ।।   3/6/4 गीता0

–सुनि सत्रुघन मातु कुटिलाइ ।

जरहिं गात रिस कछु न बसाई ।।   2/162/1 मा0, 2/171/1 मा0,

1/280/5 मा0, 7/108/3 मा0, 1/86/5 मा0, 3/28/मा0, 252/18 वि0

238.   बार–बार मुनि बिप्रवर कहा राम सुन राम ।

बोले भृगु पति सरुष हसि तहूँ बंधु सम बाम ।।   1/282/ मा0, 1/123/ मा0

1/173/ मा0

239.   सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी ।

पावा राज कोस पुर नारी ।।

जेहिं सायक मारा मैं बाली ।

तेहि सर हतौं मूढ़ कहँ काली ।।   4/17/4–5   मा0

240.   7/111 क मा0, 7/110/14 मा0, 7/111/12 मा0

241.   प्रभु तब मोहि बहु भाँति प्रबोधा ।

नाथ सो समुझि करहु जनि क्रोधा ।।   1/108/6 मा0

242.   गुर नित मोहि प्रबोध दुखित देखि आचरन मम ।

मोहिं उपजइ अति क्रोध दंभिहि नीति कि भावई ।।   7/105 ख   मा0

243.   सुनु प्रभु बहुत अवग्या किएँ ।

उपज क्रोध ग्या–निन्ह के हिएँ ।।   7/110/15 मा0

244.   1/282 मा0, 6/23 ख मा0, 6/30/6 मा0, 6/41/9 मा0, 6/73/4 मा0,

4/6/27 मा0, 6/84/छं०मा0, 6/85 मा0, 6/2/10 गी0

245.   तब सक्रोध निसिचर खिसिआना ।

काढ़ेसि परम कराल कृपाना ।।   3/28/21 मा0, 6/100/छं–4 मा0

246.   फिरत बिपिन नृप दीख बराहू ।

जनु बन दुरेउ ससिहि गुसि राहू ।।

बड़ बिधु नहिं समात मुख माहीं ।

मनहुँ क्रोध बस उगिलत नाहीं ।।   1/155/6 मा0

247. सखिन्ह सिखाबनु दीन्ह सुनत मधुर परिनाम हित ।
तेई कछु कान न कीन्ह कुटिल प्रबोधी कूबरी ।। 2/50
उतरू न देउ दुसह रिस रुखी ।
मृगिन्ह चितव जनु बाधिनि भूखी ।। 2/50/-1 मा0, 1/280 मा0

248. निज दल बिकल सुना हनुमाना । पच्छिम द्वार रहा बलवाना ।
मेघनाद तहँ करई लराई । टूट न द्वारा परम कठिनाई ।
पवन तनय मन भा अति क्रोधा । गर्जेउ प्रबल काल सम जोधा ।। 6/42/3-5 मा0
6/82/ मा0, 6/68/2 मा0, 6/97/15 मा0, 6/65/9 मा0, 6/97/1 मा0,

249. 6/66/1 मा0, 6/80/8 मा0, 6/52 मा0, 6/69/6 मा0, 6/43/1 मा0,
1/208/5 मा0, 1/180/4 मा0, 1/95/1 गीता0,

250. निज दल बिचल सुनी तेहि काना ।
फेरि सुभट लंकेस रिसाना ।। 6/41/6 मा0

251. 6/18/8 मा0, 6/5/4 मा0,

252. 1/96/19 गीता0

253. 1/84/24 गीता0

254. कुलहि लजावैं बाल, बालिस बजावैं गाल,
कैधौं कूर काल बस, तमकि त्रिदोषे हैं । 1/95/7 गीता0, 139/4 वि0

255. 1/133/8 मा0

256. 4/17/8 मा0

257. 1/3/8 मा0

258. 159/8 वि0

259. 250/1 वि0

260. 145/7 वि0

261. 7/118/2 कविता0

262. 7/163/7 कविता0, 7/183/3 कविता0

263. इहाँ अर्धनिसि रावनु जागा ।
निज सारथि सन खीझ़ लागा ।। 6/99/6 मा0

264. बिप्र-द्रोह जनु बाँट परयो, हठि सबसों बैर बढ़ावौं ।। 142/15 वि0

265. सिव अपमानु न जाई सहि हृदयँ न होई प्रबोध ।
सकल सभहिं हठि हटकि तब बोलीं बचन सक्रोध ।। 1/63/ मा0

अस कहि जोग अगिनि तनु जारा ।
भयउ सकल मख हाहाकारा ।।   1/63/8 मा0

266. सौरभ पल्लव मदनु बिलोका ।
भयउ कोपु कंपेउ त्रैलोका ।।
तब सिवँ तीसर नयन उघारा ।
चितवत कामु भयउ जरि छारा ।।   1/86/5-6 मा0

267. बेषु बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा । तिन्हहि सराप दीन्ह अति गाढ़ा ।।
× × × ×
पुनि जल दीख रूप निज पावा । तदपि हृदयँ संतोष न आवा।।
फरकत अधर कोप मन माहीं । सपदि चले कमलापि पाहीं।।
देहउँ श्राप कि मरिहउँ जाई । जगत मोरि उपहास कराई ।।
× × × ×
सुनत बचन उपजा अति क्रोधा । माया बस न रहा मन बोधा ।।
पर संपदा सकहु नहिं देखी । तुम्हरें इरिषा कपट बिसेषी ।।
× × × ×
बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा । सोइ तनु धरहु श्राप मम एहा।।
1/134/8-1/136/6 मा0

268. 1/137/2- 1/137/4 मा0

269. 1/156/ - 1/157/8 मा0

270. जनक बचन सुनि सब नर नारी । देखि जानकि हि भए दुखारी ।।
माखे लखनु कुटिल भइँ भौंहें । रदपट फरकत नयन रिसौंहें ।।
कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान ।
नाइ राम पद कमल सिरु बोले गिरा प्रभान ।।   1/251/7-1/253/1 मा0

तुलसी लखन माषै, रोषे, राखे रामरूख ।
भाषे मृदु परुष सुभायन रिसाइकै ।।   1/84/35 गीता0

271. सुनत बचन फिरि अनत निहारे ।
देखे चापखंड महि डारे ।।
अति रिस बोले बचन कठोरा ।
कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा ।।   1/269/2-3 मा0

272. सुनहु राम जेहिं सिवधनु तोरा ।
सहस बाहु सम सो रिपु मोरा ।।

सो बिलगाउ बिहाइ समाजा ।

न त मारे जैहहिं सब राजा ।। 1/270/4-5 मा0

273. एहिं धनु पर ममता केहि हेतू ।

सुनि रिसाइ कह भृगुकुल केतू ।।

रे नृप बालक काल बस बोलत तोहि न सँभार।

धनुही सम तिपुरारि धनु बिदित सकल संसार।।

छुअत टूट रघुपतिहु न दोसू । मुनि बिनु काज करिअ कत रोसू ।।

बोले चितइ परसु की ओरा ।

रे सठ सुनेहि सुभाउ न मोरा ।। 1/270/8 – 1/271/4 मा0

274. तुम्ह हटकहु जौं चहहु उबारा ।

कहि प्रतापु बलु रोषु हमारा ।। 1/273/4 मा0

275. 2/24/6 मा0

276. एहि बिधि राउ मनहिं मन झाँखा ।

देखि कुभाँति कुमति मन माखा ।।

भरत कि राउर पूत न होंही ।

आनेहु मोल बेसाहि कि मोही । 2/29/1-2

आगें दीखि जरत रिस भारी ।

मनहुँ रोष तरवारि उघारी ।। 2/30/1 मा0

277. अब तोहि नीक लाग करु सोई ।

लोचन ओट बैठ मुहु गोई ।।

जब लगि जिऔं कहउँ कर जोरी ।

तब लगि जनि कछु कहसि बहोरी ।। 2/35/6-7 मा0

278. धीरज धरि भरि लेहिं उसासा ।

पापिनि सबहिं भाँति कुल नासा ।

जो हसि सो हसि मुहँ मसि लाई ।

आँखि ओट उठि बैठहि जाही ।। 2/160/6 – 2/161/8 मा0

279. तैसेहिं भरतहि सेन समेता ।

सानुज निदरि निपातउँ खेता ।। 2/229/7 मा0

280. खरदूषन पहिं गइ बिलपाता ।

धिग धिग तव पौरुष बल भ्राता ।। 3/17/2 मा0

281. 3/16/19 मा0

282. 3/17/8-10 मा0

283. सावधान होइ धाए जानि सबल आराति ।

लागे बरषन राम पर अस्त्र सस्त्र बहु भाँति । 3/19 क / मा0

× × × ×

भट कटत तन सत खंड ।

पुनि उठत करि पाषंड ।।

नभ उड़त बहु भुज मुंड ।

बिनु मौलि धावत रुंड ।। 3/19/11-12 मा0

284. हरि हउँ नारि जीति रन दोऊ ।। 3/22/6 मा0

285. रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी ।

हेरि लीनहेसि सर्बसु अरु नारी ।। 4/5/11 मा0

286. बिटप ओट देखहिं रघुराई।

मारा बालि राम तब हृदय माझ सर तानि । 4/7/8-4/8 मा0

287. लाज तोरि, साजि साज राजा राढ़ रोष हैं ।

कहा भौ चढ़ाए चाप, व्याह द्वै है बड़ खाए,

बौलैं, खोलैं सेल, असि चमकत चोखे हैं ।। 1/95/1-3 गीता0

288. 1/157/- 1/173 मा0

3/6/2 गीता0

289. भले ठौर हठि बैर बढायो । 6/4/5 गीता0

290. 137/1-2 वि0

291. 6/36/6 मा0

292. 2/292/8 मा0

293. 6/89/7 मा0

294. 6/90 मा0

295. अति कोप सें रोप्यो है पॉव सभा, सब लंक ससंकित सोरु मचा । 6/15/1 कविता

6/22/4 कविता0, 6/21/3 कविता0

296. रोष्यो रन रावन, बोलाए बीर बनाइत,

जानत जे रीति सब संजुग समाज की ।। 6/30/1-2 कविता0

297. 'तुलसी' तमकि ताकि भिरे भारी जुद्ध क्रुद्ध,

सेनप सराहैं निज निज भट भीर के । 6/31/5-6 कविता0, 6/7/7 कविता0, 6/15/2 कविता0

298. राम सोहाते तोहिं जौ तू सबहिं सोहातो ।
काल करम कुल कारनी कोऊ न कोहातो ।। 151/8 वि0

299. मान मन भंग, चितभंग मद, क्रोध–लोभादि पर्वत दुर्ग, भुवन–भर्ता । 60/11 वि0

300. 31/1 वि0

301. यातुधानोद्धत – क्रुद्ध – कालाग्निहर । 27/4 वि0 5/12/1 गीता0

302. 193/3 वि0, 139/16 वि0, 94/8 वि0, 241/3 वि0

303. 5/22/10 गीता

304. 6/97/15 मा0, 3/19/2 मा0, 6/102/1 मा0, 1/86/2 मा0

305. 6/86/8 मा0, 1/279/1 मा0, 6/74ख मा0, 6/31/8 मा0, 6/68/3 मा0

306. 1/278/5 मा0, 1/86/6 मा0, 6/30/5 मा0, 1/45/8 मा0, 1/64/1 मा0

307. 1/173 मा0, 6/97/9 मा0

308. 6/33/8 मा0, 2/229/7 मा0

309. 6/92/3 मा0

310. 1/251/8 मा0, 1/267 मा0, 6/30/7 मा0, 1/135/2 मा0, 2/228/4 मा0,
1/267/6 मा0, 1/251/8 मा0, 2/24/छं0/2 मा0

311. 7/120/30 मा0, 1/279/1 मा0, 2/162/1 मा0, 7/69/8 मा0

312. 2/50/1 मा0, 2/39/1 मा0

313. 2/39/2 मा0, 2/50/1 मा0

314. 5/57/4 मा0

315. 6/97/8 मा0

316. 3/28/15 मा0, 1/135/6 मा0

317. 4/14/4 मा0

318. 173/7 वि0, 155/6 वि0, 205/4 वि0

319. मान मन भंग, चित भंग मद, क्रोध लोभादि पर्वत दुर्ग, भुवन भर्ता ।
द्वेष–मत्सर–राग प्रबल प्रत्यूह प्रति, भूरि निर्दय, क्रूर कर्म कर्त्ता ।। 60/11–12 मा0
143/6 वि0

320. तामस बहुत रजोगुन थोरा ।
कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा ।। 7/103/5 मा0

321. रोष–रासि भृगुपति धनी अहमिति ममता को । 152/7 वि0
स्वारथ रत परिवार बिरोधी । लंपट काम लोभ अति क्रोधी ।। 7/39/4 मा0
सरिस–सुमन–सुकुमार कुँवर दोउ, सूर सरोष सुरारी । 1/100/3 गी0

322. सोचिअ पिसुन अकारन क्रोधी ।
जननि जनक गुर बंधु बिरोधी ।। 2/172/2 मा0, 7/101/3 मा0, 6/103/छं० मा0

323. यह खल मलिन सदा सुरद्रोही ।
काम लोभ मद रत अति कोही ।। 6/109/9 मा0

324. 220/6 वि0

325. 1/282/7 मा0, 6/56 मा0

326. गुरनित मोहि प्रबोध दुखित देखि आचरन मम ।
मोहि उपजइ अति क्रोध दंमिहि नीति कि भावई ।। 7/105ख मा0

327. 49/2 वि0

328. 1/30/8 गी0

329. अनारंभ अनिकेत अमानी । अनघ अरोष बिग्यानी ।। 7/45/6 मा0, 2/165/1 मा0,
4/17/6 मा0, 100/4 वि0, 7/136/7 कविता

330. जद्यपि तव गुर के नहिं क्रोधा । अति कृपाल चित सम्यक बोधा ।। 7/106ख/2,
7/105/8 मा0, 6/23/8 मा0, 2/259/5 मा0, 7/106ख मा0, 2/217/4 मा0
वेद बिरुद्ध, मही मुनि साधु ससोक किए सुरलोक उजारो ।
और कहा कहौं तीय हरी, तबहू करुनाकर कोप न धारो ।। 7/3/2 कविता,
7/6/4 कविता

331. धावा क्रोधवंत खग कैसे ।
छुरइ पवि परबत कहुँ जैसे ।। 3/28/10 मा0

332. 1/277 मा0, 58/8 वि0

333. 3/42/9 मा0, 187/3 वि0.

334. काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ ।
सब परिहरि रघुबीरहिं भजहु भजहिं जेहिं संत ।। 5/38 मा0, 125/4 वि0

335. 3/28/3मा0, 6/4/5 गीता

336. 7/73क मा0

337. 1/266/2 मा0

338. 4/14/4 मा0, 1/340/5 मा0, 1/25/22 गीता

339. काम,क्रोध,मद,लोभ मिलि ग्यान बिराग हरो सो । 173/7 वि0
जो मन भज्यौ चहै हरि–सुरतरु ।
काम–क्रोध अरु लोभ–मोह–मद, राग–द्वेष निसेष करि परिहरु । 205/1–4 वि0

340. चरन नाइ सिरु अंचलु रोपा ।
सुनहु बचन पिय परिहरि कोपा ।।
नाथ बयरु कीजे ताही सों ।
बुद्धि बल सकिअ जीति जाहीं सों ।। 6/5/4 मा0, 2/32/ मा0, 5/53/1 मा0, 5/56/4 मा0

341. रागु रोषु इरिषा मदु मोहू ।
जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू ।।
सकल प्रकार बिकार बिहाई ।
मन क्रम बचन करेहु सेवकाई ।। 2/74/6 मा0

342. रिषि बर तहँ छंद बास, गावत कलकंठ हास,
कीर्तन उनमाय काय क्रोध-कंदिनी ।। 2/43/6 गीता0
करषा तजि कै, परुषा बरषा, हिम मारुत धाम सदा सहि कै ।
जो भजै भगवानु सयान सोई 'तुलसी' हठ चातक ज्यों गहि कै ।। 7/33/2-3 कविता0

343. 2/43/6 गीता0, 7/33/6 गीता0,

344. 7/61/6 कविता0

345. 6/21/7 कविता0

346. 7/6/4 कविता0

347. 6/48/1 मा0

348. 7/22/2 मा0, 2/249/ मा0, 2/235/4 मा0, 7/33/6 गीता0

349. 1/14 क मा0

350. 2/46/6 गीता0, 5/3/4 गीता0, 2/31/3 मा0

351. उमा जे रामचरन रत बिगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ।। 7/112 ख मा0, 1/31/7 मा0, 1/42/5 मा0, 2/129/1 मा0, 5/37/2 गीता0

352. सुनहु बचन मम परिहरि क्रोधा ।
नाथ राम सन तजहु बिरोधा ।। 5/56/4 मा0, 6/15 ख मा0,

353. 7/22/2 मा0, 7/19/8 मा0, 7/ 33/6 गीता0, 5/37/2 गीता0

354. सरल कबित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान ।
सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहि बखान ।। 1/14 क मा0

355. 1/281/1 मा0, 1/42/5 मा0

356. क्रोध मनोज लोभ मद माया । छूटहिं सकल राम की दाया ।। 3/38/3 मा0

357. 2/49/1 मा0, 6/1/1 गीता0, 60/7 वि0,

358. 2/31/3 मा0

359. 2/25/ मा0

360. 1/278/6 मा0

361. 1/278/7 मा0

362. 1/84/34 गीता0, 46/7 वि0,

363. भागे मद–मान चोर भोर जानि जातु धान
काम कोह लोभ छोभ निकर अपडरे ।। 74/9–10 वि0, 47/4 वि0

364. नाथ करहु बालक पर छोहू ।
सूध दूध मुख करिअ न कोहू । 1/276/1 मा0

365. अग्य जानि रिस उर जनि धरहू ।
जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू ।। 1/108/2 मा0

366. 1/126/1 मा0

367. प्रिय बादिनि सिख दीन्हिउँ तोही ।
सपनेहुँ तो पर कोपु न मोही ।। 2/14/1 मा0

368. मैं तुम्हार अनुचर मुनि राया ।
परिहरि कोपु करिअ अब दाया ।। 1/277/1 मा0

369. यह प्रगटें अथवा द्विज श्रापा ।
नास तोर सुनु भानु प्रतापा ।
आन उपायँ निधन तब नाहीं ।
जौं हरि हर को पहिं मन माहीं ।। 1/165/3–4 मा0

370. भृगुसुत समुझि जनेउ बिलोकी ।
जो कछु कहहु सहउँ रिस रोकी ।। 1/262/5 मा0

371. सत्य कहहि दसकंठ सब मोहि न सुनि कछु कोह ।
कोउ न हमारें कटक अस तो सन लरत जो सोह ।। 6/23 ख मा0

372. अस कहि जोग अगिनि तनु जारा ।
भयउ सकल मख हाहाकारा ।। 1/63/8 मा0, 1/135/3 मा0, 7/55/3 मा0,

373. दै दोष सकल सरोष बोलहिं बाम विधि कीन्हो कहा । 2/275/ मा0

374. गयउ न गृह मन बहुत गलानी ।
मिला न राजहि नृप अभिमानी ।।
रिस उर मारि रंक जिमि राजा ।
बिपिन बसइ तापस कें साजा ।। 1/157/3-5

375. 5/54/5 मा0, 6/30/6 मा0, 1/266/8 मा0, 6/33/ख मा0

376. 2/267 मा0

377. 6/15 ख मा0, 5/21/10 मा0, 6/48 ख मा0, 6/62/5 मा0, 6/5/9 मा0, 3/24/4 मा0

378. 5/38/5 मा0,

379. 3/24/4 मा0

380. 6/5/5 मा0

381. 6/23 ग मा0

382. 1/276 मा0

383. 1/277/6 मा0

384. 2/55/8 मा0, 3/38 ख मा0, 2/24/छं0मा0, 1/135/6 मा0

385. 2/162/3 मा0

386. 1/278/7 मा0

387. 2/276/6 मा0

288. 6/65/9 मा0

389. 1/164/3 मा0, 1/83/छं मा0, 2/125/4 मा0, 1/165/5-6 मा0

390. 1/165/6 मा0

391. 2/24/3 मा 0

392. 2/217/5 मा0

393. 3/25/छ 3 मा0

394. 1/3/5 मा0

395. 2/33/2 मा0

396. 1/135/1 मा0

397. 3/28/10 मा0

398. 2/22/7 मा0

399. 6/33/8 मा0

400. 6/25/1 कविता0
401. 6/2/8 कविता0, 6/1/8 कविता0
402. 5/9/7 कविता0
403. 6/20/4 कविता0 7/179/2 कविता0
404. 7/173/7 कविता0
405. 7/183/4 कविता0
406. 6/1/1 गीता0
407. 152/6 वि0
408. 253/ 8 वि0
409. 273/4 वि0
410. 220/15 वि0
411. 4/18/8 मा0, 2/230 मा0, 1/86/5 मा0, 2/30/1 मा0, 1/273/4 मा0
412. 1/157/5 मा0
413. 1/63 मा0
414. 7/98/7 कविता0
415. 7/98/7 कविता
416. 6/10/4 कविता0
417. 3/38/3 मा0
418. 1/277/6 मा0, 5/49 क मा0, 2/30/1 मा0, 6/25/1 कविता0, 7/118/2 कविता0
419. 2/33/1 मा0
420. 4/17/8 मा0
421. 6/23 घ मा0
422. 2/171/1 मा0
423. 2/229/5 मा0
424. 1/31/7 मा0
425. 2/30/1 मा0
426. 2/229/5 मा0
427. 1/83/छ मा0
428. 1/271/3 मा0
429. 5/5/3 गीता0
430. 1/159/8 मा0.

431. 1/165/6 मा0

432. 6/89/7 मा0

433. 7/22/2 मा0

434. 1/83/छ मा0, 2/228/4 मा0

435. शब्द साधना : रामचन्द्र वर्म्मा पृ0 122

436. प्रसाद काव्य में भाव व्यजंना, पृ0 311

437. गीता तत्व विवेचिनी टीका: 217

438. मानस मुक्तावली : पं0 राम किंकर उपाध्याय, पृ0 13

439. वही , पृ0 17

440. मानस मुक्तावली भाग–3 : पं0 राम किंकर उपध्याय, पृ0 316

441. देखि दुखारी दीन दुहु समाज नर नारि सब ।
मधवा महा मलीन मुए मारि मंगल चहत ।। 2/301 मा0

442. दीन जानि कपि किए सनाथा ।
तुम्ह त्रैलोक ईस रघुनाथा ।। 6/117/8 मा0

443. गीधराज सुनि आरत बानी ।
रघुकुल तिलक नारि पहिचानी ।।
अधम निसाचर लीन्हें जाई ।
जिमि भलेउ बस कपिला गाई ।। 3/28/7 मा0

444. आरत गिरा सुनी जब सीता ।
कह लछिमन सन परम सभीता ।।
जाहु बेगि संकट अति भ्राता ।
लछिमन बिहसि कहा सुनु माता ।। 3/27/2–3 मा0

445. 2/182/ मा0, 1/23/8 गीता0

446. आरत जननी जानि सब भरत सनेह सुजान ।
कहेउ बनावन पालकी सजन सुखासन जान ।। 2/186 मा0

447. आपनि दारुनं दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ ।
देखे बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ ।। 2/182 मा0

448. 7/20/6 मा0

449. 7/111/16 मा0

450. आरति बस सनमुख भइउँ बिलगु न मानव तात । 2/97 मा0

451. अति सभीत नारद पहिं आए ।
गहि पद आरत बचन सुनाए ।।
हर गन हम न बिप्र मुनिराया ।
बड़ अपराध कीन्ह फल पाया ।।
श्राप अनुग्रह करहु कृपाला ।
बोले नारद दीन दयाला ।। 1/138/2–4 मा0

452. 2/96/1 मा0

453. जौ बिधि बस असबनै संजोगू ।
तौ कृतकृत्य होइ सब लोगू ।
सखि हमरे आरति अति तातें ।
कबहुँक ए आवहिं एहि नातें ।। 1/221/8 मा0

454. 2/52 मा0

455. 1/221/8 मा0

456. रहा एक दिन अवधिकर अति आरत पुर लोग।
जहँ तहँ सोचहिं नारि नर कृस तन राम बियोग ।। 6/श्लोक / दोहा 1 मा0

457. नारि नर आरत पुकारत, सुनै न कोऊ । 7/183/4-5कविता0

458. दीन मलीन हीन मति जाती ।
मो पर कृपा कीन्हि बहु भाँती ।। 6/115/4 मा0

459. कामिन्ह कै दीनता देखाई ।
धीरन्ह के मन बिरति दृढाई ।। 3/38/2 मा0

460. नवम सरल सब सन छल हीना ।
मम भरोस हियँ हरष न दीना ।। 3/35/5 मा0

461. 3/35/5 मा0

462. आलसी अभागी 'अघी आरत अनाथपाल'
साहेब समर्थ एक नीके मन गुनी मैं । 7/21/5–6 कविता0

463. नाम लिये पूत को पुनीत कियो पातकीस,
आरति निवारि प्रभु पाहि कहे पील की । 7/18/2 कविता0

464. 3/7/1 गीता0 5/8/1 गीता0

465. दीन बन्धु / दीनता–दरिद्र–दाह–दोष–दुख ।
दारुन दुसह दर दुरित हरन ।। 248/3–4 वि0

466. पाप–संताप–घनघोर संसृति दीन, भ्रमत जग योनि नहिं कोपि त्राता । 11/15 वि0

467. 2/313/6 मा0, 2/299/8 मा0

468. आरति मोर नाथ कर छोहू ।
दुहुँ मिलि कीन्ह ढीठु हठि मोहू ।। 2/313/6 मा0

469. सुनि मम बचन विनीत मृदु मुनि कृपाल खगराज ।
मोहि सादर पूँछत भए द्विज आपहु केहि काज ।। 7/110 ग मा0

470. 2/34/1 मा0

471. 1/42/1 मा0

472. 1/148/4 मा0

473. 7/13/11 मा0

474. अब कुसल कौसल नाथ आरत जानि जन दरसन दियो । 7/4/छ–2 मा,
2/76/2 गीता0

475. सुनि कृपाल अति आरत बानी ।
एक नयन करि तजा भवानी ।। 3/1/14 मा0, 5/43/12 गीता0

476. दीन बंधु दयाल रघुराया ।
देव कीन्हि देवन्ह पर दाया ।। 7/109/3 मा0

477. दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा ।
भुज विसाल गहि हृदयँ लगावा ।। 5/45/2 मा0

478. 134/2 वि0

479. 7/4/4 कविता0, 7/18/2 कविता0, 5/29/7 गीता0

480. 4/3/3 मा0

481. 1/145/6 मा0

482. 242/3 वि0

483. 235/7 वि0

484. 79/4 वि0

485. 5/7 वि0

486. मानक हिन्दी कोश : पहला खण्ड, पृ0 44

487. शब्द साधना : राम चन्द्र वर्म्मा, पृ0 6

488. दश रूपक 4/78–79

489. An Introduction to Social Psychology- William Mc Dugall P.P.49

490. मनोविज्ञान और शिक्षा : डॉ0 सरयुप्रसाद चौबे, पृ 206

491. इहाँ हिमाचल रचेउ बिताना। अति विचित्र नहिं जाइ बखाना ।। 1/93/2 मा0

कंबल बसन बिचित्र पटोरे। भाँति भाँति बहु मोल न थोरे ।।

गज रथ तुरग दास अरु दासी । धेनु अलंकृत काम दुहा सी ।। 1/325/3 मा0

1/92/7 मा0, 1/286/6 मा0, 1/288/3 मा0, 6/78/5 मा0, 1/325/3 मा0, 7/11/छं–2 मा0, 5/2/10–छं0 मा0

492. 5/12/8 मा0

493. 1/313/5 मा0

494. मेघनाद सम कोटि सत जोधा रहे उठाइ ।

जगदाधार सेष किमि उठै चले खिसिआइ । 6/54/ मा0, 6/88/छ–मा0, 1/117/5–8 मा0, 2/293/3 मा0, 1/171/2 मा0, 1/200/7 मा0,

495. उदभव पालन प्रलय कहानी ।

कहेसि अमित आचरज बखानी । 1/162/6 मा0, 1/139/8 मा0,

496. भगति हेतु सोइ दीनदयाला ।

चितवत चकित धनुष मखसाला ।।

कौतुक देखि चले गुरु पाहीं ।

जानि बिलंबु त्रास मन माहीं ।। 1/224/5–6 मा0, 1/212/8 मा0, 3/18/1 मा0

अवलोकि अलौकिक रूप मृगी मृग चौंकि चकैं चितवैं चित दै । 2/27/3 कविता0, 7/72/6 कविता0, 5/20/6 कविता0, 3/2/9 गीता0, 1/58/ गीता0

497. 1/49 मा0

498. 1/72/6 मा0

499. 1/212/7–8 मा0

500. 1/40/9 गीता0

501. 2/293/3 मा0

502. भाँति अनेक परे पकवाने ।

सुधा सरिस नहिं जाहिं बखाने ।। 1/328/2 मा0

503. 1/328/2–5 मा0

504. 1/302 मा0

505. एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा ।

दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा ।। 1/208/6 मा0

1/210/छ–1 मा0, 1/208 मा0, 4/6/12 मा0, 4/7/3 मा0, 4/7/6 मा0, 4/21/3–4 मा0, 7/72/8 कविता0, 1/292 मा0, मा0, 3/23/3 मा0, 3/19/छ–4 मा0, 6/85/6 मा0, 7/5/4 मा0

506. 1/222/4–5 मा0

507. 2/251/2 मा0

508. 2/24/3-4 मा0

509. महामोहु महिषेसु बिसाला ।
रामकथा कालिका कराला ।।
रामकथा ससि किरन समाना ।
संत चकोर करहिं जेहि पाना ।। 1/46/6–7 मा0

510. मागहु भूमि धेनु धन कोसा । सर्बस देउँ आजु सह रोसा ।।
देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं ।।
सब सुत प्रिय मोहि प्रान की नाई । राम देत नहिं बनइ गोसांई ।। 1/207/3–5 मा0

511. बंधु बोलि जेंइय जो भावै, गई निछावरि मैया ।
कबहूँ समुझि वन–गवन राम को रहि चहि चित्र लिखी सी ।। 2/52/6–7 गीता0

512. नभ धुरिखग मृग भूरि भागे बिकल प्रभु आश्रम गए ।
तुलसी उठे अवलोकि कारनु काह चित सचकित रहे।। 2/225/छं0 मा0

513. आली ! हौं इन्हहिं बुझावौं कैसे ?
चितवत चौकि नाम सुनि, सोचत राम सुरति उर आए । 2/86/6 गीता0

514. भरत सत्रु सूदन बिलोकि कपि चक्ति भयो है । 6/11/1 गीता0

515. बालक बिनोद जातुधाननि सों रनु मौ ।
बूझत बिदेह अनुराग आचरज बस,
ऋषिराज जाग भयो, महाराज अनु भौ ।। 1/66/10 गीता0 1/123/6 मा0,

516. बिधिहि भयउ आचरज बिसेषी ।
निज करनी कछु कतहुँ न देखी 1/313/8 मा0, 6/83/5 मा0, 1/194/8 मा0

517. 1/176/6 मा0

518. 7/77/ख॰ मा0

519. जाकी सहज स्वास श्रुति चारी।
सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी । 1/203/5 मा0

520. 6/83/5 मा0

521. 6/54 मा0

522. आश्रम निरखि भूले, द्रुम न फले न फूले ।
पंचवटी पहिचानि ठाढ़ेइ रहे । 3/10/4 गीता0

523. 2/11/8 गीता0

524. 2/37/1 मा0

525. सिय मनु रामचरन अनुरागा ।
अवध सहस सम बनु प्रिय लागा ।। 2/139/4 मा0

526. 4/23/5 मा0

527. कौन की हाँक पर चौंक चंडीस, बिधि,
चंडकर थकित फिरि तुरंग हाँके । 6/45/1 कविता0

528. बरन धरम गयो, आश्रम निवास तज्यो,
त्रासन चकित सो परावनो परो सो है । 7/84/2 कविता0

529. 7/84/2 कविता

530. करम, काल, सुभाउ, गुन–दोष जीव जग माया ते,
सो सभै भौंह चकित चहति । 246/10 वि0

531. सो हरिभगति काग किमि पाई ।
बिस्वनाथ मोहि कहहु बुझाई । 7/53/8 मा0

532. 6/54/3 मा0

533. जस दूलहु तसि बनी बराता ।
कौतुक बिबिध होहि मग जाता ।। 1/93/1 मा0

534. पूँछत सरवहि सो ठाउँ देखाऊ ।
नेकु नयन मन जरनि जड़ाऊ ।
जहँ सिय रामु लखनु निसि सोए ।
कहत भरे जल लोचन कोए ।। 2/197/6-7 मा0

535. करि प्रनामु पूँछहि जेहि तेही ।
केहि बन लखनु राम बैदेही ।। 2/223/5 मा0

536. नित नव चरित देखि मुनि जाहीं ।
ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं ।। 7/41/5 मा0

537. 1/325/छं0 4 मा0, 1/321 मा0

538. 1/143/3 मा0

539. चित्रकूट सुचि थल तीरथ बन ।
खग मृग सर सरि निर्झर गिरिगन ।।
प्रभु पद अंकित अवनि बिसेषी ।
आयसु होइ त आवौं देखी ।। 2/307/3–4 मा0

540. 1/217/1 मा0

541. 1/219/2 मा0,

542. 2/158/6 मा0

543. कह लंकेस कहसि निज बाता ।
केइँ तव नासा कान निपाता ।। 3/21/2 मा0

544. बोलि, बलि, मूँदरी। सानुज कुसल कोसल पालु ।। 5/3/1 गीता0

545. 1/289/6 – 1/290 मा0

546. घोर निसाचर बिकट भट समर गनहिं नहिं काहु ।
मारे सहित सहाय किमि खल मारीच सुबाहु ।। 1/356 मा0

547. कहहु पुनी राम गुन गाथा ।
भुजगराज भूषन सुरनाथा ।। 1/108/8 मा0

548. 1/215/1 मा0

549. कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला ।
सत्यधाम प्रभु दीन दयाला ।। 1/56/7 मा0,

550. 3/42/3 मा0

551. 2/37/5 मा0

552. सादर पुनि पुनि पूँछति ओही ।
सबरी गान मृगी जनु मोही ।। 2/16/1 मा0

553. 5/52/3 – 5/53 मा0

554. 4/5 मा0

555. 1/159/4 मा0

556. पूछेउ तब सिवँ कहेउ बखानी ।
पिता जग्य सुनि कछु हरषानी ।। 1/60/5 मा0

557. 2/41/8 मा0

558. 2/311/3 मा0

559. 1/2 सोरठा मा0

560. 1/2/1 मा0

561. 1/32/3 मा0

562. 1/49 मा0

563. 1/194/8 मा0

564. 1/250/ – 1/251/2 मा0

565. 1/252/4–7 मा0

566. 1/324 मा0

567. किंकिनि ललाम लगाभु ललित बिलोकि सुर नर मुनि ठगे । 1/315/छं0 4 मा0

568. बहुराम लछिमन देखि मर्कट भालु मन अति अपडरे ।
जनु चित्र लिखित समेत लछिमन जहँ सो तहँ चितवहिं खरे ।। 6/88/छं0 मा0

569. बिथकी सुनि जुवति जाल । 2/17/8 गीता0

570. रूप दीपिका निहारि मृग मृगी नर नारि,
बिथके बिलोचन निमेषै बिसराइ कै ।। 1/84/22--23 गीता0

571. निरखि परम बिचित्र सोभा चकित चितपहिं भात । 1/40/9 गीता0

572. 2/32/3 गीता0, 2/52/7 गीता0, 3/2/9 गीता0, 2/78 गीता0, 1/224/4–6 मा0
2/115/3 मा0, 1/212/8 मा0

573. चितवत मोहिं लगी चौंधी सी, जानौं न, कौन, कहाँ ते धौं आए। 2/35/6 गीता0,
1/194/8 मा0

574. मंडपु बिलोकि बिचित्र रचनाँ रूचिरताँ मुनि मन हरे। 1/319/छं0 मा0
7/4/22 गीता0

575. 1/192/1 मा0, 1/219/2 मा0

576. 7/59/5 मा0, 1/139/5 मा0

577. 1/32/3–4 मा0

578. 1/162/ मा0, 1/2/1–2 मा0

579. 2/188/8 मा0

580. 2/140 मा0

581. 2/207/2 मा0

582. 2/311 मा0

583. 1/318/छं0 मा0

584 शब्द साधनाः रामचन्द्र वर्म्मा

585. मानक हिन्दी कोशः पहला खण्ड पृ0 232

586. बृहत् हिन्दी कोश 126 पृ0

587. वाचनस्पत्यम्

588. प्रसाद काव्य में भाव व्यंजनाः धर्म प्रकाश अग्रवाल पृ0 325

589. सिद्धान्त और अध्ययनः बाबू गुलाबराय पृ0 125

590. रस मीमांसाः रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 150

591. बाल मनोविज्ञानः बाल विकास– डा0 प्रीति वर्मा, पृ0 110

592. मनोविज्ञान और शिक्षाः सरयू प्रसाद चौबे, पृ0 212–213

593. धन मद मत्त परम बाचाला । 7/96/3 मा0, 1/305/5 मा0, 6/2/5 गीता0, 7/77/6 कविता0

594. कनक किसिपु अरु हाटक लोचन ।
जगत बिदित सुरपति मद मोचन।। 1/121/6 मा0
बड़ अधिकार दच्छ जब पावा।
अति अभिमानु हृदयँ तब आवा।। 1/59/7 मा0, 6/112/12 मा0, 6/2/5 गीता0

595. जौ अस हिसिषा करहिं नर जड़ बिबेक अभिमान।
परहिं कलप भरि नरक महुँ जीवकि ईस समान। 1/69/ मा0
गुन–ज्ञान–गुमान भमेरि बड़ी, कलपद्रुम काटत भूसर को। 7/103/3 कविता

596. देह जनित अभिमान छुड़ावा। 4/27/6 मा0
7/38/5 गीता0

597. लघु जीवन संबतु पंच दसा।
कलपांत न नास गुमानु असा।। 6/101/4 मा0, 25/4 वि0

598. 2/228/1 मा0

599. 1/59/7 मा0

600. गवनिहैं गँवहिं गवाँइ गरब गृह नृपकुल बलहि लजाइ कै। 1/70/17 गीता0
1/9/6 कविता0, ' 6/32/2 कविता0, 6/20/5 कविता0
जयति बिहगेश बल बुद्धि बेगाति–मद–मथन, मनमथ–मथन, ऊर्ध्वरेता।
29/5 वि0, 46/6 वि0

601. सकल सौभाग्य सौन्दर्य सुषमा–रूप, मनोभव कोटि गर्वापहारी। 44/11-12 वि0

– राजत नयन मंजु अंजनजुत खंजन कंज मीन मद नाये। 1/32/8 गीता0
– जेहि समाज बैठे मुनि जाई हृदयँ रूप अहमिति अधिकाई। 1/133/1 मा0

602. भंजेउ चाप दापु बड़ बाढ़ा।
अहमिति मनहुँ जीति जगु ठाढ़ा ।। 1/282/6 मा0
1/126/5 मा0, 3/24/1 मा0, 6/35/6 मा0,

603. 1/126/5 मा0

604. लंकेस अति बल गर्ब। किए बस्य सुर गंधर्ब।। 6/112/7 मा0

605. भयउ कोसिलहि बिधि अति दाहिन।
देखत गरब रहत उर नाहिन ।। 2/13/3 मा0

606. ब्रह्मचरज ब्रत रत मति धीरा।
तुम्हहि कि करइ मनोभव पीरा।।
नारद कहेउ सहित अभिमाना।
कृपा तुम्हारि सकल भगवाना।। 1/128/3 मा0

607. रंक-निवाज रंक राजा किए एक गरब गरि गरि गनी। 5/39/9 गीता0
–साँवरे बिलोके गर्ब घटत घटनि के। 2/16/8 कविता0, 7/103/3 कविता0

608. 1/133/1 मा0

609. सेवहिं सकल सवति मोहि नीकें।
गरबित भरत मातु बल जी के।। 2/17/3 मा0

610. 6/87/छ–3 मा0, 6/31 ख मा0

611. देखि कुठारु सरासन बाना।
मैं कछु कहा सहित अभिमाना।। 1/272/4 मा0

612. एतो मान शठ! भयो मोह बस, जानतहू चाहत विष खायो। 6/4/2 गीता0
–मोह–मद–मात्यो, रात्यो कुमति कुनारिसो। 7/82/1 कविता0, 3/43 मा0

613. सुनु खगेस कलि कपट हठ दंभ द्वेष पाषंड।
मान मोह मारादि मद व्यापि रहे ब्रह्मंड।। 7/101 क मा0, 139/4 कविता0

614. 7/94/2 कविता0

615. सेन बिलोकि सहज अभिमानी।
बोला बचन क्रोध मद सानी।। 1/180/4 मा0

616. जपउँ मंत्र सिव मंदिर जाई।
हृदयं दंभ अहमिति अधिकाई।। 7/104/8 मा0

617. दसमुख सकल कथा तेहि आगे ।
कही सहित अभिमान अभागे ।। 3/24/1 मा0

618. छुद्र नदी भरि चलीं तोराई ।
जस थोरेहुँ धन खल इतराई ।। 4/13/5 मा0

619. जे सुर समर धीर बलवाना ।
जिन्ह कें लरिबे कर अभिमाना ।। 1/181/2 मा0, 6/66/5 मा0

620. भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीर सिंधु बिन साइ ।। 2/239/ मा0

621. 7/23/8 मा0, 7/33/5 मा0, 1/75 मा0

622. जदपि कही कपि अति हित बानी ।
भगति बिबेक बिरति नय सानी ।। 5/23/1 मा0
मद–मत्सर–अभिमान ग्यान–रिपु, इन महँ रहनि अपारो । 117/6 वि0, 125/4 वि0, 26/2 वि0, 142/10 वि0

623. मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना ।
नारि सिखावन करसि न काना ।। 4/8/9 मा0, 5/21/7 मा0, 125/4 वि0, 209/4 वि0

624. महामद–अंध दसकंध न करत कान । 5/23/4 गीता

625. गोरो गरूर गुमान भरो कहौ कौसिक छोटो सो ढोटो है काको । 1/20/4 कविता

626. मोह–मद मात्यो । 7/82/1 कविता, 136/7/1 वि0, 28/4 वि0, 1/85/3 मा0

627. जे मद–मार–विकार भरे ते अचार–बिचार समीप न जाहीं । 7/94/1 कविता

628. तौलौ न दापु दल्यो दसकंधर, जौलौ विभीषन लात न मारो । 7/3/4 कविता

629. पतित पावन सुनत नाम बिश्रामकृत,
भ्रमित पुनि समुझि चित ग्रंथि अभिमान की । 209/15 वि0

630. 1/20/4 कविता

631. कोप–कृसानु गुमान–अवाँ घट ज्यों जिनके मन आँच न आँचे।

632. एतोमान सठ । भयो मोह बस, जानतहू चाहत विष खायो । 6/4/2 गीता

633. सुर–दुरलभ तनु धरि न भजे हरि मद अभिमान गवाँये । 201/8 वि0

634. हृदय मलिन बासना–मान–मद, जीव सहज सुख त्यागे । 82/4 वि0

635. 233/3–4 वि0

636. कै कलिकाल कराल न सूझत, मोह–मार–मद छाके । 225/3 वि0

637. मुंड–मद–भंग कर अंग तोरे। 15/7 वि0

638. 258/2–4 वि0

639. मोह–मद–मान–कामादि खल मंडली
सकुल निरमूल करि दुसह दुख हर-हुगे । 211/8 वि0

640. 208/11 वि0

641. मोहि रहा अति अभिमान । तहिं कोउ मोहि समान ।। 6/112/11 मा0
–अस कहि चला महा अभिमानी । तृन समान सुग्रीवहि जानी ।। 4/7/1 मा0
–सुनि कपि मन उपजा अभिमाना । मोरे भार चलिहिं किमि बाना ।। 6/59/7 मा0,
–7/104/8 मा0

642. 1/133/ मा0

643. रनमद मत्त निसाचर दर्पा।
विस्व ग्रसिहि–जनु एहि बिधि अर्पा। 6/66/5 मा0

644. 7/70 ख/ मा0

645. एक बार हर मंदिर जपत रहेउँ सिव नाम ।
गुर आयउ अभिमान ते उठि नहिं कीन्ह प्रनाम ।। 7/106 क/मा0, 3/35/मा0

646. तब नारद गवने सिव पाहीं ।
जिता काम अहमिति मन माहीं।।
मार चरित संकरहि सुनाए।
अति प्रिय जानि महेस सिखाए।। 1/106/5 मा0

647. असगुन अमित होहिं तेहि काला ।
गनइ न भुज बल गर्व बिसाला ।। 6/77/9 मा0
–बैठ जाइ सिंघासन फू ली ।
अति अभिमान त्रास सब भूली ।। 6/37/2 मा0

648. काम, क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ ।
सब परिहरि रखुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत ।। 5/38 मा0, 7/74 ख मा0

649. 142/10 वि0 ,

650. कहउँ राम गुन गाथ भरद्वाज सादर सुनहु।
भव भंजन रघुनाथ भजु तुलसी तजि मान मद। 1/124 ख/ मा0, 5/46/1 मा0, 5/39/ मा0

651. निज गुन गरुअ (हरुअ) अति मानहि मन तजि गर्ब ।। 7/21/36

652. विगतमान, सम सीतल मन, पर-गुन नहिं दोष कहौं गो । 172/6 वि0

653. विश्व-उपकाररहित व्यग्रचित सर्वदा, व्यक्त मद मन्यु, कृत पुण्यरासी । 57/9 वि0

654. जयति रण-अजिर गन्धर्व गण-गर्वहर, फिर किये राम गुणगाथ गाता। 39/17 वि0

655. की तजि मान अनुज इव प्रभु पद पंकज भृंग।

होकि कि राम सरानल खल कुल सहित पतंग ।। 5/56 ख/ मा0

656. 2/129/2 मा0

657. 2/129/2 मा0

658. 7/53/7 मा0

659. 7/46/ मा0

660. देखहु रामहि नयन भरि तजि इरिषा मदु कोहु ।

लखन रोषु पावकु प्रबल जानि सलभ जनि होहु। 1/266/ मा0

661. अब जनि बत बढ़ाव खल करही।

सुनु मम बचन मान परिह रही।। 6/29/1 मा0

662. सबहि मानप्रद आपु अमानी । 7/37/4 मा0, 5/57/8 मा0

663. 1/340/5 मा0

664. 5/56/3 मा0, 5/47/3 मा0

665. 4/15/4 मा0

666. जनकसुता समेत आवत गृह परसुराम अति मद हारी । 7/38/6 गीता0

667. सहस भुज मत्त गजराज रन केसरी,

परसुधर गर्ब जेहि देखि बीता ।। 6/17/4 कविता

7/112/1,34 कविता0, 7/150/5 कविता0, 6/20/5 कविता0

668. कारुनीक ब्यलीक मद खंडन ।

सब बिधि कुसल कोसला मंडन ।। 7/50/8 मा0, 7/13/18 मा0,3/3/छ-4/मा0,

6/110/छ0/14 मा0, 6/114/4 मा0, 4/17/6 मा0

–अबिचल, अमल, अनामय, अबिरल, ललित, रहित छल छाया।

समन सकल संताप-पाप रुज-मोह-मान-मद-माया।। 7/14/6 गीता0

–पसु पामर अभिमान-सिंधु गज ग्रस्यो आइ जब ग्राह।

सुमिरत सकृत सपदि आये प्रभु, हरयो दुसह उर-दाह। 144/6 वि0, 64/8 वि0,

211/8 वि0, 58/2 वि0,

669. क्रोध मनोज लोभ मद माया।
छूटहिं सकल राम की दाया।। 3/38/3 मा0

670. जब ते राम प्रताप खगेसा ।
उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा ।
मत्सर मान मोह मद चोरा ।
इन्ह कर हुनर न कवनिहुँ ओरा।। 7/30/6 मा0

671. उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभु भय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध। 7/112 ख/मा0
2/231/ मा0, 2/325/छं0 3 मा0, 2/240/2 मा0

672. 1/34/6 मा0

673. 1/151/3 मा0

674. 6/112/12 मा0

675. 1/32 क मा0

676. 47/4 वि0, 26/2 वि0, 136/10/6 वि0, 1/128/मा0, 4/27/6 मा0

677. 6/26 मा0

678. 5/20/8 मा0, 1/245 मा0

679. 1/305/5 मा0

680. 1/317/1 मा0

681.681. 5/20/8 मा0

682. 1/305/5 मा0

683. 38/11 वि0

684. 25/4 वि0

685. 185/8 वि0

686. 2/129/1 मा0

687. 1/115/7 मा0

688. 3/43/3 मा0'

689. 1/259/4 मा0

690.. 7/70/1 मा0

691. 7/53/7 मा0

2. 7/71क मा0

3. 59/11 वि0

4. 58/5 वि0

5. 74/9 वि0

6. 60/13 वि0

7. 6/11/9 गीता

8. 3/10/21 मा0

9. 6/75/15 मा0

चतुर्थ – अध्याय

– तुलसी साहित्य में व्युत्पन्न

तथा मिश्र संवेगों की व्यंजना

: व्युत्पन्न भावनायें

- – विश्वास
- – आशा–निराशा
- – दु:ख
- – चिन्ता
- – सुख
- – उत्साह

: मिश्र संवेग

- – मोह/भ्रम/आशंका
- – श्रद्धा
- – श्लाघा
- – कृतज्ञता
- – वैराग्य
- – ग्लानि/लज्जा/संकोच/पछताना
- – ईर्ष्या
- – क्षोभ
- – चपलता
- – जड़ता
- – सन्तोष
- – क्षमा/दया/कृपा/करुणा

– निष्कर्ष

: चतुर्थ – अध्याय :

तुलसी साहित्य में व्युत्पन्न तथा मिश्र संवेगों की व्यंजना

(क) व्युत्पन्न भावनाएं :-

जिस प्रकार कुछ मूल अर्थात् मौलिक मनोविकार होते हैं, उसी प्रकार कुछ व्युत्पन्न मनोविकार भी होते हैं। ये मनोविकार या संवेग स्वतंत्र नहीं होते हैं और किसी अन्य मनोविकार के आश्रित रहते हैं। काव्यशास्त्र में इन संवेगों को संचारी भाव कहते हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम तुलसी द्वारा निर्देशित कुछ व्युत्पन्न भावों का विश्लेषण करने का प्रयास करेंगे।

(1) व्युत्पन्न भावना :-

विश्वास ::

"विश्वास" का सामान्य अर्थ है किसी विचार/मत/बात को प्रमाणिक या सत्य मान लेना। वह ऐसी ही है यह धारणा बना लेना है। मानक हिन्दी कोश और वृहत् हिन्दी कोश में भी विश्वास का यही अर्थ स्वीकार किया गया है।[1] पं0 रामकिंकर विश्वास के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत करते हैं, वे कहते हैं– श्रद्धा का जन्म होता है किन्तु विश्वास का नहीं। श्रद्धा का उदय बुद्धि में होता है पर विश्वास हृदय का सहज स्वभाव है।[2] जब तक किसी वस्तु या व्यक्ति को सही–सही न जाने जब तक उसके प्रति विश्वास होना कठिन होता है। विश्वास के अभाव में प्रीति नहीं हो सकती।[3]

मैक्डूगल ने विश्वास को एक सरल इच्छा कहा जो अपने उद्देश्य की ओर गतिशील होती है। किन्तु शैण्ड का कहना है कि विश्वास के कारण समस्त उच्च बौद्धिक और स्वतः प्रेरित स्वेच्छिक प्रक्रियायें थम जाती हैं। शैण्ड के इस मत से मैक्डूगल सहमत नहीं है। उनका विचार है कि जब हमें निश्चित लक्ष्य तक पहुँचने का विश्वास होता है तो हम पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार बढ़ते जाते हैं। कोई नई योजना नहीं बनाते।[4]

तुलसी के अनुसार श्रद्धा और विश्वास साधना में दो आवश्यक तत्व है। इनके बिना साधना पथ में बढ़ा नहीं जा सकता। श्रद्धा को आस्था बुद्धि कहते हैं और विश्वास का अर्थ होता है इष्ट पर निर्भरता। विश्वास बिना समर्पण के उत्पन्न नहीं होता। विश्वास के अन्य पर्याय भरोसा, प्रतीति, आश्रय हैं। अनन्यता, एकमात्र आशा और किसी की आशा न करना, उसी पर निर्भर रहना है। तुलसी की भक्ति के श्रद्धा और विश्वास दो स्तम्भ हैं। तुलसी ने इनकी महत्ता इनके विरोधी संवेगों में होने वाले दुःखों के द्वारा बतायी है। जहाँ विश्वास नहीं होता वहाँ अविश्वास होता है और जहाँ अविश्वास होता है वहीं संदेह होता है जहाँ संदेह

होता है वहीं दूरी होती है जहाँ दूरी होती है वहाँ प्रीति या भक्ति रह नहीं सकती। यों कहें श्रद्धा और विश्वास- प्रीति या भक्ति को दृढ़ आधार प्रदान करते हैं। विश्वास में दृढ़ता रहती है और श्रद्धा में समर्पण/आस्था रहती है-

"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ।
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगेस जल कै चिकनाई ।

वैसे तो विश्वास किसी मत/विचार आदि को सत्य मान लेने को कहते हैं लेकिन भक्ति या साधना या प्रेम में जिस विश्वास की बात की जाती है वह इससे गहरी धारणा की वस्तु होती है। किसी विचार/मत या बात की प्रमाणिकता तर्क से या परिस्थिति वश बदल सकती है किन्तु गहरा विश्वास कभी बदलता नहीं। वह बहुत दृढ़ और अटल होता है।

बेजान वस्तु पर विश्वास सत्य धारणा या प्रामाणिकता को व्यक्त करता है किन्तु व्यक्ति पर विश्वास हमारी गहरी आस्था का प्रतीक होता है। क्योंकि चेतन के प्रति विश्वास हममें स्वयं विश्वास पैदा करता है। कोई हमारा विश्वास करता है इससे स्वयं व्यक्ति के जीवन में अपने प्रति सम्मान की भावना पैदा होती है जो व्यक्ति के जीवन के विकास के लिए बहुत शुभ होती है।

"बट्टु-विश्वास"[5] - विश्वास संवेग गहरी और सघन छाया देता है। उसमें हम विश्राम कर सकते हैं। वह आतप, वर्षा में हमारी रक्षा करता है यही विश्वास संवेग के बारे में कहा जा सकता है। इसलिए यहाँ अपने धर्म में अचल विश्वास वटवृक्ष की तरह सघन छायादार है। अपने धर्म में विश्वास तब पैदा होता है जब हम उसे श्रेयस्कर समझे अर्थात् यह बुद्धि हो कि इससे हमारा कल्याण होगा, हमें लक्ष्य की प्राप्ति होगी, हमारा साधना-पथ प्रशस्त होगा। श्रुतियों में वट वृक्ष को भगवान् शंकर का वृक्ष कहा गया है- "शिव विश्राम विटप श्रुति गाया"। "श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मा स्वनुष्ठितात्।" "स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मो भयावहः।" अर्थात् गुण रहित अपना धर्म दूसरे के गुण सहित धर्म से श्रेष्ठ है। अपने धर्म में मरना भी श्रेयस्कर है दूसरे का धर्म भयंकर होता है।

मानस में स्थान-स्थान पर जो सामान्य धारणायें और विश्वास व्यक्त हुए हैं उनके पीछे लोक का लम्बा अनुभव है इसीलिए इन्हें लोक विश्वास भी कहा जा सकता है। तुलसी की ऐसी उक्तियाँ उनके दृढ़-विश्वास या अटल धारणा को व्यक्त करती हैं। कवि अपने वक्तव्य के रूप में अथवा अपने पात्रों के माध्यम से जब कभी कोई दृढ़ धारणा या अटल विश्वास व्यक्त करता है तो उन उक्तियों में संदेह या भ्रम की कोई गुंजाइश नहीं रहती। वे सारी उक्तियाँ विधायात्मक होती हैं। तुलसी के सहज विश्वास या उनकी दृढ़ धारणायें कई प्रसंगों में प्रकट हुई हैं जैसे- सत्संग या साधु का प्रभाव अवश्य पड़ता है। सत्संग से मन में अवश्य परिवर्तन होता है। साधु का चित्त, उदार और राग-द्वेष से परे होता है....।[6]

प्रारब्ध से मुझे जो मिलना चाहिए मेरी अभिलाषा तो उससे बहुत बड़ी है अर्थात् मेरी वह अभिलाषा तो पूरी नहीं होगी किन्तु मुझे एक विश्वास है जिसके आधार पर मेरी यह दृढ़ धारणा है कि राम चरित मानस को सुनकर सज्जनों को तो सुख मिलेगा किन्तु दुष्ट व्यक्ति मेरी इस रचना का उपहास करेंगे।

यहाँ विश्वास का अर्थ निश्चित धारणा है न कि अनुमान पर आधारित कोई मत क्योंकि अनुमान अंदाज पर आधारित होता है और तुलसीदास यहाँ अपनी बात अदांज के आधार पर नहीं कह रहे हैं।[7]

तुलसी का कहना है कि विश्वास उन कथनों पर होता है जो दृढ़ निश्चय से भरे होते हैं, जो स्वभाव से कहे जाते हैं तथा जो सत्य और संदेह दूर करने वाले होते हैं। मेघनाद ने रावण से दृढ़ निश्चय युक्त वाणी में कहा– सबेरे मेरी करामात देखना। मैं बहुत कुछ करूँगा, थोड़ा क्या कहूँ? पुत्र के वचन सुनकर रावण को भरोसा हो गया।[8] लक्ष्मण ने राम से कहा– हे नाथ! स्वभाव से ही कहता हूँ,आप विश्वास करें मैं आपको छोड़कर गुरू, पिता, माता किसी को भी नहीं जानता।[9] अशोक वाटिका में हनुमान की सत्य और सन्देह को दूर करने वाली वाणी सुनकर सीता को विश्वास हो गया। उन्होंने जान लिया कि यह मन, वचन और कर्म से कृपा सागर रामजी का दास है।[10] प्रीति नीति और विनीत पूर्ण वचनों से भी विश्वास होता है।[11]

किसी के अद्‌भुत सामर्थ्य/शक्ति का बोध होने से, उसके स्वरूप पर तथा उसकी सफलता पर विश्वास उत्पन्न हो जाता है। काकभुशुण्डि ने जब पेट के अन्दर राम की प्रभुता देखी तभी उन्हें राम के स्वरूप पर विश्वास हुआ और वह रक्षा की पुकार करता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा।[12] राम ने जब एक ही वाण से सातों ताड़ वृक्षों को ढहा दिया तो सुग्रीव को राम पर विश्वास हुआ कि ये बालि का अवश्य ही वध कर देंगे।[13] कभी–कभी विश्वास अनुभव के बाद ही घटित होता है। विश्वामित्र ने भगवान को मुनियों का हितैषी तब माना जब वे उनके लिए पिता को छोड़कर यज्ञ की रक्षा के लिए चल पड़े।[14]

किसी का दुःख दूर करने का कोई आश्वासन दे, तो उसकी बात का तभी विश्वास होता है जब अनेक लोगों द्वारा उसे समझाया भी जाय। भगवान ने पृथ्वी को उसका दुख दूर करने का आश्वासन दिया फिर ब्रह्मा जी ने भी पृथ्वी को समझाया। ऐसा होने पर तब पृथ्वी निर्भय हो गयी और उसे भगवान पर भरोसा हो गया।[15] किसी कार्य का तभी विश्वास होता है जब उसका प्रमाण भी प्रस्तुत किया जाय। हनुमान सीता से इसीलिए कोई चिन्ह माँग रहे हैं जिससे राम को उनके कार्य पर विश्वास हो जाये।[16] किसी के हर्ष–उल्लास को देखकर भी उसकी सफलता तथा उसके कार्य का विश्वास होता है।[17] किसी कार्य के होने से पहले यदि स्वाभाविक रूप से हर्ष होने लगे तो उस कार्य के पूर्ण होने का विश्वास होने लगता है। सीता की खोज के लिए जाते हनुमान कहते हैं– काम अवश्य होगा, क्योंकि मुझे बहुत ही हर्ष हो रहा हैं।[18] शुभ शकुन भी किसी कार्य के होने का विश्वास पैदा करते हैं।[19]

साधन सम्पन्नता व्यक्ति में अत्यधिक विश्वास पैदा करती है। अभिमानी को अपनी जीत पर इसी कारण पूर्ण विश्वास होता है।[20] जब समस्त कुतर्कों की रचना मिट जाती है और भ्रम का नाश हो जाता

है तभी किसी पर विश्वास हो पाता है। शिवजी के भ्रमनाशक वचनों को सुनकर पार्वजी जी के सब कुतर्कों की रचना मिट गयी तथ उनका राम चरणों में प्रेम और विश्वास हो गया।[21] सहज प्रेम/अनन्य प्रेम प्रिय पर विश्वास की सृष्टि करता है। सच्चे स्नेह से संदेह दूर होता है और विश्वास पैदा होता है, विश्वास से धैर्य बँधता है, व्याकुलता समाप्त होती है। सच्चे स्नेह से विश्वास में दृढ़ता भी पैदा होती है। सीता की स्थिति इसी प्रकार की थी। अपनी बढ़ी हुई व्याकुलता जानकर सीता जी सकुचा गयीं और धीरज घर कर हृदय में विश्वास ले आयी कि यदि तन, मन और वचन से मेरा प्रण सच्चा है और रघुनाथ जी के चरण कमलों में मेरा चित्त वास्तव मे अनुरक्त है तो सबके हृदय में निवास करने वाले भगवान मुझे रामचन्द्र जी की दासी **अवश्य** बनायेंगे।[22]

जो किसी भी दशा में प्रतिकूल न चलता हो उस पर अतिशय विश्वास रहता है।[23] जिस व्यक्ति की समान दृष्टि होती है और जो अपने समान ही सबको समझता है उसकी सब पर समान प्रीति और विश्वास होता है।[24]

जिससे अपने कल्याण की सम्भावना होती है उस पर व्यक्ति सब कुछ छोड़कर भरोसा कर लेता है और पूरी तरह उस पर निर्भर हो जाता है।[25] गुण ही किसी के विश्वास के कारण होते हैं। इसलिए जो वस्तु सम्पूर्ण सौभाग्य और सुख की खान है उस वस्तु के प्रति पूर्ण विश्वास रहता है,[26] जो करुणा का भण्डार है,[27] सुन्दर आचरण वाला है।[28] अमृत की तरह जिसका प्रेम जीवनदायक हो[29] उसी का प्रेम भरोसा करने लायक होता है। सच्ची लगन और निष्ठावान् का सभी लोग विश्वास करते हैं।[30] जो सबसे अधिक बलवान तथा दूसरों को अपने अनुसार चलाने की सामर्थ्य रखने वाला होता है उसी पर भरोसा किया जा पाता है।[31]

कोई हमसे किसी की खूब बड़ाई करे तो हमें उस पर विश्वास हो जाता है। किसी की महिमा सुनकर उस पर भरोसा उत्पन्न होता है।[32] जिस साधन में परिश्रम बहुत करना पड़े और फल कुछ न मिले तो ऐसे साधनों पर विश्वास नहीं हो पाता और जो परिश्रम के बिना फलदायक हो उस पर विश्वास होता है।[33] जिस पर हमारा योग क्षेम निर्भर हो और जिसके आश्रय में हम सुरक्षित हों उसी पर भरोसा करना चाहिए।[34] जो भुजा की भाँति विपत्ति में हाथ बटाँता है उसी पर भरोसा होता है और उसके न रहने पर अन्य कोई भरोसा के योग्य नहीं होता।[35] कामनापूर्ति में समर्थ, विघ्नों के विनाशक, सर्वशक्तिमान पर प्रेम और विश्वास अवश्य ही होता है। विश्वामित्र के यज्ञ के पूर्ण हो जाने पर जनक और तुलसी दोनों विश्वास से युक्त हो गये।[36] जिसमें विशेष शक्ति होती है बचपन से ही उस पर सभी को विश्वास होने लगता है।[37] किसी के हृदय की सच्चाई, निष्ठा और अनन्य प्रेम का बोध हो तो उसके प्रति व्यक्ति में विश्वास और स्नेह प्रत्येक परिस्थिति में सदा अटल रहता है।[38]

भक्ति में भक्त को केवल इष्ट पर भरोसा रहता है। उसे अपना कुछ भी भरोसा नहीं होता।[39] भक्त को भगवान पर इस बात का भरोसा रहता है कि भगवान अवश्य ही हमारे दुःख दूर करेंगे।[40]

उत्साहवर्धक वचनों से आत्मविश्वास उत्पन्न होता है। जामवन्त के वचनों को सुनकर हनुमान आत्मविश्वास से भर गये और समुद्र पार करने के लिए तैयार हो गये।[41] कोई कार्य अवश्य होगा, इस तरह का निर्णय भी आत्म विश्वास उत्पन्न करने वाला होता है।[42] कभी-कभी व्यक्ति को निर्दोष सिद्ध करने तथा अपने पर विश्वास उत्पन्न करवाने के लिए विपरीत प्रकार से बात कहनी पड़ती है। कभी वह शपथ खाता है, कभी कहता है कि यदि मैं इसमें शामिल होऊँ तो मेरी ऐसी दुर्दशा हो। मुझे कष्ट मिले। मुझ पर विपत्ति आये। भरत ने अपने को निर्दोष बताने के लिए ऐसी ही बातें कहीं जिससे लोगों को उन पर विश्वास हो गया।[43] असम्भव चाहें सम्भव हो जाये लेकिन तुम ऐसा नहीं कर सकते- कभी कभी व्यक्ति अपना विश्वास बताने के लिए इस तरह की भी विपरीत बात कहता है।[44] किसी की शक्ति का विश्वास दिलाने के लिए उसके आत्मीय जो उसकी असाधारण शक्ति और अतुलित बल से परिचित हैं वो हमारे सामने उसके जीवन के ऐसे प्रसंग रखते हैं जिनसे उसके प्रति हमारी श्रद्धा/आस्था बढ़े और हमारे मन मे अविश्वास जनित व्याकुलता दूर हो। सुनयना में राम की सामर्थ्य के प्रति इसी प्रकार विश्वास उत्पन्न हुआ।[45]

विश्वास के आधारों का उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि विश्वास के लिए किसी को अच्छी तरह समझना, उसकी सम्यक् जानकारी प्राप्त करना अति आवश्यक है। तुलसी कहते हैं- हे जीभ! राम नाम के तत्व को जान और फिर उसमें प्रेम पूर्वक विश्वास कर।[46]

"विश्वास" संवेग जब हृदय में उत्पन्न हो जाता है तो व्यक्ति उससे अनेक प्रकार से प्रभावित दिखलाई पड़ता है। विश्वास से शक्ति अर्थात् बल पैदा होता है। तुलसी ने कहीं-कहीं विश्वास के स्थान पर "बल" का प्रयोग किया है। असल में विश्वास एक ऐसी भावना है जिससे व्यक्ति को बड़ा बल और सहारा मिलता है। विश्वास जब धारणा नहीं आस्था का रुप धारण कर लेता है तब हमारे हृदय में असीम उत्साह और बल का संचार होने लगता है। तुलसी का "बल" शब्द उसी को व्यक्त करता है। भगवान राम-सबल है, समर्थ हैं। सज्जन उनके यश का वर्णन अपनी वाणी को पवित्र करने के लिए करते हैं इसी विश्वास के सहारे मैं भगवान की गाथा उन्हीं को प्रणाम कर कह रहा हूँ जिससे मेरी वाणी पवित्र हो जाये। इसीलिए सर्वप्रथम मैं भगवान की कीर्तिगाथा का ही वर्णन कर रहा हूँ क्योंकि ऋषियों ने सबसे पहले भगवान की कीर्ति का ही वर्णन किया है उसी परम्परा का पालन मैं करूँगा क्योंकि श्रेष्ठ लोग यदि सरिता/सागर पर सेतु बना दें तो अथाह जलराशि वाली इस सरिता को चींटी भी पार कर जाती है। इसी विश्वास के सहारे अथवा इसी बात का भरोसा (बल) अपने मन को दिखाकर भगवान राम की सुन्दर कथा का ही वर्णन करूँगा।

इस प्रकार एक विश्वास दृढ़ धारणा के रूप में होता है और एक विश्वास केवल दृढ़ धारणा के रूप में ही नहीं बल्कि आन्तरिक बल स्रोत बन जाता है। ऐसा विश्वास बल हो जाता है और उसके सहारे

मन जो किसी असम्भव या बड़े कार्य को करने में आगा–पीछा सोचकर उत्साहीन हो जाता है वह उत्साह से मर जाता है।

विश्वास के कारण व्यक्ति के विचारों में ध्रुवतारा के समान दृढ़ता आ जाती है।[48] व्याकुलता तभी तक रहती है जब तक धीरज नहीं होता और धीरज आस्था के बिना पैदा नहीं होती है तब व्यक्ति में तन–मन–वचनों में दृढ़ता पैदा हो जाती है, दृढ़ता के कारण ही किसी के प्रति दृढ़ अनुराग उत्पन्न होता है तभी स्नेह में सच्चाई आती है फिर उसके मिलने में कोई सन्देह नहीं रहता।[49] विश्वास ही स्नेह का जनक है। जब तक किसी पर विश्वास नहीं उत्पन्न होता तब तक उस पर प्रीति नहीं होती।[50] जब विश्वास उत्पन्न हो जाता है तभी उसका स्मरण, सेवन, और शरण ग्रहण की जाती है।

कल्याणकारी वस्तु का विश्वास व्यक्ति को अनेकों क्लेशों से रहित कर देता है,[51] जिससे व्यक्ति सुखपूर्वक सोता है।[52] विश्वास ही सुख का आधार है।[53] राम नाम में प्रेम और विश्वास होने पर व्यक्ति राम कृपा पाकर कभी भी दुःख से दुखी नहीं होता और विश्वासहीन ही दुःख उठाता है।[54]

हृदय में अगर विश्वास बना रहता है तो भ्रम पैदा नहीं होता। इसीलिए भगवान नारद से यह विश्वास भूलकर भी न छोड़ने के लिए कहते हैं कि शिव के समान मुझे कोई प्रिय नहीं है।[55] विश्वास से संदेह दूर होता है और विषाद मिटता है और यदि किसी के उस गुण पर जिस पर हमारी इच्छा पूर्ति निर्भर है, विश्वास हो जाता है तो उसके प्रति प्रेम भी बढ़ जाता है।[56]

भरोसा में एक प्रकार की निर्भरता होती है। अनन्यता और निर्भरता सहज विश्वास की सूचक है।[57] विश्वास के बल पर ही व्यक्ति अन्यों पर भरोसा कर भटकने वाली प्रवृत्ति को रोक सकता है।[58] सामर्थ्यवान् का भरोसा व्यक्ति को सभी के क्रोध से बचा देता है,[59] व्यक्ति प्रसन्न दिखलाई पड़ता है।[60] जिस बात पर विश्वास होता है उसे व्यक्ति झूठ नहीं समझता।[61] जिस पर विश्वास होता है उसके कहने पर व्यक्ति सब कुछ करने को तैयार हो जाता है। वह उसी के वश में हो जाता है। कैकेयी विश्वास के कारण ही मंथरा के वश में हो गयी और उसी के कहने पर चलने लगी।[62]

अन्य संवेगों की भाँति विश्वास का भी स्वभाव से सम्बन्ध होता है। शक्ति पर विश्वास रखने वाले को दैव पर भरोसा नहीं होने पाता। लक्ष्मण इसी लिए राम से कहते हैं कि क्रोध करके समुद्र को सुखा डालिए दैव का कोई भरोसा नहीं होता।[63] कभी–कभी व्यक्ति को अति स्नेह के कारण प्रिय की शक्ति पर विश्वास नहीं होता। सुनयना अति स्नेह के कारण व्याकुल हो रही है कि राम धनुष कैसे तोड़ पायेंगे।[64] मंद बुद्धि के कारण भी व्यक्ति किसी की अतुलित शक्ति पर विश्वास नहीं करता। ऐसा वह भय के कारण करना सीखता है। जयन्त जब तक भयभीत नहीं हुआ उसे प्रभु की शक्ति पर विश्वास नहीं हुआ।[65] कपट भरे हृदय में प्रेम और विश्वास नहीं हो ही सकता।[66] विश्वास वातावरण से भी प्रभावित होता है। दुष्काल के प्रभाव से

भगवान में विश्वास नहीं हो सकता। ऐसे समय में विरले ही भगवान पर विश्वास कर पाते हैं।[67] जब किसी दारुण दुःख का कारण कोई छोटी सी बात बताई जाये तो उस बात पर विश्वास नहीं होता। राम को विश्वास नहीं हो रहा कि दशरथ के दुःख का कारण केवल उनका वन गमन है।[68]

विश्वास संवेग का व्यक्ति के जीवन में बड़ा महत्व है क्योंकि जिस पर विश्वास होता है उसी से हमारा काम पूरा होता है।[69] प्रेम और विश्वास के आधार पर सामान्य व्यक्ति का भी जीवन निर्वाह हो जाता है।[70] विश्वास पूर्वक काम करने पर ही काम का लाभ मिलता है। भगवत् कथा विश्वासपूर्वक सुनने ही ही फलित होती है।[71] विश्वास के बिना कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।[72] विश्वास पूर्वक करने पर ही कार्य की सार्थकता होती है।[73] बिना आस्था के प्रबोध अर्थात् सम्यक् ज्ञान कभी नहीं प्राप्त हो सकता।[74] हरिकृपा का फल तभी मिलता है, जब हरि कृपा पर विश्वास हो।[75] किसी का स्नेह भी तभी प्राप्त होता है जब उसके प्रति सहज प्रीति और विशेष विश्वास हो।[76] विश्वास के बिना भक्ति नहीं मिलती है। भजन का रहस्य दृढ़ विश्वास में है।[77] चाहें ज्ञान हो या भक्ति हो, श्रद्धा और विश्वास के बिना की भी मार्ग की साधना नहीं हो सकती। श्रद्धा और विश्वास से मन में अनुकूल स्थिति उत्पन्न होती है।[78] शुभ वस्तु के प्रति प्रेम और विश्वास सब प्रकार से मंगल करने वाला है।[79] किसी के प्रति जब विश्वास होता है तभी उसके गुणों का हमें सही लाभ मिल पाता है। प्रभु के प्रति भरोसा चतुर्फलों को देने वाला होता है।[80]

विश्वास को लाभकारी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि किसी एक में ही दृढ़ विश्वास हो और अन्य समस्त विश्वासों का त्याग हो। तुलसी दास कहते हैं कि यदि हम एक में अनन्य विश्वास प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें अपने बिखरे हुए विश्वासों को पहले समेटना होगा और फिर उसे एक में केन्द्रित करना होगा। क्योंकि विभाजित विश्वास से आस्था भी विभाजित हो जाती है और उस स्थिति में अनन्यता पैदा होने का प्रश्न ही नहीं उठता।[81]

तुलसी ने मन के कई स्तरों का उल्लेख किया है उनमें एक स्तर शठमन का है। शठों के सम्बन्ध में तुलसी ने लिखा है– "शठ सुधरहिं सतसंगति पाई।" इसलिए इस प्रसंग में तुलसी ने शठमन के सामने दो तीन बातें रखी हैं– पहला शठमन को यह विश्वास दिलाया कि रघुवीर के गुण, विषाद और संशय को दूर करने वाले आनन्द के धाम हैं। लेकिन संदेह और विषाद दूर होकर सुख तभी मिलेगा जब हे मन तू अन्य अनेकों की आशा भरोसा त्यागकर लगातार भगवान राम के गुणों का चिन्तन मनन श्रवण करेगा। इष्ट पर अनन्य विश्वास की सत्यता किसी दूसरे की आशा न करना है।[82]

प्रेम और विश्वास का बड़ा गहरा सम्बन्ध है। जब प्रेम विश्वास से युक्त होता है तभी वह अधिक प्रभावशाली होता है। मन, वचन और कर्म से किया गया विश्वास सराहनीय अनुराग का कारण होता है। जिस विश्वास में प्रेम मिला होता है उसे देखकर हर्ष की अनुभूति होती है। भरत का प्रेम इसीलिए सराहनीय हुआ क्योंकि उनके प्रेम में राम के प्रति अतिशय विश्वास शामिल था।[83] प्रतापभानु का प्रेम विश्वास

के कारण ही प्रभावशाली हुआ और उसे तपस्वी की ममता प्राप्त हुई।[84] किसी में प्रेम और विश्वास देखकर उससे फिर कोई भी रहस्य नहीं छिपाया जाता यदि कोई छिपाता है तो उसे भयानक दोष लगता है। तपस्वी ने इसीलिए प्रतापभानु को अपनी सारी रहस्यपूर्ण बातें बतला दीं।[85]

मानस में कुछ धारणायें या विश्वास इस प्रकार व्यक्त हुए हैं जिन्हें कभी नहीं छोड़ना चाहिए था जिन पर भूलकर या स्वप्न में भी अविश्वास नहीं करना चाहिए। इनमें एक है बिना शिव कृपा के राम भक्ति का न मिलना। मानस में इस प्रकार की उक्तियाँ कई हैं। इसकी पुष्टि इस निषेधात्मक वचन से होती है कि जिस पर पुरारी की कृपा नहीं होती उसे मेरी भक्ति नहीं मिलती।

कुछ धारणायें होती हैं लेकिन कुछ आस्थायें होती हैं। जो आस्थायें होती हैं उन्हें हृदय में धारण करना चाहिए। आस्था में दृढ़ता बहुत आवश्यक है अन्यथा सन्धि पाकर भ्रम कभी भी आस्था को डिगा सकता है।[86]

विश्वास संवेग के कई स्तर होते हैं। एक केवल बुद्धिगत निश्चित धारणा तक सीमित रहता है और एक हमारे स्वभाव का अंग बन जाता है। जब कोई विश्वास या आस्था हमारे स्वभाव का अंग बन जाती है तब फिर हमारे पूरे जीवन का केन्द्र और हमारे सारे क्रिया-कलापों की मूल प्रेरणा उसी आस्था से निर्दिष्ट होती है। स्वभावगत आस्था से ही अनन्यता पैदा होती है। यही बात लक्ष्मण की इस उक्ति से झलकती है कि मैं स्वभाव से कहता हूँ। आप मेरा विश्वास करें। आपको छोड़कर किसी पितु-माता को मैं नहीं जानता। शास्त्रों में जितने प्रकार के विश्वास और प्रेम तथा स्नेह सम्बन्धों का शास्त्रों ने वर्णन किया है उनमें से मेरे स्वामी एक मात्र आप ही हैं। अर्थात् मेरे सम्पूर्ण राग का केन्द्र आपको छोड़कर कहीं नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है स्वभावगत विश्वास से ही अनन्यता पैदा होती है।[87]

किसी के मन में किसी के प्रति यदि प्रेम और विश्वास हो तो वह छिपता नहीं है उसे सारे लोग जान जाते हैं। जब कोई व्यक्ति अपने इसी प्रेम और विश्वास के विपरीत काम करता है तो समाज उस पर प्रश्न उठाता है।[88]

तुलसी ने विश्वास के सन्दर्भ में विवेक का भी उल्लेख किया है। उनका कहना है कि विश्वास के साथ विवेक भी रहना चाहिये लेकिन कभी-कभी जब भाग्य उल्टा होता है या व्यक्ति में स्वार्थ की प्रधानता हो जाती है उस समय उसका विवेक काम नहीं करता और वह कुतर्कों पर विश्वास कर लेता है। कैकेयी को इसीलिए मन्थरा पर विश्वास हो गया था। क्योंकि दुर्भाग्य के कारण कैकेयी विवेकहीन हो गयी थी।

विश्वास संवेग संक्रामक वृत्ति की तरह काम करता है अर्थात् अगर किसी के प्रति हमारा दृढ़ विश्वास है तो उससे सम्बद्ध हर बात पर हमें विश्वास होता है जैसे कोई हमारा हितैषी और मंगल का ध्यान रखने वाला है तो फिर उससे सम्बद्ध हर वस्तु हमारे मंगल का विधान करने वाली होगी। उदाहरण के लिए तुलसी राम के भक्त हैं। राम उनके आराध्य हैं। राम का स्वरूप मंगल करने वाला, आनन्द का धाम और सब प्रकार के कालुष्यों से मनुष्यों को मुक्त करने वाला है तो यह गुण केवल राम में ही नही उनसे सम्बद्ध हर बात में झलकता है जैसे नाम, उनका यश, वर्णन, उनकी कथा, उनका चरित, उनका ध्यान फिर भक्तों का संग उनसे सम्बद्ध स्थान सबका वही परिणाम है जो राम के दर्शन का है। तुलसी का यह परम विश्वास है। उनकी यह आस्था मानस और मान सेतर अन्य ग्रन्थों में भी अनेक स्थलों पर व्यक्त हुई है। इन स्थलों से तुलसी के विश्वास संवेग की पुष्टि होती है।

व्यक्तिगत जीवन के विकास के लिए विश्वास अनिवार्य संवेग है। या तो अपने आपमें विश्वास होना चाहिये और अगर अपने में विश्वास नहीं है तो फिर जो विश्वास का स्रोत हो उसमें ही विश्वास होना चाहिए। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तुलसी का मानना है कि जिनमें राग की प्रधानता होती है, जो भक्त हैं उन्हें अपने आराध्य पर विश्वास होता है, जो बुद्धि वादी ज्ञानी होते हैं, उन्हें स्वयं पर विश्वास होता है।

आशा – निराशा ::

किसी कार्य के होने का जो विश्वास होता है और उस विश्वास के उपरान्त मन में जो यह भाव जागता रहता है कि यह कार्य हो जायेगा अथवा यह वस्तु मिल जायेगी तो इसी भाव को आशा कहते कहते हैं। आशा के टूटने पर व्यक्ति में जो हताश होने का भाव दिखलायी पड़ता है उसे निराशा कहते हैं। शब्दकोशों में इसका अर्थ किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा और किंचित् विश्वास, उम्मीद, साधारण भरोसा, किसी भावी अभीष्ट या प्रिय कार्य या बात के सम्बन्ध में मन में उत्पन्न होने वाला यह भाव कि यह जल्दी ही पूरी हो जायेगी या हो जानी चाहिए ये दिये है।[89]

गीता में आशा को सैंकड़ो बंधन रूप वाली कहा गया है और यह भी कहा गया है कि आशा से संताप होता है।[90] पं० रामकिंकर उपाध्याय कहते हैं– कर्म व्यक्ति के जीवन में जहाँ अनेक सफलताओं की सृष्टि करता है, वहाँ दूसरी ओर निराशा और श्रम की अनुभूति भी उसका पीछा नहीं छोड़ती।[91]

पाश्चात्य मनोविज्ञान में मैक्डूगल लिखते हैं कि आशा हमारी कामना को बढ़ा देती है। दुर्भाग्य को रोकने में मदद करती है और हताशा दुर्भाग्य को रोकने में मदद करती है और हताशा की भावना को

प्रभावित करती है तथा पुनः लक्ष्य को पाने का धैर्य प्रदान करती है। आशा वर्तमान की अपेक्षा भविष्य को अच्छा आभासित करती है। और इस प्रकार कामना को बलवती बनाती है।[92]

जिस तरह विश्वास विपत्तियाँ आने पर आशा में और आशा इनके गम्भीर होने पर चिन्ता में बदल जातीं है उसी तरह से चिन्ता निराशा में परिवर्तित हो जाती है। जब हम यह सोचने लगते हैं कि हमारी कठिनाईयाँ इतनी बड़ी हैं कि हम उनपर किसी भी प्रयास से विजय नहीं पा सकते। जब आशा धूमिल होते–होते बिल्कुल क्षीण हो जाती है तो हम हताश होने लगते हैं।[93] निराशा में हम घिसटते हुए आगे बढ़ते हैं। हमारा सिर नीचे रहता है और कन्धे शिथिल ओर झुके रहते हैं। आशा में लक्ष्य प्राप्ति के आनन्द से उत्साहित होकर के आगे बढ़ते हैं किन्तु निराशा में हमारी कामना दु:ख पूर्ण असफलता की सम्भावना से रंजित और अवरूद्ध हो जाती है। का कहना है कि निराशा में हमारी कामना, संकल्प ढीला पड़ जाता है जिस प्रकार आशा में यह बलवान हो जाता हैं।[94]

तुलसी ने मानस में संवेगों की दो कोटियाँ रखीं हैं एक कोटि है राम भक्ति में सहायक मन को निर्मल करने वाली और दूसरी कोटि है जो भक्ति पथ से विमुख करती है, आसक्ति और मोह पैदा करती है, प्रेय की ओर ले जाती है और श्रेय से दूर करती है। आशा दुराशा इच्छा के अन्तर्गत आने वाले इसी प्रकार के संवेग हैं इसका उल्टा "निराशा" है। निराशा संवेग तब उत्पन्न होता है जब किसी इच्छा की पूर्ति की किसी वस्तु की प्राप्ति की सम्भावना समाप्त हो जाती है। कभी–कभी निराशा के आघात से व्यक्ति अच्छे मार्ग पर चलने लगता है और उसका मार्ग और अंधेरे में ले जाने वाला होता है।

आशा एक ऐसा मनोविकार है जिसे व्यक्ति तमाम् बाधाओं, पराजयों के बाद भी नहीं छोड़ना चाहता। थोड़ी बहुत आशा उसके मन में बनी ही रहती है। सीय स्वयंवर में आये राजा लोग धनुष न तोड़ पाने के कारण विफल मनोरथ हो गये लेकिन फिर भी नृप समाज इस आशा से बैठा रहा कि शायद परिस्थिति बदले और आशा की पूर्ति हो।[95]

आशा व्यक्ति के स्वभाव का स्मरण करके ही की जाती है।[96] जिससे अपना काम होने का विश्वास होता है उसकी व्यक्ति आशा करता है।[97] किसी के करुणापूर्ण स्वभाव को जानकर ही दुखी लोग उसकी आशा और विश्वास करते हैं।[98] भक्त को केवल राम नाम से ही आशा होती है।[99]

आशा में बहुत बल होता है क्योंकि कितना भी गहरा दु:ख हो यदि उसके दूर- दूर होने की सम्भावना होती है तो व्यक्ति आशान्वित होकर प्राणों को धारण किये रहता है। अवधि पर्यन्त यदि प्रिय के मिलने की सम्भावना है तो प्रिय के आने की आशा में व्यक्ति का जीवन बना रहता है।[100]

आशा से इच्छापूर्ति की प्यास जगती है[101] जिसके कारण व्यक्ति इधर-उधर भटकता फिरता है। जिससे कुछ आशा होती है, व्यक्ति उसकी ओर झुक जाता है।[102] व्यक्ति को आशा की पूर्ति के लिए शरण भी ग्रहण करनी पड़ती है।[103] वह इसके लिए विनय पूर्वक याचना भी करता है।[104] दारुण आशा अत्यधिक दु:ख देने वाली होती है।[105] विषयों की आशा से सुख स्वप्न में भी नहीं मिल सकता।[106] मिथ्यावस्तु की आशा में व्यक्ति भटकता रहे और किसी प्रकार न माने तो अन्त में उसका सारा प्रयास और जीवन व्यर्थ चला जाता है।[107] किसी के प्रति समर्पण करने के लिए उसी से एक मात्र आशा रखने के लिए अन्य सब प्रकार की आशाओं को त्यागना पड़ता है, क्योंकि विभिन्न प्रकार की आशायें व्यक्ति के ध्यान को केन्द्रित नहीं होने देतीं।[108/109] आशा के कारण व्यक्ति गुलाम हो जाता है।[110]

तुलसी का मानना है कि इष्ट को छोड़कर अन्यों की आशा करना मूर्खता होती है।[111] जीने की सार्थकता जिसके रहने से है। उसके न रहने पर यदि कोई जीने की आशा करता है तो उसकी यह इच्छा/आशा धिक्कारने योग्य होती है। दशरथ कहते हैं कि राम के बिना जीने की आशा को धिक्कार है।[112] आशा जिस उपाय से पूरी हो सकती है यदि वह उपाय करने का सामर्थ्य किसी में न हो तो आशा में रहना व्यर्थ है। ऐसी आशा को छोड़ देना चाहिए। जनक जी राजाओं को धनुष तोड़ने में असफल देख कहते हैं अब आशा छोड़कर अपने-अपने घर जाओ, ब्रह्मा ने सीता का विवाह लिखा ही नहीं।[113]

आशायें नष्ट भी हो जातीं हैं। किसी के हित की दृष्टि से कोई कुछ बात कहे और उसे न मानी जाये तो मन में जो आशायें होतीं हैं वे समाप्त हो जातीं है ओर आग्रह करने पर भी वह आशा नहीं जग पाती।[114] किसी वस्तु के मिलने की आशा व्यक्ति में उस समय तक बनी रहती है जब तक उसकी पूर्ति का मार्ग खुला रहता है लेकिन जब उसके मिलने के सब मार्ग बंद हो जाते हैं तभी उसकी आशा समाप्त होती है।[115] प्राणों के आधार के दूर चले जाने पर जीने की आशा नहीं रहती है।[116] सम्भावना असम्भावना में बदलने लगे तो व्यक्ति कार्यपूर्ण होने की आशा को त्याग देता है। रावण की माया देख देवताओं की आशा नष्ठ होने लगी कि अब रावण नहीं मर पायेगा।[117] शरीर के सूख जाने पर जीने की आशा नहीं रहती।[118]

आशा संतोष होने पर दूर हो जाती है।[119] जिसके सहारे हमने बड़ा काम साधा था यदि वहीं व्यक्ति संकट में पड़ जाये तो हमारी सारी आशायें कमजोर पड़ने लगतीं है। लक्ष्मण के घायल हो जाने पर राम बिलख कर रोने लगे। उनके मन की आशायें शिथिल हो गयीं।[120] हृदय में तत्व ज्ञान का प्रकाश होने पर मिथ्या आशायें दूर हो जातीं हैं।[121] आशायें इष्ट में दृढ़ विश्वास होने पर ही समाप्त होतीं हैं।[122] भगवत् कृपा से आशाओं का नाश होता है।[133] मन के स्वस्थ होने पर विषयों की आशा नहीं रहती।[124]

प्राण बचने की आशा हो और वह समाप्त हो जाये तो व्यक्ति निराश तो होता ही है, भयभीत भी हो जाता है। जयन्त राम के बाण से भयभीत हो सबकी शरण में गया लेकिन उसे किसी ने शरण नहीं दी जिससे वह बहुत निराश हो गया।[125] किसी वस्तु के मिलने की आशा हो लेकिन उस वस्तु को किसी दूसरे को मिलने की सम्भावना देखें तो हम हृदय से हार जाते हैं, हृदय से पराजित/निराश हो जाते हैं। स्वयंवर में सभी राजा प्रभु को देखकर निराश हो गये उन्हें राम की विजय की सम्भावना होने लगी।[126] लक्ष्य पर अधि्कार करने की सम्भावना से कोई प्रयास करे और उसमें सफल न हो तो हृदय में अत्यन्त निराश पराजित और तेजहीन हो जाता है। आशा की मनोवैज्ञानिक स्थिति तभी तक है जब तक इच्छापूर्ति की सम्भावना बनी रहे। सम्भावना समाप्त हो जाये या आशा का जो अवलम्ब है वह अवलम्ब ही न रहे तो फिर मनुष्य हृदय से हार जाता है।[127] प्यास हो और प्यास बुझने की आशा भी हो लेकिन आशा जिस अवलम्ब पर खड़ी हो वह मिथ्या हो तो आशा पूर्ति की सम्भावना से जो व्यक्ति उस स्रोत के पास जाता है और उसे वहाँ न पाकर जब उसे अपने भ्रम का अहसास होता है तो वह आशा टूटने से दुखी होकर लौट आता है।[128] मन की रुचि के अनुसार मन को तृप्त करने वाली वस्तु जहाँ न हो वहाँ पर यदि किसी कारण से परिश्रम करके जाना पड़े तो मनोनुकूल वस्तु या रस न पाकर मनुष्य हताश निराश और उत्साह हीन हो जाता है।[129] शक्तिशाली शत्रु से संघर्ष करने के बाद जब सुरक्षा का भय या प्राण जाने का संकट उपस्थित हो जाता है तो व्यक्ति भय के कारण हृदय से पराजित हो जाता है।[130] विजय के अन्तिम उपाय को भी कोई ध्वस्त कर दे तो व्यक्ति हृदय में अत्यन्त हताश ओर पराजित सा हो जाता है।[131] शत्रु के अपराजेय बल प्रदर्शन के आगे विपक्षी बिना लड़े हृदय में हार स्वीकार कर लेता है।[132]

हिम्मत हारने पर व्यक्ति की कार्यशक्ति बहुत कम रह जाती है।[133] वह तेजहीन हो जाता है।[134] जिससे आशा पूरी हो सकती है वह चाहे उदासीन रहे फिर भी आर्त्त व्यक्ति उसी की आशा करता है अर्थात् इष्ट के उदासीन रहने पर भी भक्त उसी की आशा करता है।[135] अनन्य प्रेम में व्यक्ति प्रिय की उदासीनता पर ध्यान न देकर उसी की आशा पर निर्भर रहता है।[136]

तुलसी ने इच्छा को भक्ति में बाधक माना है वे कहते हैं कि सब इच्छाओं को छोड़कर जो भगवान के रंग में रंग जाते हैं वो धन्य हैं।[137] यदि भक्ति में स्थिरता और निरन्तरता लानी हो तो आवश्यक है कि समस्त आशाओं का त्याग कर दिया जाये।[138]

आशा पूरी हो इसकी बड़ी बलवती कामना होती है।[139] आशा का अस्तित्व तभी तक है जब तक व्यक्ति की इच्छा पूरी नहीं होती।[140] वह आशा जो इच्छापूर्ति के लिए बहुत प्रतीक्षा कराये दारुण आशा कहते हैं।[140]

दु:ख ::

मानवीय संवेगों में दु:ख का महत्वपूर्ण स्थान है। यह संवेग सुख संवेग का उल्टा है और एक अवांछित अनुभूति है। इसका विस्तार क्षेत्र बड़ा ही व्यापक है। आज संसार में कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है जो दुखी न हो। किसी को धन का दु:ख है, किसी को मान का दु:ख है, किसी को ज्ञान का दु:ख हे, किसी को व्याधि का दु:ख है और किसी को अपने धर्म पालन का दु:ख है। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी किसी न किसी कारण से दु:खी है। दु:ख एक कष्टपूर्ण अनुभति का नाम है। इस शब्द से व्यक्ति के मन की आकुलता और व्याकुलता व्यक्ति होती है। यह एक कष्टपूर्ण अनुभूति होते हुए इसका मानव जीवन में महत्व भी है। दुखी होने पर ही व्यक्ति किसी के महत्व को समझ पाता है और सुख का बोध कर पाता है। दु:ख ही व्यक्ति को कार्य करने की प्रेरणा देता है। सुख की अवस्था में अधिकाशंत: व्यक्ति में निष्क्रियता का विकास देखा जाता है। शब्दकोशों में दु:ख संवेग के अनेक पर्याय रखे गये हैं ओर उन्हें मुख्यतः शारीरिक/मानसिक कष्ट का ही द्योतक कहा गया है।[141] रामचन्द्र वर्मा "शब्द साधना" में लिखते है कि दु:ख कष्ट, क्लेश, खेद, पीड़ा, विषाद, वेदना, व्यथा, शोक, संताप इन सभी समानार्थक शब्दों की अनुभूति को अपने में समेटे हुए है। यह अप्रिय, प्रतिकूल और हानिकारक बातों से उत्पनन होता है।[142]

शेंड ने दु:ख को प्राथमिक संवेग माना लेकिन मैक्डूगल ने उसे व्युत्पन्न संवेग बताते हुए इसे कामना से जोड़ा और कहा कि शोक का एक भाग प्रेम से प्रादुर्भूत होता है। प्रिय की मृत्यु एक प्रकार के दु:ख का महत्वपूर्ण अवसर है।[143] गीता में प्रतिकूल की प्राप्ति और अनुकूल के विनाश से अन्त:करण में उत्पन्न व्याकुलता को व्यथा कहा गया है[144] और यह माना गया है कि शोक में व्यक्ति उद्विग्न हो जाता है[145] और विषाद और करुणा के कारण व्याकुल हो जाता है[146] शोक में इन्द्रियाँ सूखने लगती हैं।[147]

तुलसी ने दु:ख का बड़े व्यापक अर्थों में प्रयोग किया है। दु:ख के पर्यायों से उसकी विविधता का बोध होता है। दु:ख ऐहिक दैविक और आध्यात्मिक भी होते हैं। लेकिन दु:ख कोई ऐसी वस्तु या ऐसी धारण नहीं है जो किसी एक वस्तुसे संबद्ध हो। यह वस्तु की अपेक्षा मन: स्थिति से ज्यादा संवद्ध है इसलिए जो वस्तु एक के लिए दुखद है वह किसी अन्य के लिए सुखद भी होती है, हो सकती है। दु:ख का संबंध हमारी संवेदना या एहसास से अधिक है। जो मन के अनुकूल है वह सुख है जो प्रतिकूल है वह दु:ख है।

तुलसी साहित्य में दु:ख और सुख की कई स्थितियाँ मिलती हैं। पूरे संवेगों को दुखात्मक या सुखात्मक दो वर्गों में बाँटा गया है। दु:ख प्रतिकूल अनुभूतियों का समुच्चय है। इनकी एकता प्रतिकूल

संवेदना उत्पन्न करने में है।

संवेगों के प्रति तुलसी की संत दृष्टि थी, इसलिए इन्होंने उन दुःखात्मक संवेगों का चित्रण ज्यादा किया है जो भगवत् प्राप्ति में बाधक हैं अथवा उन दुःखों की ओर संकेत किया है जिनसे बचने के लिए व्यक्ति भगवान का सहारा लें और वे भक्ति की ओर मुड़ें। ऐसे दुःख भव रजनी के दुःख हैं।

तुलसी ने बड़े गहरे पहुँचकर दुःख का मनोविज्ञान देखा है उन्होंने माना है कि दुःख उत्पत्ति के अनेक कारण होते हैं, इसके अनेक प्रकार के प्रभाव होते हैं, व्यक्ति के स्वभाव के अनुसार इसका विकास होता है, जिसका जैसा स्वभाव होता है उसे वैसी ही सुख–दुःख की अनुभूति होती है दुःख की अनेक विशेषतायें होती हैं आदि–आदि।

दुःख के कारणों की चर्चा करते हुए उन्होंने बताया कि दुःख आसक्ति के कारण उत्पन्न होता है, विपत्ति की आशंका अथवा विपत्ति आ जाने पर उत्पन्न होता है, इच्छापूर्ति न होने पर दुःख होता है, अप्रिय अथवा प्रतिकूल वस्तु/परिस्थिति से दुःख होता है तथा विरागात्मक संवेगों से दुःख होता है।

आसक्ति के कारण दुःख पर विचार करने पर पता चलता है कि तुलसी प्रिय का वियोग या वियोग की आशंका को तीव्र वेदना दायक मानते हैं। राम के वन गमन के समाचार से जैसे ही लक्ष्मण को राम के वियोग की आशंका हुई वे दुःख से व्याकुल हो उठे।[148] राम के वन चले जाने पर अयोध्यावासी भी गहरे दुःख से भर गये।[149] प्रिय के वियोग में प्रिय की स्मृति संचित वस्तुओं के दर्शन से, प्रिय के स्मरण से तथा प्रिय के स्वभाव, गुण ओर शील के स्मरण से वियोग, दुःख उमड़ता है। वन में राम घर की याद करके बहुत दुःखी हो जाते हैं।[150] वशिष्ठ जी भी राम लक्ष्मण, सीता के वन चले जाने पर उनके स्वभाव, गुण और शील का स्मरण कर शोक मग्न हो जाते हैं।[151] दुष्ट व्यक्ति अपने पुत्र आदि के वध का स्मरण कर विषाद के वश हो जाता है।[152] महापुरुष या लोकोत्तर पुरुष कोई भी सुख अकेले नहीं लेना चाहते। इसीलिए जब कोई सुख उनके आत्मीयों को छोड़कर केवल उन्हें ही मिलने वाला होता है तो वे बड़े दुखी हो जाते हैं। राम राज्याभिषेक की बात सुनकर दुखी हो गये। क्योंकि यह सुख उनके अन्य भाइयों को छोड़कर केवल उन्हें ही मिलना था।[153] प्रिय के अनिष्ट का संकेत पाकर विषाद का अनुभव होता है। सीता राम नाम की अगूठी देख राम के अनिष्ट को सोचकर दुखित हो गयीं।[154]

तुलसी बताते हैं कि प्रिय का वियोग दुःख उत्पन्न करता है लेकिन प्रिय की मृत्यु अथवा मृत्यु की आशंका शोक उत्पन्न करती है। दशरथ की मृत्यु से सभी रानियाँ तथा अयोध्यावासी शोक संतृप्त हो उठे थे।[155] मंदोदरी और रति भी इसी प्रकार अपने–अपने पति के मरने से गहरे शोक के वश हुई थी।[156]

लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर राम लक्ष्मण की मृत्यु की आशंका से ही शोक संतप्त हुए थे। प्रिय की असफलता की आशंका भी व्यक्ति को दुख से व्यथित कर देती है। राम की सुकुमार अवस्था और धनुष की कठोरता को देखकर सुनयना और सीता दोंनो धनुष भंग को असम्भव जानकर दुखी होने लगीं।[158]

व्यक्ति किसी के कष्ट को सोचकर भी दुखी होने लगता है तो हमें दुःख होता है।[159] किसी के साथ अनुचित बर्ताव किया जाय तो हमें दुःख होता है।[160] बिछुड़ते हुए दो प्रेमियों के प्रेम और श्रद्धापूर्ण वार्तालाप को सुनकर विषाद होता है।[161]

विपत्ति के आगमन से व्यक्ति अत्यधिक दुखी हो जाता है। यदि किसी के सुख के दिन समाप्त होने का समय आ जाये[163] यदि अपशकुन होने लगे[164] तो इन परिस्थितियों में दुःख का अनुभव होता है। प्रतिपक्षी के भयंकर वेश और आतंककारी हुंकार को सुनकर हम चिन्तित और दुःखी हो जाते हैं[165] दुष्ट का व्यवहार सभी को दुखी करने वाला होता है।[166]

हीनावस्था, दोष, कुराज्य, पाप से दुःख उत्पन्न होता है।[167] असाध्य विपत्ति के आने से व्यक्ति चिन्तित हो दुखी और व्याकुल हो जाता है।[168] रोग आदि शारीरिक कष्ट से व्याकुलता होती है।[169] आत्मीय जनों को दुःख से व्याकुल देख स्वयं को दुःख होता है। रावण की मृत्यु से विलाप करती स्त्रियों को देखकर विभीषण को दुःख हुआ।[170] ऐसी इच्छा जिसकी पूर्ति असम्भव सी लगे तथा जिसकी पूर्ति न होने से किसी आत्मीय के बिछोह की आशंका हो तो ऐसी अवस्था में दारुण दुःख होता है।[171]

आलसी अभागा और अनाथ व्यक्ति बड़ा ही आर्त्त हो जाता है।[172] बार–बार जन्म लेने में दुःख होता है।[173] थका, भूख/प्यास से व्याकुल, व्यक्ति आवश्यक वस्तु न पाकर दुखी हो जाता है। अंग टूटने या चोट लगने से व्यक्ति दुखी हो जाता है।[174]

अप्रिय अथवा प्रतिकूल वस्तु से दुःख होता है। वाणी सुखदायक भी हो सकती है और दुखदायक भी। यदि कोई वाणी करुण है, दुःख/प्रेम और विनय से युक्त है, कड़वी है, चुभने वाली है, इच्छा को नष्ट करने वाली है तो ऐसी वाणी दुःख रूपी होती है।[175] वेद विरूद्ध आचरण दुःख भय, रोग, शोक, और वियोग उत्पन्न करता है, कपटपूर्ण आचरण भी दुःखदायक होता है।[176] सामर्थ्यवान बालक के आतिर्भाव से शत्रुओं के हृदय में पीड़ा होती है। अंग लित्राण, धनुष ओर वाण से सुसज्जित सांमर्थ्यवान् की छवि से भी हृदय पीड़ा से भर जाता है। जिससे जिस कार्य की आशा थी और वह उस कार्य को न करे तो ऐसे उसके व्यवहार से भी दुःख होता है।[178]

सुख स्रोत की उदासीनता और कुप्रभावों से दुःख ही दुःख प्राप्त होता है।[179] शाप व्यक्ति को संताप ग्रस्त कर देता है।[180] संसार के तीनों ताप व्यक्ति को दुखी कर देते हैं[181] कर्म करने से कष्ट होता है।[182] लक्ष्य से भटकने से इन्द्रियों से भयंकर वस्तु देखने से, विषमता से अवश्य ही दुःख प्राप्त होता है।[183]

इच्छा पूर्ति न होने से अथवा इच्छा के विपरीत कार्य होने से भी व्यक्ति बहुत दुखी हो जता है।[184] जो प्रण हम पूरा न कर पा रहे हों उस प्रण को सोचकर मन में संताप होता है।[185] जिसको हम इस अपेक्षा या विश्वास से बुलाते हैं कि ये कार्य अवश्य कर देंगे, उनके असफल होने पर हम दुखित हो जाते हैं।[186] जिसकी बढ़ती हो रही हो तथा जिसका अभ्मुदय होने वाला हो और उस अम्युदय पर सबका मंगल निर्भर हो उसमें यदि संयोग वश बाधा आ जाये तो उस पूरे समुदाय में विषम विषाद का भाव फैल जाता है।[187]

अपराध बोध से भी दुःख होता है।[188] विरागात्मक संवेगों के उपजने तथा तरह–तरह के मानसिक द्वन्द्वों के उत्पन्न होने से व्यक्ति बहुत दुखी हो जाता है। संदेह उत्पन्न होने धर्म संकट की अवस्था आने अथवा असमंजस में पड़ जाने भय/भ्रम/मोह/ईर्ष्या/विषय कामना/ममता/अभिमान/काम/क्रोध/मद/लोभ/दया आदि संवेगों के जागने से हृदय क्षुब्ध हो दुखी हो जाता है।[189] कुबुद्धि से, बिना विचार किये हुए कार्य्र से, मूर्खता/मतिमंदता/कुटिलता से, कुतर्क से, हठ से, आस्था और श्रद्धा विहीन होकर कार्य करने से व्यक्ति को दुख होता है।[190] अपमानित होने पर व्यक्ति का विषाद बढ़ता है।[191] वैराग्य हो जाने पर वैराग्यवान् को घर में शोक का अनुभव होता है।[192] व्यर्थ के वाद विवाद से, तर्क–वितर्क से हृदय को पीड़ा होती है।[193]

शिव–सती प्रसंग में सती को जो दुःख हुआ था उसके अनेक कारण थे– आज्ञा न मानना, अनुचित कार्य करके छिपाना, हमारे कार्य से हमारे परम आत्मीय को घोर मानसिक संताप और विषाद होना, अपराध ओर दण्ड का प्रत्यक्ष रूप से न रहा जाना, सफाई देने का भी अवसर न मिलना, प्रिय द्वारा त्याग दिया जाना, प्रिय का बेरुखापन उससे उत्पन्न चिन्ता/दुःख/ मनस्ताप तथा जीवन निरर्थकता के बोध ने सती के हृदय को शोक का सागर बना दिया था उन्हें यह लग रहा था इससे निस्तार का कोई उपाय नहीं मिलेगा। भविष्य में क्या होगा? इसकी उन्हें चिन्ता थी। दुख का एक बहुत बड़ा कारण अपने दुःख को प्रकट न कर सकना था। सती को शोक अन्दर ही अन्दर घुमड़कर अवा की तरह उनके हृदय को जलाता रहता था।[194]

भगवान शंकर भक्त के दुःख से दुखी रहने लगे। यद्यपि वे अकाम हैं। यहाँ भगवान शंकर

के दुःख में करुणा मिली हुई है। उन्हें विरह–दुःख नहीं है वे तो सती के विरह दुःख को सोचकर करुणा से भर गये और दुखी ही गये। यहाँ उनके दुःख में भक्त के प्रति अनुकंपा और करुणा का अंश ज्यादा है। दुःख का रुख सती के दुःख की ओर ज्यादा है अपने दुःख की ओर नहीं। क्योंकि भगवान शंकर ने तो स्वयं ही उन्हें त्यागा था।[195]

संसार को दुःख का कारण बताया गया है। तुलसी दर्शन के अनुसार संसार कुछ है नहीं, लगता है। भासित होता है/भ्रम के कारण ही वह दुःखी सुखी हमें करता रहता है। तुलसी का कहना है कि यद्यपि दुःख का कारण झूठ है फिर भी इससे अनुभव होने वाला दुःख तब तक सच रहता है जब तक उसके मिथ्यात्व का हमें बोध न हो जाये। भारतीय दर्शन की यह मान्यता है कि जो वस्तु है वह सदा रहेगी और जो नहीं है वह कभी नहीं रहेगी। झूठ का झूठपन भासित होता है इसी तरह सृष्टि का अस्तित्व बोध भी भासित होता है। वह है नहीं किंतु जब तक भ्रम रहेगा तब तक दुःख रहेगा। यहाँ पर तुलसी दुःख के कारण की नित्यता की ओर संकेत करते हैं।[196]

सम्भावित दुःख को सोचकर व्यक्ति का कभी–कभी इस दुःख से इतना तादात्य हो जाता है कि उसे ऐसा लगने लगता है कि यह दुःख/विपत्ति हमारे जीवन में घटित हो ही गयी है और वह जिस तरह घोर दुःख में विलाप करता है, रोता धोता है ठीक उसी तरह भावी दुःख की कल्पना से दुखी हो जाता है। ऐसा उस समय निश्चित रूप से होता है जब भविष्य में मिलने वाले दुःख की परिस्थिति आना बिल्कुल निश्चित होती है। मंथरा ने जब कैकेयी को आने वाले दुःख से परिचित कराया तो वह उसे दुःख की कल्पना से बहुत दुखी हो गयी। इस बात को ऐसे भी कहा जा सकता है कि जैसे सुख है नहीं अभी लेकिन भविष्य में मुझे मिलेगा। इस कल्पना से भी व्यक्ति कभी–कभी सुख की प्रत्यक्ष अनुभूति में डूबकर हर्षित, उत्फुल्ल ओर पुलकित होने लगता है ठीक उसी तरह सम्भावित दुःख को साकार समझकर रोने धोने लगता है।

जब कोई व्यक्ति किसी विकट परिस्थिति में पड़ जाता है और उससे निकलने का उसे कोई उपाय नहीं सूझता तो उसमें एक प्रकार की दीनता का भाव आ जाता है। कैकेयी में इसी प्रकार का भाव आ जाता है। कैकेयी में इस प्रकार का भाव आ गया था।[197]

कभी–कभी ग्लानि जब बहुत अधिक बढ़ जाती है तो तीव्र दुःख होता है। ऐसे स्थान पर दुःख का कारण अत्यन्त पछतावा और ग्लानि ही होती है। व्यक्ति सोचता है कि ऐसा हो जाना चाहिए था किन्तु मेरे अपने कारण से ही ऐसा नहीं हो रहा है। भक्ति उत्पन्न हो जानी चाहिए थी किंतु वैराग्य ही नहीं हो रहा है। मनु को इस बात की ग्लानि/पछतावा हुआ। यही उनके दुःख का कारण था। इस दुःख का

कारण बाहर नहीं स्वयं व्यक्ति के मन में विषयों के प्रति अत्यंत आसक्ति और उसे न छोड़ पाने से उत्पन्न ग्लानि होती है।[198]

सुखोपभोगों से वंचित व्यक्ति सुखोपभोगों को याद कर करके दुःखी होता है। और जब सामने वह व्यक्ति आ जाता है जिसने उसे उक्त सुख–साधनों से वंचित ही नहीं किया वस अब उसके स्थान पर उनका उपभोग भी कर रहा है तो वह दुःख ईर्ष्या–वैर से मिश्रित होकर अवां की अग्नि की तरह उसके हृदय में जलने लगता है।[199]

शत्रु जब तक पूर्ण रूपेण नष्ट नहीं होता तब तक उससे दुःख मिलता ही रहता है। इसलिए उसे पूर्ण रूपेण नष्ट करना चाहिए।[200]

कुटिल/भंयकर/विवेक तथा दया से हीन, हिंसक और निरन्तर दुष्ट कर्म में लीन व्यक्ति संसार को अवर्णनीय परिताप देते हैं।[201]

दुष्ट लोगों को अच्छे कार्यों में अरुचि होती है। इसलिए जो धर्मकार्यों में लगे रहते हैं उन्हें वे अनेक प्रकार से त्रास देते हैं।[202]

सुख और आनन्द के प्रवाह में व्याघात पड़ने से दुःख होता है। जो हमारा प्रिय है जिसे हम चाहते हैं उसकी बढ़ती से हमारे चित्त में उल्लास होता है ओर ऐसे अवसरों को एक विशेष समारोह उत्सव के रूप में मनाना चाहते हैं। सारे अयोध्यावासी राज्याभिषेक के समाचार से हर्षित और आनन्द मग्न हो गये क्योंकि वे राम को राजा के रूप में देखना चाहते थे। इसलिए जब राज्याभिषेक के स्थान पर वनवास का समाचार सुना तो उनके उस आनन्द में व्याघात पहुँचा इसलिए उन्हें सामूहिक रूप से दुःख हुआ। व्यक्तिगत रूप से वे राम को चाहते थे। उन्हें रोज देखना चाहते थे। वे उनका संग नहीं छोड़ना चाहते थे। उन्हें अपने परम प्रेमास्पद के बिछुड़ने का भी दुःख था। अयोध्यावासियों के दुःख में प्रिय पात्र के बिछुड़ने और उत्सव के कारण उत्पन्न आनन्द में बाधा पहुँचने के कारण उत्पन्न दुःख दोनों मिले हुए थे।[203]

दुःख का बड़ा ही तीव्रगामी प्रभाव होता है। लेकिन किस दुःख के प्रभाव का क्या स्वरूप है यह तो व्यक्ति की प्रकृति और परिस्थिति पर ही निर्भर है। तुलसी ने दुःख की मनोवैज्ञानिकता को समझते हुए दुःख के अनेक प्रकार के प्रभाव देखे हैं।

प्रिय वियोग से व्यक्ति को जो दुःख होता है उसके सम्बन्ध में उन्होंने बताया कि व्यक्ति को प्रिय से वियोग कराने वाले बचनों से ऐसा शोक होता है कि वह बहुत विकल हो जाता है मानों चन्द्रिका

की किरणों से चकवा विकल हो गया हो। वह सहम जाता है। यदि व्यक्ति दुख को दूर करने में असमर्थ है और स्वयं उसे ही प्रिय को दूर भेजने के लिए विवश किया जा रहा हो तो वह ऐसे वचनों को सुनकर कुछ कह नहीं पाता। उसका रंग बिल्कुल उड़ जाता है। मानो ताड़ के पेड़ को बिजली ने मारा हो। कैकेयी से राम वियोग कराने वाले वचनो को सुनकर दशरथ की ऐसी ही दशा हुई।[204]

जो दुःख असहनीय हो उस दुःख के मिलने की सम्भावना व्यक्ति को दयनीय बना देती है। राजा कैकेयी से राम का असहनीय वियोग दुःख मिलना जान बड़े दीन हो कैकेयी से मधुर वाणी द्वारा ऐसे दुःख से मुक्ति की भीख माँगने लगते हैं।[205]

जब कोई दुःख मिलना निश्चित ही हो जाये और उससे मुक्ति का कोई मार्ग न दिखायी पड़े तो दुःख से व्याकुल होकर व्यक्ति विलाप करने लगता है उसका शरीर शिथिल हो जाता है, कण्ठ सूख जाता है मुख से बात नहीं निकलती। वह इस प्रकार तड़पने लगता है जैसे बिना पानी के कोई मछली तड़पती है। दशरथ राम वियोग दुःख को निश्चित जानकर इसी प्रकार व्याकुल हो उठे।[206]

आने वाला दुःख आये नहीं, इस कामना से व्यक्ति देवताओं की शरण में भी जाता है। दशरथ सूर्य भगवान को मनाते हैं कि आप उदय न हों जिससे राम वन को न जायें।[207]

दुःख में व्यक्ति को मंगल–साज नहीं सुहाते हैं। राजा को भी दुःख के कारण प्रातःकाल के मंगल–साज नहीं सुहा रहे हैं।[208]

दुःख में व्यक्ति को नींद नहीं आती है। राजा दुःख के कारण रात में सो नहीं पाये।[209] असहनीय दुःख जो हमें बलपूर्वक दिया जा रहा है, ऐसे दुःख से हमारे ओठ सूखने लगते हैं, सारा शरीर जलने लगता है। दशरथ के दुःख के कारण ओठ सूखने लगे और शरीर जलने लगा।[210]

विशेष शोक के वश होने पर व्यक्ति के मुख से कोई आवाज नहीं निकलती, व्यक्ति व्याकुल हुआ भयानक संताप के वश हो जाता है।[211] इसी बीच यदि कोई दुःख को उभारने वाले वचन कहने लगे तो उसे वे वचन वाण के समान लगते हैं। वह प्राण त्यागने की इच्छा करने लगता है, मूर्च्छित हो जाता है। राम, सीता और लक्ष्मण के वन जाने के लिए तैयार देख राजा विशेष शोक के वश हो, इसी प्रकार दुखी हो गये।[212]

दुःख मिलना पूरी तरह निश्चित हो जाने पर भी दुःखी व्यक्ति उससे मुक्ति का कोई भी उपाय नहीं छोड़ना चाहता है, वह चाहता है कि उसका दुःख यदि पूरी तरह दूर नहीं हो सकता तो कुछ ही दूर हो जाये। राम लक्ष्मण सीता के वन को चल देने पर भी दशरथ राम के लौटाने का प्रयास नहीं छोड़ते वे सुमंत्र को साथ भेजते हैं और कहते हैं कि सबको वन दिखाकर चार दिन बाद लौटा लाना और यदि राम न

लौटे तो सीता को ही लौटा लाना।[213]

प्रिय वियोग का ऐसा दुःख जो हमें विवश करके हमारे द्वारा ही कराया गया हो अर्थात् हमें विवश होकर प्राण सम प्रिय को दूर कष्टदायक स्थान पर भेजना पड़ा हो तो ऐसा दुःख बड़ा ही असहनीय तथा हमें सोच में मग्न करने वाला होता है। हम सोच–सोच कर छाती भर लेते हैं बहुत ही बिकल रहते हैं बार–बार प्रिय की पुकार करते हैं।[210] और जब हमें यह पता चलता है कि जो हमारे प्रिय के साथ गया था जिसे हमें प्रिय को लौटा लाने के लिये भेजा था वह आ गया है तो हम जल्दी से जल्दी उस व्यक्ति से प्रिय के बारे में पूछने लगते हैं लेकिन जब उसे यह मालूम होता है कि उसका प्रिय नहीं लौटा है तथा अब उसे वियोग का दुःख सहना अनिवार्य हो गया हे तो यह जानते ही वह पृथ्वी पर गिर पड़ता है, तड़पने लगता है, भीषण मोह से व्याकुल हो जाता है, उसकी इन्द्रियाँ व्याकुल होने लगतीं हैं, प्राण कण्ठ में आ जाते हैं, वह पागल सा होकर बार–बार प्रिय को खोजने लगता है, बहुत प्रकार से विलाप करने लगता है, उसे रात युग के समान बीतती जान पड़ती है और वह विलाप करते–करते प्राण त्याग देता है। राजा दशरथ में राम–वियोग दुःख इसी प्रकार व्यक्त हुआ।[215]

जो हमारे सुख का आधार है उससे वियोग होने की बात सुनकर मुख सूख जाता है, ऑखों से ऑंसू बहने लगते हैं और यह शोक हृदय में नहीं समाता है। राम के वनगमन को सुनकर अयोध्यावासियों में वियोग दुःख इसी प्रकार व्यक्त हुआ।[216] वे विषम ज्वर से जलने लगते हैं और राम के वियोग में जीने की आशा नहीं करते।[217]

प्रिय वियोग को सूचित करने वाले वचनों को सुनकर किसी किसी में वाण लगने के समान कसक होने लगती है, वह सहमकर सूख जाता है, हृदय में अकथनीय विषाद होने लगता है, वह ऐसा व्यकुल हो जाता है जैसे सिंह की गर्जना सुनकर हिरनी विकल हो गयी हो। नेत्रों में जल भर आता है शरीर थर–थर कॉपने लगता है।[218]

यदि हम प्रिय को जाने से रोकने में असमर्थ हैं तो हम प्रिय को जाने से रोकते नहीं हैं हमें लगता है कि हमारे पुण्यों का फल पूरा हो गया है। हृदय में भयानक संताप छा जाता है और बहुविध विलाप करने लगते हैं। कौसल्या राम को धर्म संकट में पड़ जाने के कारण रोक नहीं सकती थी इसीलिए उनकी वियोग दुःख के कारण ऐसी स्थिति हो गयी।[219]

यदि हमारा ऐसे प्रिय से वियोग होने वाला हो जो हमारे प्राणों का आधार हो तथा जिसका सान्निध्य हम पलभर के लिए भी नहीं छोड़ना चाहते हों तो ऐसे प्रिय के वियोग की सम्भावना वाले समाचार से व्यक्ति अकुला उठता है और सोचमग्न हो साथ जाने की इच्छा व्यक्त करने लगता है वह किसी भी उपाय

से रुकता नहीं है और हठ करता ही जाता है। सीता ओर लक्ष्मण से राम वनगमन के समाचार से इसी प्रकार का दु:ख व्यक्त हुआ। लक्ष्मण को तो जैसे ही पता चला वे व्याकुल और उदास मुँह के हो गये, शरीर काँपने लगा, रोमांच होने लगा। नेत्र आँसुओं से भर गये वे अधीर हो कुछ कह नहीं पा रहे। बड़े दीन हो सोच करने लगे।[220] दु:ख निवारण का जब व्यक्ति कोई उपाय नहीं पाता तो वह अपना सिर धुनने लगता है। सुमित्रा राम वनगमन के पूरे वृत्तान्त को जानकर सिर धुनने लगी।[221]

प्रिय वियोग दु:ख से शरीर दुबला, मन दुखी और मुख उदास हो जाता है। राम वियोग में अयोध्यावासियों की ऐसी ही दशा थी।[222]

भारी विषाद में व्यक्ति आर्तनाद करने लगता है।[223]

यदि हमें ऐसा वियोग दु:ख सहना पड़े जो षड़यन्त्र रचकर उसमें हमें माध्यम बनाकर उत्पन्न किया गया हो तो ऐसे दु:ख से हम सहमकर व्याकुल तो ही जाते हैं साथ ही साथ ग्लानियुक्त होकर अपनी ग्लानि मिटाने के लिए तरह-तरह से सफाई भी पेश करने लगते हैं। हम ऐसे-ऐसे कृत्य करते हैं जिससे हमारी निर्दोषता पूरी तरह व्यक्त हो जाये। हम प्रिय को लौटा लाने के लिए चल देते हैं। हम ऐसा इसलिए भी करते हैं क्योंकि प्रिय ही से हमारे जीवन में सुख है। प्रिय के बिना हमारा जीना निरर्थक है। यदि हमें प्रिय का सान्निध्य प्राप्त नहीं होगा तो हमारा दु:ख भी दूर नहीं होगा। भरत में राम वियोग दुख की प्रतिक्रिया इसी प्रकार व्यक्त हुई।[224]

प्रिय की मृत्यु से उत्पन्न शोक से व्यक्ति व्याकुल होकर रोने लगता है। प्रिय के रूप शील तेज का बखान कर करके विलाप करने लगता है और बार-बार धरती पर गिर पड़ता है। दशरथ की मृत्यु होने पर रानियाँ इसी प्रकार शोक से व्याकुल हो गयीं।[225] भरत विषाद के मारे बेहाल हो गये। वे सिंह की गर्जना सुनकर हाथी की तरह सहम गये और तात्-तात्! कहते जमीन पर गिर पड़े।[226] प्रिय की मृत्यु सुन कोई-कोई मूर्च्छित भी हो जाता है। रति कामदेव के भस्म होने पर मूर्च्छित हो गयी।[227]

प्रिय के अनिष्ट की आशंका से उत्पन्न दु:ख से शरीर पुलकित तथा नेत्रों में जल भर आता है, हृदय में चिन्ता उत्पन्न हो जाती है और व्यक्ति इस भावी दु:ख से मुक्त होने का उपाय ढूँढने लगता है। पार्वती के पति के लक्षणों को सुनकर मैना आदि में पार्वती के अनिष्ट को सोचकर इसी प्रकार दु:ख व्यक्त हुआ।[228]

दुष्ट के अत्याचार से दु:खी व्यक्ति सामर्थ्यवान् की शरण में जाता है। तारक नाम के असुर से दुखी होकर देवताओं ने ब्रह्मा जी के पास जाकर पुकार की।[229] अपराध बोध से दुखी व्यक्ति भी संकट दूर करने वाले की अथवा जिसके प्रति अपराध हुआ है उसकी शरण स्वीकार करता है। नारद को शाप देने

के बाद जब अपनी भूल का अहसास हुआ तो उन्होंने रक्षा की पुकार करते भगवान के चरण पकड़ लिये।[230]

सुकुमार अवस्था वाले को भयंकर कष्ट सहते देख जो दुःख होता है उस दुःख में व्यक्ति हाय–हाय करता विधाता को दोष देने लगता है।[231]

प्रिय को अवस्था के प्रतिकूल कार्य करते देख नेत्रों में जल छा जाता है, हृदय जलने लगता है और मुँह मलिन हो जाता है। राम लक्ष्मण को सिर में जटाये बनाने देख सुमन्त्र को इसी प्रकार से दुःख हुआ।[232]

चारों तरफ आग लग जाने पर व्यक्ति व्याकुल हो चिल्लाने लगता है और अपनी तथा अपने आत्मीयों की सुरक्षा करने लगता है।[233]

सुरक्षित स्थान से प्रिय के एकाएक खो जाने से व्यक्ति वियोग व्यथा से व्याकुल हो जाता है; विलाप करता ढूँढने निकल पड़ता है।[234] शोक में बुद्धि कुंठित हो जाती है जिससे व्यक्ति स्पष्ट निर्णय नहीं ले पाता।[235]

दुःख के इस प्रकार बड़ा ही पीड़ादायक संवेग होने के कारण व्यक्ति इससे शीघ्र अतिशीघ्र मुक्ति के लिए व्याकुल होने लगता है[236] और भावी दुःख की सम्भावना से भयभीत भी रहता है।[237] व्यक्ति चाहता है कि अतिशय दुःख मिलने का क्षण कभी न आये।[238] व्यक्ति का मन दुःसह दुखकारी वस्तु से सदैव हटा रहता है वह ऐसी वस्तु के सान्निध्य में नहीं रहना चाहता और यदि उसे दुःखादायक वस्तु प्राप्त हो जती है तो वह उसे त्याग देता है।

दुःख के प्रति लोगों की ऐसी प्रवृत्ति होने के कारण ही किसी को, विशेष रूप से आत्मीय को दुःख न पहुँचे इसका ध्यान रखा जाता है। स्वामी अपनी शरण में आये हुये का अथवा जो उसकी शक्ति के आश्रित है उसका यह ध्यान रखता है कि उसे किसी प्रकार का दुःख न हो तथा वह यह भी ध्यान रखता है कि वह भी (शरणागत) हमारी शक्ति का दुरूपयोग करके हमारे निकटजनों को दुःख न दे।[239] स्वामी के समान सेवक भी सदैव सेवा द्वारा यह प्रयास करता है कि उसके स्वामी को किसी प्रकार का कष्ट न हो।[240] भगवान जब भी अपने भक्तों को दुःख से बेहाल देखते हैं तुरन्त उसका दुःखं दूर करने का प्रयास करते हैं चाहें दुःख दूर करने में उन्हें स्वयं ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े।[241]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति के जीवन में दुःख दूर होने का बड़ा महत्व है।

जिस वस्तु से अथवा जिस उपाय से दु:ख से मुक्ति मिल सकती वह वस्तु अथवा उपाय हमें बड़ा प्रिय लगता है।[242] और इसीलिए जो हमारे दु:ख को दूर करता है वह व्यक्ति अथवा वस्तु यश का पात्र परम वन्दनीय और प्रशंसा के योग्य माना जाता है।[243] और ऐसा व्यक्ति महापुरूष कहा जाता है। संसार में जितने भी महापुरूष हुए है उनका एक लक्षण दूसरों के दु:ख का दलन करना भी रहा है।[244]

व्यक्ति का दु:ख कुछ विशेष प्रकार के गुण वाली वस्तु से अथवा विशेष प्रकार के प्रयत्न करने से दूर होता है। तुलसी ने बताया कि जो व्यक्ति आनन्द का स्रोत, सामर्थ्यवान् और साधन सम्पन्न हो, जिसका हृदय दया/कृपा से ओतप्रोत हो, जो परोपकारी स्वभाव का हो, सहृदय हो तो ऐसा व्यक्ति निश्चित ही दु:ख को दूर कर देता है।[245] भक्त का दु:ख तो सदैव भगवत् कृपा से ही दूर होता है। क्योंकि भगवान अत्यधिक कृपा/दया/करुणा से पूर्ण होते हैं।[246]

तुलसी ने दु:ख दूर होने के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन किया है उनका कहना है प्रिय वियोग का दु:ख प्रिय के आगमन/उसके दर्शन/उसके आलिंगन/उसके स्पर्श तथा सान्निध्य से दूर होता है। प्रिय मिलने की आशा से व्यक्ति बड़े–बड़े विषाद को भूल जाता है।[247] प्रिय वियोग से उत्पन्न मन का संताप प्रिय की स्मृति संचित वस्तुओं को देखने से कुछ शान्त होता है।[248] प्रिय वियोग का ऐसा दु:ख जो अनजाने में हमारे ही कारण उसको हुआ हो, तभी दूर होता है जब प्रिय लौट आता है।[249]

वियोग का दु:ख प्रिय के आने का समाचार देने वाले को देखकर भी दूर हो जाता है।[250] वियोग का दु:ख प्रिय के निवास स्थान में प्रवेश करते ही दूर हो जाता है।[251] तुलसी दुखों को दूर करने में भगवत् साधनों को अधिक सक्षम मानते हैं। उनका विचार है कि जीव को चाहे जितना भारी क्लेश हो, भारी कुसंकट हो वह हरिभजन और नाम जप से निश्चित ही दूर हो जायेगा।[252] तुलसी इस प्रकार के उपायों की चर्चा करते हुए और भी बताते हैं कि देवी आराधना से।[253] देवी कृपा और अनुष्ठान से[254] भगवत् भक्त की भक्ति और उसके सुन्दर चरित बखानने से/[255] भगवान के दर्शन से/[256] भगवान की अनुकूलता से[257] जीव का कैसा भी दु:ख हो दूर हो जाता है। सेवक का कष्ट भी स्वामी को अनुकूल देखकर दूर होता है।[258] आनन्द स्रोत के आविर्भाव और उसके निवास स्थान के दर्शन से भी सभी दु:ख दूर होते है।[259] भगवती चेतना अथवा भगवान तथा सामर्थ्यवान की शरण में जाने से भी शोक दूर हो जाते हैं।[260] भगवान देवताओं तथा सामर्थ्यवान/आनंद स्रोत की सेवा से भी शोक दूर हो जाता है।[261] भगवत् स्मरण/ दिव्य तत्व का स्मरण/[262] भगवत् प्रेम/[263] राम भक्ति/[264] आदि सब भक्त के शोक निवारण के उपाय हैं।

भगवान की अनुग्रह दृष्टि पड़ते ही अथवा उनके अपनाते ही भक्त का दु:ख क्षण भर में

दूर हो जाता है।[265] आनन्द स्रोत के प्रताप से शरीर को दुःख का अनुभव नहीं होता।[266] दैवी तत्वरूपी प्रकाश के कारण दुःख रूपी अंधेरा दूर होता है और सूख रूप प्रफुल्लता आती है।[267] कल्याण की खान वस्तु का सेवन करने से,[268] मंगल तथा आनन्द की वस्तु का सान्निध्य मिलने पर,[269] मंगल तथा आनन्द का भाव मन में उत्पन्न होने पर,[270] मनोहर और मंगलकारी मूर्ति को देखने पर,[271] मन का कोई भी दुःख हो तुरन्त नष्ट हो जाता है। स्वामी की आज्ञानुसार कार्य करने से सभी उलझनें दूर हो जाती हैं। भरत राम से कहते हैं कि आप जो भी आज्ञा देंगे, उसे सब लोग सिर चढ़ा–चढ़ाकर करेंगे और सब उपद्रव और उलझनें मिट जायेंगीं।[272] सामर्थ्यवान् का आशीर्वाद दुखों का दमनकर देता है।[273] स्नेह भय व्यवहार से/[274] समय के अनुकूल इतिहास कहने से, 275 विवेकपूर्ण वचनों से धैर्य धारण कराकर,[276] कोमल वाणी से भाँति–भाँति की कथायें कहने से[277] तथा समझाने से,[278] प्रिय के दुःख और व्याकुलता को शान्त करने का प्रयास किया जाता है।

शीतल वस्तु के सेवन से जलन मिट जाती है।[279] आतिथ्य और सत्कार सेवा से थकान दूर होती है।[280] स्थिर, दोष रहित, घनी अति सुन्दर छल रहित छाया सभी प्रकार के दोष दूर करती है।[281] याचकों का शोक रूचि के अनुसार दान और मान पाकर दूर होता है।[282] राजा का पुत्र उत्पन्न होने से नगरवासियों का यह संकट कि राजा के पश्चात कौन राजा होगा, दूर हो जाता है।[283] दुष्ट के कुटुम्बी सहित नाश होने पर ही सज्जनों का दुख दूर होता है।[284] मंगलसूचक शकुन दुःख का दाह मिटाने के सूचक होते हैं।[285] युद्ध में जब वीर प्राणों का मोह त्याग देता है तो उसका प्राण जाने का दुःख दूर हो जाता है। निषाद प्राणों का मोह त्याग कर विषाद से रहित हो गया।[286] दुःख प्रकट करने से घट जाता है तथा प्रकट न करने से बढ़ जाता है और संताप का रूप ले लेता है। शंकर की यह व्याकुलता सती को त्यागेँ या न त्यागेँ कह न पाने के कारण संताप के रूप में परिवर्तित हो गयी।[287] वातावरण में परिवर्तन होने पर भी दुःख कम हो जाता है। सती इसीलिए अपने पिता के यहाँ जाना चाहती है।[288]

भ्रम/संदेह/मोह/अज्ञान का दुःख प्रबोध/ज्ञान और बोध से ही दूर होता है।[289] सुनयना का यह दुःखं कि राम धनुष को नहीं तोड़ पायेगें राम के सामर्थ्य का बोध होने पर दूर हो गया। सफलता की जब समाज से स्वीकृति मिल जाती है और उसके कारण व्यक्ति की प्रशंसा होती है तो वह सारी थकान और दुःख को भूल जाता है।[290] इच्छित वस्तु पाकर व्यक्ति शोक से निवृत्ति पा जाता है।[291] स्वप्न में उत्पन्न दुःख जागने पर ही दूर होता है।[292]

संसार में आवागमन से उत्पन्न दुःख से छुटकारा मोक्ष द्वारा मिलता है।[293] संशय से उत्पन्न दुःख से मुक्ति पाने के सम्बन्ध में तुलसी का विचार है संशय दूर उसी का होगा जिसे अपने संशय/मोह/भ्रम का बोध हो और उसे दूर करना चाहें। इसके लिए नित्यबोध में प्रतिष्ठित अर्थात् ज्ञानी व्यक्ति

की शरण में जाना पड़ेगा। इसके लिए यह आवश्यक है कि उस व्यक्ति में हमारे प्रति करुणा हो, और करुणा तभी जागेगी जब हम संशय/भ्रम मोह से दुखी हों। इसीलिए भगवान ने गीता में जहां चार प्रकार के भक्त बताये हैं उसमें एक कोटि "आर्त" की है। क्योकि हमारी करतरता/करुण स्वर/दीनता गुरू के हृदय में कृपा का जागरण करता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि यदि हमें संशय/भ्रम/मोह के कारण दुःख है तो उस दुःख से हम दीन जरूर होगें। हमारी करुणा/आर्त/दीन दशा देखकर बोध देने के लिए गुरु की करुणा उमड़ेगी।

इसका अर्थ यह निकला कि जन्म जन्मान्तर का दुःख बिना बोध के नहीं जायेगा और दुःख का पता तब चलेगा जब हम सचमुच में दुखी हों और आर्त हों। आर्त्त से हमारे अहं का विगलन होता है तभी हम बोध को धारण कर पाते है और तभी दुःख दूर होता है।

दुःख का मूल कारण व्यक्ति स्वंय है किन्तु हरेक इस बात को न समझकर अपने से बाहर की वस्तुओं को दुःख का कारण मानता है और उन्हीं पर आरोप लगाता है– काल, कर्म, ईश्वर को दोष देता है। संशय, मोह भ्रम ओर अज्ञान जनित दुःख बिना बोध के नहीं जा सकता। दुःख कई प्रकार का होता है। अन्य दुःख चाहे साधनों से प्रयत्न से दूर भी हो जाय किन्तु यह दुःख बिना ज्ञान के नहीं जा सकता।[294]

इस प्रकार निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति दुःख से मुक्त होने के लिए विविध प्रकार के उपाय करता है लेकिन अब प्रश्न यह है कि व्यक्ति को कब–कब दुःखों से अवश्य ही मुक्त होना पड़ता है। तुलसी इस सम्बन्ध में भी महत्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत करते हैं– उनका मानना है कि यदि प्रजा के हित की व्यवस्था करनी हो तो व्यक्ति को व्यक्तिगत शोक त्यागना पड़ता है वशिष्ठ जी इसीलिए भरत से शोक त्यागने के लिए कहते हैं।[285] जिसकी व्याकुलता, दुःख और विषाद को देखकर चारों ओर विषाद व्याप्त हो रहा हो, धैर्यवान् व्यक्ति ऐसे व्यक्ति से अपना विषाद छोड़ देने का आग्रह करते हैं।[296] समय विपरीत हो तो फिर विषाद त्याग देना चाहिए। जो दुःख काल की विषमता के कारण आये और हम जिसके लिए उत्तरदायी न हों ऐसे दुःख को त्याग देना चाहिए।[297] भाग्यवान की मृत्यु पर उत्पन्न शोक को व्यक्ति त्यागना चाहता है।[298] जब दुःख दूर होने का आसन्न कारण मौजूद हो तो दुःख नहीं करना चाहिए।[299] जिस कार्य से पिता को संतोष तथा स्वयं को पुण्य और सुन्दर यश मिले उस कार्य को करने में शोक का अनुभव नहीं होना चाहिये।[300]

भगवत् आराधना में सांसारिक दुःखों का त्याग आवश्यक होता है।[301] भक्ति में तीनों प्रकार के कष्टों का त्याग करना पड़ता है।[302]

कुछ ऐसी भी परिस्थितियाँ होती हैं जब व्यक्ति का दुःख स्वतः ही चला जाता है। सुखमय समय आने पर अथवा कष्टकारी समय बीत जाने पर व्यक्ति पूर्व सहे कष्टों को भूल जाता है। सुख प्राप्त होने पर उसका दुःख नष्ट हो जाता है। इसलिए यदि व्यक्ति किसी ऐसे स्थान पर पहुँच जाये जहाँ सुख ही सुख हों तो ऐसे स्थान पर पहुँचने पर दुख तनिक देर भी नहीं ठहर पाता। पति अपमान का दुःख स्त्री के दारुण से दारुण दुःख को स्वतः नष्ट कर देता है। सती शिव अपमान दुःख के कारण अपने त्यागे जाने के दुःख को भूल गयी।[303]

दुःख अथवा कष्ट को सदैव नष्ट करने का प्रयास नहीं किया जाता। कभी–कभी व्यक्ति इसे स्वीकारता भी है। यदि हमारी कोई तीव्र इच्छा है तो उस इच्छा की पूर्ति के लिए हम हठवश कष्ट भी सहते हैं और अपने प्रयत्न को नहीं छोड़ते हैं। मन में किसी वस्तु को पाने की अत्यधिक लालसा और उत्साह हो तो फिर शारीरिक कष्ट का स्मरण नहीं रहता। मन यदि किसी में रमा हो तो फिर शरीर के सुख–दुखं का ध्यान नहीं रहता है।[304]

अच्छे परिणाम की सम्भावना में व्यक्ति कष्ट सहकर भी आनन्द से दिन काट देता है। सीता को खोजने के लिए प्रस्थान करते समय हनुमान सभी वानरों से उनके लौट आने तक दुःख सहकर राह देखने के लिए कहते हैं।[305] असंत दूसरों को दुःख पहुँचाने के लिए तथा संत दूसरों की भलाई के लिए दुःख सहते हैं।[306] धर्म के लिए भी व्यक्ति कष्ट सहता है।[307] दया से उत्पन्न दुःख सहना व्यक्ति की विवशता होती है।[308] प्रिय से प्रिय वस्तु जब व्यक्ति स्वेच्छा से किसी को दे देता है तो उसके बिछ़डने से उसे जो दुःख होता है उसे वह धैर्यपूर्वक सहता है।[309] आनन्द स्रोत से लगाव न होने पर व्यक्ति को तीनों प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं।[310] सही स्वामी मिल जाने पर व्यक्ति उसकी शरण में सुख दुःख सभी सहने को तैयार रहता है।[311]

तुलसी ने बताया कि कुछ मनः स्थितियाँ ऐसी होती हैं, जिनमें दुःख का अनुभव होता ही नहीं है। संवेगों से परे परम चेतना को कष्टकारी मार्ग पर जाते कष्ट का अनुभव नहीं होता।[312] द्वैतभाव से मुक्त हो जाने पर फिर शोक का अनुभव नहीं होता।[313] राम की सेवा करने में शरीर को तनिक भी कष्ट नहीं होता।[314] तुलसी मानते हैं कि यदि बुद्धि एक रस हो जाये,[315] मन परोपकार की भावना से भरा हो[316] तो व्यक्ति शोक का अनुभव नहीं करता।

एक अवस्था ऐसी भी होती है जब सुख और दुःख समान प्रतीत होते हैं।[317] शरीर सम्बन्धी चिन्ताओं को त्याग देने पर सुख और दुःख का समान अनुभव होता है।[318] संवेगों से परे जो परम चेतना है उसे किसी भी अवस्था में हर्ष और विषाद का अनुभव नहीं होता। राम को इसीलिए वनगमन के समय विषाद नहीं हुआ।[320] जब व्यक्ति ध्यान में मग्न होता है अथवा सत् चित् आनन्द के केन्द्र के साथ

उसका तादात्म्य हो जाता है उस समय वह सुख और दु:ख दोनों ही अवस्थाओं से परे ही जाता है।[321] प्रेम पूर्णमन को कष्टों तथा अन्य प्रकार के दु:खों का अनुभव नही होता। सीता इसीलिए वन के कष्टों को सोच भयभीत नहीं होती।[322] पण्डित और परमार्थ को जानने वाला व्यक्ति विषाद नहीं करता।[323] कठोर स्वभाव वाले को वन के कष्ट का अनुभव नहीं होता।[324]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी किसी का स्वभाव दु:ख का अनुभव करता ही नहीं है लेकिन किसी-किसी का स्वभाव ऐसा होता है कि वह थोड़ी बात से ही अधिक व्याकुल हो जाता है।[325] करुणावान् तथा मृदुल स्वभाव वाले को किसी का थोड़ा दु:ख भी अधिक व्याकुल कर देता है वह परायी पीड़ा को शीघ्र अनुभव कर लेता है।[326] सुकुमार अवस्था वाले को वन के कष्ट का बहुत ही अनुभव होता है।[327] कभी-काभी भ्रम, अज्ञान, भोलेपन और अति विश्वास के कारण व्यक्ति आसन्न दु:ख को नहीं देख पाता।[328] किसी-किसी का स्वभाव हर्ष के समय विषाद करने का होता है।[329] सभी संवेगों से उठा हुआ लोकोत्तर चेतना सम्पन्न व्यक्ति जब भौतिक धरातल पर मानव लीला करता है तब वह सभी संवेगों का अनुभव करता है।[330] जिसने दु:ख का अनुभव किया होता है वही दूसरे के दु:ख का अनुभव कर पाता है।[331] संवेदनशील तथा संत पुरुष ही दूसरों के दु:ख का अनुभव कर पाते हैं।[332] चित्त में जितनी निर्लिप्तता होगी दु:ख का बोध उतना ही कम होगा किन्तु जितनी आसक्ति होगी दु:ख की प्रतिक्रिया उतनी ही गम्भीर होगी।[333] दुष्टों को सन्त पुरूषों का प्रभाव देखकर तथा पराया सुख देखकर बहुत दुख होता है।[334]

दु:ख सदा एक सी स्थिति में नहीं रहता वह बढ़ता-घटता भी है। वियोगी स्त्रियों का दु:ख चन्द्रमा की किरणों को देखकर, वसन्त ऋतु की सुन्दरता को देखकर प्रिय के स्वभाव का स्मरण करके बहुत तीव्र हो जाता है।[335] प्रिय के जाने के समाचार से उत्पन्न दु:ख प्रिय के जाते समय बड़ा तीव्र हो जाता है।[336] जिस विषाद को दूर करने में हम असमर्थ हों तो उस विषाद में अपनी ऐसी विवशता को सोच हम बहुत अधिक दु:खी होने लगते हैं।[337] जिस दु:ख से हम दु:खी है उस दु:ख से यदि हम पशुओं तक को दुखी देखें तो हम और दुखी हो जाते हैं।[338] दु:ख बढ़ाने वाले वचनों को सुनकर व्यक्ति और अधिक व्याकुल होने लगता है।[339] सत् पुरुषों को नुकसान पहुँचाने पर लोक परलोक दोनों में दु:ख फैलता है। और वह दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है।[340]

जीवन में कभी-कभी ऐसी परिस्थिति आती है जब व्यक्ति को दु:ख व्यक्त करना आवश्यक होता है सेवक जब अपने स्वामी को द्रवित करने की आवश्यकता महसूस करता है, उसमें करूणा उत्पन्न करना चाहता है तो उसे आर्त्त पुकार करनी पड़ती है, क्योंकि आर्त भाव से युक्त वाणी सुनकर ही स्वामी का द्रवित हो पाना सम्भव होता है।[341] दु:ख देखकर ही करुणावान् सहानुभूति से भर पाता है इसलिए किसी में सहानुभूति उत्पन्न करने के लिए भी दु:ख व्यक्त करना पड़ता है।[342]

दु:ख में प्रभावित करने की बहुत अधिक शक्ति होती है। विषाद किसी व्यक्ति विशेष को

ही प्रभावित नहीं करता वरन् यह परिवेश तक को विषाद युक्त कर देता है। दशरथ के सुबह न जागने पर सुमन्त्र जब महल की ओर गये तो उन्हें सारा महल ही बड़ा भयानक लगा। वहाँ विपत्ति और विषाद का डेरा हो गया था।[343] आत्मीय के मरण का दुःख विदेह तक को दुखी कर देता है।[344] प्रिय से विछोह का दुःख जड़–चेतन, पशु–पक्षी, वैराग्यवानों, धैर्यवानों तथा विवेकी व्यक्ति को भी दुखी कर देता है। राम के वन गमन से उत्पन्न दुख ने सभी को वश में करके अपनी शक्ति का परिचय दिया।[345] दुःख से किसी भी व्यक्ति का जीवन किसी भी अवस्था में वंचित नहीं रहता। व्यक्ति चाहे जितना बड़ा हो जाये उसके जीवन में सुख–दुःख रहता ही है। विशिष्ट व्यक्ति के दुःख से जड़–चेतन, पशु–पक्षी, गृहस्थ–विरक्त सभी को शोक होता है।[346]

प्रिय को सुरक्षित स्थान से अचानक लापता देखकर भय और चिन्ता से मिश्रित अत्यधिक दुःख होता है। राम–सीता के न मिलने पर इसी प्रकार के दुःख से व्याकुल हो उठे थे।[347] जिससे हमें विशेष मोह हो गया था यदि वह हमें प्राप्त न होकर किसी और को प्राप्त हो जाये तो हमें ऐसी अवस्था में बहुत ही दुःख होता है। नारद विश्वमोहिनी के न मिलने पर मोह के कारण ही अधिक व्याकुल हो गये थे।[348] वियोगावस्था में दुखी व्यक्ति को यदि प्रिय के संकटों का समाचार मिले तो उसका दुख और भी अधिक हो बढ़कर तीव्र हो जाता है।[349] प्रिय को कष्ट पूर्ण जीवन व्यतीत करते देख अत्यधिक दुःख होता है। वन में सीता जी की दशा देखकर बड़े दुःख से भर गयी।[350] आत्मीय के वियोग से दुःख होता ही है और यदि आत्मीय कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करने जा रहा है तब तो उसके भावी कष्ट को सोचकर हम और भी दुखी हो जाते हैं। पार्वती को तप करने के लिए जाते देख परिवार के लोग बहुत व्याकुल हो उठे।[351] जिससे अत्यधिक प्रेम हो और उसी के साथ कठोर कर्तव्य का निर्णय लेना पड़े तो हृदय को अत्यधिक दाह होता है। शिव जी सती के त्याग की बात सोच भयंकर दाह से भर गये।[352] जो सभी को प्रिय है उसकी मृत्यु से सभी को अत्यन्त शोक होता है।[353] परोपकारी की ऐसे परोपकार करने में जिसमें हमारा भी हित हुआ हो, मृत्यु हो जाये तो हमें उसकी मृत्यु से अत्यधिक दुःख होता है। हिमाचल कामदेव के भस्म होने का समाचार सुनकर अत्यधिक दुःखी हो उठे।[354] श्रेद्धेय की समार्थ्य पर संदेह उत्पन्न हो जाने पर बहुत अधिक विषाद होता है। गरुड़ राम पर संदेह कर विषाद से भर गये[355] और उसे दूर करने के लिए व्याकुल हो उठे। लम्बे वियोग के पश्चात् प्रिय के आने के अवधि आ जाने पर भी यदि प्रिय न आये तो हम बहुत दुखी होने लगते हैं। राम के अयोध्या न आने पर भरत बहुत अधिक दुखी हो गये।[356] जिस इच्छा की पूर्ति के लिए हमने बहुत बड़ा षडयन्त्र रचकर सबको दुःख दिया है तथा जो इच्छापूर्ति एक के लिए नहीं सभी के लिए कल्याणकारी है यदि उस इच्छा की पूर्ति होने में संदेह होने लगे तो हम बहुत अधिक व्याकुल होने लगते हैं। देवता लोग भरत का प्रेम देखकर राम के लौट जाने की सम्भावना हो जाने के कारण बहुत दुःखी होने लगे।[357] जो वचन शीतल, सरल होते हुए भी हमारे दुःख को तीव्र करने वाले हों तो ऐसे वचनों को सुनकर हम अधिक दुःख से व्याकुल होने लगते हैं।[358] जब

कोई दुःख मिलना पूर्णतया निश्चित हो जाये तो व्यक्ति सम्भावित दुःख की कल्पना से बहुत अधिक व्याकुल हो जाता है।[359] वन में शारीरिक क्लेश तो होते ही है और यदि व्यक्ति अकेला हो तो उसे और अधिक कष्ट होता है।[360] प्रेम और कर्तव्य पालन में जब व्यक्ति को अत्यधिक धर्म संकट का सामना करना पड़े तब उसके हृदय को अत्यधिक संताप होता है।[361] जिस शोक से पशु पक्षी भी व्याकुल हो जाये वह शोक अत्यधिक तीव्र होता है।[362] जब परितप्त करने वाले व्यक्तियों से किसी का कोई वश नहीं चलता तब विह्वलता और बढ़ जाती है।[363] यदि हम पहले से ही प्रिय वियोग का कारण बनने से दुखी है और फिर हमसे कोई ऐसा अपराध हो जाय जो प्रिय को दुखी करने वाला हो तो ऐसी अवस्था में हम बहुत ही अधिक दुःखी हो जाते हैं और विलाप करने लगते हैं। भरत संजीवनी बूटी लेने जा रहे हनुमान को मूर्च्छित करने के कारण सारी बात जान दुखी हो गये।[364] यदि हमारे आत्मीय की मृत्यु हमारे वियोग में स्नेह के कारण हुई हो तो हम बहुत ही दुखी हो व्याकुल हो जाते हैं। राम दशरथ के मरने पर बहुत दुखी हो उठे।[365] जिसको हम दुखी करके सुखी होना चाहते हैं ओर अगर हमें यह पता चले कि जिसकी सहायता से हम ऐसा करना चाहते हैं वह उसके दुःख से दुखी हो रहा है तो योजना की विफलता की आशंका से हमारे हृदय को अत्यन्त पीड़ा होती है। मन्थरा कैकेयी के राम प्रेम को देख अत्यधिक पीड़ित हो गयी।[366] संसार के तमाम दुःखों में आत्मीय के अपमान से उत्पन्न दुःख सबसे अधिक दारुण होता है। सती को दक्ष के यहाँ शिव के अपमान से बड़ा गहरा दुःख हुआ।[367] जिससे अपार सुख होता है उसी से विछुड़ने पर अपार दुःख भी होता है। राम सीता वियोग से अत्यधिक दुःखी हो गये।[368] क्रोध को रोकने से असहनीय पीड़ा होती है।[369] दरिद्रता जनित दुःख असहनीय होता है। अनाथ व्यक्ति असहनीय दुःख का भागी बनता है। अयोध्यावासी राम बिना असहनीय दुख से व्याकुल हो उठे।[370]

जन्म लेने और मरने से दुसह दुख होता है।[371] वियोग में यदि विरही जीवित रहता है तो उसे भीषण दुःख सहना पड़ता है।[372] जिस दुःख के निस्तार का कोई उपाय न हो तथा जिस दुःख में ग्लानि, चिन्ता भी निहित हो वह दुःख सागर की तरह दुस्तर हो जाता है।[473] कभी–कभी दुसरे की व्याकुलता और दुःख को देखकर संवेदनशील व्यक्ति को भी अवर्णनीय दुःख होता है।[374] जो दुःख ग्लानि/अपराध बोध और चिन्ता से युक्त हो, जिसमें हम किसी की सहानुभूति भी नहीं ले सकते हों ऐसा दुःख अत्यन्त दारुण और अकथनीय होता है। सती का दुःख ऐसा ही था।[375]

दूसरों के दुःख से जो दुःख होता है, उसमें करुणा मिली होती है। भगवान जब भक्त के दुःख से दुखी होते हैं तो उनके दुख में अनुकंपा और करुणा का अंश ज्यादा होता है। सती के दुःख से शिव इसी प्रकार के दुःख से युक्त थे।[376] धैर्यवान्, विनयी और भगवत विश्वासी व्यक्ति का हमसे कोई अनिष्ट हो जाये तो हमें पश्चाताप और दुःख होता है।[377] दुःख निवारण का समय पर उपाय न करने से

पश्चाताप जनित दुःख होता है।[378] जो सबके दुःख का कारण बने तथा जिसकी पूर्ति सम्भव लगे ऐसे प्रण और संकल्प से पश्चाताप जनित दुःख होता है। जनक धनुष भंग का प्रण करके ऐसे ही दुख से भर गये।[389] जिस इच्छा की पूर्ति दूसरे पर निर्भर हो, जिसमें हमारा प्रिय का दुःख भी शामिल हो, ऐसा दुःख अत्यन्त दारुण होता है– जनक की धनुष भंग की इच्छा से उत्पन्न दुख।[380] क्रोध के कारण व्यक्ति ऐसा कार्य करता है जिससे दुःख तो मिलता ही है साथ में लोक में अपवाद भी मिलता है।[381] अचानक आत्मीय जनों का दुखी दिखलाई देना व्यक्ति में दुःख और भय उत्पन्न कर देता है। भरत अयोध्या में सभ्भ को दुखी देखकर ऐसे ही दुख से भर गये।[382] स्थाई तथा असम्भावित विपत्ति से कभी न जाने वाला दुःख उत्पन्न होता है।[383] प्रेम के कारण अपना पर्वत के समान दुःख धूल के समान और धूल के समान मित्र के दुःख को पर्वत के समान समझा जाता है। राम का दुःख सुग्रीव के दुःख को देख ऐसा ही हो गया।[384] जिससे कुछ समय पश्चात् पुनः वियोग हो जाने की सम्भावना है, उससे मिलते समय हर्ष और विषाद दोनों होते हैं।[385] मोह/अहंकार/मान/काम आदि विकारों से और विषयों में रमने से व्यक्ति को असहनीय दुःख होता है।[386] स्त्री को संतान जनने के समय असहनीय कष्ट होता है।[387] काल और कर्म, पाप और दोष, कुचाल आदि व्यक्ति को दुःसह दुख देते हैं।[388] एक स्थान से दूसरे स्थान में भटकने अर्थात बार–बार जन्म लेने से दारुण दुःख होता है।[389] ऊँचे–नीय धक्के लग रहे हों, खींचातानी हो रही हो ऐसी अवस्था में महान दुःख होता है।[390] प्रभु की निष्ठुरता से भक्त से बड़ा दुःख होता है।[391] अवलम्ब के नष्ट हो जाने पर भयंकर विषाद होता है।[392] शाप के कारण व्यक्ति बहुत दुखी हो जाता है।[393]

तुलसी विवेचित दुःख के इन विविध तथ्यों को जानने के उपरान्त निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि दुःख एक प्रवृत्ति है। फ्रायड और मैग्डूगल ने जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य में 14 वृत्तियॉ मानी हैं उसी प्रकार तुलसी दास ने भी जीव अर्थात् मनुष्य में कुछ प्रवृत्तियाँ जन्मजात मानी है उनमें हर्ष–विषाद, ज्ञान–अज्ञान, अहं, अभिमान हैं इन्हें उन्होंने जीवन–धर्म कहा है अर्थात् जीव के स्वभाव की ये विशेषतायें हैं। इनमें विषाद अर्थात् दुःख भी धर्म अर्थात् प्रवृत्ति है।

जीवन में जो प्रवृत्तियाँ हैं– ईश्वर उन प्रवृत्तियों से रहित आनन्द का धाम है इसलिए जो इस आनन्द के धाम को प्राप्त करना चाहता है, उसे इन स्वभावगत प्रवृत्तियों से मुक्त होना होगा। इनसे मुक्त हुए बिना आनन्द नहीं मिल सकता। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि अहं, अभिमान और अज्ञान ये विषाद के कारण हैं। मानस में इन्हीं की मुक्ति का साधन बताया गया है।

दुःख संसार का एक अनिवार्य तत्व है। जो ये सोचते हैं कि ऐसा कोई जगत होगा जहाँ दुख नहीं होगा या ऐसा कोई व्यक्ति होगा जिसे कभी दुख न हुआ हो असम्भव है। तुलसी ने भी विधि प्रपंच को दुख–सुख युक्त माना है।[394]

तुलसी ने दुःख क अनेक पयार्यो को लेकर दुःख के अनेक रूपों को समझाने का प्रयास किया है। वे दुःख का एक रूप क्षोभ बताते हैं। उनका मानना है कि कोई चाह है। किंतु उसे हम किसी कारण से पूरी नहीं कर पा रहे हैं तो मन में जो एक प्रकार का हल्का दुःख होता है उसे क्षोभ कहते हैं। क्षोभ में दुःख से ज्यादा व्याकुलता/ बैचेनी का अंश अधिक होता है। कभी–कभी दो संवेगों में संघर्ष होने से भी क्षोभ होता है। संवेग के सहज प्रवाह में बाधा आने से क्षोभ होता है। शंकर राम दर्शन की अपनी इच्छा पूरी न कर पाने के कारण क्षुब्ध हो गये।[395]

गहरे मानसिक दुख को परिताप कहते हैं। उस दुख के कारण हृदय सदा दग्ध होता रहता है। रह–रहकर टीस सी होती है। इसमें दुख की जो तीव्रता रहती है वह हृदय को परितप्त करती रहती है। इसलिए तुलसी ने इसे दारूण दुःख की संज्ञा दी है।[396]

क्लेश का प्रयोग तुलसी द्वारा दुःख के इस प्रकार के लिये किया गया है जिसे व्यक्ति अच्छे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए स्वेच्छा से सहता है। उसी कष्ट को हमारे यहाँ तितिक्षा अथवा तप कहा गया है क्योंकि बिना तपस्या के महान् वस्तु की उपलब्धि नहीं हो सकती है। यहाँ क्लेश या दुःख का प्रयोग प्रतिकूल संवेदन के अर्थ में नहीं है। यह दुःख (तप/क्लेश) लक्ष्य पूर्ति में सहायक होने के कारण हमें अन्त में उत्साहित और हर्षित करने वाला होता है। कालिदास ने कहा है– "क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विद्यत्ते"। "कुमार सम्भव"। फल प्राप्ति के बाद क्लेश प्रसन्नता में परिवर्तित हो जाता है।[397]

तुलसी ने दुःख संवेग की प्रकृति का बड़े गहरे जाकर अवलोकन किया है। उन्होंने बताया कि दुःख को चाहे जितना छिपाया जाये परन्तु वह छिपता नहीं है भगवान भक्त की पीड़ा तुरन्त जान जाते हैं।[398] दुःख की गहराई को केवल अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है।[399] सुख–दुःख भाग्य के अनुसार मिलता है। यह काल और कर्म के आधीन होता है।[400] दुःख का निवारण यदि समय रहते किया जाय तभी दुःख दूर होता है। समय बीत जाने पर फिर किसी उपाय से दुःख दूर नहीं होता है।[401] दुख में बड़ा ताप होता है, जिससे हृदय जलने लगता है।[402] दुःख में भार/बोझ होता है।[403] दुःख की तीव्रता/गहनता तथा आघात करने की तीव्रता उसके परिणाम की सम्भावना पर निर्भर है। राम दशरथ से कहते हैं कि आपने हमारे वन गमन की जरा सी बात से इतना अधिक दुख पाया।[404] कोई–कोई दुःख बड़ा ही असीम, दारुण और अकथनीय होता है।[405]

चाहे जितना कठिन दुःख हो समय आने पर अवश्य दूर हो जाता है। प्रत्येक दुःख के उत्पन्न होने का अवश्य ही कोई न कोई कारण होता है। कभी–कभी दीर्घकाल व्यापी विपत्ति में भी अनुकूल अवसर आने पर कुछ समय के लिए व्यक्ति सुखी हो जाता है, किन्तु बाद में फिर वही विषाद पूर्ण परिस्थिति आ जाती है।[406] संवेग में संक्रामकता होती है इसलिए यदि कोई एक कारण से दुखी है तो उसका आत्मीय

भी उसी कारण से दुखी हो जाता है।[407] जब शोक बहुत अधिक हो जाता है तो वह हृदय में न रहकर बाहर व्यक्त होने लगता है।[408] दु:ख एक द्वन्द्व है।[409] आवेगों में एक प्रवाह होता है इसीलिए शोक को कवि ने सरिता कहा है।[410] शोक में नदी की लहरों के समान उमड़न होती है और भयंकर विषाद समुद्र की तरह अथाह होता है।[411] पीड़ा में एक प्रकार की चुभन होती है[412] यह हृदय में उत्पन्न होती है[413] दुख में सागर की तरह गहराई होती है जिसमें व्यक्ति डूब जाता है।[414] एक दु:ख ऐसा होता है जो साधनों से दूर नहीं होता।[415] कोई-कोई कष्ट दण्ड रूप में होता है।[416] दूसरों की पीड़ा का अनुभव करने से अन्त:करण निर्मल हो जाता है।[417] परिस्थितिवश कभी-कभी दु:ख को व्यक्त नहीं किया जाता उसे हृदय में छिपाकर रखा जाता है।

चिन्ता :-

"चिन्ता" चित्त की वह अवस्था है जिसमें दुष्परिणाम की आशंका के कारण या अनिश्चय के कारण हमारा चित्त अशान्त और उद्विग्न रहता है। हमारी बलवती इच्छा है कि हमारे अमुक कार्य का अमुक परिणाम हो किन्तु जिन उपादानों से वह परिणाम निकल सकता है वे इसके योग्य या उपयुक्त नहीं हैं किंतु वह फल हम अवश्य चाहते हैं उस समय साध्य और साधन में सामंजस्य अर्थात् मेल न होने की वजह से हम चिन्तित हो जाते हैं।

डा० हरद्वारी लाल शर्मा लिखते हैं- "चिन्ता मन की आधि है। "चिन्तातुराणां न सुखं न निद्रा" अर्थात् चिन्ता से आतुर लोगों को न सुख है न नींद। यह जीवन का ज्वर है और प्राणों का परिताप। इससे मन की क्षमताओं का ह्रास होता है, सामाजिक व्यवहार विगड़ता है और शरीर छीजता है। मानव व्यक्तित्व के सभी प्रदेशों में चिन्ता के छा जाने से बुद्धि कुण्ठाग्रस्त हो जाती है, चित्त चंचल और मन मूढ़ हो उठता है। "अहं" या तो तिलमिला उठता है या बुझ कर राख हो जाता है। जीवन में बाहर और भीतर "व्यवस्था" का विघटन प्रारम्भ हो जाता है। भय चिन्ता का मूल और गर्भ है।"[418]

भारतीय दर्शन में चिन्ता को "स्मरण" या "अनुध्यान" कहा गया है- "स्याचिन्ता स्मरणमनुध्यानम्। गीता और अहं मनोविज्ञान में चिन्ता को व्यक्ति के अहं से सम्बन्धित किया है। जब व्यक्ति अपने अहं को किसी घटना का उत्तरदायी मानता है तब उत्तरदायित्व की चेतना एक मर्यादा से नीचे या ऊपर चिन्ता उत्पन्न करती है। चिन्ता का प्राण विषाद है। अर्जुन को बहुत विषाद हुआ कारण कि वह अपने आपको सम्पूर्ण युद्ध की घटना के लिए जिम्मेदार मानने लगा। इतना ही नहीं, युद्ध से उत्पन्न दुष्परिणामों की कल्पना से वह विह्वल हो उठा था। अर्जुन का विषाद चिन्ता जनित था। मनोविज्ञान की दृष्टि से अर्जुन का यह व्यवहार चिन्ता और भय का परिचायक है।[420]

फ्रॉयड के अनुसार चिन्ता का मूल स्रोत बाह्य स्थितियों का भय नहीं वरन् आभ्यन्तरिक मन है। ये चिन्ता को सबसे भयंकर दुश्मन बताते हैं, इसके अवसर अर्थात् वे वस्तुएँ और स्थितियाँ जिनके बारे में चिन्ता महसूस की जाती है स्पष्टतः बाहरी दुनिया के बारे में व्यक्ति की जानकारी और शक्ति की अनुभूति की अवस्था पर बहुत दूर तक निर्भर है। चिन्ता से बचाव अलग बात है और चिन्ता के कारण त्रास अलग बात है। चिन्ता से बचाव की सशंक तैयारी स्पष्टतया लाभकारक होती है। चिन्ता डर से बचने का एक साधन है। अतिचिन्तित अतित्रस्त या निराशावादी व्यक्तियों के जीवन में सचिन्त्य आशंका व्याप्त रहती है। यह कभी–कभी विचित्र फोबिया या भयों का रूप धारण कर लेती हैं।[421]

मानक हिन्दी कोश में– चिन्ता मन को विकल करने या विचलित रखने वाली वह भावना जो कोई कष्ट या संकट उपस्थित होने या सामने आने पर उसका निवारण करने या उससे बचने के उपाय सोचने के सम्बन्ध में होती है।[422]

तुलसी ने भी चिन्ता को बड़ा ही सशक्त भाव माना है। यह ईश्वर के प्रति समग्र समर्पण के बिना कभी पूरी तरह दूर नहीं हो सकता। उन्होंने माना कि भय और चिन्ता के अनगिनत मार्ग हैं और जब तक व्यक्ति उसके आने का एक मार्ग अवरूद्ध करता है तब तक किसी अन्य मार्ग से आकर वे सामने खड़े हो जातें हैं।[423] नई–नई चिन्ताएँ उत्पन्न होकर व्यक्ति के लिए एक बोझ बन जाती हैं और व्यक्ति कोई भी विवेकपूर्ण कार्य नहीं कर पाता है।

चिन्ता के अनगिनत कारण हो सकते हैं तुलसी ने हमारा चिन्ता के अनेक कारणों से परिचय कराया है। प्रिय से सम्बन्धित अनेक प्रकार की परिस्थितियाँ व्यक्ति में चिन्ता उत्पन्न करने वाली होती हैं। प्रेम में प्रिय को सुखी देखने की इच्छा होती है इसलिए हर समय हमारा चित्त इस बात से चिन्तित रहता है कि हमारा प्रिय सुखी रहे। विपत्ति की जरा सी भी सम्भावना हो जाने पर हम प्रिय के अनिष्ट की आशंका से बहुत चिन्तित हो जाते हैं। यदि हमारा प्रिय किसी विपत्ति या संकट का शिकार हो ही जाता है तब तो हम उसकी उससे मुक्ति की बात सोचकर बहुत ही चिन्तित होने लगते हैं।[424]

जिसके आश्रम में हम प्रिय को छोड़कर आये हैं यदि वह प्रिय को अकेला छोड़ आता दिखायी पड़े तो हम प्रिय के अनिष्ट की आशंका से चिन्तित हो जाते हैं। राम लक्ष्मण को सीता को अकेले छोड़ आया देख चिन्तित हो जाते हैं।[425] सुख–सुविधाओं में पले सुकुमार पुरुष को कठोर मार्ग पर चलते देख हृदय में बड़ा सोच उत्पन्न होता है कि ये आगे कैसे चल पायेंगे।[426] प्रिय की गम्भीरता, मौन और संकोच देखकर लोग चिन्ता में पड़ जाते हैं।[427] यदि हमारे प्रिय का सभी परिजनों के साथ अचानक आगमन

हो तो हम अनिष्ट की आशंका करके चिन्ता के वश हो जाते हैं। राम भरत के आगमन से चिन्ता मग्न हो उठे।[428] जिसे हमने आश्रय दिया है, पालन करने तथा सुख पहुँचाने का वचन दिया है उसके सम्बन्ध में हम उस समय चिन्तित हो जाते है जब हम पर कोई भारी संकट आ पड़ता है। राम लक्ष्मण मूर्च्छा के समय विभीषण के लिए इसी कारण चिन्तित हुये।[429] मौन होकर जो दुःख सहते हैं उसे कभी व्यक्त नहीं करते उनकी हमें सर्वाधिक चिन्ता होती है।[430] कभी व्यक्ति नहीं करते उनकी हमें सर्वाधिक चिन्ता होती है। हमारा आत्मीय यदि सबका विश्वास खो दे तो वह जीवन कैसे काटेगा इसकी चिन्ता होना स्वाभाविक होती है। कैकेयी के कृत्य को सोच भरत बड़े चिन्तित हैं। वे कहते हैं– तुमने अपनी जिस इच्छा की पूर्ति के लिए इतने लोगों को दुख दिया, अपयश मोल लिया अन्त में उसकी विफलता आने पर तुम कैसे जीवन काटोगी इसकी मुझे चिन्ता है। जिस इच्छा की पूर्ति के लिए राम को वन भेजा, दशरथ की मृत्यु हुई, समाज को दुःख हुआ, अपयश मोल लिया और अन्त में उल्टा तो तू अपने भावी जीवन को किस आशा, विश्वास और इच्छा के सहारे बितायेगी यही मुझे भारी चिन्ता हो रही है।[431] प्रिय के प्रति अनजाने में अपराध हो जाने पर प्रिय की अनुकूलता को सोचकर हम चिन्तित हो जाते हैं।[432]

व्यक्ति की चिन्ता का दूसरा कारण व्यक्ति की इच्छापूर्ति हो सकती है। असम्भव इच्छा की पूर्ति (यदि उसकी पूर्ति परम आवश्यक है) को सोच हृदय में बड़ी चिन्ता उत्पन्न होती है।[433] जिस प्रण की पूर्ति पर हमारे प्रिय का सुख निर्भर है उस प्रण की पूर्ति असम्भव जानकर हम चिन्तित हो जाते हैं। जनक धनुष भंग की सम्भावना समाप्त हो जाने पर चिन्ता युक्त हो गये।[434] हमारी बलवती इच्छा है कि हमारे कार्य का अमुक परिणाम हो किन्तु जिन उपादानों से वह परिणाम निकल सकता है वे इसके योग्य या उपयुक्त नहीं है किन्तु हम अवश्य चाहते हैं। उस समय साध्य और साधन में सामंजस्य न होने से हम चिन्तित हो जाते हैं।[435] गन्तव्य स्थान पर शीघ्र न पहुँचने पर व्यक्ति को चिन्ता होती है[436] अपने पापों को समझकर जीव अपने उद्धार के विषय में बड़ा चिन्तित रहता है।[437] दिये हुए वायदे अथवा किये हुये संकल्प को पूरा करने की सोचकर चिन्ता होती है।[439] यदि किसी कार्य को करने का हमने संकल्प लिया है तो उस कार्य को जब तक हम कर नहीं लेते तब तक हमें इस बात की चिन्ता रहती है कि कहीं शरीर न चला जाय। दशरथ राम के युवराज अभिषेक के संकल्प से चिन्तित थे।[439]

किसी कार्य पर जब हमारा वश नहीं चलता तो उसे होता देख हम चिन्तित हो जाते हैं।[440] जिस दुःख निवारण का कोई उपाय नहीं होता वह दुःख व्यक्ति को चिन्ता में डाल देता है।[441] जो कार्य हमारे मन के प्रतिकूल है, जिस कार्य से हमारे प्राण प्रिय आत्मीय को कष्ट मिलना है यदि ऐसे कार्य को करने के लिए हम विवश हों तो ऐसी अवस्था में हम बहुत ही अधिक सोच मग्न हो जाते हैं। दशरथ राम को वन जाने की आज्ञा देने को सोच शोचमग्न हैं।[442]

यदि किसी कार्य में कोई लगातार विघ्न पहुँचाता जा रहा हो और हम उसे रोकने में असमर्थ हों तो हम चिन्ताग्रस्त हो जाते हैं। विश्वामित्र यज्ञ में राक्षसों के विघ्न डालने पर वड़े चिन्तित हो उठे।[443] जब व्यक्ति अपने किसी गहन दु:ख से छुटकारा नहीं पा पाता है तब उसके मन में अत्यधिक चिन्ता होने लगती है।[444]

भय मोह, ग्लानि, अपराध बोध, असामञ्जस्य, संताप, हीनता वृत्ति, अपने अभाग्य का विचार, समय की प्रतिकूलता ये सब व्यक्ति को बहुत चिन्तित कर देते हैं[445] अपनी भलाई-बुराई सुख-दु:ख के सम्बन्ध में भी व्यक्ति चिन्तित रहता है।[446]

यदि हमें विपत्ति के आने की आशंका हो जाये तो हम बहुत अधिक चिन्तित हो जाते हैं।[447] धर्म संकट की अवस्था भी व्यक्ति को चिन्तित करने वाली होती है।[448] शारीरिक पीड़ा मिलने की आशंका से भी चिन्ता होती है। बलशाली शत्रु को देखकर, मृत्युदण्ड मिलने की सम्भावना होने पर, हिंसक प्राणी को उत्साहित देखकर बड़ी चिन्ता होती है।[449]

जिस वस्तु को हमें अपने मित्र को देना है वह वस्तु खराब हो गयी हो तो हमें उसे देने में सोच होता है।[450] लक्ष्यहीन काम का परिणाम चिन्ता है।[451] प्रिय की निष्ठुरता से चिन्ता होती है।[452] जिसे हम देख रहे थे यदि वह अचानक हमारी आँखों के सामने से ओझल हो जाये तो हम चिन्तित हो जाते हैं।[453] जिस आज्ञा को देकर हमारे प्रिय ने प्राण त्याग दिये उस आज्ञा को भेंटते सोच होता है। राम इसीलिए अयोध्या नहीं लोटना चाहते क्योंकि दशरथ ने राम को वनगमन की आज्ञा देकर ही प्राण त्याग दिये थे।[454]

तुलसी ने विभिन्न प्रकार की चिन्ताओं का विभिन्न प्रकार से प्रभाव तथा विकास माना। दु:ख के निवारण का कोई उपाय न मिलने से उत्पन्न चिन्ता बहुत तीव्र होती है। सती के हृदय में शिव के त्याग से ऐसी ही चिन्ता उत्पन्न हुई। ऐसी चिन्ता अकथनीय होती है उस चिन्ता में हृदय व्याकुल हो जाता है। यदि यह चिन्ता व्यक्ति के अपराध के दण्ड के दु:ख से उत्पन्न है तो व्यक्ति इसे व्यक्त न कर पाने के कारण बहुत ही अधिक व्याकुल रहता है। हृदय कुम्हार के आँवे के समान अत्यन्त जलने लगता है।[455]

असाध्य चिन्ता नित्य नया और भारी रूप धारण करती है। व्यक्ति ऐसी चिन्ता में सदा चिन्ता और दु:ख से मुक्ति पाने की कल्पना में डूबा रहता है। उसे एक-एक दिन युग के समान लगता है। वह चिन्ता से मुक्ति पाने के लिए भगवान की शरण में भी जाता है। सती की शिव त्याग के दु:ख से उत्पन्न चिन्ता बहुत ही अधिक भारी थी। वे इस चिन्ता से मुक्त होने के लिए व्याकुल थीं इसलिए वे राम

से शीघ्र ही देह छूटने के लिए विनती करती है क्योंकि इस उपाय के बिना उनकी चिन्ता किसी प्रकार दूर नहीं होगी।[456]

यदि कोई हमें कोई ऐसा काम करने के लिए विवश करे जिससे हमारे प्रिय को कष्ट हो तथा हमारा उससे दीर्घकालीन वियोग हो जाये तो ऐसे कार्य को सोच हम चिन्ता के वश हो जाते हैं। हम माथे पर हाथ रखकर, दोनों नेत्र बन्द करके इस प्रकार सोच करने लगते हैं मानो साक्षात् सोच ही शरीर धारण कर शोच कर रहा है। दशरथ कैकेयी के दूसरे वरदान से इसी प्रकार चिन्ता में पड़ गये।[456]

चिन्ता में व्यक्ति को नींद नहीं आती। वह व्याकुल हुआ जमीन में पड़ा रहता है। उसके चेहरे का रंग उड़ जाता है।[458] ओठ सूखने लगते हैं। सारा शरीर जलने लगता है।[459] क्षण–क्षण में शोच से छाती भर आती है।[460] दशरथ की शोच के कारण ऐसी ही दशा थी। अपशकुनों से प्रियजनों के अनिष्ट की आशंका से चिन्ता होती है और यदि इसी बीच हमारे प्रियजनों का एकाएक बुलावा भी आ जाता है तो हम और भी चिन्तित हो जाते हैं। हम देवताओं से प्रियजनों की कुशलता मना कर तुरन्त ही प्रियजनों के पास चल देते हैं। हमारे हृदय में अधिक सोच रहता है जिसके कारण हमें कुछ भी सुहाता नहीं है। मन में ऐसा लगता है कि उड़कर जल्दी ही प्रियजनों के पास पहुँच जाऊँ। हमें एक–एक पल वर्ष के समान बीतता जान पड़ता है। यदि हमें ऐसी अवस्था में पुनः अपशकुन होते दिखायी पड़ जायें, सब कुछ कान्तिहीन दिखलाई पड़े तो फिर हम बहुत ही भयभीत हो बड़े ही चिन्तित हो उठते हैं। हमारा चित्त उदास हो जाता है और हम सब कुछ जानना चाहते हैं। ननिहाल में भरत को अपशकुनों से जो चिन्ता उत्पन्न हुई, वह इसी प्रकार विकसित और व्यक्त हुई।[46]

यदि कोई अपने षड़यन्त में हमारा नाम शामिल कर दे तो हमें लोगों के प्रतिकूल हो जाने की चिन्ता होने लगती है और इस चिन्ता से मुक्त होने के लिए हम तरह–तरह से अपनी सफाई पेश करने लगते हैं। भरत जब कैकेयी की करनी को समझते हैं और उसमें अपने को भी फँसा देखते हैं तो वे कौसल्या के समक्ष अपने को निर्दोश सिद्ध करने का प्रयास करने लगते हैं।[462] चिन्ता में व्यक्ति लम्बी–लम्बी सांसें भी लेने लगता है। दशरथ की मृत्यु, राम के वनवास और भरत के प्रेम ने चित्रकूट में सभी को चिन्ता के वश कर दिया था और वे लम्बी–लम्बी साँसे लेने लगते थे।[463] चिन्ता का स्वभाव व्यक्ति को ऐसे अंधेरे में डालना होता है जहाँ उसे कोई उपाय नहीं सूझता।[464] चिन्ता में व्यक्ति का शरीर सूख जाता है।[465]

चिन्ता बड़े ही घातक प्रभाव वाला संवेग है। इसके रहते व्यक्ति को अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं। तुलसी का मानना है कि व्यक्ति को चिन्ता से शीघ्र अति शीघ्र मुक्त हो जाना चाहिए। वे चिन्ता दूर करने में भगवत् साधनों को ही अधिक महत्व देते है।[466] वे कहते हैं कि भगवान अपने भक्तों

की चिन्ता दूर करने के लिए बहुत वैचेन रहते हैं।[467] प्रभु के प्रताप से[468] प्रभु के स्मरण[469] से समस्त चिन्तायें दूर हो जाती हैं। तुलसी चिन्ता दूर करने में विवेक का भी बहुत महत्वपूर्ण हाथ मानते हैं। समय के अनुकूल नीतियुक्त विचार[470] धैर्य और विवेक[471] सदुपदेश[472] सान्त्वना[473] ये सब चिन्ता को शीघ्र दूर करने वाले होते हैं। चिन्ताओं को दूर करने में जो समर्थ है उसको पहचानने पर ही चित्त की चिन्ता दूर होती है।[474]

सामर्थ्यवान स्वामी की शरण में व्यक्ति प्रत्येक प्रकार से चिन्ता रहित रहता है।[475] राग द्वेष से परे उदार तथा समान चित्त वाले व्यक्ति का सान्निध्य कल्पतरू के समान चिन्ता दूर करने वाला होता है।[476] प्रिय के प्रतिकूल होने की आशंका से उत्पन्न चिन्ता उसे अनुकूल देखकर दूर हो जाती है। भरत सीता को अनुकूल देख सोच रहित हो गये।[477] निश्चयात्मक स्थिति में पहुँचने पर व्यक्ति चिन्ता मुक्त हो जाता है।[478] सामर्थ्यवान् के बल पर भरोसा होने पर चिन्ता दूर हो जाती है।[49] असम्भव प्रण की पूर्ति से व्यक्ति चिन्ता रहित हो जाता है।[480] समान रूप से सभी दुखी हों तो फिर व्यक्ति अपने दुःख से कम चिन्तित रहता है।[481] अति सुन्दर और श्रेष्ठ वस्तु के प्रभाव से चिन्ता दूर हो जाती है।[482]

व्यक्ति के जीवन में चिन्ता विविधकारणों से आती ही है। लेकिन व्यक्ति के जीवन में कुछ चिन्तायें ऐसी होती हैं जिन्हें जीवन में नहीं आना चाहिए। ऐसी चिन्ताओं को तुलसी ने व्यर्थ कहा है।

जिसका जन्म और मृत्यु दोनों सार्थक हों उसकी चिन्ता करना व्यर्थ है। कैकेयी ने भरत से इसी कारण दशरथ की मृत्यु पर चिन्ता करने से मना किया।[483] यशस्वी और सुकृती व्यक्ति को लेकर किसी तरह की चिन्ता नहीं करना चाहिए।[484] बड़भागी, सब प्रकार से सुखी व्यक्ति की चिन्ता करना भी व्यर्थ होता है।[485] मंगल के समय चिन्ता करना उचित नहीं होता।[486] गुरू, माता, पिता, स्वामी की सीख का पालन सोच रहित होकर करना चाहिए।[487] यदि चिन्ता का कारण शीघ्र समाप्त होने वाला है तो चिन्ता नहीं करना चाहिए।[488] विधिवश हुए कार्य पर सोच नहीं करना चाहिए।[489]

लेकिन कोई-कोई चिन्तायें ऐसी होती है जो व्यक्ति के जीवन में परम आवश्यक हैं। जो व्यक्ति छल छोड़कर हरि का भक्त नहीं होता उस व्यक्ति की चिन्ता सभी प्रकार से करने योग्य होती है।[490] जो व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन न करें, अपनी मर्यादा में न रहे उसके लिए दुःख और चिन्ता करना उचित होता है।[491]

किसी-किसी अवस्था में चिन्ता स्वतः ही नहीं रहती । यदि दुःख का निवारण भविष्य में अवश्य हो जायेगा, यदि सामर्थ्यवान हमारे वश में है, यदि सामर्थ्यवान पर हमें विश्वास है तो ऐसी अवस्था में चिन्ता अपने आप ही चली जाती है।[492]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी ने चिन्ता को जहाँ एक ओर संकट की सीमा बताया है वहीं दूसरी ओर इसे संकट निवारण का उपाय भी कहा है। जब तक व्यक्ति अपने संकट को दूर करने के लिए चिन्तित नहीं होगा वह संकट से मुक्त नहीं हो सकता। चिन्ता आनन्द के स्रोत तक पहुँचने का भी साधन है। साधक यदि अपने लक्ष्य को पाना चाहता है तो उसे सिद्धि प्राप्त करने की अवश्य चिन्ता होना चाहिए। इस दृष्टि से चिन्ता का मानव जीवन में अपना महत्व भी है।

सुख :–

"सुख" शारीरिक तथा मानसिक कष्टों से मुक्त अवस्था का नाम है। यह अवस्था इच्छित वस्तु, व्यक्ति तथा अन्य किसी इच्छा के पूरी होने पर उत्पन्न होती है। सुख बड़ा ही शक्तिवान भाव है। जीवन में इसका बहुत ही महत्व है। जीवन का तो यह प्रयोजन ही है। सुख के अनेक प्रकार है– इन्द्रियज, सुख, मन का सुख, बुद्धि का सुख, आत्मा का सुख आदि। व्यक्ति सुख को जीवन का लक्ष्य मानने के कारण किसी न किसी प्रकार के सुख की प्राप्ति में निरन्तर लगा ही रहता है। सुख के प्रति व्यक्ति की इतनी आसक्ति क्यों है कारण– सुख हमारे मन का विस्तार करता है। सुख से हमारे जीवन में सरसता, मधुरता और कार्य करने का उत्साह आता है। हमारे यहाँ भारतीय दर्शनशास्त्रियों ने तो आत्मसुख को संतोष और शान्ति प्रदायक गुण से विभूषित किया है वे इस सुख को सब सुखों का लक्ष्य बताते हुए मानते हैं कि इस सुख को पा लेने के पश्चात् फिर व्यक्ति को कोई इच्छा नहीं रह जाती। सुख वास्तव में बड़ा ही सुन्दर भाव है इसी से व्यक्ति सुशोभित होता है इसका मुख फूल की तरह खिला रहता है।

शब्द कल्पद्रुम में इसे आत्मवृत्ति गुण विशेष कहा गया है। शब्दकोशों में इसे वह प्रिय अनुभूति बतायी जो तनमन को भाती है, अनुकूल होती है तथा जिसमें वह विभिन्न कष्टों से मुक्त रहता है। व्यक्ति की इस अवस्था के लिए अनेक पर्याय दिये गये हैं। आनन्द, हर्ष, सुख, पुलक, उछाह, मुद, मोद, प्रमोद, प्रफुल्लता, प्रसन्नता, हुलास और इन पर्यायों की परस्पर अर्थ भिन्नता भी स्पष्ट की गयी है। आनन्द को शब्दकोशों मे मोद/हर्ष/खुशी मोद को हर्ष/ आह्लाद, मुद को उमंग,[493] हर्ष को प्रसन्नता, प्रसन्नता को खुशी[494] बताया है। रामचन्द्र वर्म्मा "शब्द साधना" में परमानन्द के बारे में बताते हुए लिखते हैं कि आनन्द का उच्चतम रूप परमानन्द है जो आत्मा को परमात्मा या ब्रह्म में लीन होने पर प्राप्त होता है।[495]

कुछ पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक सुख के स्थान पर प्रसन्नता शब्द को लेकर कहते है कि सभी प्रसन्नता चाहते हे किन्तु सभी की प्रसन्नता के स्रोत भिन्न--भिन्न हैं। किसी क्षण प्रसन्न होना और जीवनभर प्रसन्न रहना दोनों में बहुत अन्तर है। प्रसन्नता का अर्थ तृप्त होने से है।

प्रसन्नता का एक अर्थ पूर्णता और पर्याप्तता से है। अरस्तू के अनुसार प्रसन्नता का अर्थ

कुछ न चाहना है। मिल प्रसन्नता का आधार उपयोगिता मानता है इसलिए मनुष्य केवल प्रसन्नता चाहते हैं। प्लेटों के अनुसार प्रसन्नता का सम्बन्ध – आत्मिक कल्याण से है। पाश्चात्य दार्शनिक प्लोटिनस के अनुसार प्लेटो सही शिक्षा देता है कि एक बुद्धिमान व्यक्ति प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए अपना पाथेय सदा ईश्वर – सर्वोच्च सत्ता – सुप्रीम से प्राप्त करता है, उसकी दृष्टि उसी पर केन्द्रित रहती है, वह उसी के अनुसार जीता है और वही होना चाहता है। फ्रायड की दृष्टि में जिसके अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व में कोई द्वन्द्व न हो वही व्यक्ति सुखी है। आध्यात्मवादियों के अनुसार सुख का अन्तिम लक्ष्य सम्पूर्ण इच्छाओं को सन्तुष्ट कर देना है। कुछ लोगों की दृष्टि में सुख सुन्दर स्वास्थ्य, धन, मनोरंजन के साधन, शक्ति, मित्र, ज्ञान, गुण, सम्मान रखने में है। कुछ लोग अपरिमित मात्रा में स्वर्ण रखने में सुख मानते हैं।[496]

तुलसी ने अपने साहित्य में सुख को सर्वोच्च स्थान दिया है उन्होंने तो इसे- ''स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा कहकर अपनी रचना कर्म का लक्ष्य ही मान लिया है। उन्होंने अपने सुख की प्राप्ति के लिए इस रामकथा की रचना की। कैसे सुख के लिए जहाँ परम विश्राम हो। परम विश्राम का अर्थ बताते हुए वे लिखते हैं– निज सुख के बिना जीव कभी स्थिर नहीं रह सकता– निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा।

सुख का फैलाव शारीरिक से लेकर आत्म सुख तक है तुलसी में सभी प्रकार के सुखों की चर्चा है। किस पात्र को कैसा सुख रुचता है, किस सुख के लिए किस मनःस्थिति का व्यक्ति रत है। मानस में ये सभी चित्र विस्तार से दिये गये हैं। मानस जीवन का व्यापक ग्रन्थ है इसलिए मानव जीवन में उत्पन्न होने वाली विभिन्न संवेगात्मक स्थितियों की इसमें अभिव्यक्ति विद्यमान है।

तुलसी ने सुख के तात्विक विवेचन में सुख के समस्त पर्यायों को ग्रहण किया है और उसे प्रसंगानुसार प्रयुक्त किया है। तुलसी ने सुख के कारणों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उन्होंने बताया कि व्यक्ति को सुख अनेक प्रकार से प्राप्त हो सकता है जैसे– प्रेम से सुख, किसी के गुणों से सुख, अपने प्रति किसी का प्रेम/ श्रद्धा तथा अन्य अपेक्षित बातों से सुख, इच्छापूर्ति तथा प्रतीक्षित कार्य के सम्पन्न होने से सुख, शरीर को सुख देने वाली वस्तुओं से सुख, उत्सव से सुख, रुचि अनुरूप वस्तुओं से सुख, असम्भव कार्य के हो जाने पर सुख, शुभ शकुनों से सुख आदि–आदि।

प्रेम के कारण सुख में व्यक्ति को उन सभी क्रियाओं में आनन्द आता है जिसे वह प्रेम के कारण करता है अथवा जो प्रेमवश स्वतः होती हैं। उसे प्रिय के प्रेम से सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक बात में आनन्द का अनुभव होता है। तुलसी का मानना है कि यदि हम प्रिय के आगमन का समाचार सुनें[497] उसका दर्शन करें[498] उससे मिलें[499] उसका सान्निध्य प्राप्त करें[500] सेवा करें[501], स्मरण करें[502],

उसका गुणगान करें[503], उसका स्पर्श करें[504], उसका दुलार करें[505], उसे हृदय से लगायें[506], उसके कीर्ति प्रसार के कार्य को सुनें[507], उसके सुख को देखें[508]। अर्थात् कोई भी प्रेम प्रेरित कार्य करें अथवा प्रेमोत्तेजक कार्य को होते देखें तो ऐसी अवस्था में हमें सुख का अनुभव होता है। उन्होंने बताया कि पुत्र की दिव्य/अद्‌भुत शक्ति और प्रभाव आदि से परिचित होने पर भी हृदय हर्षित हो उठता है। विश्वामित्र के राम-लक्ष्मण माँगने पर मोह के वश हुए दशरथ को जब वशिष्ठ जी ने राम के सामर्थ्य से परिचित कराया तब उनका मन प्रसन्न हो उठा।[509] यदि हमने अपने प्रिय को देखा नहीं है तो जब हम उसे देखते हैं और उसे पहचान लेते हैं तो ऐसा होने पर हमें बहुत ही हर्ष का अनुभव होता है। सुग्रीव ने जब राम को देखा और ताड़ के वृक्षों को एक ही बाण से गिरा देने वाले उनके सामर्थ्य से उन्हें पहचाना तब वे प्रभु को पहचान लेने के कारण बहुत हर्षित हो उठे।[510] प्रिय की इच्छानुसार उसे देने में भी हर्ष का अनुभव होता है। सुतीक्ष्ण के वरदान माँगने पर राम एवमस्तु कहकर हर्षित हो उठे।[511] प्रिय की प्रेम भरी डाँट भी हमें सुख पहुँचाती है। पार्वती के राम के बारे में अज्ञान भरी बातें करने पर जब शंकर जी ने उन्हें एक प्रकार से डाँटा तो उन्हें इससे सुख का ही अनुभव हुआ।[512] प्रेमी के साथ कठिन मार्ग भी आनन्ददायक हो जाता है और प्रेम के कारण तापदग्धकारी वस्तुएँ देखकर भय के स्थान पर हर्ष होता है। सीता को राम के साथ वन का मार्ग कष्टदायक नहीं लगता और न ही लंका विजय के पश्चात् राम के आदेश से अग्नि में प्रवेश करने में उन्हें भय लगा बल्कि उन्हें सुख ही प्राप्त हुआ।[513] आराध्य के आविर्भाव से व्यक्ति हर्ष विभोर होकर उससे दौड़कर मिलने जाता है। जब-जब राम ने अवतार लिया तब-तब काकभुशुण्डि जी वहाँ हर्ष पूर्वक उठ दौड़े।[514] प्राणों का मोह छोड़कर श्रद्धेय की रक्षा करने में भी आनन्द का अनुभव होता है क्योंकि यदि रक्षा करने में प्राण चले गये तो नित्य सेवा का आनन्द मिलता है और यदि सफलता मिल गयी तो यश का आनन्द मिलता है।[515]

तुलसी ने सौन्दर्य और शोभा के दर्शन से सुख के संचार का होना माना है। सौन्दर्य और शोभा कई प्रकार की हो सकती है– स्वाभाविक और अनुपम सौन्दर्य[516], आराध्य को शक्ति के साथ विराजमान शोभा[517], कोमल और कठोर सौन्दर्य के साथ होने की शोभा[519], कम उम्र वाली सुन्दर स्त्री की शोभा[520], वर और कन्या की भाँवरें देने के समय की शोभा[521], किसी स्थान/प्राकृतिक स्थल/रमणीय बाग/पवित्र और सुन्दर स्थान की शोभा आदि-आदि।[522]

वियोग से दु:खी व्यक्ति को यदि किसी आत्मीय का स्नेह मिल जाये तो वह सुखी हो जाता है।[523] प्रिय से हारने में भी प्रसन्नता होती है।[524] माँ को पुत्र से सहज ही आनन्द मिलता है।[525] पुत्र को कष्ट से मुक्त हो जाने पर उसे खेलता देखकर माता का हृदय हर्षित हो जाता है। बच्चे का विचित्र वेश देखकर माता फूली नहीं समाती।

ऋषि मुनियों के आगमन से, उनसे आशीर्वाद पाने से, उनको प्रणाम करने से मन बहुत ही प्रसन्न हो उठता है।[526] अपने प्रति किसी के प्रेम, आदर और विनय को जानकर बहुत ही हर्ष का अनुभव होता है।[527] हृदय में उत्पन्न अपेक्षित प्रेम की अनन्यता और सहजता जानकर भी हृदय आनन्द से भर जाता है।[528] शत्रु के नाश हो जाने पर संकट और शोक के दूर हो जाने पर, पाप ताप दूर हो जाने पर शोक मग्न हृदय सुखी हो जाता है।[529] निरोग रहने पर और नियन्त्रण से छूटने पर[530] भी हर्ष का अनुभव होता है।

मन चाही बात/सुहावनी मनोकामना/इच्छित कार्य/इच्छित वस्तु/असम्भव प्रतिज्ञा[531] के पूर्ण होने पर मन बहुत ही अधिक प्रसन्न हो जाता है। शुभ शकुन सूचक आनन्द और मंगल ध्वनि बार–बार सुनाई देने पर इच्छापूर्ति का निश्चय हो जाने के कारण हमारा हृदय आनन्द से भर जाता है। राम के अयोध्या लौटने का समय आ जाने पर क्षेमकरी के शुभ, आनन्द और मंगलमयी ध्वनि करने से राम के आने का समय हो जाने पर कौसल्या आनन्द मग्न हो गयी।[532] प्यासे व्यक्ति को पानी की बहुत चाह होती है यदि ऐसी अवस्था में उसे पानी मिल जाये तो उसे हर्ष का अनुभव होता है,[533] जिससे मिलने की तीव्र इच्छा हो और वह अचानक अप्रत्याशित रूप में दिख जाये तो विशेष आनन्द प्राप्त होता है।[534] इसी प्रकार यदि कठिन परिश्रम के पश्चात् अभीष्ट फल मिल जाये[535], मनचाहा आशीर्वाद मिल जाये[536], मनचाहे उत्सव का समाचार मिल जाये तो हमें बहुत ही हर्ष होता है[537] जिसने हमें पराजित करके विजयश्री प्राप्त की है यदि उसकी विजयश्री किसी के क्रोध का कारण बन जाये और क्रोधित व्यक्ति उसे और उसके सहायकों को दण्ड देने के लिए उद्यत हो जाये तो उस व्यक्ति का क्रोध हमारे हर्ष का कारण बन जाता है।[538] जिसके आशीर्वाद की हमें चाह थी यदि वह व्यक्ति क्रोधित अवस्था में है तो ऐसी अवस्था में ही यदि हमें आशीर्वाद मिल जाये तो हम बहुत ही हर्षित हो जाते हैं।[539] यदि हमें कोई ऐसा स्थान मिल जाता है जहाँ अन्य लोगों की इच्छायें भी पूरी हुई हैं तो हम अपनी इच्छापूर्ति की सम्भावना से हर्षित हो जाते हैं।[540] कोई हमारी प्रतिष्ठा को धूमिल कर रहा है और उसी समय हमारा प्रिय उसके कथन को झुठलाकर हमारी प्रतिष्ठा की रक्षा करने का प्रयत्न करें तो उसकी निडरता पूर्ण वाणी सुन हम हर्षित हो जाते हैं।[541]

जिस प्रकार की हमारी प्रवृत्ति है उस प्रकार की प्रवृत्ति के अनुरूप यदि हमें स्थान मिल जाये[542], दृश्य दिखलायी पड़ जाये[543], ध्वनि सुनायी पड़ जाये[544], वर्णन सुनना अथवा कहना पड़ जाये[545], रुचि अथवा प्रवृत्ति अनुरुप कोई कार्य हो जाये[548] तो ऐसा होने पर हमें निश्चित ही सुख की प्राप्ति होती है। प्रवृत्ति के अनुसार वस्तु के मिलने से सुख होने के कारण कभी–कभी किसी को प्रतिकूल वस्तुओं से ही सुख मिलने लगता है।[549] योद्धा लोग अपनी सेना देख तथा भेरी और नगाड़े की आवाज सुनकर प्रसन्न होते हैं।[550] मुनियों को, ब्रह्मानंद में मग्न भक्तों को प्रभु से, उनकी लीला से, उनके चरित्र से, उनकी कथा से आनन्द मिलता है।[551]

प्रतीक्षित कार्य के होने या वस्तु के मिलने से बड़ा आन्नद होता है। यदि भगवान पुत्र रूप में जन्म लेने का वचन दे दें और जब दीर्घकाल की प्रतीक्षा के उपरान्त उनका जन्म हो तो ऐसे समाचार को सुनकर हम ब्रह्मानन्द में समा जाते हैं। दशरथ पुत्र जन्म सुनकर इसीकारण ब्रह्मानंद में समा गये।[552] कोई आनन्द किसी को जीवन में अवश्य ही मिलना है और उसकी सूचना भी कोई दे दे तो जब आनन्द मिलने का समय आता है तो व्यक्ति पूर्व कहे हुए वचनों का स्मरण कर प्रसन्न हो जाता है।[553] जिसकी प्रतीक्षा हम कर रहे हों, जिसके द्वारा दिये गये हर्ष पूर्ण समाचार पर हमारे प्राण निर्भर हों उसके आने पर उसका प्रसन्नता और उल्लासपूर्ण मुख देखकर हम आनन्दित हो जाते है।[554] जिस मनोरथ के सफल होने की प्रतीक्षा वर्षों से थी और जिसके सफल न होने के कारण एक प्रकार की बैचेनी और अनिष्ट आशंका तथा विषाद की छाया सको बैचेन किये थी उसके सफल होने पर सुख तो होता ही है साथ ही चित्त में बड़ी शान्ति होती है।[555]

अनुकूल वातावरण[556], समय[557], स्थान[558], व्यक्ति[559] सुखप्रदायक होते हैं। मन के अनुकूल व्यक्ति यदि ऐसे स्थान पर मिले जहाँ उसके मिलने की सम्भावना न हो और हमें ऐसे व्यक्ति की बहुत ही आवश्यकता हो तो ऐसी परिस्थिति में उस व्यक्ति के मिलने से अत्यधिक हर्ष होता है।[560] मन के अनुकूल वचन अथवा आज्ञा से भी मन प्रसन्न होता है।[561] खेल के लिए समतल भूमि सुखद होती है।

गुणकारी/सामर्थ्यवान् व्यक्ति के आगमन से, उसके दर्शन से, उसकी सफलता से, उसकी कीर्ति/उसके चरित्र को सुनने से, उसके प्रत्येक कार्य से, उसके स्मरण, उसके गुणगान से सभी से हर्ष होता है।[562]

किसी में अपेक्षित गुण के विकास को देखकर मन आनन्द का अनुभव करता है। यदि हमें किसी का अपने श्रद्धेय के प्रति दृढ़ प्रेम देखें[563] उत्तम स्वभाव उसके सुन्दर सेवा भाव[564] उसकी आन्तरिक भक्ति को देखें[565] श्रद्धेय की प्रीति/नम्रता/विनय आदि का वर्णन सुनें[566] उसके शील स्वभाव को देखें[567], किसी का परस्पर सहज स्नेह देखें[568], असहाय अबला पर श्रद्धेय को कृपा करते देखें[569] उसमें भारी बल और पौरुष को देखें[570] तो ऐसा देखकर व्यक्ति हर्षित हो जाता है।

कष्ट दूर हो जाने पर सुखी होना स्वाभाविक ही है। यदि किसी की थकावट दूर हो जाये[571], श्रम और भय दूर हो जाये,[572] भ्रम/मोह/संदेह/आशंका/संकोच दूर हो जाये[573], विविध तापों, क्रूर ग्रहों और महामारियों से पीड़ित व्यक्ति उत्तम देश और उत्तम राज्य पा जाये,[574] अनेक प्रकार के शारीरिक/मानसिक कष्ट दूर हो जायें[575] व्यक्ति मन के विषाद/ग्लानि जनित चिन्ता/वैरभाव से रहित हो जायें[576], असहाय को आलम्बन मिल जाये[577], दुष्ट के नाश का रहस्य और उसकी शक्ति का रहस्य पता

चल जाये[578] तो व्यक्ति सुखी हो जाता है। इस प्रकार दु:ख का जो भी कारण है/ सुख का अवरोधक है उसके दूर होने पर सुख का अनुभव होता है।

दैवी चमत्कार देख आश्चर्य के साथ–साथ आनन्द का भी अनुभव होता है[579], शुभ शकुनों/मंगल शकुनों से हृदय आनन्दित होता है।[580]

शीतल/निर्मल/स्वादिष्ट जल के पीने[581], उसमें स्नान करने से[582] सुख मिलता है। शीतल मंद सुगन्धित हवा से सुख मिलता है[583], सुविधाओं से,[584] विशाल, सघन, शीतल, छायायुक्त विश्राम देने वाले नित्य नवीन तथा सुन्दर वृक्ष को पाकर हर्ष होता है।[585] स्थायी आवास की व्यवस्था हो जाने पर[586], वातानुकूलित स्थान पर[587], उत्तम आश्रम और[588] उत्तम घर में[589] सुख होता है। जिस स्थान को देखकर चित्त सहज में प्रसन्न हो जाये उस स्थान में पहुँचने पर हर्ष होता है।[590]

जो वस्तु सुलभता से प्राप्त हो[591] जिसमें कष्ट/त्रास और दुख को दूर करने की सामर्थ्य हो,[592] जो शीतलता और मधुरता विखेरती हो, आनन्द और कल्याण दायक हो[593] ऐसी वस्तु हमें निश्यित ही सुख प्रदान करती है।

अवतारी के प्रभाव से भी स्वतः ही सुख की व्यवस्था होने लगती है। दिव्य/लोकोत्तर सत्ता के प्रभाव से जब उसके प्रकटीकरण होने की निश्चय होता है तो उससे लोक में सुख, समृद्धि की वृद्धि स्वतः होने लगती है।[594] दैवी कृपा से उस समय सबके चित्त सुखी और प्रसन्न रहने लगते हैं।[595] अवतारी पुरुष जहाँ भी निवास करता है वहाँ चर अचर सभी सुखी रहते हैं।[596]

हास्य रस का संचार करने वाली वस्तुओं से भी आनन्द मिलता है। विचित्र वेश विचित्र और अद्‌भुत वस्तुएं[597] तथा किसी का विचित्र रूप, किसी की अवसर तथा उसकी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल औचित्यहीन विचित्र चेष्टायें देखकर आनन्द आता है।[598]

श्रद्धेय के चरणों में सिर नवाने/उसके चरणों को धोने/प्रणाम करने//वन्दना में आनन्द आता है।[599]

गुणों से युक्त वचन भी हमें सुख पहुँचाते हैं। जो वचन पाप का नाश करने वाले हों,[600] मंगलकारी हों/[601] कल्याणाकरी हों,[602] बोध कराने वालें हों,[602] विनम्रता/सरलता/सुन्दर और प्रेम युक्त हों,[604] हृदय को राहत और शीतलता पहुँचाने वाले हों, सरस/मधुर, कृपापूर्ण मनवांछित वर देने वाले हों तो ऐसे वचनों से हमें बहुत ही आनन्द मिलता है।

उत्सव में हमें आनन्द मिलता है यदि यह उत्सव हमारे श्रद्धेय का या प्रिय का हो तब तो और भी अधिक आनन्द मिलता है।[605]

दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति से भी सुख मिलता है। अपने गुण का अनुभव कर सुख मिलता है। सार्थक काम करने के कारण व्यक्ति को रचनात्मक आनन्द मिलता है।

सुख व्यक्ति के हृदय में उत्पन्न होने तक ही सीमित नहीं रहता, वह तरह–तरह से व्यक्त होकर विकसित भी होता है। कौन सा सुख किस प्रकार विकसित हुआ, उसने व्यक्ति में क्या–क्या प्रभाव उत्पन्न किये यह तो उस व्यक्ति के स्वभाव तथा तत्कालीन परिस्थिति पर निर्भर है। तुलसी ने इसी बात को ध्यान में रखकर अपने साहित्य में अनेक प्रकार से सुख का विकास माना है।

बालक के जन्म से आनन्द का अनुभव होता है यदि बालक दिव्य गुणों से युक्त हो तब तो मन में परम आनन्द होता है। ऐसे आनन्द से व्यक्ति अधीर हो जाता है वह किसी तरह से धैर्य धारण कर उस बालक को देखने जाता है, बाजा बजवाता है, अनेक प्रकार का दान देता है। नगर को सजवाता है।[606]

ऐसे दिव्य बालक के जन्मानंद में आकाश से पुष्प वर्षा होने लगती है और सभी लोग मांगलिक द्रव्यों को सजाकर गाते हुए बालक के समीप जाते हैं। आरती करके निछावर करते हैं। बार–बार चरणों में गिरते हैं और उसके माता–पिता के गुणों का गान करते हैं। ऐसे बालक के जन्म से सबको इतना अधिक आनन्द मिलता है कि जो भी वस्तु जिसको मिलती है वह उसे लुटा देता है और जन्मोत्सव मनाने में मग्न हो जाता है। जन्मोत्सव के आनन्द में सारा वातावरण कस्तूरी, चन्दन और केसर की सुगन्ध से सुगन्धित हो जाता है। घर–घर में मंगलमय वधावा बजने लगता है। अगर धूप का धुँआ और अबीर चारों ओर उड़त हुआ दिखायी पड़ता है। सब ऐसे आनन्द में मग्न हो जाते हैं कि किसी को समय बीतता नहीं जान पड़ता। राम के जन्म से दशरथ और समस्त अयोध्यावासियों का आनन्द इसी प्रकार व्यक्त हुआ।[607]

इस प्रकार दिव्य बालक के जन्मानन्द में सभी लोग बड़े आनन्द मग्न हो जाते हैं– उनके शरीर रोमांचित होने लगते हैं।

जिस प्रकार दिव्य पुरुष के जन्म से आनन्द होता है उसी प्रकार उसके अन्य उत्सव भी सबको आनन्द मग्न कर देते हैं। जैसे ही हमें प्रिय के उत्सव का समाचार मिलता है। हम आनन्द से भर जाते हैं। हमारा शरीर पुलकित हो जता है नेत्रों में जल भर आता है। छाती भर आती है। हम धैर्यहीन हो कुछ कह नहीं पाते। राम के विवाह का समाचार पाकर दशरथ की आनन्द के कारण यही दशा हुई।[608]

आनन्द का उपभोग हम अकेले नहीं करना चाहते बल्कि उसे सबके साथ मिलकर लेना चाहते हैं। दशरथ ने विवाह का समाचार सभी रानियों को दिया और वे रानियाँ भी हर्ष से भर गयीं। घे हर्ष से प्रफुल्लित हो उठीं और उस समाचार पत्रिका को बार–बार हृदय से लगाने लगीं। रानियों ने आनन्द से भरकर ब्राह्मणों को दान दिया और करोड़ों की निछावरें भिक्षुकों को दीं।[609]

दिव्य व्यक्ति के विवाहोत्सव आनन्द में घर–घर वधावा बजने लगता है। सारा नगर सजाया जाता है और सारे वातावरण को सुगन्धित कर दिया जाता है। स्त्रियाँ मंगल गीत गाती हैं। शंख, नगाड़े, ढोल तथा तरह–तरह के बाजे लोग बजाते हैं तथा मंगल कलश और शुभ सकुन की वस्तुयें सजाते हैं और पुष्प वर्षा भी करते हैं। विवाहोत्सव के आनन्द की यह अभिव्यक्ति दो समय होती है एक समय जब विवाह होना निश्चित हो जाता है अथवा विवाह के होने का समाचार हमें मिलता है और दूसरे समय जब प्रिय का विवाह होता है। दिव्य व्यक्ति के विवाह का आनन्द आकाश और धरती सब जगह दिखायी पड़ता है।[610]

आनन्द में व्यक्ति तरह–तरह के मनोरथ भी करता है। राम के विवाह की घड़ी आ जाने पर स्त्रियाँ तरह–तरह के मनोरथ कर रहीं कि विवाह के पश्चात् जब जनक जी स्नेहवश बार–बार सीता को बुलावेंगे तो करोड़ों कामदेवों के समान सुन्दर दोनों भाई सीता जी को लेने आया करेंगे। तब हम सब नगर निवासी राम लक्ष्मण को देख-देखकर सुखी होंगे।[611]

अपने आराध्य का अप्रत्याशित रूप से दर्शन हृदय को बहुत अधिक हर्ष पहुँचाता है। आनन्द से ओतप्रोत हो वह आराध्य की जय–जय कार करने लगता है। बार–बार आनन्द से पुलकित होने लगता है। राम के दर्शन से शिव जी को इसी प्रकार का आनन्द हुआ।[612]

भगवान के रसीले और सुहावने चरित्र को सुनकर भक्त को बहुत सुख मिलता है और उसमें भगवत् कथा सुनने की लालसा बहुत अधिक बढ़ जाती है। शिव चरित्र सुनने से भरद्वाज को इसी प्रकार से आनन्द हुआ।[613]

हमारे श्रद्धेय के प्रति किसी का उत्तम प्रेम देखकर हम प्रसन्न हो उठते हैं तरह–तरह से उसकी सराहना करने लगते हैं। भरद्वाज में शिव प्रेम देखकर याज्ञवल्क्य बहुत प्रसन्न हो उनकी सराहना करने लगे।[614]

प्रिय के आगमन से हर्ष होता है और जब हम उसके आने की बहुत दिनों से प्रतीक्षा कर रहे हों, उसे कोई अच्छा समाचार देना चाहते हों तब तो हमें उसके आने पर और भी प्रसन्नता होती है जैसे ही हमें उसके आने का समाचार मिलता है हम आनन्द से भरकर आरती सजाकर उससे मिलने दौड़ पड़ते हैं और दरवाजे से मिलकर उसे अन्दर लाते हैं।[615]

यदि भक्त को भगवान के मिलने की आशा न हो और उसे भगवान के आने का समाचार उसे मिल जाये तो जो आनन्द होता है उसमें वह अनेक प्रकार के मनोरथ करने लगता है, वह आतुरता से दौड़ने लगता है उसे विश्वास ही नहीं होता कि भगवान सचमुच आयेंगे लेकिन फिर वह भगवान के गुणों के स्मरण से आने का विश्वास मान पुनः मनोरथ करने में मग्न हो जाते हैं। उसे इतना आनन्द होता है कि उसकी बुद्धि ही कुंठित हो जाती है और वह भगवान के पास जाने का मार्ग नहीं जान पाता और इधर–उधर दौड़ने लगता है। राम के आने का समाचार पा सुतीक्ष्ण की आनन्द में यही दशा हुई।[616]

प्रिय के दर्शन से उत्पन्न आनन्द व्यक्ति को प्रेम से भर देता है जिससे वह अनेक प्रकार की प्रेमजनित क्रियायें करने लगता है। राम के दर्शन से सुतीक्षण प्रेम और आनन्द से भर गये।[617]

आत्म सुख पाकर व्यक्ति चिन्ता रहित हो जाता है। भगवान के भक्त रामनाम स्मरण से आत्मसुख में विचरते हैं। उन्हें नाम के प्रसाद से कोई चिन्ता नहीं रहती।[618]

प्रेम का सुख व्यक्ति को मग्न कर देता है जिससे वह अपने तन मन की सुधि भुला देता है। राम जन्म आनन्द से शंकर और काकभुशुण्डि जी इसी प्रकार आनन्दित होते हैं।[619]

सुख के मूल से जब निकट सम्बन्ध स्थापित हो जाता हैं तो उससे उत्पन्न आनन्द से हृदय उमँगने लगता है। और शरीर पुलकित होने लगता है। जनक और सुनयना राम को दूलह रुप में देख आनन्द से उमंगित और पुलकित होने लगे।[620]

मनचाही बात से उत्पन्न प्रसन्नता से शरीर में तेज सुशोभित हो जाता है। वन में जब. वशिष्ठ जी ने भरत और शत्रुघ्न को वन में जाने और लक्ष्मण और सीता को लौटाने की बात कही तो इससे भरत परमानन्द से पूर्ण प्रसन्न हो गये। शरीर में तेज सुशोभित हो गया।[621]

प्रसन्न होने पर व्यक्ति किसी की सभी इच्छायें पूर्ण कर देता है। भगवान प्रसन्न होकर भक्त को भक्ति का वरदान देते हैं।[622] आत्म सुख मन को स्थिर कर देता है और भेदरूपी भ्रम का नाश हो जाता है।[623] दिव्य आनन्द से मन का सारा ताप दूर हो जाता है।[624]

स्पर्श का सुख गोत्र को प्रफुल्लित/हर्षित/रोमांचित करके व्यक्त होता है। स्पर्श शारीरिक धरातल पर होता है किन्तु उसकी अनुभूति बहुत भीतर मन के स्तर तक जाती है। स्पर्श से मन को जो सुखानुभूति होती है वह तन्मय कर देने वाली होती है वही अनुभूति लौटकर मनुष्य की देहयष्टि को हर्ष/

प्रफुल्लता/रोमांच से भर देती है। यहाँ अक्षयवट का स्पर्श इसी तरह गात्र को हर्षित करने वाला है।[625]

संवेग की तीव्रता देश/काल/परिस्थिति और पात्र की मनस्थिति के ऊपर आधारित है। तुलसी ने एक ही संवेग के हल्के/गाढ़े/तीव्र कई रूपों का विवेचन किया है। संवेगों का स्वभाव (टेम्पर) पहचानने में तुलसी की कोई सानी नहीं। यहाँ प्रसंग यह है कि उस समय शम्भु ने राम को देखा और उनके मन में अत्यन्त तथा विशेष हर्ष हुआ।

भगवान शंकर का मन निरन्तर अपने इष्ट राम के बारे में ही सोच रहा था और यह मानसिक प्रक्रिया तब से चल रही थी जब वे भरद्वाज के पास गये थे। भरद्वाज ने भगवान शंकर को राम की कथा सुनायी जिसे सुनकर उन्हें परम सुख हुआ। फिर उन्होंने भगवान शंकर से राम की भक्ति के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट की जिसे उन्होंने विस्तार से सुनाया और इस सत्संग में कुछ काल निकल गया। निष्कर्ष यह कि दण्डक वन में भगवान शंकर को राम मिले उसके बहुत पहले से उनका चित्त उन्हीं का चिन्तन-मनन कर रहा था।

जिससे मिलने की तीव्र इच्छा होती है उसमें अगर कुछ बाधा भी हो तो व्यक्ति उसकी परवाह न करके उससे मिलता अवश्य है। भगवान शिव यही सोचकर-सीता को ढूँढ़ते/दुखी होते राम से मिलने की इच्छा से चल दिये कि उसी समय वे उन्हें दिख गये। इस चाही हुयी वस्तु को अचानक/एकाएक/अप्रत्याशित रूप से देखकर उन्हें विशेष और असीम आनन्द होना स्वाभाविक था। इसीलिए तुलसी ने लिखा उस समय जब उनके मन में प्रभु को देखने/मिल जाने की कोई आशा/सम्भावना नहीं थी उन्हें देखकर विशेष आनन्द हुआ। यह आनन्द अत्यधिक/असीम था क्योकि इसकी असीमता की अभिव्यक्ति अगली चार चौपाइयों में होती है।

विशेष हर्ष के कारण उनके नेत्र छवि समुद्र में बहुत समय तक अवगाहन करते रहे। प्रेम के कारण अपने प्रिय को देखकर उसके सौन्दर्य के आस्वादन में मग्न हो गया जैसे समुद्र में डूब उतरा रहे हों। जिस सौन्दर्य में समुद्रवत् अगाधता और असीमता होगी उससे हृदय में आनन्द भी असीम और विशेष उपजेगा।

अत्यन्त हर्ष की अवस्था में जो वस्तु उसके आनन्द/सुख/हर्ष का स्रोत होती है और उसके प्रति आदर/श्रद्धा और प्रेम भी होता है तो अभिभूत होकर हम उसकी सराहना करने लगते हैं अर्थात् वह अपने आनन्द/हर्ष की उमड़न को मन/हृदय में रोक नहीं पाता वह शब्दों से फूट उठता है इसीलिए भगवान शिव जय सच्चिदानन्द कहकर वहाँ से चल दिये।

अगर अपने इष्ट/प्रिय/अभिलषित वस्तु का सान्निध्य, दर्शन का सुख हमें मिल चुका है, हमारा मन उसे देखने से असीम आनन्द से भर उठा है तो उस वस्तु का साथ छोड़ देने के बाद भी आनन्द की वह अनुभूति हम पर छायी रहती है जिसकी अभिव्यक्ति उच्छ्वास/वाणी अथवा पुलकन के माध्यम से हम करते हैं। भगवान शंकर की यही दशा है वे रास्ते में सती के साथ चले जा रहे हैं किन्तु उनका मन/तन बार–बार आनन्द से पुलकित हो रहा है– पुनि–पुनि पुलकित कृपा निकेता। उनकी दशा प्रेम और आनन्द में अत्यन्त अभिभूत और विह्वल थी जिसे सती ने देखा।[626]

यदि अपने आत्मीय या संतान को किसी से कष्ट मिलने की आशंका हो और उसी सम्बन्ध के होने की सम्भावना हो लेकिन बाद में यह पता चले कि जिससे अपने प्रिय को दुख मिलने की आशंका थी वास्तव में यह हमारा भ्रम था। उल्टे भावी जीवन में वही हमारे आत्मीय के जीवन में आनन्द, मंगल, सुख समृद्धि का स्रोत बनने वाला है और यह भी पता लगे उसका मिलना दुर्लभ है और उसके मिले बिना हमारे आत्मीय को हर्षित होकर के यह सूचना देने दौड़ेंगे कि शंका निर्मूल थी तुम्हें तो उसी का वरण करना है। मैना पति से यह सुन कि शंकर भगवान सुन्दर सर्वगुणों की खानि और कष्टों को मेंटने वाले हैं। तुम्हारी शंका निराधार है हर्षित हो उठी और उसी हर्ष में पार्वती के पास पहुँचीं। आनन्द और प्रेम के कारण उनके नेत्रों में जल भर आया, वे गद्‌गद् कण्ठ हो गयीं। उसी समय पार्वती ने माँ को सुख देने वाला स्वप्न सुनाया। जिस स्वप्न में हमारी अभिलाषा की पूरे होने की सम्भावना हो वह स्वप्न या वस्तु सुखद होती है।[627]

वस्तु सुन्दर हो और इसके साथ उसमें उत्तम गुण भी हों तो उसके प्रति मन का आकर्षण बहुत अधिक बढ़ जाता है। उसकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर हम उसे एकटक देखते रह जाते हैं और उसके उत्तम गुणों को सोचकर मन अत्यन्त हर्ष से भर जाता है। नारद की भी यही दशा हुई। विश्वमोहिनी के रूप सौन्दर्य पर वे मुग्ध हो गये किन्तु उसके आन्तरिक गुणों और असाधारण लक्षणों को देखकर तो वे हर्ष से ही विभोर हो गये। यहाँ उनके हर्ष का कारण विश्वमोहिनी के अनुपम सौन्दर्य के प्रति उत्पन्न लगाव और उसके उत्तम गुणों का चिन्तन है। यहाँ उनके हर्ष के पीछे यह इच्छा भी छिपी है कि अगर यह मुझे मिल जाय तो कितना आनन्द हो।[628]

जहाँ तक सुख प्रदायक वस्तु को जानने की बात है तुलसी ने इस सन्दर्भ में ऐसी भी वस्तुएँ बतायी है जिनसे सभी को सब प्रकार के सुख मिलते हैं और कुछ वस्तुयें ऐसी होती हैं जिनसे सुख तो किसी निश्चित व्यक्ति को मिलता है लेकिन मिलता सब प्रकार का है।

जो व्यक्ति दिव्य गुणों से युक्त अथवा अवतारी होता है, तुलसी के अनुसार वह व्यक्ति सभी को सब प्रकार के सुख प्रदान करता है। तुलसी ने अपने साहित्य में शिव, राम, लक्ष्मण, संतजन, प्रभु को

अवतारी होने के कारण इन्हें कभी आनन्दकन्द, कभी सुख के समुद्र, कभी सुख की राशि, कभी सुख धाम, कभी सुख मंदिर कहा और उनके सुख देने की इसी विशेषता का संकेत दिया।[629] उन्होंने इसी प्रकार के सुख प्रदायक गुण वाली अन्य वस्तुओं की भी जानकारी दी। उन्होंने बताया कि जो वस्तु करुणा की खान और सुन्दर हो, जो सुलभ तथा मनवांछित वस्तु देने वाली हो, जो उत्तम गुण, प्रभाव और सुहाने वाली हो जो कष्ट निवारक/शान्ति प्रदायक/तृप्तिदायक हो, अच्छी/प्रिय/मधुर और आनन्द बढ़ाने वाली हो जिससे बुद्धि/कीर्ति/सद्‌गति/विभूति और भलाई प्राप्त हो। जो कल्याणकारी, लोक में लाभ और परलोक में निर्वाह करने वाली हो तो ऐसी वस्तुओं से सभी को सब प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं।

तुलसी मानते हैं कि रघुबीर करुणा की खान और सुन्दर हैं इसलिए सम्पूर्ण कुतर्कों और सन्देहों को छोड़कर समस्त सुखों के लिए इन्हीं का भजन करना चाहिए।[630] उन्होंने रामचरित्र को सुलभ तथा मनोवांछित वस्तु को देने वाला माना,[631] प्रयाग राज को सुहावना तथा उत्तम गुण प्रभाव से युक्त माना,[632] संत समाज को कष्ट निवारक, शान्ति प्रदायक तृप्तिदायक आदि अनेक गुणों से युक्त माना,[633] राम नाम को लोक में लाभ और परलोक में निर्वाह करने वाला बताया।[634] हरिभक्ति से भी सबको सब लोगों को परम और सब प्रकार के सुख मिलते हैं।[635] मुनि की कृपा सुख शान्ति का स्रोत होती है।[636] सच्चिदानन्द स्वरूप[637] मोद और मंगल की साकार मूर्ति सब सुखों को देने वाला होता है।[638] अच्छे राजा के राज्य में सब लोग सब प्रकार से सुखी रहते हैं।[639]

तुलसी ने यह भी बताया कि कल्याणकारी प्रसंग को सुनने से श्रोता को,[640] पति के सान्निध्य से स्त्री को,[641] इष्टदेव से भक्तों को,[642] मोक्ष से ज्ञानी को,[643] सब प्रकार के सुख मिलते हैं। सत् और चिद् से युक्त व्यक्ति समस्त आनन्द का स्रोत होता है।[644] सेवाभाव की भक्ति में भक्त स्वामी के सान्निध्य में रहकर उसकी सेवा से सब सुख प्राप्त करता है। लक्ष्मण इसी कारण राम के वियोग को सोच सब सुख को पूरा हुआ समझते हैं।[645] सत्व गुण की प्रबलता से सब प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं।[646] जहाँ सब प्रकार के दुखों का अभाव हो वहाँ पर सभी लोगों को सब सुख प्राप्त होते हैं। राम के पर्वत और वन जहाँ सभी दुखों का अभाव है वहाँ अयोध्यावासी सुख का अनुभव करते हैं।[647]

तुलसी ने ऐसे सुखों की भी चर्चा की जो एक व्यक्ति को नहीं सब व्यक्तियों को सुख प्रदान करते हैं, सदैव सुख देने वाले होते हैं और जो एक स्थान पर नहीं हर जगह व्याप्त हो जाते हैं। उन्होंने बताया कि सौन्दर्य एक ऐसा उद्‌दीपन है जिससे नेत्रों को सदा ही सुख मिलता है[648] और संतों का हृदय भी भगवत् स्वरूप में रत रहने के कारण निरन्तर आनन्द मग्न रहता है।[649] असाधारण सौन्दर्य से उसके पूरे कुल को सुख मिलता है।[650] सबकी इच्छा पूर्ति के समाचार का आनन्द, दिव्य बालकों की क्रीड़ाओं का

आनन्द,[651] दिव्य बालक के जन्म का आनन्द[652] और अनुकूल व्यवस्था से उत्पन्न आनन्द[653] एक स्थान पर नहीं स्थान–स्थान पर व्याप्त हो जाता है।

किसी भी संवेग की विरोधी परिस्थितियाँ उस संवेग को नष्ट कर देती हैं। सुख संवेग के सम्बन्ध में भी यही बात है। मानसिक सुख चूँकि सुखात्मक संवेगों के रहते प्राप्त होता है और शारीरिक सुख सुख–सुविधा के पदार्थो के रहते प्राप्त होता है इसलिए यदि मन चिन्ता आदि दुखात्मक संवेगों से ग्रसित हो जाता है व्यक्ति मानसिक सुख से रहित हो जाता है और यदि व्यक्ति दैहिक तापों से ग्रस्त हो जाता है तो वह शारीरिक सुख से रहित हो जाता है। शिवजी के त्याग देने पर सती अत्यधिक चिन्ता से ग्रस्त मानसिक सुख प्राप्त नहीं कर पातीं।[654] जीव दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से ग्रस्त हो सभी प्रकार के सुखों से रहित रहता है।[655]

विरोधी प्रवृत्ति के व्यक्ति के प्रभाव की प्रबलता से भी मन का चैन/सुख सब नष्ट हो जाता है। दुष्ट यदि अत्याचार करें तो सज्जनों का सुख नष्ट होता है[656] और यदि दुष्टों के क्षेत्र में सामर्थ्यवान् का आगमन हो जाये तो दुष्टों का आनन्द नष्ट हो जाता है।[657]

कभी–कभी व्यक्ति ऐसी मनःस्थिति से भी ग्रस्त हो जाता है कि वह सुख के स्रोत को ही विस्मरण कर देता है। मन, बुद्धि, चित्त अहंकार के कारण व्यक्ति आत्मसुख को भूल जाता है, वह सीमित सुख की चाह में भटकता है उसका ज्ञान धूमिल पड़ जाता है।[658] झूठे और फीके सम्बन्धों के कारण भी व्यक्ति सुख स्रोत को भूल चुका होता है।[659] भ्रम/मोह के कारण वह ऐसे साधनों से सुख चाहता है जिनसे सुख मिल ही नहीं सकता।[660] स्त्री का समस्त सुख पति विरह से दुःख में बदल जाता है।[661]

तुलसी ने किसी–किसी सुख में अद्भुत शक्ति भी देखी है। वे कहते हैं कि जो सुख दिव्य व्यक्ति से सम्बन्धित होते हैं, उसके प्रभाव से उत्पन्न होते हैं वे सुख देवताओं को, चर–अचर समस्त पशु पक्षियों को वैराग्यवानों अर्थात् सारे विश्व समस्त लोकों को आनन्द मग्न कर देने वाले होते हैं। राम के सान्निध्य से उनके सौन्दर्य से उनके दिव्य प्रभाव के कारण वैराग्यवान, जड़ जीव, पशु पक्षी, सारा विश्व, तीनों लोक हर्षित रहता है।[662] राम के जन्म/विवाह आदि का उत्सव देवताओं आदि तक को भी आनन्दित कर देता है।[663] वन से लौटकर उनके द्वारा की गयी राज्य की व्यवस्था में देवताओं तक को आनन्द मिलता है।[664]

तुलसी ने सुख संवेग के सम्बन्ध में इस तथ्य की ओर भी संकेत किया कि कुछ क्रियायें सुख पूर्वक की ही जाती हैं। वे क्रियायें कौन सी हैं इसकी चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि प्रेम से युक्त जो

भी क्रियायें होती हैं वे सुख पूर्वक होती हैं लेकिन इस सम्बन्ध में शर्त यह होती है कि संयोग अवस्था का प्रेम हो। हम प्रिय से मिलने,[665] प्रिय का स्वागत करने,[666] प्रिय के उत्सव में शामिल होने,[667] प्रिय को आशीर्वाद देने,[668] श्रद्धेय की कीर्ति का गान करने,[669] उसकी आरती उतारने,[670] उसे नमस्कार करने,[671] दण्डवत् करने,[672] पूजा करने[673] आदि प्रिय के प्रति जो भी क्रिया करते हैं सभी सुख पूर्वक ही करते हैं। व्यक्ति उत्सव में शामिल होने के लिए हर्षपूर्वक तैयारी करता है और जब उत्सव से लौटता है तब भी वह आनन्दित हुआ ही लौटता है। व्यक्ति प्रिय के अतिरिक्त सब कुछ हर्ष पूर्वक देने को तैयार रहता है।[674] प्रिय के सान्निध्य में लम्बा समय भी सुख पूर्वक बीत जाता है।[675] यदि मन किसी कार्य में पूरी तरह लीन हो जाये तो समय सुख पूर्वक बीत जाता है।[676] प्रिय को लेने व्यक्ति प्रसन्न मन से जाता है।[677] व्यक्ति श्रद्धेय का कार्य हर्षित होकर करता है।[678] जिसे करना व्यक्ति का धर्म है उसे व्यक्ति प्रसन्नता पूर्वक करता है। राम गुरु की आज्ञा का पालन,[679] प्रतापभानु शास्त्रों में वर्णित धर्म का पालन[680] प्रसन्नता पूर्वक करते हैं। मन के अनुकूल कोई कार्य हो/हमारी प्रवृत्ति के अनुरूप कोई कार्य हो हमारी इच्छा पूरी करने वाला कार्य हो तो ऐसा कार्य भी व्यक्ति हर्षित होकर ही करता है। जनक जी ने राम विवाह का समाचार अयोध्या दूतों के द्वारा प्रसन्नता पूर्वक भेजा।[681] वीर पुरुष वीरता और पुरुषार्थ प्रदर्शन करने के लिए आयोजित होने वाले समारोह में हर्ष पूर्वक भाग लेते हैं। राम लक्ष्मण धनुष यज्ञ हर्षपूर्वक देखने चले।[682] राम के अयोध्या लौटने पर मुनि मण्डल ने उसी दिन तुरन्त आनन्दित होकर राज्याभिषेक की तैयारी कर दी।[683]

प्रेम पूर्वक भेजी गयी भेंट या कोई चीज व्यक्ति हर्षित होकर स्वीकार करता है। दशरथ ने जनक की पत्रिका हर्षित होकर ली।[684] शारीरिक और मानसिक कष्टों से रहित होने पर समय सुखपूर्वक व्यतीत होता है।[685] मन में विरोध का आत्यन्तिक अभाव होने पर व्यक्ति प्रसन्नतापूर्वक विचरण करता है।[686] जिस कार्य में परिश्रम न करना पड़े उसे व्यक्ति सुखपूर्वक करता है।[687] जो कष्ट लाभ प्रदान करने वाला तथा यश प्रदान करने वाला हो उसे व्यक्ति हर्ष के साथ सहता है।[688] उत्तम जल में हर्षित होकर व्यक्ति स्नान करता है। रुचने वाली कथा को व्यक्ति हर्षित होकर सुनता है।[689] प्रिय की इच्छा पूर्ति प्रसन्न मन से की जाती है।[690] कभी–कभी प्रतिकूल परिस्थिति में भी किसी के परामर्श से सुख पूर्वक रहा जाता है।[691]

सुख की सभी चाह करते हैं लेकिन सुख के लिए अनिवार्य योग्यता और परिस्थिति सदा अपेक्षित होती है। जिस सुख की हमें चाह है उस सुख के अनुकूल हमें अपने को तैयार करना पड़ता है तभी हम उस सुख का अनुभव कर पाते हैं। दिव्य सुख सदा मोह से रहित विवेक युक्त होने पर ही उत्पन्न होता है।[692] कपट रहित तथा राम प्रेमी हुए बिना उसे यह सुख कदापि नहीं मिल सकता[693]/कामनाओं के रहते/बुद्धि के चंचल बने रहते दिव्य सुख की कोई आशा नहीं रहती।[694]

दिव्य सुख तो पुण्यों के प्रभाव से[695] नाम के प्रसाद से प्रभु की कृपा से[697] साधु, संतों, मुनियों के दर्शन कृपा से ही प्राप्त हो जाता है।[698] उच्च कोटि का आनन्द जो लोक और परलोक दोनों में आनन्द पहुँचायें ऐसा सुख भक्ति के द्वारा प्राप्त होता है।[699] सुख प्राप्ति के लिए तुलसी ने एक चीज और महत्वपूर्ण बतायी वह यह कि इसके लिए सुखदायक वस्तु का बोध बहुत आवश्यक है। यदि आनन्ददायक वस्तु के समीप होने पर भी हमें उसका बोध और उस पर श्रद्धा नहीं है तो हम दुखी ही रहेगें।[700] इसीलिए तुलसी कहते हैं कि सूक्ष्म वस्तु का आनन्द बोध की सूक्ष्म दृष्टि द्वारा ही होता है।[701] निर्मलता का परिणाम भी हृदय को आनन्द और उत्साह से भर देता है।[702] उत्साह पूर्वक कोई काम करने से भी उससे आनन्द आता है।[703] धर्मशीलता के कारण धर्मशील पुरुष के पास सुख बिना चाह के ही पहुँच जाता है।[704] आदरणीय व्यक्ति का अनुग्रह सब प्रकार से सुख प्रदान करता है।[705] दुर्लभ सुख रामकृपा से प्राप्त होता है।[706] तुलसी रामकृपा से अनेक प्रकार के सुखों का प्राप्त होना मानते हैं। प्रभु की कृपा से खोया सुख पुनः प्राप्त हो जाता है।[707] दारुण ताप कृपा रूपी अमृत से सिंचित होकर सुख की शीतलता में बदल जाता है।[708] अप्रत्याशित अनायास सुख दैव कृपा से प्राप्त होता है।[709] परमसुख मिले इसके लिए धैर्यपूर्वक बिना फल की इच्छा के सुकृत करते रहने पड़ते हैं।[710] वास्वतिक स्नेह का सुख चित्त के लीन होने में है।[711] परम माधुर्य का सुख पाना ही बड़े भाग्य से सम्भव होता है।[712] पुण्यों से प्राप्त सुख का पयोधि उमड़ रहा है लेकिन अगर हममें उसके आस्वादन की पात्रता नहीं है तो वह हमारे लिए व्यर्थ है।

तुलसी ने विनय पत्रिका में उत्तम प्रकार के सुख की प्राप्ति के लिए अनेक उपाय बताये हैं। उन्होंने बताया कि छोटी–छोटी इच्छाओं के कारण हृदय प्रपंच में पड़ा रहता है उसके समाप्त होने पर ही दिव्य आनन्द की अभिव्यक्ति सम्भव हो पाती है।[713] आसक्ति को त्यागे बिना परम आनन्द दुर्लभ है स्थाई सुख के लिए संसार सुख की आशा छोड़नी पड़ती है।[714] नित्य रहने वाला सुख विषय सुख की आशा त्याग देने पर भेदभाव निरसन होने पर तथा भगवत् कृपा प्राप्त होने पर मिलता है।[715] वास्तविक सुख विशेष प्रकार की मनःस्थिति पर निर्भर है। इसके लिए हृदय में ज्ञान का प्रकाश और विषयों से विमुखता आवश्यक है।[716] द्वन्द्व रूप सुख से ऊपर उठने पर ही आध्यात्मिक सुख मिल सकता है।[716]

जिस प्रकार व्यक्ति स्वयं सुखी होना चाहता है उसी प्रकार वह दूसरों को भी सुखी करने का प्रयत्न करता है। तो अब इस सम्बन्ध में यह जानने का प्रश्न उठता है कि व्यक्ति किन व्यक्तियों को सुख पहुँचाना चाहता है? क्यों पहुँचाना चाहता है और वह सुख कैसे पहुँचाता है?

हरेक को प्रसन्न करने की अलग–अलग रीतियाँ होती हैं। कोई बल/सामर्थ्य/योग्यता से रीझता है, भगवान स्तुति/सेवा/गुणों/गुणावली के गान/भक्ति और भाव/सुकृत करने तथा पवित्र और सच्चे

होने पर रीझते हैं।[718] कभी–कभी दूसरों को सुख पहुँचाने के लिए हमें कष्ट सहना पड़ता है,[719] कोई वेश धारण करना पड़ता है।[720] अपराध बोध से दुखी व्यक्ति को समझा बुझा कर सुखी किया जाता है।[721] आश्रितों को स्थायी निवास देकर सुखी किया जाता है।[722] कभी–कभी किसी को सुखी करने के लिए उसी के अनुरूप व्यवस्था सभी करनी पड़ती है।[723] परिस्थिति के प्रभाव से परिवर्तित साधना की पद्धति अपनाने से प्रभु शीघ्र और सुकरता से प्रसन्न हो जाते हैं।[724] विशेष प्रकार की विधि और संयोगों पर ही लोगों का सुख निर्भर होता है। किसी को सुखी करने के लिए अनुचित कर्मों को त्यागना पड़ता है। किसी को सुखी करने के पीछे कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है। कभी व्यक्ति अपने कष्ट को दूर करवाने के लिए किसी को प्रसन्न करता है।[725] कभी अपनी कोई इच्छा पूरी करवाने के लिए किसी को प्रसन्न करता है। देवता लोग रीझने पर मनमाने वर देते हैं।[726] प्रसन्न होने पर भगवान कृपा करते हैं।[727] उत्तम से उत्तम वस्तु दे देते हैं। रीझने पर व्यक्ति अपने प्रिय का सा सम्मान देता है।[728] जब व्यक्ति किसी को प्रसन्न देखता है तभी वह अपनी इच्छा व्यक्त करता है।[729] श्रद्धेय की प्रसन्नता के परिणाम स्वरूप हमें लोगों का भय नहीं सताता और सभी काल्पनिक दुःख दूर हो जाते हैं।[730]

प्रत्येक संवेग का जीवन में कोई न कोई महत्व अवश्य रहता है। सुख संवेग का भी जीवन में बहुत महत्व है। तुलसी ने दिव्य सुख के महत्व पर बड़े विस्तार से प्रकाश डाला है। उन्होंने बताया कि दिव्य सुख से जीवन धन्य और कृतार्थ हो जाता है। यह सुख जिसे मिल जाये वह व्यक्ति सराहनीय और भाग्यशाली हो जाता है उसका जन्म धन्य हो जाता है।[731]

ऋषि मुनियों के आगमन का आनन्द भी व्यक्ति को भाग्यशाली बना देता है।[732] प्रसन्नता से सुन्दर मुख की शोभा और अधिक बढ़ जाती है।[733] अत्यन्त उल्लास के कारण नृत्य गीत जहाँ होता है उस स्थल की शोभा बढ़ जाती है।[734] दिव्य सुख से जन्म मरण का भय दूर हो जाता है।[735]

संवेग व्यक्ति की प्रकृति का अनुगामी होने के कारण अब यह जान लेना चाहिए कि किस स्वभाव का व्यक्ति किस प्रकार के सुख का अनुभव करते हैं। तुलसी ने माना कि सज्जन प्रकृति के व्यक्ति सदा दूसरों की सम्पत्ति देखकर,[736] दूसरों के गुण सुनकर,[737] दूसरों की बढ़ती देखकर[738] हर्षित होते हैं। परोपकारी सदैव दूसरों का हित करने में और हित के लिए कष्ट सहने[739] में सुख का अनुभव करते हैं। लेकिन दुष्ट लोग सदा दूसरों की विपत्ति देखकर सुखी होते हैं।[740]

तुलसी ने ऐसे व्यक्तियों का भी संकेत दिया है जिन्हें हर्ष अथवा विषाद का किसी भी अवस्था में अनुभव होता ही नहीं है। ऐसे लोग लोकोत्तर और संत लोग होते हैं। इनके मन में एकरसता

और समत्व भावना रहती है जिससे ये लोग संवेगों से ऊपर उठे हुये रहते हैं और हर्ष-विषाद से रहित होते हैं।

सुख का कोई एक रूप नहीं होता। सुख के अनेक रूप होते हैं। तुलसी ने सुख के अनेक रूप माने हैं। जैसे- **ब्रह्म सुख-** ब्रह्म सुख वह सुख होता है जो आत्मा के परमात्मा में लीन होने से अनुभव होता है।[742] **परम सुख-** तुलसी परम सुख उस सुख को कहते हैं जो कल्याणकारी वस्तु से प्राप्त होता है।[743] काम-वासना की तृप्ति से जो सुख मिलता है उसे **'काम सुख'** कहते हैं। हृदय में भक्ति भाव के उमड़ने पर जब इष्ट का रूप हृदय में छा जाता है तब उस समय जो सुख होता है उसे अमिट सुख कहते हैं। राज्य करने से राजा को जो सुख मिलता है उसे **'राजसुख'** कहते हैं। तुलसी ने एक सुख विशेष सुख बताया। यह सुख वह सुख होता है जो व्यक्ति को किसी प्रकार की चिन्ता के मिटने से बहुत अधिक मात्रा में होता है।[745] जो सुख प्रभु की कृपा से प्राप्त है **'परम अनूप सुख'** होता है।[746] प्रेम से उत्पन्न सुख **'प्रेम सुख'** कहा जाता है। राम जन्म होने पर शंकर और काकभुशुण्डि जी इसी सुख में मग्न हो गये।[747] **'महासुख'** उस सुख को कहते हैं जो निःस्पृह/विरक्त और ज्ञानी द्वारा प्रशंसा से प्राप्त होता है। राजा जनक विश्वामित्र से यज्ञभूमि की प्रशंसा सुनकर महासुख को प्राप्त हुए।[748] एक सुख होता है **'अकथनीय सुख'**। यह सुख वह सुख होता है चरम सीमा पर पहुँचा होता और किसी विशेष भाव से युक्त होने पर उत्पन्न होता है।[749] सुख प्रदायक वस्तुओं की नवीनता से प्राप्त सुख भी नवीन होता है इसलिए ऐसे सुख को **'नूतन सुख'** कहते हैं। जनकपुर आती बरात के लिए जनक ने जगह-जगह नित्य नये सुखों की व्यवस्था करी।[750] **'सुर सुख'** जो देवताओं को प्राप्त होते हैं[751] और हृदम में न समाने वाला सुख चरमसीमा पर पहुँचा **'तीव्र सुख'** होता है।[752] जब व्यक्ति चारों ओर से सुखों से घिरा होता है तो ऐसा सुख मूर्तिमान सुख कहलाता है। ऐसे सुख को देखकर लगता है कि मानों सुख ही शरीर धारण कर सेवा में रत हो। साधु समाज से घिरे दशरथ जी ऐसे ही लग रहे हे।[753] अत्यधिक मात्रा का सुख अति सुख होता है। राम-सीता विवाह से देवता आशीर्वाद देते अति सुख का अनुभव कर रहे हैं।[754] एक सुख यश और सुकृतों का भी होता है जो सीता जी की माता को प्राप्त था।[755]

जिस सुख का मिलना सरल न हो वह सुख **'दुर्लभ सुख'** होता है। अयोध्यावासियों के घर देव दुर्लभ सुखों से युक्त थे।[756] एक सुख **'अनिर्वचनीय'** होता है जो केवल अनुभव ही किया जा पाता है। राम और भरद्वाज मिलते समय इसी सुख का अनुभव कर रहे हैं।[757] दिव्य सौन्दर्य के प्रति यदि आकर्षण के साथ-साथ प्रेम भी है तो ऐसे भाव से उत्पन्न सुख **'अमिट सुख'** कहलाता है।

सुख इस प्रकार एक महत्वपूर्ण संवेग है। यह कई संवेगों का फल होता है। इसमें भेद भी कई होते हैं। तुलसी ने पहली बार सुख के एक प्रकार का उल्लेख किया- अपना सुख-जिसे उन्होने स्वान्तः

सुख कहा है। उनका कहना है कि अपने अन्तःकरण के सुख के लिए उन्होंने रामचरित मानस की रचना की है।

उपनिषद में याज्ञवल्क्य– मैत्रेयी सम्वाद है, जिसमें याज्ञवल्क्य ने कहा है कि सब कुछ अपने कारण प्रिय अर्थात् अच्छा लगता है। तुलसी ने उसी ओर संकेत किया है कि मैंने अपने सुख के लिये रघुनाथ गाथा लिखी इससे यह निष्कर्ष निकला कि सुख का सम्बन्ध व्यक्ति के स्वयं के अन्तःकरण से होता है। उसके मन को अच्छा लगने से होता है। सुख का पहला लक्षण अपनों को अच्छा लगना। रुचना प्रिय लगना है। वहीं पदार्थ/वस्तु/व्यक्ति/परिस्थिति हमारे लिये सुखद है प्रेयस है।

परान्तः सुखाय– कभी–कभी दूसरों के सुख से भी हमें सुख मिलता है। वहाँ दूसरों का सुख ही प्रधान होता है उसमें व्यक्ति कष्ट सहकर भी दूसरों को सुखी करना चाहता है। ऐसे व्यक्ति का मन त्याग से भरा होता है। प्रेम में भी व्यक्ति ऐसा कर सकता है और करुणा में तो करता ही है।[758]

दूसरों की बढ़ती से हरषाने वाले कम लोग संसार में होते हैं। लोग अपनी ही बढ़ती से हर्षित होने के स्वभाव वाले होते हैं।

सज्जनों का स्वभाव दूसरों की बढ़ती से प्रसन्न होने वाला होता है।

स्वयं सुखी होना एक बात है किन्तु दूसरे को सुखी करना विलकुल भिन्न बात है। कभी--कभी दूसरों को सुखी करने के लिए स्वयं कष्ट सहना पड़ता है जो कष्ट और संकट सहकर दूसरे को सुखी करता है वही यशस्वी और हमारी श्रद्धा का भाजन होता है।[759]

व्यक्ति संकटों/कष्टों में पड़कर जो सुख देगा। वह बाहरी होगा उतना अन्तर तक व्यक्ति को नहीं भिगो सकेगा किन्तु उसका मानसिक प्रभाव या उसके अहर्निश स्मरण से ऐसा हो सकता है कि हमारे अन्तर से ही मोद का स्रोत उमड़ पड़े और वह हमारे व्यक्तित्व का स्थायी अंग बन जाये।

लेकिन आन्तरिक आनन्द का स्रोत फूटने की कुछ शर्तें हैं। यह स्मरण से तो फूट सकता है किंतु आवश्यक है कि स्मरण के पीछे प्रेम हो और स्मरण करने वाले के हृदय में भक्ति भी हो हम जिसका स्मरण कर रहे हैं।[760]

सुख आनन्द, हर्ष, प्रसन्नता सब अनुभव पर आधारित होते हैं। अर्थात् इनकी अवस्थिति अनुभव की स्थिति में ही है और अनुभव का आधार वस्तु या भाव का संवेदन या बोध है। सूक्ष्म वस्तु का बोध सूक्ष्म दृष्टि से ही संभव है। सामान्य नेत्रों से उसे नहीं देखा जा सकता। तुलसी ने अपने काव्य का

ढाँचा एक सरोवर के रूप मे बाँधा है। सरोवर में सात काण्ड ही सुन्दर सात सोपान हैं। ये सोपान स्थूल दृष्टि से नहीं दिखायी देते। स्थूल दृष्टि से यहाँ तात्पर्य सामान्य मन से है। इसके लिए ज्ञान की/अर्थात् बोध की आँखे चाहिए। बोध/साक्षात्कार जिस सूक्ष्म/दिव्य/विमल या परा दृष्टि से होता है उसी दृष्टि से रामचरित मानस रूपी सरोवर के सूक्ष्म घाटों और सौन्दर्य को निरखा-परखा जा सकता है तभी उसका आनन्द मिलेगा मन दृष्टि से भर जायेगा। यह तृप्ति गम्भीर होगी। गम्भीर आनन्द साक्षात्कार से ही मिल सकता है। विशेष सौन्दर्य का उद्घाटन तो ज्ञान अर्थात् बोध की तुष्टि से ही सम्भव है।[761]

राजराज्य में जो वैभव था, सुख था, समृद्धि थी, विमलता थी और जो गरिमा थी जिसका वर्णन तुलसीदास ने उत्तरकाण्ड में किया है वही मानो विशद, सुहावनी और सुखद शरद ऋतु है। यहाँ पर रामराज्य को शरद बताना राम के और अयोध्यावासियों के जीवन में होने वाले संवेगात्मक परिवर्तन की दृष्टि से भी उचित है लंकाकाण्ड को तुलसी ने वर्षा ऋतु कहा है- वर्षा घोर निसाचर मारी' और वर्षा के बाद शरद ही आती है- वर्षा बिगत शरद ऋतु आई। लक्ष्मण देखहु परम सुहाई। शरद में सौन्दर्य चारों ओर फूट पड़ता है सुख-समृद्धि का आधार भी शरद होती है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सुख को विशद अर्थात् मनुष्य को पूर्ण तृप्त करने वाला और सुहावना अर्थात् रूचिकर होना चाहिए।

तुलसी ने अपने साहित्य में स्थान-स्थान पर संवेगों की विशेषताओं का भी वर्णन किया है। पीछे कहा जा चुका है कि संवेग का महत्व उसकी अनुभूति में है, सुख है, लेकिन उसका अनुभव अच्छा, सुहावना, चित्त को उत्साह से भर देने वाला अर्थात् विशद होता है। यहाँ पर राम राज्य में जो सुख था उसमें जो बड़ाई थी उसका अनुभव कवि का चित्त कर रहा है और उसके माध्यम से पाठक कर रहा है।[762]

प्रसन्नता में व्यक्ति का मन उदार बनता है। दूसरे का हित करने की ओर उसकी प्रवृत्ति होती है जबकि सुख में व्यक्ति का रूझान सुख देने वाली वस्तुओं के उपयोग की ओर ज्यादा रहती है। सुख का सम्बन्ध अपने हित अहित से रहता है, जबकि प्रसन्नता का सम्बन्ध दूसरे के हित से रहता है। सुखी व्यक्ति अपनी कोई वस्तु दे सकता है किन्तु प्रसन्न और सन्तुष्ट व्यक्ति असम्भव वस्तु भी दे सकता है। हम अपने लिए प्रसन्नता अपने से बड़े/असाधारण/श्रद्धेय या दैवी शक्ति सम्पन्न व्यक्ति की चाहते हैं जबकि एक सुखी व्यक्ति से हम उसकी कोई वस्तु ही चाह सकते हैं। हम किसी बड़े/असाधारण व्यक्ति को प्रसन्न करके उसे अपने अनुकूल करना चाहते हैं। तुलसी दास इसलिए श्रेष्ठ कवियों को प्रसन्न करना चाहते हैं क्योंकि उन्हें अपनी कविता का साधु समाज में सम्मान होने का वरदान चाहिए।[763]

प्रसन्नता और सुख में थोड़ा अन्तर है। सुख का सम्बन्ध भौतिक, शारीरिक और इन्द्रियगत अनुकूल संवेदनों से ज्यादा है जबकि प्रसन्नता का सम्बन्ध मन से अधिक है। कभी–कभी शारीरिक असुविधाओं और कष्टकर परिस्थितियों में रहते हुए भी व्यक्ति चित्त से प्रसन्न रहता है। जैसे पार्वती कठोर और कष्टकर तपस्या कर रही थीं लेकिन मन से प्रसन्न थीं। यह सच है कि सुख संवेदन का आधार भी मन ही होता है इसमें इन्द्रियों का सुख ज्यादा होता है इसीलिए कभी–कभी सुख–समृद्धि में रहते हुए भी व्यक्ति को मनस्ताप आन्तरिक प्रसन्नता का अभाव रह सकता है।

सुख प्रसन्नता का पर्यायवाची नहीं है। प्रसन्नता सुख की तुलना में गहरी वस्तु है। नौकर से सुख मिल सकता लेकिल आत्मीय से प्रसन्नता मिलेगी। सुख भौतिक साधनों पर निर्भर है जबकि आन्तरिक प्रसन्नता बिना कारण भी हो सकती है। सुख एक प्रकार से स्वार्थोन्मुखी है जबकि प्रसन्नता का आधार आन्तरिक प्रेम, प्रिय की सतत् उपस्थिति या उसका सतत् चिन्तन या उसका मिलना है। आन्तरिक प्रसन्नता अनुकूल विचारों/भावों पर आधारित होती है जब कि सुख भौतिक साधनों/सुविधाओं पर आधारित होता है। इसीलिए सुख के भेद आधि भौतिक तथा आध्यात्मिक किये गये हैं।

इसी प्रकार कोई वस्तु/व्यक्ति/परिस्थिति कार्य सुखद तो हो मंगलमय न हो इसलिए जो चित्त सात्विक होगा वह वस्तु/व्यक्ति/परिस्थिति/कर्म से उत्पन्न या इन पर आधारित सुख के साथ मंगल अर्थात् परिणाम में कल्याण भी चाहेगा तब आनन्द को मंगल से संयुक्त करेगा ऐसा व्यक्ति केवल सुख से प्रसन्न नहीं हो सकता। आनन्द गहरी चीज है जबकि सुख उतनी गहरी नहीं है।

तुलसी साहित्य में संवेगों की उच्चता–निम्नता का क्रम यह है कि वे मन में उठकर व्यक्ति को उत्तरोत्तर आनन्द और मंगल की ओर ले जाते हैं। जो व्यक्ति/कार्य तथा संग आनन्द/मंगल का स्रोत है उनके प्रति प्रेम/श्रद्धा अधिक और सामूहिक रूप से व्यक्त की गयी है। उन्हें सराहा गया है इनके प्रतिकूल की निन्दा की गयी है।

सुख वाची शब्दों में एक शब्द है प्रसन्न होना/ एक है हर्षित होना/ एक है तृप्त होना/ एक है तुष्ट होना/एक है सतुंष्ट या परितुष्ट होना। असल में प्रसन्न होने और परितुष्ट होने में थोड़ा अन्तर है। प्रसन्नता परितोष की तुलना में ऊपरी है जबकि परितोष में गहराई और हृदय को अधिक छूने की क्षमता है। व्यक्ति किसी को परितुष्ट करने के लिए लगातार प्रयत्न करता है। इसीलिए प्रसन्नता की तुलना में परितोष अधिक स्थाई। सुख से संतोष भी मिलता है। संतुष्ट होने का भाव परितोष में निहित है। प्रसन्नता में यह बात नहीं है।

विभिन्न समयों/परिस्थिति और वातावरण में किसी को प्रसन्न करने के साधनों में परिवर्तन

आ जाता है। इसी प्रकार परिस्थिति के अनुसार किसी को प्रसन्न करने की सामर्थ्य/रुचि/ और ढंग में भी परिवर्तन आ जाता है। क्योंकि युग/परिस्थिति/वातावरण के अनुसार चित्तवृत्ति और साधन सम्पन्नता में होने वाले अन्तर के अनुसार किसी को या अपने प्रिय को/इष्ट को प्रसन्न करने के ढंग में भी अन्तर आता रहता है। यहाँ प्रभु को प्रसन्न करने के साधनों में विभिन्न युगों के अनुसार होने वाले साधनों/साधनाओं/पूजा विधियों की जटिलता की ओर तुलसी ने संकेत करते हुये कहा है कि कलियुग अर्थात् वर्तमान युग में प्रभु/इष्ट /आराध्य को प्रसन्न करने के लिए अन्य युगों जैसी न तो साधन सम्पन्नता है, न यज्ञ की विधियों का ज्ञान है न ध्यान करने की क्षमता या शान्त वातावरण है इसलिए इस समय तो एक ही साधन है कि प्रभु का नाम लिया जाय प्रेम से। उसी से प्रभु प्रसन्न हो जाते हैं।[764]

समाज में ईश्वर को प्रसन्न करने की रूढ़ियों/रीति/परम्पराओं में भी परिवर्तन आता रहता है। वैसे रूढ़ियाँ/रीति/परम्परायें अधिक स्थायी होती हैं और बहुत समय तक समाज में प्रचलित रहती हैं। वातावरण/युग उनके अनुकूल न रहने पर भी व्यक्ति उनका अनुसरण करता रहता है। तुलसी कहते हैं, कि परिस्थिति के अनुसार साधना की पद्धति अपनाने से प्रभु को शीघ्र अेर सुकरता से प्रसन्न किया जा सकता है।

साधारण मनुष्य प्रसन्न होकर कोई वस्तु/पदार्थ दे सकता है किन्तु असाधारण व्यक्ति प्रसन्न होने पर कोई विचार/बुद्धि/प्रेरणा दे सकता है जिसके सहारे व्यक्ति असाधारण कार्य करने कलाकृति का निर्माण करने में सफल होता है। यहाँ शंभु प्रसाद सुमति हिय तुलसी आदि से इसी प्रकार का संकेत किया गया है। जो भी कलाकार संगीतकार या नर्तक या कवि हुए है उन सबने किसी न किसी की कृपा पूर्ण प्रसन्नता प्राप्त की है तभी वे उच्चकोटि के कलाकार/रचनाकार बनने में समर्थ हुये हैं।

एक वस्तु से केवल भौतिक सुख सम्पत्ति मिलती है और एक है केवल आध्यात्मिक आनन्द। तुलसी ने राम नाम राम कथा की ओर जनमन को सब प्रकार से आकर्षित करने का प्रयास किया है। उन्होंने रामकथा की उपमा शैलसुता पार्वती से देकर कहा है कि यह सम्पूर्ण सिद्धियों/भौतिक सम्पत्ति और इन दोनों से उत्पन्न होने वाले सुखों का स्रोत है। सुख/सम्पत्ति की राशि है। ऐसा कहकर तुलसी ने तंत्र/मंत्र के द्वारा सिद्धियों की ओर जाने वाले चित्त को भी रामभक्ति की ओर लगाने का प्रयास किया है।[765]

एक होता है सुविधाओं का सुख, एक होता है मन का सुख। एक सुख का आधार बाह्य होता है और एक सुख का आधार आन्तरिक होता है। एक सुख साधनों पर निर्भर होता है और दूसरा सुख मन के चाहने पर। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी व्यक्ति से मिलने वाले सुख के दो आधार होते हैं एक उससे बहुत लगाव अर्थात् प्रेम हो, दूसरे हमारा मन उसी में रमता हो अर्थात् हमारा लगाव उसी से हो। कभी-कभी किसी से मिलने वाली सुविधायें और सुख हमारे लगाव का आधार हो जाती है। इसकी परीक्षा के लिए सप्तऋषियों ने पार्वती को यह समझाया कि भगवान शंकर तो सहज एकाकी उदासीन अवगुणों

की खानि हैं और उनकी तुलना में विष्णु सुन्दर हैं तथा समृद्धि के स्वामी हैं उन्हीं को तुम्हें अपनाना चाहिए इस पर पार्वती ने कहा कि विष्णु चाहे सब गुणों के धाम हों और शिव अवगुण पूर्ण हों लेकिन मेरा मन तो उन्हीं में रमता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि जिस वस्तु में जिस व्यक्ति का मन रमता है जो वस्तु उसे अच्छी लगती है उसी से उसे सुख मिलता है।

सुख अत्यन्त व्यक्तिगत अनुभव है। एक वस्तु सुन्दर है, गुणों से युक्त है सामान्य रूप से सबको हर्ष और सुख देने वाली है तो भी हमारा मन इन गुणों से आकर्षित होकर रमेगा नहीं। उसमें रमेगा तभी जब उससे प्रेम होगा और तभी केवल वह हमारे लिए सुखद होगा– विशेष आनन्द का स्रोत बन जायेगा।[766]

एक सुख का स्रोत बन मानसिक/कृपा साध्य और दैवी होता है। पार्वती के हर्ष का स्रोत भगवान शंकर की कृपा से विषाद दूर होना और मन का सहज प्रसन्नता से भरना है।[767]

कोई–कोई व्यक्तियों का स्वभाव कौतुक देखने का होता है। वे लोग दूसरों की कमी देखकर व्यंग्य वचन कहते हुए हँसते हैं और ऐसी स्थिति में उन्हें मर्यादा का ध्यान भी नहीं रहता। कौतुक प्रिय शिवजी के गण इसीलिए नारद जी को देखकर व्यंग्य वचन कहते हँस रहे हैं। यहाँ जो हर्ष हो रहा है– उसका कारण उपहास करने, व्यंग्य बचन बोलने, हँसी उड़ाने से उत्पन्न हर्ष है।[768]

मधुर/सरस/कृपा पूर्ण/मनोवांछित वर देने वाली वाणी सुनकर मन तो उत्साह/हर्ष और आनन्द से भर ही जाता है शरीर पर भी बड़ा स्वस्थ और सुखद प्रभाव पड़ता है। असल में वाणी के माध्यम से हमारे हृदय का पूरा भाव हम जिसे चाहते हैं उस तक संप्रेषित हो जाता है इसीलिए आकाशवाणी सुनकर मनु–शतरूपा के तन हृष्ट–पुष्ट मन प्रफुल्लित और हृदय तृप्त हो गया। उनका सारा मनस्ताप (तपस्या जनित और इच्छा पूरी न होने के कारण रहने वाला एक प्रकार का खेद) दूर हो गया।[769]

सुख के भी कई भेद और स्तर होते हैं। ये भेद और स्तर व्यक्ति की इच्छा, रुचि, उसकी मानसिक स्थिति, उसकी पात्रता के अनुसार होते हैं। मनुष्य जितने सुखों से परिचित है वे अस्थायी ही होत हैं। स्थायी, अखण्ड, आनन्द तो ईश्वरीय कृपा से ही प्राप्त हो सकता है। शतरूपा यहाँ भगवान से वही सुख मांगती है। उसका कहना है कि हे प्रभु आपके निजी भक्त होते हैं उनको जो सुख प्राप्त होता रहता है वही आनन्द मुझे मिले। इसके साथ उसने कुछ बातें और मांगी। जिनपर विचार करने से लगता है कि अखण्ड, स्थायी और भक्ति का सुख तभी मिल सकता है जब विवेक, आचरण भक्तों जैसा हो। तुलसी दास का यह मत लगता है कि ये गुण कृपा साध्य है प्रयास से नहीं हो सकते इसलिए शतरूपा इन्हें भगवान से मांगती है।[770]

सुख और आनन्द का विश्लेषण किया जाय तो यह निष्कर्ष निकलता है कि यह संवेग या संवेदन कई स्थितियों पर आधारित होता है। कुछ लोग व्यक्ति के सामर्थ्य को ही आनन्द और सुख का मूल मानते हैं क्योंकि व्यक्ति विवशताओं से मुक्त सामर्थ्य/बल के आधार पर ही हो सकता है। जिस व्यक्ति में जितना सामर्थ्य होगा वह उसी के अनुसार विवशताओं से मुक्त और स्वतंत्र होगा उतना ही वह सुखी होगा। जिसके वश में पूरा विश्व हो उसके सामर्थ्य का क्या कहना तब उसे सुख भी असीम होगा। तुलसी लिखते हैं कि इस सामर्थ्य के कारण ही प्रतापभानु अर्थ/धर्म/काम आदि पुरुषार्थो से प्राप्त सुख का भोग यथा समय करता था और प्रजा को प्रसन्न रखता था। जिसमें सामर्थ्य होगा जो स्वयं सुखी होगा वही दूसरे को सुखी रख सकेगा।[771]

वातावरण पर व्यक्ति का प्रभाव पड़ता है। तुलसी ने इस प्रभाव को कई रूपों में चित्रित किया है। उन्होंने लिखा है 'दुष्ट उदय जग अनरथ हेतू।'– दुष्ट व्यक्ति के वैभव का विस्तार संसार को कष्ट देने में होता है। इसके विपरीत अवतार का प्रकटीकरण लोक में सुख–समृद्धि की वृद्धि करने वाला होता है। तुलसी लिखते हैं राम के प्राकट्य का निश्चय होते ही लोक में सुख समृद्धि का विकास स्वतः होने लगा।

काल का प्रभाव संवेगों के विकास पर बहुत अधिक पड़ता है। काल यदि अनुकूल न हो तो कहिए संवेगों का आविर्भाव ही न हो और अगर हो भी जाये तो विकास न हो इसलिए संवेगों के विकास में समय की अनुकूलता बहुत आवश्यक है। कभी–कभी मनुष्य इसके लिए अनुकूल समय चुनता है, कभी उसका सृजन करता है किन्तु कभी–कभी ऐसा होता है कि ईश्वरीय इच्छा से ही अनुकूल समय मिल जाता है। इसी तरह का समय अयोध्या में उस समय आया जब राम के जन्म के पूर्व सभी का जीवन बिना किसी बाधा के सुखपूर्वक व्यतीत होने लगा।[772]

अगर किसी कार्य से मन में ग्लानि या हल्का सा दुःख उत्पन्न हो जाये तो मन की सहज प्रसन्नता बाधित हो जाती है। यह स्थिति तब प्राप्त होती है जब दुःख या ग्लानि का कारण दूर हो जाय। जब राम ने गंगा में स्नान और दान दे दिया तब वे पुनः हर्षित होकर मुनियों के साथ चल दिये। असल में इसका कारण यह था कि अहल्या को स्पर्श करने के कारण राम कुछ खिन्न से हो गये थे। मुनि की आज्ञा तो उन्होंने मान ली थी किन्तु एक नारी को स्पर्श और वह भी पैर से करने के कारण ग्लानि से दुखी थे। उस ग्लानि से गंगा स्नान और दान से मुक्त हुए तब हर्षित होकर सबके साथ चलने लगे।

उत्साह :–

उमड़े हुए साहस को 'उत्साह' संवेग कहा जाता है। किसी कार्य के लिए हमारे अन्दर जो प्रसन्नतापूर्ण तत्परता होती है उसे उत्साह कहते हैं। कार्य की सफलता पूर्ण समाप्ति के लिए उत्साह का

होना अति आँवश्यक है। "मानक हिन्दी कोश" में भी इसे मन की वह वृत्ति कहा गया है जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्य प्रसन्न होकर और तत्परतापूर्वक कोई काम पूरा करने या कोई उद्देश्य सिद्ध करने के लिए अग्रसर होता है।[773] "बृहत हिन्दी कोश" में इसे हौसला उमंग, चेष्टा, इच्छा, प्रवृत्ति ये नाम दिये गये है।[774] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं कि "दुःख के वर्ग में जो स्थान भय का है, वही स्थान आनन्द वग में उत्साह का है।..... उत्साह में कष्ट या हानि सहने की दृढ़ता के साथ-साथ कर्म में प्रवृत्ति होने के आनन्द का योग रहता है। साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है। कष्ट या हानि के भेद के अनुसार उत्साह के भी भेद हो जाते हैं। साहित्य मीमांसकों ने इसी दृष्टि से युद्धवीर, दानवीर, दया-वीर इत्यादि भेद किये हैं।[775] भारतीय काव्यशास्त्र में वीर रस के स्थायीभाव के रूप में इसका विवेचन किया गया है। "उत्साह का अर्थ है साहस की उमंग जो किसी कठिन कर्म की ओर प्रवृत्त करती है। उत्साह में आलम्बन और लक्ष्य स्थिर और परिस्फुट नहीं होते इसी से मनोविज्ञानियों ने प्रधान भावों की गिनती में उसे नहीं रखा है।[778] साहित्य दर्पण में उत्साह का लक्षण इस प्रकार दिया है- "कायरिम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते।" (3/178) अर्थात् कार्य के आरम्भ से अन्त तक विद्यमान अत्यधिक संलग्नता को उत्साह कहते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से उत्साह को प्रदर्शन केवल युद्ध में ही नहीं बल्कि दान, दया, धर्म आदि कार्यों में भी होता है।[777] पं० रामकिंकर जी कहते हैं उत्साह का अतिरेक भी एक स्वाभावित प्रक्रिया है। साधना के प्रारम्भ में जिस तीव्र उत्साह की आवश्यकता है वह रजोगुण के द्वारा ही सम्भव है। पर साधना ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती जाती है, रजोगुण मंद पड़ता जाता है।[778] जब कोई सकाम भाव से आराधना करता है तब फलोपलब्धि की आशा में उसका उत्साह बढ़ता जाता है। पर ज्यों ही फल प्राप्ति में विघ्न पड़ता है उसका उत्साह भी शिथिल पड़ जाता है।[779] जन्म के समय उत्साह से व्यक्ति वाद्य बजाता है किन्तु मृत्यु के क्षणों में आँसू बहाते हुए उसके आमन्त्रण को स्वीकार करने के लिए बाध्य होता है किन्तु युद्ध का दर्शन, मृत्यु का स्वागत उसी उत्साह से करने की प्रेरणा प्रदान करते हैं जिस उत्साह से जीवन का वरण करते हैं।[780]

तुलसी ने भी उत्साह को कार्य करने की उमंग के अर्थ में लिया है। किसी कार्य को जब हम करते हैं तो उसके करने में एक प्रकार की तत्परता होती है इस तत्परता को ही तुलसी ने उत्साह का नाम दिया है। उत्साह किन-किन कार्यों में होता है इसका तुलसी ने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से विश्लेषण किया है। उन्होंने उत्साह को रुचि से जोड़ते हुए कहा कि जिस कार्य में हमारी रुचि होती है उसको हम उत्साह के साथ करते हैं। पर्व और उत्सव के प्रति आनन्दपूर्ण उत्सुकता होना स्वाभाविक है।[781] तुलसी ने माना कि प्रत्येक सामाजिक प्राणी उत्सव मनाना चाहता है। जब वह किसी भी उत्सव का आनन्द लेता है तो उसे वह पूर्ण उत्साह के साथ लेता है। अयोध्या में जब राम का जन्म होता है। तो अयोध्यावासियों में जन्मोत्सव का आनन्द लेने का बड़ा उत्साह उमड़ता है।[782] शंकर जी के विवाह को देखने का सभी देवताओं में बड़ा ही उत्साह है इसलिए ब्रह्मा जी शंकर जी से विवाह के लिए प्रार्थना करते हैं।[783]

इष्ट/प्रिय से सम्बन्धित कोई भी कार्य हो, सभी को करने में बड़ा उत्साह रहता है। इष्ट की गुणगाथा सुनाने का परम उत्साह होता है। इसलिए यदि कोई कथा सुनाने का प्रेमपूर्वक अनुरोध करता है तो छिपा उत्साह उभर आता है। गरुड़ जी ने जैसे ही काकमुशुण्डि जी से राम चरित्र सुनाने के लिए अनुरोध किया काकमुशुण्डि जी को मन में परम उत्साह हुआ और वे रामकथा कहने लगे।[784]

प्रभु के कृपालु स्वभाव को सुनकर भक्त के हृदय में उत्साह होता है कि भगवान हमारे ऊपर भी ऐसी ही कृपा करेंगे।[785] व्यक्ति प्रिय को देखने के उत्साह से उतावला रहता है। यदि प्रिय का मिलन बहुत समय बाद हो रहा हो तब तो उसे देखने का बहुत ही उत्साह होता है।[786] भक्त के हृदय में प्रभु की विशिष्ट विशिष्ट समय की लीला छवि नित्य नीवन होकर हुलसती रहती है।[787] प्रिय/श्रद्धेय की सुन्दर कीर्ति सुनकर हृदय अत्यधिक उत्साह से भर जाता है।

विश्वामित्र की सुन्दर कीर्ति सुनकर राम–लक्ष्मण के हृदय में अत्यधिक उत्साह हुआ।[788] भगवान के आविर्भाव के समय संतों के मन में बड़ा चाव होता है। राम के जन्म के समय संतों का मन उत्साह से भरा हुआ था।[789] प्रभु या अवतारी व्यक्ति की कृपा से भी हृदय अत्यन्त उत्साह से भर जाता है।[790] जो स्थान इष्ट को उत्यन्त प्रिय है तथा जहाँ इष्ट ने बहुत समय तक निवास भी किया है ऐसे स्थान को देखकर भक्त के हृदय में अत्यधिक उल्लास/आनन्द होता है।[791] प्राकृतिक सौन्दर्य और नदियों के तरंगयुक्त जल को देखकर मन हर्ष की उमंग से भर जाता है।[792] किसी को भोजन कराते समय चित्त में बड़ा ही उत्साह/चाव रहता है अर्थात् व्यक्ति भोजन बड़े ही चाव से कराता है।[793] मार्ग की विकटता धूप आदि से घबड़ाकर व्यक्ति छायादार आश्रम के लिए व्याकुल/आतुर हो जाता है।[794]

वीरों में युद्ध के लिए जाते समय बड़ा उत्साह होता है।[795] विवाह के अवसर पर वैवाहिक क्रियायें करते समय वर–वधू के शरीर से तो संकोच व्यक्त होता है लेकिन उनके मन में परम उत्साह रहता है।[796] यदि हमारे पास किसी सुख को पाने के लिए औरों से अधिक साधन हैं तो हमारा हृदय उत्साह से भरा रहता है। स्वामिकार्तिक इसीलिए अपने बारह नेत्रों से रामदर्शन का लाभ उठाते उत्साह का अनुभव कर रहे हैं।[797] सामर्थ्यवान् व्यक्ति के आश्रित रहने पर चित्त में बड़ा चाव रहता है।[798] आदरणीय जनों का प्रेमपूर्वक आदर सत्कार करने से हृदय पूर्ण उत्साह से भर जाता है।[799] लालसापूर्ति के लिए सभी में उत्साह होता है। रामदर्शन के लिए सभी अयोध्यावासियों में उत्साह है।[800] सरोवर में अवगाहन करने से स्वच्छता, शीतलता और आनंन्द/उत्साह का अनुभव होता है। उसका कारण है कि जल की शीतलता से तो थकान दूर होकर उछाह आता है और इस कारण चित्त आनन्द से भर जाता है। जल में स्वच्छता का गुण होता ही है इसलिए चित्त में पड़ी अनुत्साह/तनाव/बैचेनी की परतें दूर हो जातीं हैं और चित्त का आनन्द प्रकाशित हो उठता है। यहाँ पर रामचरित मानस रूपी सरोवर में अवगाहन करने से बुद्धि विमल

हुई और हृदय आनन्द और उत्साह से भर गया अर्थात् बुद्धि से रामचरित का अनुशीलन/चिन्तत/मनन किया जिससे बुद्धि विमल हो गयी और निर्मलता का परिणाम हृदय को आनन्द और उत्साह भरने में होता है। आनन्द और उत्साह का कारण प्रेम और प्रमोद का प्रवाह था। प्रेम से आनन्द की प्रगाढ़ता होती है। परम लाभ और सुख को पाकर चित्त में उत्साह उमड़ने लगता है। शबरी राम का दर्शन पाकर बड़े ही उत्साह से भर जाती है।[801] अभिमत फल मिलने पर चित्र में आनन्द और उत्साह पैदा हो जाता है।[802] जो कार्य अत्यन्त असम्भव तथा सभी को वांछित है ऐसे कार्य को पूर्ण कर लौटते समय सभी को हृदय में बड़ा उल्लास रहता है।[803] सीता की खोज करके हनुमान के लौटने पर सभी को बड़ा उत्साह हुआ। दैव कृपा तथा आत्मिक शक्ति के कारण वाह्य कठिनाइयों में व्यक्ति में उत्साह बना रहता है।[804] सराहना करते समयं व्यक्ति का उत्साह बढ़ जाता है।[805] सौन्दर्य को देखकर मन में उल्लास और उत्साह का आविर्भाव पैदा हो जाता है।[806] चरमसीमा के लाभ, मोद, विनोद और शोभा के क्षणों में व्यक्ति चरमसीमा के उत्साह से भर जाता है। घमण्ड और क्रोध में व्यक्ति हुमक कर अर्थात् फुर्ती से अपने प्रतिद्वन्द्वी पर प्रहार करता है।[807] लड़कपन में चित्त में चौगुना उत्साह रहता है।[808] आनन्द में, यौवन में, रूप में एक प्रकार की उमंग होती है जो अंग-अंग में उमंगित होती हे।[809]

तुलसी ने बताया कि जो दिव्य आत्मा होती है तथा जो शील स्वभाव का पूर्णकाम होता है उसके चित्त में विपरीत समय में भी बड़ा उत्साह रहता है[810] और जो निडर व्यक्ति होता है उसका मन हर काम में उत्साहित रहता है।[811] लेकिन उलझन में पड़े व्यक्ति के चित्त में उत्साह का अभाव रहता है। राम में सीता के त्याग की समस्या से चित्त का उत्साह नष्ट हो गया।[812] प्रिय से बिछुड़ जाने पर विरही के चित्त में स्वप्न में भी उत्साह नहीं रहता है।[813]

दिव्य बालक के जन्म से दशो-दिशाओं में उल्लास छा जाता है।[814] यह उल्लास बालक के सगे-सम्बन्धियों तथा अन्य लोगों का समान ही होता है। अर्थात् सभी लोगों को एक समान उल्लास होता है।[815] भक्त को प्रभु की लीलागान से उतना ही उल्लास होता है जितना उस समय उनकी लीला दर्शन करने वालों को हुआ था।[816]

कोई-कोई उत्साह जैसे प्रभुदर्शन का आनन्द/उत्साह मुनियों को भी अगम होता है लेकिन इसे एक क्षुद्र व्यक्ति पा सकता है।[817]

तुलसी उत्साह की वृद्धि/निरन्तरता और नाश के बारे में बताते हैं कि यदि मंगल/मोद का उत्सव नित्य मनाया जाये तो उमंग, आनन्द और उत्साह निरन्तर उमड़ता रहता है। विवाह का उत्साह अयोध्या में इसीकारण निरन्तर उमड़ रहा था।[818] प्राणों का मोह छोड़ देने पर योद्धा में युद्ध के लिए उत्साह बढ़ जाता है।[819] उत्सव आनन्द में बाधा आ जाने पर उत्साह मिट जाता है। अयोध्यावासियों में राम के

युवराज अभिषेक का जो उत्साह था वह राम के बन गमन के प्रसंग से नष्ट हो गया।[820] कल्याणकारी मनोवांछित इच्छाओं की पूर्ति करने वाली वस्तु का पूजन करने से दिन-प्रतिदिन उत्साह की वृद्धि होती है।[821]

उत्साह का व्यक्ति पर बड़ा ही स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। जब व्यक्ति को उत्साह होता है तो वह उमंगित होने लगता है।[822] उत्साह आने पर व्यक्ति कार्य करने के लिए प्रेरित हो जाता है।[823] उत्साह पूर्वक किये कार्य से व्यक्ति को थकान आदि का अनुभव नहीं होता है। जनक आदि जनों को चित्रकूट राम से मिलने के लिए जाते उत्साह के कारण ही कष्ट का अनुभव नहीं हुआ।[824] उत्साह से व्यक्ति उतावला और आनन्द प्राप्ति के लिए बैचेन हो जाता है।[825] उछाह अर्थात् आनन्द मनाने का अवसर सुखी और तृप्त करने वाला होता है।[826]

किसी कार्य की सिद्धि से सारे वर्ग को जो अपार हर्ष होता है उस हर्ष की अभिव्यक्ति के लिए होने वाले क्रिया-कलापों से हृदय की अपरिमित उमंग व्यक्त होती है।[827] उत्सव मनाने की उमंग अथवा हर्ष लोगों के हृदय में उमड़कर बहना चाहता है।[828] जब उत्साह सभी लोगों में अत्यधिक होता है तो ऐसा लगता है मानो वह स्थान विशेष में न समाकर बाहर उमड़ने लगा हो अर्थात् ऐसा उत्साह किसी स्थान विशेष में रहने वाले लोगों के अतिरिक्त बाहर के लोगों में भी दिखलाई पड़ने लगता है। राम सीता विवाह का उछाह इसी प्रकार का था।[829] दिव्य आनन्द का उत्साह अवर्णनीय होता है।[830] भावी उत्साह की सूचना शकुनों के माध्यम से मिलती है।

(ख) मिश्र संवेग :

ये संवेग विभिन्न मनोविकारों के मिश्रण से रूप धारण करते हैं, इनमें बौद्धिक तत्व का भी समावेश होता है और ये स्थायी मनोदशा के होते हैं। डा0 नगेन्द्र इन मनोविकारों के बारे में लिखते हैं कि इनके समग्र रूप को कभी अनुभव नहीं किया जा सकता बस इनके संचारी का ही आस्वादन हो सकता है। प्रस्तुत विवेचना में हम तुलसी के कुछ मिश्र संवेगों को समझने का प्रयास करेंगे।

मोह/भ्रम/आशंका :

मोह/संदेह/आशंका/भ्रम ये व्यक्ति को किसी मिथ्या बोध में पूर्णतया लिप्त करने वाली अवस्थायें हैं और इन अवस्थाओं के उत्पन होने का मूल कारण अज्ञान और अविवेक है। मोह षड्विकारों में एक है। किसी को दुख पूर्ण समझते हुए भी भ्रमवश उस पर आसक्त रहना "मोह" होता है। किसी वस्तु को कुछ का कुछ समझ लेना यह 'भ्रम" होता है। संदेह व्यक्ति की दुविधामयी स्थिति का सूचक है। यह

सच है अथवा यह सच है। क्या करें अथवा क्या न करें। यह असमजंस की स्थिति हुई। आशंका कल्पित अनिष्ट की सम्भावना से उत्पन्न भाव का नाम है। मोह संवेग की व्याख्या दार्शनिक पृष्ठभूमि में ही अधिक की जाती है। "मानक हिन्दी कोश" में लिखा है– मोह मन का वह भ्रम है जो उसे आध्यात्मिक या पारमार्थिक सत्य का ठीक–ठीक ज्ञान नहीं होने देता और जिसके फलस्वरूप मनुष्य लौकिक पदार्थो को ही वास्तविक तथा सत्य समझकर इन्द्रियजन्य सुख भोगों को ही प्रधान या मुख्य मानकर सांसारिक जंजालों में फँसा रहता है। "मोह" का दूसरा अर्थ प्रेम या मुहब्बत बताया गया है जिसके फलस्वरूप विवेक ठीक तरह से काम करने योग्य नहीं रहता।[831] वृहत् हिन्दी कोश में उसे अज्ञान, ममता, भ्रांति और स्नेह कहा गया है।[832]

रामचन्द्र वर्म्मा ने भ्रम को स्पष्ट करने का प्रयास किया। उन्होंने भ्रम के साथ भ्रान्ति/मति भ्रम/विभ्रम आदि को भी लेते हुए भ्रम के सम्बन्ध में यही बताया कि भ्रम किसी को कुछ का कुछ समझ लेना है। कभी-कभी यह अवस्था हमें बहुत अधिक सोच--विचार करने में डाल कर उद्विग्न कर देती है। इसका कारण अज्ञात दैवी अथवा प्राकृतिक संयोग भी हो सकता है और हमारी मानसिक दुबर्लता/विकलता का भी परिणाम हो सकता है।[833] वर्म्मा जी ने "सन्देह" को वस्तु की वास्तविकता पर विश्वास न हो पाना बताया। इसके अलावा उस अवस्था में भी उन्होंने संदेह का तत्व आ जाना बताया जब हम समझते हैं कि अमुक बात या व्यक्ति ने सम्भवतः कोई अनिष्ट या अपकार किया है। संशय किसी अनिर्णीत बात के सम्बन्ध में होता है कि वस्तुतः क्या है अथवा क्या नहीं है और हमारे मन में जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है।[834]

शब्द कल्प द्रुम में "देहादिषु आत्म बुद्धिः" को मोह कहा है। श्री मद् भगवत् गीता से भी मोह के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण तथ्य प्राप्त होते हैं। इसमें लिखा है कि मोहित चित्त उचित–अनुचित का निर्णय करने में असमर्थ रहता है।[835] मोह तथा भ्रम सदा मिश्रित वचनों से उत्पन्न होता है।[836] मोह उसमें नहीं उत्पन्न होता है जो धीर होता है।[837] मोह ग्रस्त व्यक्ति की चिन्ताओं का कोई पार नहीं होता।[838]

पाश्चात्य मनोविज्ञान में मोह का तो कहीं विवेचन नहीं मिलता। हाँ प्रत्यक्षीकरण के संदर्भ में भ्रम तथा विभ्रम का विवेचन अवश्य मिलता है। भ्रम में उद्दीपक का प्रत्यक्षीकरण त्रुटिपूर्ण होता है। आइजनैक और उनके साथियों ने कहा है– कि विषयगत प्रत्यक्षीकरण में वास्तविकता से अन्तर ही भ्रम है। उदाहरण के लिए पीतल को सोना, रस्सी को साँप आदि भ्रम के उदाहरण हैं।[839]

तुलसी ने भी भ्रम को पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के समान रस्सी को साँप समझने के सन्दर्भ में ही ग्रहण किया है।[840] मोह का स्वरूप तो वे इतना भयंकर मानते हैं कि इसके वात चक्र से बाहर आना मनुष्य के लिए असम्भव है। संसार की असारता को सत्य समझकर जो व्यक्ति इसमें आसक्त रहता है वही

अज्ञानी एवं मोहग्रस्त है। ईश्वर की कृपा दृष्टि ही मोह का समूल नाश करने में सक्षम है।[841] तुलसी संदेह का प्रयोग जीवन की सामान्य परिस्थितियों के प्रसंग में करते हैं और संशय का अधिकतर आध्यात्मिक विषयों के निरूपण में। तुलसी भ्रम, मोह, संशय, संदेह आदि संवेगों का प्रयोग जीव की मन:स्थिति स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही करते हैं। वे ऐसा करके जीव को इस अवस्था से मुक्त होने के लिए प्रेरित करके परम सत्य की ओर उन्मुख करना चाहते हैं।

तुलसी ने अपने साहित्य में मोह/भ्रम/संदेह/आशंका/असमंजस आदि संवेगों का बड़ा गूढ़ विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने इन संवेगों के कारणों पर बड़े विस्तार से सूक्ष्म दृष्टि डाली है। संदेह उत्पन्न होने के विषयों में वे मानते हैं कि कुछ विषय ऐसे गूढ़ या परस्पर विरोधों से भरे होते हैं कि उनके सम्बन्ध में हरेक को संदेह होता ही है। मानस में तुलसी ने भरद्वाज, काकभुशुण्डि और गरुड़ में प्रभु की लीला से इसी प्रकार के संदेह की स्थिति दिखायी हैं ।[842] जो व्यक्ति जिस वस्तु का पात्र नहीं है उसे वह वस्तु कैसे मिल गई। इसका रहस्य न जानने पर व्यक्ति संदेह युक्त हो जाता है। काकभुशुण्डि को राम भक्ति से युक्त जानकर पार्वती में संदेह उत्पन्न हो गया।[843] विशेष स्नेह के कारण जब व्यक्ति प्रिय के सामर्थ्य को नहीं समझ पाता तो उसे प्रिय के हर कार्य में संदेह रहता है कि वह यह कार्य कर पायेगा या नहीं। सुनयना राम के सामर्थ्य को न जानने के कारण उनकी सुकुमारता को देख धनुष भंग होने में संदेह करती है।[844] साधारण व्यक्ति द्वारा दुष्कर कार्य होने में संदेह रहता है। हनुमान का छोटा रूप देख सीता को यह संदेह हुआ कि यह राक्षसों से कैसे लड़ पायेंगे।[845] जब तक हम किसी की वास्तविकता पूरी तरह नहीं जान लेते तब तक हमें उसके बाहरी रूप को देखकर संदेह रहता है। प्रतापभानु का तपस्वी पर तब तक संदेह रहा जब तक वह उसे नहीं जान पाया क्योंकि बाहरी रूप में तो वह एक निर्धन भिखारी ही लग रहा था।[846] युद्ध में यदि हम अपने पक्ष के पास कम साधन तथा शत्रु पक्ष के पास अधिक साधन देखें तो अपने पक्ष की विजय में संदेह रहता है। विभीषण यह देख कि रावण रथ में बैठ लड़ रहा है और राम बिना रथ के हैं। सामर्थ्य की कमी को समझ उसे राम की विजय में संदेह होने लगता है।[847] यदि शत्रु पक्ष प्रबल सिद्ध हो रहा है तो उसके मरने में संदेह हो जाता है। सीता रावण की शक्ति को जान संदेह युक्त हो जाती हैं।[848] अलौकिक और कठिन कार्य होने में संदेह रहता है। शतरूपा को भगवान के पुत्र रूप में जन्म लेने में संदेह है।[849] सीता की खोज के लिए सभी वानरों को समुद्र के पार पहुँचने में संदेह होता है।[850] मनुष्य की यह प्रवृत्ति होती है कि जब तक काम पूरा न हो जायें या उसकी इच्छा पूरी न हो जाये तब तक उसके मन में यह संदेह बना रहता है कि पता नहीं काम होगा या नहीं। भगवान इसीलिए शतरूपा से कहते हैं कि जो कुछ तुम्हारे मन में इच्छा है वह मैंने दिया इसमें संदेह न करना।[851] यदि किसी का मिलना निश्चित हो लेकिन उसका मिलना अति कठिन भी हो तो भी उसके मिलने में संदेह रहता है। पार्वती को नारद वचनों के सत्य जानने पर भी शिव के मिलने में संदेह हुआ।[852]

मनुष्य का स्वभाव सहज रूप से संदेह शील होता है। इश्वर की कृपा भी हो या कोइ इश्वरीय अनुग्रह से कोइ बात हो जाय तो भी व्यक्ति को विश्वास नहीं होता और उसके मन में संदेह बना रहता है। लेकिन इस प्रकार के पूर्व निश्चित कल्याण में मनुष्य को संदेह नहीं करना चाहिए। नारद पर्वतराज से कहते हैं कि शंकर के मिलने से कल्याण होगा। इसलिए तुम संदेह को त्याग दो।[853]

यदि हमारी इच्छा की पूर्ति किसी दूसरे पर निर्भर है तो फिर उस इच्छा की पूर्ति में संदेह रहता है। अयोध्यावासियों को राम के अयोध्या लौटने की इच्छापूर्ति में संदेह रहता है।[854] जो व्यक्ति अपनी बात का पक्का नहीं है उससे उस वस्तु के मिलने में भी संदेह रहता है जिसे उसने देने के लिए कहा था। कैकेयी को दशरथ में दृढ़ निश्चय की कमी देखकर दोनों वरदान के मिलने में संदेह हो जाता है।[855] यदि किसी का स्वभाव एकाएक बदल जाये तो हमें उसके पहले के व्यवहार में संदेह रहता है कि कहीं इसका वह व्यवहार भी विपरीत तो नहीं था। दशरथ को कैकेयी के परिवर्तनशील और अस्थिर व्यवहार के कारण उसके पहले के व्यवहार पर भी संदेह होने लगा।[856] कभी–कभी किसी के प्रभाव का पता न होने पर इस बात का संशय रहता है कि यह हमारी इच्छापूर्ति कर पायेगा या नहीं। मनु को भगवान की सामर्थ्य का पता न होने पर अपनी इच्छापूर्ति में संदेह होता है।[857] कभी–कभी अपने आत्मीय के अपराध के कारण व्यक्ति को अपने ऊपर लोगों का संदेह होने की आशंका होने लगती है। कैकेयी के अपराध से भरत इसीलिए स्वयं पर लोगों के संदेह की बात कहते हैं।[858] भावुकता में आकर जब कोइ बात कही जाती है तो वह कितनी ही सच हो लेकिन उस पर संदेह हो जाता है। कौसल्या इसीलिए राम से साथ में वन चलने के लिए नहीं कहतीं।[859] दुविधा की स्थिति में काम होने में संदेह होता है।[860]

तुलसी ने मोह के कारणों की भी चर्चा की। मोह अज्ञानता के कारण भ्रम वश किसी में आसक्त रहने का नाम है। जिस कथा का मर्म हम नहीं समझ पाते उस कथा को सुनकर अपनी प्रकृति के कारण हम भ्रम/मोह के वश हो जाते हैं। दैत्य लोग राम कथा को न समझ पाने के कारण मोहित रहते हैं।[961] यदि सर्व समर्थ स्वामी सफलता का श्रेय सवयं को न देकर अपने सेवकों को देने लगे तो उसकी बातों से मोह उत्पन्न होता है। राम लंका की विजय का श्रेय वानरों को दे रहे हैं।[862] अगर हम किसी को अपनी प्रतिष्ठा से गिरकर काम करते देखें तो उसके प्रभाव/उसकी सामर्थ्य को सोचकर हम मोह ग्रस्त हो जाते हैं। राम ने केवट से जब गंगा पार उतारने के लिए कहा तो यह देख गंगा को मोह उत्पन्न हुआ।[863]

काल और दुष्काल के प्रभाव से भी व्यक्ति मोह तथा भ्रम के वश होने लगता है।[864] मरणकाल आ जाने पर व्यक्ति भ्रमित होने लगता है।[865] जिसके हृदय में धर्म के प्रति प्रीति और हरि में रुचि नहीं होती उनकी बुद्धि में विमूढ़ता पैदा होती है।[866] माया से भी व्यक्ति भ्रम/मोह के वश में होता है। लंका में राम–रावण युद्ध के दौरान रावण ने अनेक बार माया फैलाकर वानरों को भ्रमित किया। प्रभु माया

से नारद भी इसी प्रकार मोह तथा भ्रम के अधीन हो गये थे।[867] किसी को भ्रम में डालने के लिए व्यक्ति छल का भी सहारा लेता है। स्वार्थी देवताओं ने अयोध्यावासियों को भ्रम में डालने के लिए माया जाल रचा।[868] जो मूर्ख होते हैं उन्हें प्रभुता पाकर मोह तुरन्त हो जाता है।[869] सामान्य व्यक्ति जहाँ मोह का कोई कारण भी नहीं होता वहाँ पर भी मोह की कल्पना कर लेता है।[870] मोह/भ्रम का बड़प्पन मिथ्या अहंकार पर निर्भर है।[871] जब समस्त कल्याणकारी मार्ग लुप्त हो जाते हैं तभी मोह उत्पन्न होता है।[872] जब विधाता प्रतिकूल होता है तभी व्यक्ति भ्रमित होता है।[873] कभी-कभी व्यक्ति भय के कारण मोह से घिरा रहता है।[874]

यदि दो व्यक्तियों की सूरतें समान हों तो एक में दूसरे का भ्रम हो जाता है। राम को इसी कारण बालि और सुग्रीव को देख भ्रम हो रहा।[875] यदि हम किसी को दूसरे वेश में देखें तो हम भ्रमित हो जाते हैं और वही समझने लगते हैं।[876] असामजंस्य होने पर व्यक्ति को कार्य की पूर्णता के सम्बन्ध में असमंजस होने लगता है कि यह कैसे होगा। उसे दुविधा बनी रहती है। मेरे प्रबन्ध काव्य का विद्वान आदर करेंगे और मेरा परिश्रम सफल होगा तथा गंगा की तरह मेरी कविता से सबका हित होगा इसमें मुझे आशंका है। मेरी दुविधा का कारण यह है कि भगवान राम की कथा सुन्दर है किन्तु मेरी कविता भद्दी है। इसीलिए एक सुन्दर वस्तु के साथ एक भद्दी वस्तु का सामंजस्य कैसे होगा। इसी की मुझे चिन्ता है। किन्तु आपकी कृपा से वह भी सुलभ हो जायेगा क्योंकि टाट में रेशम का पेबन्द भी अच्छा लगता है।[877] जिससे बहुत अधिक स्नेह होता है उसके कल्याण के सम्बन्ध में अन्त-अन्त तक यह आशंका बनी रहती है कि कहीं ऐसा न हुआ तो। मैना के मन में पार्वती के सम्बन्ध में इसी प्रकार की आशंका थी।[878] कभी-कभी व्यक्ति विचित्र, अलौकिक, अनहोनी, चमत्कार पूर्ण घटना को देखकर भी भ्रमित होने लगता है।[879] अयथार्थ ज्ञान के कारण अनिश्चय या दुविधा की धारणा गहरी हो जाती है।[880] कोई कष्टदायक वस्तु यदि लगाव के कारण त्यागी न जा सके तो व्यक्ति असमंजस में पड़ जाता है।[881]

जहाँ पूर्ण पवित्रता की अपेक्षा हो वहाँ हमें यदि अपनी निर्मलता में संदेह हो जब विशुद्ध वस्तु हृदय में उत्पन्न हो सकेगी या नहीं इस प्रकार के असमंजस में व्यक्ति पड़ जाता है।[882] एक कार्य को करना छोड़कर यदि व्यक्ति दूसरे कार्य में लग जाये और पहला काम बिगड़ने लगे तो ऐसी अवस्था में भी व्यक्ति असमंजस में पड़ जाता है। दुविधा इस बात की कि किस कार्य को करें और चिन्ता पहले कार्य के छूटने की।[883] करणीय को न कर पाने और अकरणीय को त्याग न पाने से व्यक्ति कभी-कभी बड़े असमंजस में पड़ जाता है उसे ऐसी अवस्था में भारी चिन्ता होती है।[884] अज्ञान की अधिकता का परिणाम मिथ्या ज्ञान और द्विविधा की स्थिति का बढ़ना है।[885]

तुलसी ने मोह को अन्य अर्थों में भी प्रयुक्त किया है। उन्होंने इसे किसी के प्रति 'अंध प्रेम'

अर्थात् जिस प्रेम में विवेक कुंठित हो जाये इस अर्थ में प्रयुक्त किया है और दूसरे इसे 'मुग्ध होने' के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है। उन्होंने बताया कि मोह रूप प्रेम माता–पिता, भाई, पुत्र, स्त्री शरीर, धन, मित्र, परिवार इन सबके प्रति होता है। ऐसे प्रेम को ममता भी कहा जाता है।[886] कृपालु स्वामी की अपने सेवक पर बहुत ममता होती है।[887]

तुलसी ने मोह को 'मुग्ध' अर्थ में लेकर इसके विषयों की बड़े विस्तार से चर्चा की है। मन को रुचने वाली वस्तु को देखकर मन मुग्ध होता है। यदि कोइ वस्तु अलौकिक/दिव्य/अनुपम तथा अन्य किसी प्रकार की विशेषता से युक्त है तो ऐसी वस्तु को देखकर ऐसे लोग भी मुग्ध हो जाते हैं जो जल्दी किसी वस्तु पर मुग्ध नहीं होते। विश्वमोहिनी का रूप देख लक्ष्मी जी तक मोहित हो जाती है।[888] बालोचित आभूषणों से सुसज्जित बालकों को देख मन मोहित होता है।[889] नेत्रों का आकार, प्रफुल्लता तथा मुख की कान्ति और शान्ति देने वाला गुण तथा उसका शायक प्रभाव मुग्ध करने वाला होता है। सौन्दर्य की विविधता अत्यन्त मोहक होती है।[890] अतिशय सौन्दर्य से, विविध अंगों का सुन्दर, समानुपात-पूर्ण विनियोजन से उत्पन्न सोन्दर्य से मन बहुत अधिक मुग्ध होता है। भगवान अतिशय सौन्दर्यवान् हैं, उनकी ठोड़ी मनोहर, हनुस्थल तथा कपोल और नासिका सब सुन्दर है इसलिए यह सब देख मन मोहित हो जाता है।[891] चेतन सौन्दर्य के साथ–साथ यदि परिवेश/वातावरण/ऋतु की सुन्दरता भी मिल जाय तो व्यक्ति का सौन्दर्य बहुत अधिक मुग्ध करने वाला होता है।[892] परुष और कोमल, ओजपूर्ण और ललित सौन्दर्य जब सुन्दर वस्तुओं के मेल में प्रकट होता है तो मोहने वाला आकर्षण और बढ़ जाता ठै।[893] किसी में जब लोकोत्तर सौन्दर्य प्रकट होता है तो यह उसके पूरे अंगों में व्याप्त रहता है। अलग–अलग प्रत्येक अंग सुन्दर होता है और सब अंग भी सुन्दर होते हैं। इस कारण मोहने वाला आकर्षण अधिक बढ़ जाता है।[894] धारण करने से आभूषणों का सौन्दर्य अधिक मोहित करने वाला हो जाता है। उस पर वे अगर बजते भी हों तो मुग्ध करने के गुण में और वृद्धि हो जाती है।[895] जो वस्तुएं या व्यक्ति परम सुन्दर तथा रूप की निधि होते हैं उनसे कोई परिचय और कोइ सम्बन्ध न होने पर भी अनायास मन मुग्ध हो जाता है।[896] जहाँ इतना सौन्दर्य हो कि जिससे शोभा भी सुन्दर लगने लगे जो सौन्दर्य का सागर हो उस पर मन तो क्या मन का मन भी मोहित हो जायेगा अर्थात् उस पर मुग्ध होने से कोइ बचा नहीं रहेगा।[897] सर्वाधिक सौन्दर्य मुख मण्डल पर प्रकट होता है। जो अपने को सुन्दर समझते हैं वे भी सुषमापूर्ण मुख देखकर मुग्ध हो जाते हैं।[898]

तुलसी ने मोह/भ्रम/संदेह आदि के प्रभाव का भी अध्ययन किया। उन्होंने मोह/भ्रम का बुद्धि पर सर्वाधिक प्रभाव देखा है। उन्होंने बताया कि चाहे जिस प्रकार का मोह अथवा भ्रम हो सभी में व्यक्ति की बुद्धि कुंठित हो जाती है।[899]

मोह में बुद्धि के ठीक तरह से काम न करने के कारण व्यक्ति आगत संकट को नहीं

पहचान पाता और उससे उदासीन रहता है। कैकेयी प्रतिदिन–रात बुरे स्वप्न देखती है लेकिन मोह के वश में होने के कारण इससे आने वाले संकट का अनुमान नहीं लगा पाती और चुप रहती है।[900] मोह के वशीभूत हो व्यक्ति समय के प्रतिकूल कार्य करने लगता है अयोध्यावासी राम के साथ जाना चाहते थे लेकिन देवताओं द्वारा बुद्धि के मोहित हो जाने पर वे तमसा नदी के किनारे सो गये और राम से बिछुड़ गये।[901]

किसी का दो तरह का व्यवहार देख व्यक्ति भ्रम में पड़ जाता है और उन दोनों वस्तुओं या व्यवहार में कौन सच है कोन मिथ्या इसका निर्णय नहीं कर पाता। यह भ्रम परम्परा जब बहुत गाढ़ी हो जाती है तो इसी से व्यक्ति अज्ञान और मोह से ग्रस्त हो जाता है उसकी मन को बोध कराने वाली शक्ति मलिन हो जाती है और जिसका परिणाम दु:ख होता है। सती को राम की लीला देखकर भ्रम हुआ और भ्रम के कारण उनकी बुद्धि कुंठित हो गयी। उनके मन में अपार संदेह उठ खड़ा हुआ, वे मोह से ऐसी ग्रस्त हो गयीं कि शिवजी के बहुत बार समझाने से भी वे कुछ न समझ पायीं और जब शिवजी ने उनसे उस संदेह से मुक्त होने के लिए परीक्षा ले लेने के लिए कहा तो वे परीक्षा के लिए भी चल दीं। बुद्धि के पूरी तरह मलिन हो जाने के कारण उन्होंने ऐसे अनुचित ढंग से परीक्षा ली कि उन्हें परिणामस्वरूप पति–परित्याग के भारी दु:ख को दीर्घकाल तक सहना पड़ा। संदेह ग्रस्त मन पर यदि निर्णाय का भार छोड़ दिया जाय तो वह निर्णय लेने में असमर्थ रहता है। वह यह नहीं सोच पाता कि मैं क्या करूँ और क्या न करूँ। सती इसी कारण राम की परीक्षा का उचित ढ़ग नहीं चुन पायीं।[902]

कर्तव्य परायण व्यक्ति यदि मोह के वश में हो जाता है तो फिर उसकी चेतना उचित दिशा में काम नहीं करती। सुमित्रा इसीलिए लक्ष्मण से वन में मोह आदि विकारों से मुक्त रहने के लिए कहती हैं।[903] अहंकार के कारण उत्पन्न मोह में व्यक्ति ऐसे कार्यो को करना चाहताहैजिसे वह करोड़ों उपायों से भी नहीं कर सकता। जनकपुर में राजा लोग मोह के वश हो धनुष उठाने का प्रसास करते हैं।[904]

मोह के कारण व्यक्ति सुख प्रदायक हरि के मार्ग में नहीं चलते।[905] क्योकि मोह के कारण व्यक्ति का ज्ञान पूर्णतया नष्ट हो जाता है। मोह ऐसा मनोवेग है जो जहाँ अज्ञान/मोह का लेश भी नहीं होता है वहाँ भी भ्रम और मोह अपना आवरण डाल देता है।[906] मोह से व्यक्ति के हृदय में घना अंधेरा पैदा हो जाता है।[907] ममता व्यक्ति को अंधेरे में ले जाने वाली है।[908] ममता के कारण व्यक्ति को ज्ञान की कथा समझ में नहीं आती है।[909] मोह की अगली स्थिति विमोह या विमूढ़ता है। जब मन इससे ग्रस्त होता है तब उसकी बोध शक्ति पूर्ण रूप से बाधित हो जाती है।[910] ममता में व्यक्ति किसी की बात की सच्चाई को नहीं समझ पाता। मंदोदरी जब–जब रावण की नीति को बात समझाती है रावण हठ से नहीं समझ पाता बस हृदय से लगाकर मंदोदरी पर अपनी ममता व्यक्त करता है।[911]

मोह से जब व्यक्ति गहरे रूप से प्रभावित होता है तो वह मूढ़ता की उस स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ स्पष्ट बात को भी नहीं समझ पाता। प्रभु की माया से मोहित होकर जब नारद ने भगवान से विश्वमोहनी के साथ विवाह करने की इच्छा व्यक्त की और उसमें सहयोग मांगा तो भगवान ने कहा कि जिस प्रकार आपका हित होगा हम वही करेंगे। लेकिन नारद जी मोहग्रस्त बुद्धि के कारण भगवान की बात नहीं समझ पाये और उन्होंने वही–वही कार्य किया जो उन्हें नहीं करना चाहिए था। इससे निष्कर्ष निकलता है कि मोह व्यक्ति को दुख देता है उसे व्याकुल कर देता है। मोह के कारण ही व्यक्ति में क्रोध, अंहकार लोभ अादि विकारों का जागरण होता है।[912]

भ्रम के कारण व्यक्ति कुछ का कुछ दिखाई पड़ता है। युद्ध में रावण की माया से भ्रमित हो वानरों को बहुत से राम दिखने लगे।[913] मोह के कारण व्यक्ति अपने अज्ञान को नहीं पहचान पाता और दुखी होता है। अपना अज्ञान वह दूसरे पर आरापित करता है।[914] मोह में मतवाला व्यक्ति विचार पूर्वक नहीं बोलता।[915] मोहपूर्ण प्रेम में व्यक्ति प्रिय के कल्याण को नहीं सोच पाता। वह सदा प्रिय को सुखमय परिस्थिति में ही रखना चाहता है। वह ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना चाहता जिससे उसके प्रिय को कष्ट मिले। ऐसा करने में वह अपने कर्तव्य और अपयश की भी चिन्ता नहीं करता। मोह युक्त प्रेम में यदि प्रिय से वियोग हो जाये तो इसे व्यक्ति सहन नहीं कर पाता और अपने प्राण तक त्याग देता है। दशरथ की पुत्र मोह के कारण यही दशा देखी जाती है।[916] मोह और भ्रम में व्यक्ति कर्ममार्ग का भी त्याग कर देता है।[917] अनेक प्रकार के कुतर्कों को जन्म देता है।[918] मोह के कारण व्यक्ति आत्मीयता रखने वालों को भी विरोधी समझ लेता है। लक्ष्मण भरत को मोह के कारण राम का शत्रु समझते रहे।[919] दुविधा की स्थिति में व्यक्ति का विश्वास हिल जाता है। देवताओं को पार्वती का तप और शिवजी की समाधि देख असमजंस हो शिव के विवाह होने का विश्वास नहीं हो पा रहा।[920] कभी–कभी संदेह के कारण सत्य बात समझते हुए भी उस पर विश्वास नहीं हो पाता।[921] यदि कार्य के प्रारम्भ में ही संशय हो जाये तो फिर उसे ठीक से सम्पादित नहीं किया जा पाता।[922] मोह के कारण व्यक्ति किसी से भी सुख चाहने लगता है।[923] मोह के कारण व्यक्ति द्रोह भी करता है।[924] भ्रम रोग की भाँति व्यक्ति को पीड़ित करता है।[925] भ्रम में पड़ा चित्त अशान्त रहता है। पार्वती को जब तक राम के स्वरूप का बोध नही हुआ उन्हें शान्ति नहीं मिली।[926] मोह के कारण व्यक्ति में ईर्ष्या, अनेक प्रकार की व्यर्थ चिन्तायें अनेक प्रकारकेदु:ख दायक संवेगों का जन्म होता है।[927] मुग्ध होने पर व्यक्ति, अपने आपको भूल जाता है और देर तक उस वस्तु को देखता रहता है।[928] मोह में व्यक्ति अपने लक्ष्य को भूल जाता है।[929] मोह के कारण व्यक्ति को अनेक स्थलों पर भटकना पड़ता है।[930] मोह में व्यक्ति बाबला हो जाता है।[931] मोह में व्यक्ति कभी--कभी अपने असली स्वरूप को प्रकट कर देता है।[932] संदेह उत्पन्न होने पर प्रेम नहीं रहता।[933] मोह और ममता ऐसी घोर रात्रि है जिसमें व्यक्ति अज्ञान की निद्रा में बहुत समय तक सोता रहता है,[934] इसके कारण ज्ञान--विज्ञान का विवेचन

स्पष्ट नहीं हो पाता,[935] इसके रहते समय की भयंकरता दिखाई नहीं देती।[936] मोह के कारण व्यक्ति सद्‌गुणों से प्रेम नहीं करता।[937] मोह से अनेक प्रकार की किसी भी प्रकार दूर न होने वाली मलिनता उत्पन्न होती है।[938] मोह से ज्ञान–वैराग्य, योग, जप, तप सभी भयभीत रहते हैं।[939] भ्रम तथा मोह से दारुण दुःख मिलते हैं।[940] संदेह उत्पन्न होने पर विश्वास हिल जाता है।[941] व्यक्ति मुग्ध होकर जब किसी वस्तु से छक जाता है तभी वह दूसरे से उसका आस्वादन करने के लिए कहता है।[942] मोह के कारण अविवेक, भ्रम, आसक्ति पक्षपात और इसीलिए भेद बुद्धि उत्पन्न होती है और इसी कारण व्यक्ति दुःख में पड़ा रहता है।[943]

इस प्रकार मोह/भ्रम/संदेह ये संवेग बड़े ही अवांछित संवेग हैं। भक्ति और ईश्वरीय प्रेम में मोह का त्याग बहुत ही आवश्यक है।[944] जिस तरह नदी में भवरें उठतीं है उसी तरह राम के मिलने में भ्रम रूपी भंवरें बाधक होतीं हैं।[945] अन्य से सुख मिलेगा यह भ्रम त्याग देने पर ही व्यक्ति में भक्ति उत्पन्न होती है।[946] मोह दूर होने पर ही प्रभु का यश गाया जा पाता है।[947] हृदय में सद्‌गुणों तथा प्रभु का निवास होता है।[948] मोह सेवाधर्म के पालन में तथा योग साधनों[949] में भी बाधक है।[950] संसार के प्रति लोगों का जो भ्रम है उससे मुक्त होने पर ही व्यक्ति अपने को पहचान पाता है।[951]

मनुष्य को यदि स्थायी सुख प्राप्त करना है तो तुलसी का विचार है कि उसे मोह को पूर्णतया त्याग देना चाहिए। मोह चूँकि अज्ञान जनित है इसलिए बोध ही इसके दूर होने का उपाय है।[951] जो बोध में प्रतिष्ठित है, ज्ञान का भण्डार है उससे निश्चित ही मोह/भ्रम का नाश हो जाता है।[953] जिस प्रकार कोहरे का नाश सूर्य द्वारा होता है उसी प्रकार मोह का नाश वास्तविकता के ज्ञान से होता है। सूर्य ज्ञान का प्रतीक है। शंकर ज्ञान के भण्डार हैं इसलिए वे मोह का नाश करने के लिए सूर्य के समान समर्थ हैं। ज्ञान की धारा में मोह का नाश करने की सामर्थ्य होती है।[954] संशय रूपी समुद्र से व्यक्ति ज्ञान की नाव पाकर ही पार हो जाता है।[955]

जो सर्वदा सत्य है उसे जान लेने से संशय दूर हो जाता है।[956] परमात्म बोध से,[957] सत्‌युक्ति से,[958] सच्चाई[959] समझ जाने पर भ्रम/संदेह/मोह दूर हो जाता है। बोध कराने वाली कथा तथा वाणी सुनकर भी सारे भ्रम दूर हो जाते हैं।[960] बिना सद्‌गुरु के मिलने से भ्रम/संदेह/मोह दूर नहीं हो सकता।[961] भगवत् कृपा/संतकृपा/गुरु कृपा/स्वामी कृपा से भी संदेह दूर हो जाता है।[962] प्रीति, प्रतीति, श्रद्धा और विश्वास युक्त वाणी से भी मोह/भ्रम दूर हो जाता है।[963] जिसका मन श्रद्धा और विश्वास से पूर्ण होता है। वह जब सत्य का आख्यान करता है तब भ्रम युक्त मन द्वारा रचे गये कुतर्कों से व्यक्ति मुक्ति प्राप्त कर लेता है उसके बाद ही प्रीति और विश्वास पैदा होता है और दुःखदायी आशंका समाप्त हो जाती है। मोह की भावना को वैराग्य, विवेक और भक्ति के द्वारा जीता जा सकता है।[964] बहुत प्रकार से समझाने

पर भारी मोह शीघ्र दूर हो जाता है।[965] आश्वस्त वाणी तथा किसी रहस्य का ज्ञान मोह को सर्वदा दूर करने वाला होता है।[966] समदर्शी होने पर किसी विशेष वस्तु से ममत्व समाप्त हो जाता है।[967] प्रेम और एकनिष्ठ अनुराग से संशय दूर हो जाता है। उपयुक्त स्थान या व्यक्ति के साथ होने पर भी संदेह दूर होता है।[968] जो मोह से सर्वथा रहित है उसमें ऐसा प्रभाव उत्पन्न हो जाता है कि उसके स्मरण मात्र से लोगों को मोह दूर होने लगता है।[969] भाग्य अनुकूल होने पर किसी काम की सफलता में कोई संदेह नहीं रहता।[970] यदि हमें किसी की सामर्थ्य के सम्बन्ध में मोह है तो वह मोह कभी-कभी उसकी अद्‌भुत ज्ञान, कोशल वाली वाणी से उसके सामर्थ्य को जानकर दूर हो जाता है।[971] परम शक्ति की आराधना से मोह दूर होता है। नाम महिमा के आगे मोह संकुचित हो जाता है।[972]

यदि किसी को अपने भ्रम, संदेह और मोह का ज्ञान हो जाय उसमें उसे दूर करने की ललक भी पैदा हो जाये और उसमें यह विवेक भी पैदा हो जाये कि इसके माध्यम से भ्रम दूर हो सकता है तो उसे एक प्रकार से भ्रम से मुक्त ही समझना चाहिए। पार्वती के मन की ऐसी ही स्थिति हो गयी थी।[973] जब हमारी बात की पुष्टि और सच्चाई का समर्थन कोई शक्ति कर दे तो इस संदर्भ में उत्पन्न हमारा संदेह समाप्त हो जाता है।[974]

तुलसी ने मोह/भ्रम के सम्बन्ध में ऐसी अवस्था का संकेत किया जिसमें मोह आदि उत्पन्न होता ही नहीं है। ऐसी अवस्था परमात्म बोध की अवस्था है। भगवत् नाम में रत, भगवत प्रेमी, सत्य में स्थित व्यक्ति के मन में मोह तनिक भी नहीं रहता।[975] जो ज्ञानी होता है, ईश्वर रूप होता है वह मोह आदि से पूर्णतया परे रहता है।[976] इसीलिए तुलसी मानते हैं कि परम चेतना, विद्वान तथा संत पुरूष मोह से रहित रहते हैं।[977] दिव्यता आने पर सब संशय क्षीण हो जाते हैं। जो अवतारी होते हैं उनमें किसी प्रकार का संशय नहीं रहता क्योकि वे सत्य में स्थित होते हैं।[978]

संशय/भ्रम आदि संवेगों का दूर होना तुलसी के विचार से बहुत आवश्यक हे क्योकि उनका कहना है कि इन संवेगों से मुक्त होने के पश्चात् व्यक्ति ठीक प्रकार से विचार कर पाता है,[979] किसी कार्य को निष्ठा पूर्वक करता है[980] और भगवत् भजन कर पाता है।[981] जब तक हृदय में संदेह रहता है तब तक प्रेम/भक्ति श्रद्धा कुछ नहीं उत्पन्न हो सकती है और न ही भगवत् चेतना का निर्माण होता है।[982] संदेह/मोह के दूर होने पर ही भगवत् प्रेम और ईश्वर की कृपा प्राप्त होती है।[983] संशय रहित होने पर ही व्यक्ति दुःख से रहित हो पाता है, उसका मन प्रसन्न रहता है, सुखी रहता है और वह किसी से मनचाही वस्तु माँग सकता है।[984]

वैसे तो सभी प्रकार के मोह/संदेह हानिकारक और अवांछित हैं लेकिन तुलसी ने कुछ संदेहों, मोहों को बिल्कुल ही व्यर्थ कहा है। सत्य बात में व्यक्ति को संदेह नहीं करना चाहिए।[985] जो

कार्य अवश्य होता है उसमें संदेह नहीं किया जाता।[986] अगर कोई सच्चे भाव से अपनी स्थिति स्पष्ट कर दे उस पर भी कोई आशंका/संदेह प्रकट करें तो इसका कारण उसकी मूर्खता और बुद्धि की दरिद्रता समझना चाहिए।[987] जिस व्यक्ति के कथन पर विश्वास होना चाहिए उस पर यदि कोई विश्वास न करें तो ऐसा समझना चाहिए कि उस व्यक्ति का भाग्य विपरीत है।[988] जिसका व्यक्तित्व देशकाल से परे होता है जो बहु आयामी होता है, उसका सौन्दर्य विभेद में ही है इसलिए उसके सम्बन्ध में संदेह नहीं करना चाहिए तथा उसके प्रति अपने प्रेम को बाधित नहीं होने देना चाहिए।[989] सांसारिक बातों में आगे–पीछे का निश्चित क्रम होता है किन्तु जो बातें अनादि होती हैं उनमें किसी प्रकार का भ्रम नहीं होता इसलिए इस विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं करना चाहिए।[990]

निष्कर्ष रूप में तुलसी द्वारा विवेचित मोह/भ्रम आदि के स्वरूप को इस प्रकार कहा जा सकता है। मोह एक भयोत्पादक संवेग है।[991] यह मन में उत्पन्न होता है और नदी की तरह अथाह और दुस्तर हो जाता है।[992] कोई–कोई बुद्धिमान, मुनियों सारे विश्व को ही मोहित करने वाला होता है।[993] भगवत् लीला देखकर जड़ चेतन, समस्त जगत मोह वश हो जाता है।[994] प्रभु प्रेरणा से सर्वथा निर्मोही और ज्ञानी व्यक्ति मोह के वश होता है।[995] लेकिन जो धीर व्यक्ति होते हैं वे मोह से किसी प्रकार भी प्रभावित नहीं हो पाते।[996] मुनियों के मन का मोह भक्ति की सीमा को छूने वाला होता है।[997] परम सौन्दर्य पर मुग्ध होने में ही व्यक्ति का सौभाग्य और जीवन की सार्थकता है। सीता राम के सौन्दर्य पर मुग्ध होने वाला व्यक्ति अपने को भूतल में श्रेष्ठ समझता है।[998] मोह में आकर्षण होता है। इसीलिए यह सबके मन को अपने वश में कर लेता है।[999] इसमें एक प्रकार का ताप भी होता है।[1000] मोह वृक्ष की भाँति है जिससे शाखाओं के समान ही अनेक दुःखदायक संवेग उत्पन्न होते हैं और व्यक्ति पर छा जाते हैं।[1001] मोह एक ऐसा संवेग है जो किसी के मन में कभी भी उत्पन्न हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि संवेगों की उत्पत्ति या प्रवाह चिरन्तन है। उससे हम परे हैं ऐसा अभिमान नहीं करना चाहिए।[1002] मोह से उत्पन्न अन्य अनेक छोटे–छोटे संवेग जागकर मन में क्षोभ पैदा करते हैं।[1003] संदेह धीरे- धीरे मोह में परिवर्तित हो जाता है। भरद्वाज का संदेह राम के सम्बन्ध में ऐसा ही था।[1004] मोह में अत्यधिक शक्ति होती है।[1005] कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो भ्रम तथा मोह रूप ही होती है अर्थात् भ्रम या मोह से ग्रसित होने पर ही उनका अस्तित्व जान पड़ता है। वास्तव में वे कुछ नहीं होती हैं। संसार के समस्त व्यवहार ऐसे ही मोह रूप हैं।[1006] एक संदेह ऐसा होता है जिससे प्रश्नकर्ता के अलावा अन्य लोगों का संदेह भी दूर होता है। पार्वती की आशंका ऐसी ही थी।[1007]

मोह की दो श्रेणियाँ होती है। एक प्रकार के मोह में तो व्यक्ति सत्य बात समझना ही नहीं चाहता वह अपने भ्रम को ही सत्य समझता है। दूसरे मोह की श्रेणी में व्यक्ति को अपने मोह का बोध रहता है और वह चाहता है कि हमारा मोह दूर हो जाये उसे दूसरे की बात सुनने में रुचि रहती है। पार्वती में मोह

की यही श्रेणी थी और सती में दूसरी।[1008]

सर्वज्ञ ईश्वर पर संदेह, मोह, भ्रम करना, श्रृद्धा और विश्वास का अभाव होता है लेकिन ऐसे संदेह और भ्रम से उस ईश्वरीय सत्ता का कुछ नहीं बिगड़ता जिस मन में ये उत्पन्न होते हैं उसी की हानि होती है क्योंकि उसके जीवन की दशा कुछ की कुछ हो जाती है और परिणाम दु:खमय होता है। भ्रम और मोह जब जड़ जमा लेता है तो फिर असत्य वस्तु भी सत्य लगने लगती है और दु:खदायक हो जाती है। इस दु:ख से मुत्ति जागने पर ही मिलती है अर्थात् मोह और भ्रम से मुक्त होने पर। यह मुक्ति प्रभु कृपा से ही सम्भव है।[1009]

कभी–कभी मोह के निवारण के लिए किया गया प्रयत्न व्यक्ति को सत्य के निकट पहुँचा देता है।[1010]

कभी–कभी भ्रम भी व्यक्ति के लिए हितकारी हो जाता है। ऐसा तब होता है जब भ्रम के निवारण के लिए किया गया सच्चा प्रयास व्यक्ति को सत्य के निकट पहुँचा देता है। मोह में प्रेरणा शक्ति होती है।[1011]

श्रद्धा :–

"श्रद्धा" किसी के प्रति पूज्य भाव का नाम है। "किसी मनुष्य में जन साधारण से विशेष गुण वा शक्ति का विकास देख उसके सम्बन्ध में जो एक स्थायी आनन्द–पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते हैं।.......हम उसका नाम आने पर प्रशंसा करने लगेंगे, उसे सामने देख आदर से सिर नवायेंगे, किसी प्रकार का स्वार्थ न रहने पर भी हम सदा उसका भला चाहेंगे, उसकी बढ़ती से प्रसन्न होंगे और अपनी पोषित आनन्द पद्धति में व्याघात पहुँचने के कारण उनकी निन्दा न सह सकेंगे।"[1012] वृहत् हिन्दी कोश में इसे प्रेम और भक्ति युक्त, पूज्य भाव, संप्रत्यय, विश्वास, आदर बताया गया है।[1013] मानक हिन्दी कोश में पूज्य और बड़े लोगों के प्रति मन में रहने वाली आदरपूर्ण आस्था या भावना को श्रद्धा माना गया है।[1014] रामचन्द्र वर्मा ने शब्द साधना में श्रद्धा में पूज्य बुद्धि और भक्ति की प्रधानता मानी हैं। ईश्वर की उपासना तभी फलवती होती है, जब वह श्रद्धा और भक्ति पूर्वक की जाय।[1015] मानस मुक्तावली में राम किंकर जी ने कहा है कि श्रद्धा की उपलब्धि के लिए त्याग और कष्ट का वरण करना पड़ता है।[1016] श्रद्धा में ज्ञान और वैराग्य का होना अति आवश्यक है। ज्ञान और वैराग्य विहीन श्रद्धा केवल श्रवण का आश्रय लेकर अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकती।[1017] गीता में बताया गया है कि जिस पर श्रद्धा होती है उसी का व्यक्ति भजन करता है। श्रद्धावान् मनुष्य ही ज्ञानी महात्माओं के पास जाकर प्रणाम, सेवा और विनय युक्त प्रश्न आदि के द्वारा उनसे उपदेश प्राप्त करके ज्ञान योग के साधन से या कर्मयोग के साधन से उस तत्व ज्ञान

को प्राप्त कर सकता है।[1018] भगवान की सत्ता में, उनके अवतारों में, वचनों में उनकी शक्ति में, उनके गुण, प्रभाव, लीला और ऐश्वर्य आदि में अत्यन्त सम्मानपूर्वक जो प्रत्यक्ष से भी बढ़कर विश्वास है– वही अतिशय श्रद्धा है। जैसी सात्विकी, राजसी या तामसी श्रद्धा होती है– वैसी ही उस पुरूष की निष्ठा या स्थिति होती है।[1019]

"छान्दोग्योपनिषद्" में श्रद्धा को मनन करने वाला तत्व कहा गया है। जब मनुष्य श्रद्धा करता है, तभी वह मनन करता है। बिना श्रद्धा किये कोई मनन नहीं करता। अतः श्रद्धा की विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिए।[1020] वृहदारण्य–कोप निषद्" में श्रद्धा का स्थान हृदय बतलाते हुए कहा गया है कि "क्योंकि हृदय से ही पुरुष श्रद्धा को जानता है अतः हृदय में ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है।[1021]

पाश्चात्य मनोविज्ञान में श्रद्धा के विषय में स्पष्ट विचार नहीं मिलता है। इसकी अभिव्यक्ति फेथ, बिलीफ एवं रेवरेन्स शब्दों के रूप में मिलती है। तुलसी ने श्रद्धा को विश्वास के साथ जोड़ते हुए इसे साधना में बहुत बड़ा सहारा माना है।[1022] श्रद्धा में इतनी शक्ति होती है कि अगम वस्तु भी सुगम हो जाती है।

श्रद्धा चूँकि आदर पूर्ण आस्था का नाम है इसलिए तुलसी ने इसे प्रत्येक पूज्य व्यक्ति के प्रति इसे स्वीकार किया है। पुत्र की माता–पिता के प्रति श्रद्धा हो सकती है, शिष्य की गुरु के प्रति श्रद्धा होती है और सेवक की स्वामी के प्रति तो श्रद्धा होती ही है। तुलसी साहित्य में राम का दशरथ – कौसल्या, सुमित्रा, कैकेयी के प्रति जहाँ एक ओर अपार प्रेम है वहीं दूसरी ओर उनमें श्रद्धा भी है। वे अपने गुरू वशिष्ट और विश्वामित्र के प्रति बहुत श्रद्धा रखते हैं और इसी कारण मर्यादा की सीमा का कभी भी अतिक्रमण नहीं होने देते। भरत, हनुमान आदि में भी अपने स्वामी राम के प्रति पूर्ण श्रद्धा दिखलाई पड़ती है।

श्रद्धा में श्रद्धेय के सम्मान का भाव होता है इसलिए श्रद्धालु श्रद्धा के कारण श्रद्धेय को प्रणाम करता है, चरणों में गिरता है, सिर नवाता है और चरणों को पकड़ता है। तुलसी संत समाज को श्रद्धायुक्त होकर प्रणाम करते हैं।[1023] पार्वती श्रद्धावश शिव के बार–बार चरणों को पकड़ती है।[1024] नारद भगवान को सिर नवाते हैं।[1025]

श्रद्धालु श्रद्धेय का तरह–तरह से सम्मान करता है।[1026] उसके गुणों का गान करता है,[1027] स्वागत–सत्कार करता है।[1028] श्रद्धा में व्यक्ति अपने श्रद्धेय के हाथ जोड़ता है। अहल्या राम को देखकर इसी कारण हाथ जोड़ लेती है।[1029]

श्रद्धा में श्रद्धेय की आज्ञा पालन इसका प्रमुख तत्व होता है। राम दशरथ की आज्ञा पालन के कारण ही वन गये थे।[1030] सेवक सदैव स्वामी के रुख के अनुसार ही कार्य करता है। वह ऐसा कोई

भी कार्य नहीं करना चाहता जिससे उसके स्वामी को संकोच हो। भरत इसीलिए राम को अयोध्या लौट चलने के लिए विवश नहीं करते हैं।[1031] श्रद्धा में श्रद्धेय की सेवा पूर्ण मनोयोग से की जाती है।[1032]

श्रद्धा में श्रद्धालु को सदैव अपनी लघुता का भान रहता है। तुलसी ईश्वरीय श्रद्धा का विवेचन अधिक रुचि के साथ करते हुए कहते हैं कि सात्विक श्रद्धा की प्राप्ति भगवत् कृपा पर निर्भर है।[1033] संतों में बड़ों के प्रति श्रद्धा का भाव अवश्य रहता है।[1034] श्रद्धा में बुद्धि पूरी तरह सराबोर हो जाती है।[1035] श्रद्धा में बुद्धि का विश्वास से गहरा सम्बन्ध है क्योंकि श्रद्धा में जिस स्थिरता की दृढ़ता की आवश्यकता होती है वह उसे विश्वास से ही मिलती है।[1036]

श्रद्धा के बिना भगवत् प्रेम टिक नहीं सकता।[1037] श्रद्धा होने पर ही राम कथा समझ में आ सकती है और जिसमें श्रद्धा नहीं है उसके राम लिए कथा व्यर्थ है। उसे इसमें कोई आनन्द नहीं आयेगा।[1038] श्रद्धा होने पर ही व्यक्ति धर्म पूर्ण आचरण में तत्पर हो पाता है।[1039] उसमें आदर का भाव जागता है।[1040] श्रद्धा के बिना सिद्धि नहीं मिलती है।[1041] साधना में श्रद्धा के बिना प्रगति नहीं हो सकती।[1042] श्रद्धा होने पर ही सत्य सक्रिय होता है और फलित होता है।[1043] श्रद्धा भक्ति के साथ कार्य करने पर ही वह फलित होता है। चित्रकूट में राम ने वशिष्ठ की आज्ञा से श्रद्धायुक्त होकर ही पिता की क्रिया की।[1044] संतों से श्रद्धा के द्वारा ही जाना जा सकता है।[1045] श्रद्धा बुद्धि के बिना भक्ति संजीवनी की तरह साधक को जीवनदान नहीं दे पाती।[1046]

श्लाघा :-

"श्लाघा" प्रशंसा करने के भाव को कहते हैं। 'शब्द साधना" में रामचन्द्र वर्मा लिखते हैं कि जब हम किसी की कोई बात उसके लिए या अपने लिए अभिमान की वस्तु समझकर उसकी अधिक प्रशंसा या सराहना करते हैं, तब उसे श्लाघा कहते हैं। अभिमान या गर्व पूर्वक अपनी प्रशंसा आप ही करना यह आत्म श्लाघा होता है। इसका उद्देश्य किसी वस्तु या व्यक्ति के गुणों या विशेषताओं की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करना होता है। बृहत् हिन्दी कोश के अनुसार श्लाघा प्रशंसा, आत्म प्रशंसा, आत्म गुण-कथन कहलाता है।[1047] श्लाघा का विवेचन भारतीय काव्य शास्त्र और मनोविज्ञान में नहीं मिलता है। पाश्चात्य मनोविज्ञान में मैक्डूगल इसे एक् सुखात्मक भाव मानते हैं, जिसकी उत्पत्ति किसी वस्तु या व्यक्ति की उत्कृष्टता अथवा महानता जनित विस्मय से होती है। इसमें आत्म लघुता की अनुभूति भी सक्रिय रहती है।[1048] डा० भगवान दास भी श्लाघा का विवेचन इसी प्रकार प्रस्तुत करते हैं।

तुलसी ने श्लाघा के भाव को अनेक स्थानों पर व्यक्त किया है। तुलसी ने अपने साहित्य में स्थान-स्थान पर गुणों से प्रभावित राम, शंकर, गणेश, पार्वती आदि देवताओं की प्रशंसा की है वह उनके

श्लाघा भाव का ही द्योतक है।

श्लाघा का भाव उस व्यक्ति के प्रति उत्पन्न होता है जो करुणामय होता है, सर्वगुण सम्पन्न होता है तथा जो भक्ति उत्पन्न करने में सहायक होता है। तुलसी शंकर जी की प्रशंसा/वन्दना इसी कारण कर रहे हैं।[1049] जो दानी होता है,[1050] जो विघ्नों का नाशक होता है,[1051] आनन्द और कल्याण को देने वाला होता है,[1052] तेज, प्रताप, रूप और रस की खान होता है[1053] ऐसे व्यक्ति के प्रति अवश्य ही श्लाघा का भाव जाग्रत होता है।

तुलसी ने रामकथा का अनेक प्रकार से गुण कथन किया। इसे उन्होंने चिन्तामणि कहा। क्योंकि राम के गुण समूह जगत का कल्याण करने वाले हैं। मुक्ति, धन, धर्म और परमधाम देने वाले है।[1054] राम के गुणों के समूह कुमार्ग, कुतर्क, कुचाल और कलियुग के कपट, दम्भ और पाखण्ड के जलाने वाले हैं।[1055]

यदि कोई पहले कई बार अपनी वीरता का परिचय दे चुका हो और कोई साधारण–सा दिखने वाला बालक उसके क्रोध की हँसी बनाये तो ऐसी अवस्था में वह अपने बल की प्रशंसा करता हुआ आत्म श्लाघा से भर जाता है। लक्ष्मण के व्यंग्य कसने पर परशुराम आत्म श्लाघा से भर गये और कहने लगे– अपनी भुजाओं के बल से मैंने पृथ्वी को राजाओं से रहित कर दिया और बहुत बार उसे ब्राह्मणों को दे डाला। हे राजकुमार सहस्त्रबाहु की भुजाओं को काटने वाले मेरे इस फरसे को देख।[1056] सच्चे वीर में आत्मश्लाघा का भाव भरपूर होता है। वह जब भी अपने प्रतिद्वन्द्वी को सामने पाता है उससे कहता है कि संसार में ऐसा कौन योद्धा है जिसे हम डर के मारे मस्तक नवायें ?[1057] किसी कठिन कार्य पर विजय पा लेने पर व्यक्ति आत्मश्लाघा से भर अपनी प्रशंसा जगह–जगह करता फिरता है। नारद जी ने जब कामदेव पर विजय पा ली तो वे पहले अपनी प्रशंसा शिवजी से करने गये और फिर भगवान के पास गये।[1058]

कृतज्ञता :–

"कृतज्ञता" किसी का उपकार मानने का भाव होता है इसका उल्टा कृतघ्नता होता है। इस संवेग का भी बहुत विस्तृत विवेचन उपलब्ध नहीं हो पा रहा है। पं० रामकिंकर उपाध्याय ने तुलसी के मानस के आधार पर इस पर कुछ विचार प्रस्तुत किये हैं। "समाज में कृतज्ञता की भावना ही व्यक्ति को एक दूसरे के लिए त्याग बलिदान और सेवा की प्रेरणा देती है।"[1059] व्यावहारिक जगत में लोगों के द्वारा किये जाने वाले उपकार के लिए यदि कृतज्ञता धर्म है तो ईश्वर के द्वारा किये जाने वाले अनगिनत उपकारों के बदले उसे कितना कृतज्ञ होना चाहिए। यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। एक व्यक्ति के द्वारा किये जाने वाले उपकारों

की सीमा होती है और उनके पीछे कोई न कोई स्वार्थ विद्यमान होता है। ईश्वर और सन्त ही स्वार्थ रहित कृपा किया करते हैं।[1060] कृतघ्नता के पाप का कोई प्रायश्चित नहीं है। अपनी त्रुटि का भान होने पर ही व्यक्ति में पाप के प्रायश्चित का विचार आता है। कृतघ्नता संवेदन शून्यता के कारण ही आती है। अतः एक संवेदन शून्य व्यक्ति मन में उस ग्लानि का अनुभव ही नहीं कर सकता है जो पाप के प्रायश्चित का प्रथम सोपान है।[1061]

पश्चिमी मनोवैज्ञानिक शैण्ड कृतज्ञता की उत्पत्ति में कोमल भाव के रूप में शोक का योग मानते हैं। उनके अनुसार अन्य व्यक्ति हमें जो कुछ देता है, उससे सम्बद्ध उस व्यक्ति की हानि अथवा त्याग के प्रति हममें सहानुभूति परक शोक की अनुभूति जगती है।[1062] लेकिन मैक्डूगल कहते हैं कि अनेक बार हम ऐसी कृपा के लिए भी कृतज्ञ होने लगते हैं, जिसमें कर्ता को कोई हानि या त्याग, कष्ट नहीं उठाना पड़ता।[1063] वे कहते हैं कि इस भाव के मूल में कोमल भाव एवं आत्मलघुता की भावनाओं का मिश्रण रहता है।[1064]

तुलसी ने अपने साहित्य में कृतज्ञता का विवेचन स्थान–स्थान पर प्रस्तुत किया है। उन्होंने बताया कि यदि कोई हमें कष्टदायक अनजान स्थान में आश्रय दे तो हम उसके प्रति बड़े ही कृतज्ञ हो बहुत प्रकार से उसकी प्रशंसा करने लगते हैं। प्रतापभानु के जंगल में भटक जाने पर कपटी तपस्वी ने उसे अपने आश्रम में आश्रय दिया उसकी थकावट दूर की और बड़े ही प्रेम का परिचय दिया। प्रतापभानु तपस्वी के ऐसे उपकार को देख बहुत कृतज्ञ हो गया और बहुत प्रकार से प्रशंसा करने लगा।[1065] यदि कोई हमें दीर्घकालीन शाप से मुक्त कर दे और हमारी अपवित्रता का नाश कर दे तथा अपना दुर्लभ तथा शोक निवारण दर्शन हमारे लिए सुलभ कर दे तो ऐसी अवस्था में हम उसके प्रति बड़े ही कृतज्ञ हो स्तुति करने लगते हैं। अहल्या राम की इसी प्रकार की कृपा पाकर कृतज्ञ हो उठी।[1066] यदि कोई हमारे घोर अपराध को क्षमा कर दे, हमारे मद, मोह, क्रोध और भ्रम का सदैव के लिए नाश कर दे, अपनी अलौकिक सुन्दरता के दर्शन से हमें बहुत सुख प्रदान करें तो ऐसी अवस्था में हम उसके प्रति कृतज्ञ हो जाते हैं। राम ने परशुराम पर इसी प्रकार की कृपा की थी जिससे उनके वे बहुत कृतज्ञ हो गये।[1067]

यदि कोई हमें बहुत बड़ाई दे, अपनी कृपा से दुर्लभ सुख को सुलभ कर दे तो ऐसी परिस्थिति में भी व्यक्ति कृतज्ञ हो जाता है। जनक दशरथ जी और विश्वामित्र के प्रति इसी कारण कृतज्ञ थे। दशरथ जी ने उन्हें बड़ाई दी थी और विश्वामित्र के आने से उनके दर्शन से जहाँ उन्हें राम के दर्शन का सुख मिला था वहीं दूसरी ओर धनुष भंग का असम्भव कार्य सम्पन्न हुआ था। विश्वामित्र की कृपा से ही तो उनका राम से दामाद का रिश्ता बन पाया था।[1068]

जिसके दर्शन से तप तीर्थ सेवन, त्याग सब सफल हो जाये, जिसका दर्शन लाभ की सीमा और सुख की सीमा हो, जिसके दर्शन से हमारी सब आशायें पूरी हो जायें तो ऐसी चेतना के दर्शन से हम कृतज्ञ हो उसकी बहुत प्रशंसा करने लगते हैं। भरद्वाज की राम के प्रति कृतज्ञता का यही कारण था।[1069] जिसके दर्शन से व्यक्ति भाग्यवान पुरुषों की श्रेणी में आ जाये उसके दर्शन से व्यक्ति कृतज्ञ हो जाता है। निषाद इसी कारण राम के प्रति बड़ी कृतज्ञता का अनुभव कर रहा था।[1070] कुशलता के मूल चरणों के दर्शन से भी व्यक्ति कृतज्ञ हो जाता है।[1071] तिरस्कृत व्यक्ति को यदि कोई सामर्थ्यवान् अपना आश्रय प्रदान करे उसे संसार का भूषण तथा मुद मंगलमयी महिमा से सम्पन्न कर दे तो ऐसा व्यक्ति सामर्थ्यवान् के प्रति बड़ा कृतज्ञ हो जाता है। विभीषण राम की शरण पाकर इसी कारण कृतज्ञ हो गया।[1072] अधम और अपकार के धर के लिए यदि भगवान कृपालु हो जायें तो ऐसा भक्त भगवान का बड़ा ही कृतज्ञ हो जाता है।[1073]

तुलसी ने बताया कि कृतज्ञता तरह–तरह से व्यक्त की जाती है कृतज्ञता वश व्यक्ति जिससे कृतज्ञ होता है उसकी प्रशंसा करता है, चरणों की वन्दना करके अपने भाग्य की सराहना करता है। प्रतापभानु ने कपटी तपस्वी के प्रति कृतज्ञता इसी प्रकार व्यक्त की।[1074] कृतज्ञता व्यक्ति को अति प्रेम के वश कर देती है और वह निर्मल वाणी से स्तुति करने लगता है। राम के प्रति कृतज्ञ होने पर अहल्या की ऐसी ही दशा हुई।[1075] कृतज्ञता भाव से शरीर पुलकित और प्रफुल्लित भी हो जाता है और व्यक्ति हाथ जोड़कर उसकी प्रशंसा करने लगता है।[1076] कृतज्ञता के कारण वाणी में कोमलता आ जाती है।[1077] यदि मनचाहा सुख दैव योग से मिल जाता है तो व्यक्ति विधाता का बड़ा ही कृतार्थ हो जाता है।[1078] यदि कोई हमारी असम्भव प्रतिज्ञा पूरी करने में सहायता करता है तो हम बहुत कृतार्थ हो जाते हैं।[1079] इच्छित आर्शीवाद पाकर भी व्यक्ति कृतज्ञता का अनुभव करता है।[1080] प्रभु की कृपा पाकर भक्त कृतार्थ हो जाता है। वानकर लोग राम के प्रति इसीलिए कृतज्ञ थे।[1081] परम चेतना बहुत ही कृतज्ञ होती है।[1082] जो कृतज्ञ स्वाभाव का होता है उसमें कपट नहीं होता।[1083] समय के शुभ प्रभाव से भी व्यक्ति कृतज्ञ स्वभाव का हो जाता है।[1084] महापुरुष यदि अपना दर्शन देता हुआ अनेक सुन्दर, शुभ और कल्याणकारी बातें बताता है तो हम उसके प्रति बहुत कृतार्थ हो जाते हैं। राम जटायु से कहते हैं कि आप शरीर धारण करिये और विष्णु और शंकर का सुयश सुनाकर अपना दर्शन देते हुए लोगों को कृतार्थ करिये।[1085]

वैराग्य :–

मन में राग का न रहना "वैराग्य" कहलाता है। सामान्यतः वैराग्य से तात्पर्य सांसारिक राग के अभाव से ही लिया जाता है। जब व्यक्ति का मन संसार से उदासीन हो जाता है वह संसार से वैराग्य लेकर भगवान में राग स्थापित कर लेता है। संसार से विमुख हुए मन के भाव को वैराग्य संवेग का नाम

दिया गया है। 'मानक हिन्दी कोश' में वैरागय को मन की वह अवस्था बताया है जिसमें मन में किसी के प्रति राग--भाव नहीं होता। यह मन की वह वृत्ति है जिसके कारण संसार की बिषय-वासना तुच्छ प्रतीत होती है और संसार की झंझटें तोड़कर एकांत में रहता और ईश्वर का भजन करता है।[1086] "बृहत हिन्दी कोश" में इसे विषय वासना और सांसारिक सम्बन्धों से मन के उचट जाने वाली मन की अवस्था कहा गया है।[1087] गीता में कहा गया है कि विवेक द्वारा समस्त संसार को नाशवान् और क्षणिक समझकर इस लोक और परलोक में स्त्री, पुत्र, धन, मकान तथा मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्ग आदि समस्त भोगों में सुख, प्रीति और रमणीयता न भासना उनमें आसक्ति का सर्वथा अभाव हो जाना ही दृढ़ वैराग्य है।[1088] रामकिंकर जी ने अन्तःकरण में वैराग्य का उदय उपासना के माध्यम से माना है। उपासक के अन्तःकरण में भगवान के प्रति अनुराग होता है इसलिए उसको विषयों से सहज ही वैराग्य हो जाता है।[1089] वस्तुतः जीवन का उद्‌देश्य इन्द्रिय नियमन के द्वारा अन्तःकरण में वैराग्य का उदय है।[1090]

भारतीय काव्य शास्त्र में शान्त रस के विवेचन में इसका विवेचन मिलता है। वहाँ पर इसका लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति कहा गया है। साहित्यदर्पण में शान्तरस के नाम से इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है। भावों के समत्व को अर्थात् जहाँ दुःख, सुख, चिन्ता, राग, द्वेष कुछ भी नहीं है उसे मुनियों ने शान्त कहा है–

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु सम प्रमाणः"।[1091]

ध्वन्यालोककार ने तृष्णा क्षय के सुख के पोषण को शान्तरस का लक्षण बताया है।[1092]

भारतीय मनोविज्ञान में वैराग्य को सांसारिक वस्तुओं के निष्फल हो जाने पर आत्मिक विवेक के जागने पर, लौकिक सुखद वस्तुओं में वितृष्णा उत्पन्न हो जाने पर ही माना गया है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान में शैण्ड के अनुसार वैराग्य अथवा निर्वेद का भाव मनोरथों की अतृप्ति से उत्पन्न होता है। निर्वेद के परिणाम स्वरूप एकान्तवास की अभिलाषा सम्बन्धित विषयों का परित्याग, उनमें दोष दर्शन, उनके प्रति विद्वषोंत्पत्ति एवं अपने अन्दर निराशा की अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है।[1093]

तुलसी ने वैराग्य को राम से ऊबी हुई अवस्था माना है लेकिन उन्होंने इसका वर्णन भगवत् भक्ति के सन्दर्भ में सांसारिक वैराग्य को लेकर किया है। वे मन को जहाँ एक ओर सांसारिक राग से विमुख करते हैं वहीं दूसरी ओर इसे परम राग से जोड़ भी देते हैं।

तुलसी ने बताया कि वैराग्य तभी जाग्रत होता है जब मन सुख से ऊब जाता है। मनु हृदय में वैराग्य उत्पन्न करना चाहते हैं लेकिन उनका मन विषयों से ऊब नहीं रहा। यही सोच उनके मन में दुःख है।[1094] तुलसी ने एक बात और बतायी कि जब एक ओर अनुराग होता है तो ठीक उसकी विरोधी वस्तु के प्रति वैराग्य पैदा हो जाता है।[1095] परम अनुराग उत्पन्न होने पर देव, धनपतियों तथा परम दुर्लभ साम्राज्य सुख से भी व्यक्ति को वैराग्य हो जाता है।[1096] आराध्य के प्रति अनुराग विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न कर देता है।[1097] आराध्य की अनुकूलता अर्थात् आराध्य कृपा से भी वैराग्य भाव उत्पन्न होता है।[1098] भगवान काकभुशुण्डि जी से कहते हैं कि तू मेरी कृपा से वैराग्य आदि समस्त भेदों को जान जायेगा।[1099]

भगवान के प्रताप से भी लोगों का हृदय वैराग्य युक्त होने लगता है। रामराज्य में राम के प्रताप से चारों ओर वैराग्य फैल गया।[1100] तुलसी ने बताया कि यदि राम की कथा सुनी जाये तो राम के गुण और राम का चरित्र समझने से संसारिक विषयों से वैराग्य हो जाता है।[1101] भगवत् नाम के प्रति प्रेम, उसका जप, सतत् स्मरण निश्चित ही सहजता से वैराग्य उत्पन्न करने वाला होता है।[1102] कोई भी कल्याण प्रसंग हो सुनने से हृदय में अवश्य ही वैराग्य उत्पन्न होता है।[1103] तुलसी कहते हैं कि जो भी भरत का चरित्र नियम से आदरपूर्वक सुनेंगे उनको अवश्य ही सीताराम के चरणों से प्रेम होगा और सांसारिक विषय रस से वैराग्य होगा।[1104]

जब कोई वस्तु लगातार दुःख का कारण बनती जाती है तब उसके प्रति वैराग्य उत्पन्न होने लगता है। आघात, शोक, और वियोग से टूटा और दुखी मन निश्चित ही वैरागी हो जाता है। शंकर जी सती के वियोग से जब दुखी हो गये तो उनके अन्दर वैराग्य का उदय हो गया और वे विरक्त भाव से प्राकृतिक स्थलों को देखते फिरे।[1105]

वैराग्य का उदय वातावरण पर भी निर्भर है। शान्त तपोवन में अपने आप संसार के प्रति वैराग्य और ईश्वर के प्रति राग उत्पन्न होने लगता है।[1106] लक्ष्य के प्रति जाग्रत होने पर प्राणी वैराग्य और संतोष को अपना लेता है।[1107] वैराग्य की प्राप्ति धर्म से भी होती है। धर्मशील होने से निष्कामता, सम बुद्धि और विचार उत्पन्न होता है।[1108] वैराग्य शक्ति, बल और पुरुषार्थ की भूमि पर अंकुरित होता है।[1109] वैराग्य ज्ञान से उत्पन्न होता है।[1110] कभी-कभी वाह्य प्रभाव वश व्यक्ति में क्षणिक वैराग्य पैदा हो जाता है। सुग्रीव में राम के प्रभाव से क्षणिक वैराग्य पैदा हुआ और वह राम से कहने लगा कि हे प्रभु! मैं दिन-रात आपका भजन ही किया करुँगा।[1111]

इस प्रकार वैराग्य के कारणों के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सांसारिक वैराग्य सात्विक स्वभाव वाले ज्ञानी धीर व्यक्ति में ही उत्पन्न होता है।[1112] संत पुरुषों के लिए इसीलिए कहा जाता है कि

इनका हृदय वैराग्य से युक्त होता है।[1113] जहाँ मोह होता है, अनेक प्रकार की दुष्प्रवृत्तियाँ होती हैं वहाँ वैराग्य कदापि नहीं उत्पन्न होता। तामसी स्वभाव वाले व्यक्ति को वैराग्य आदि अच्छा तो लगता नहीं इसलिए जो इन संवेगों के जागरण का प्रयास करता है उसका भी वह विरोध करता है। रावण इसी तरह का था। जैसे ही जप, योग, वैराग्य, तप तथा यज्ञ में भाग पाने की बात रावण कानों से सुनता स्वयं उठ दौड़ता।[1114] अभिमानी को वैराग्य युक्त वाणी हितकारी होते हुए भी नहीं रुचती है।[1115]

स्वभाव के अतिरिक्त परिस्थितियों का भी वैराग्य पर प्रभाव पड़ता है। यदि समय प्रतिकूल है,[1116] भयंकर यातना भरा हुआ है,[1117] तो फिर वैराग्य नहीं उत्पन्न हो पाता तृष्णा, लोभ, आशा, काम आदि के प्रभाव से भी वैराग्य उदित नहीं होता[1118] और यदि किसी में रहता भी है तो वह इन दुष्प्रवृत्तियों के प्रभाव से तुरन्त नष्ट हो जाता है।[1119] क्योंकि काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि वैराग्य के विरोधी संवेग हैं।[1120]

वैराग्य के नष्ट होने की तुलसी ने अन्य भी परिस्थितियाँ बतायीं हैं। यदि व्यक्ति में विषयों के प्रति राग हो जाय,[1121] काम के वश हो जाये,[1122] भगवान के प्रति संदेह से भर जाये तो वैराग्य तुरन्त ही नष्ट हो जाता है।[1123] सुख की सामग्री के प्रति आकर्षण होने पर ज्ञानी वैराग्य भूल जाता है।[1124] सौन्दर्य के प्रति आकर्षण से भी व्यक्ति का वैराग्य चला जाता है। नारद आदि मुनीश्वर राम जी के दर्शन के लिए अपने वैराग्य को भी भूल जाते हैं।[1125] दिव्य प्रेम में मग्न होने पर जो विशुद्ध वैराग्य होता है उसे भी वैराग्य हो जाता है अर्थात् वह चला जाता है। जनक जी जब प्रेम में मग्न हुए तो उनकी दशा देखकर ज्ञान वैराग्य को भी वैराग्य हो गया।[1126]

वैराग्य का व्यक्ति के मन पर बड़ा ही तीव्र प्रभाव पड़ता है। वैराग्य के प्रभाव से व्यक्ति के अन्दर विवेक सचेत हो जाता है,[1127] उसमें धीरता आ जाती है,[1128] जिससे उसे विनय, विज्ञान और वेद–पुराण का यथार्थ ज्ञान हो जाता है।[1129] वैराग्य से परम ज्ञान का उदय होता है,[1130] अति महान रामभक्ति प्राप्त होती है।[1131] एकरसता में एक रूपता प्राप्त होती है अर्थात् भेद बुद्धि समाप्त होती है[1132] और दुष्प्रवृत्तियाँ हृदय को प्रभावित नहीं करतीं।[1133] वैरागी मन को प्रभु और प्रभु से सम्बन्धित वस्तुएँ ही मुग्ध कर सकतीं है।[1134]

वैरागी व्यक्ति ही स्त्री का त्याग कर पाता है।[1135] जिसमें वैराग्य होता है उसमें शान्ति, विनय और प्रसन्नता रहती है, मन स्वस्थ होता है।[1136] वैराग्य ऊपरीवेश को भी तदनुकूल बदल देता है।[1137] वैरागी को एकान्त प्रदेश अच्छा लगता है।[1138] वह भक्त को देखकर मन ही मन प्रसन्न होता है।[1139] वैराग्य मनुष्य के हृदय को अन्य आवेगों में बहने नहीं देता। वैराग्य से लक्ष्य प्राप्ति में दृढ़ता

आती है।[1141] वैराग्य से आत्म विश्वास जाग्रत होता है।[1142] संतोष मिलता है,[1143] अच्छे कार्य की प्रेरणा मिलती है[1144] और आराध्य के प्रति समर्पण का भाव पैदा होता है।[1145] वैराग्य में प्रबलता तथा सांसारिक आसक्ति को जलाने की दाहक शक्ति होती है।[1146] वैराग्य होने पर ही घर शोकरूप लगता है।[1147] वैराग्य युक्त हृदय में ब्रह्मानन्द की लालसा जागती है। संसार से उदासीन रहने वाला दिव्य सुख से अपने को विमुख नहीं कर पाता और इस सुख को पाने के लिए लट्टू रहता है अर्थात् दिव्य सुख के समक्ष वैराग्य प्रभावहीन हो जाता है।[1148]

वैराग्य का जीवन में बड़ा ही महत्व है। यह ज्ञान–विज्ञान और विवेक को सार्थक बनाता है[1149] वैराग्य और सर्व त्याग दोनों साथ–साथ रहते हैं। वैराग्य के बिना त्याग फीका है।[1150] संन्यास की शोभा वैराग्य में है।[1151] ब्रह्म विचार की सार्थकता भी वैराग्य होने में ही है।[1152] जप और योग के साथ वैराग्य अवश्य रहता है।[1153] भ्रमण और प्राकृतिक छटा के लिए तटस्थ और विरक्त दृष्टि का होना आवश्यक है।[1154]

वैराग्य का भक्ति से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह भक्ति का एक अंग है,[1155] क्योंकि भक्ति योग की दृढ़ता के लिए सांसारिक कार्यों से वैराग्य होना आवश्यक है,[1156] इसलिए यह भक्ति में अवश्य ही विद्यमान रहता है।[1157] वैराग्य भक्ति का पूरक है।[1158]

तुलसी ने वैराग्य की सार्थकता भी सिद्ध की है। उन्होंने बताया कि वैराग्य भक्ति सम्मत होना चाहिए इसलिए वैराग्य की सार्थकता प्रभु प्रेम से है। यदि किसी में वैराग्य है तो उसमें प्रगाढ़ भक्ति भी होना चाहिए।[1159]

वैराग्य सृष्टि का एक अनिवार्य तत्व है।[1160] यह राग की तरह ही मन की वृत्ति है।[1161] तुलसी कहते हैं कि वैराग्य अन्तर की वस्तु है। वाणी से वैराग्य की भाषा बोलने मात्र से वैराग्य में दृढ़ता प्राप्त नहीं हो सकती।[1162] वैराग्य किसी जाति, वर्ग या विशेष व्यक्ति पर निर्भर नहीं है, वैराग्य किसी को भी हो सकता है।[1163] वैराग्य के अनेक विभाग होते हैं।[1164] इसका प्रताप सब प्रकार से प्रबल होता है।[1165]

वैराग्य भक्ति रस से युक्त होने पर मधुर और कोमल हो जाता है जिससे वाणी में मधुरता और कोमलता आ जाती है।[1166] वैराग्य जिन तत्वों से मिलकर बनता है उनमें वैराग्य ही महत्वपूर्ण है।[1167] वैराग्य और विवेक के विवेचन में एक प्रकार का आकर्षण होता है।[1168] जिस प्रकार राग से मन लुब्ध होता है उसी तरह वैराग्य से भी मन लुब्ध होता है।[1169]

तुलसी ने वैराग्य को एक श्रेयस्कर वृत्ति माना है[1170] उन्होंने कहा कि यह एक सद्‌गुण है।[1171] यह याचना करने योग्य संवेग है लेकिन तुलसी ने भक्ति से वैराग्य होना हानिकारक माना है। रामविमुख को कभी सुख नहीं मिलता है।[1172] कल्याणकारी, शुभ, श्रेयस्कर वस्तु से विमुखता अकल्याण की जननी होती है।[1173] तुलसी ने अपने काव्य में उन्हीं वस्तुओं से उदासीन रहने को उत्तम और सुखदायक माना है जो भक्ति में बाधक है। लेकिन उन्होंने उस उदासीनता की सदैव भर्त्सना की है जो या तो भगवान से है या भगवान से सम्बन्धित वस्तु से है।[1174]

वैराग्य एक कठोर संवेग है[1175] यह मुनियों के लिए भी दुर्लभ है।[1176]

ग्लानि/लज्जा/संकोच/पछतावा :

ग्लानि/लज्जा/संकोच/पछतावा ये हृदय के वे भाव हैं जो व्यक्ति में अपनी किसी कमी, अपने किसी दोष अथवा अपराध बोध के कारण उत्पन्न होते हैं। ग्लानि में आत्महीनता का भाव अधिक होता है और लज्जा/संकोच/पछतावा में संवेग कभी-कभी हीनता वृत्ति से पूर्णतया रहित भी हो सकते हैं। लज्जा और संकोच जब शिष्टाचार के अंग बनकर सामने आते हैं तब उनमें हीनता भाव का कहीं नामोनिशान नही रहता और पछतावा भी जब परिस्थिति के प्रतिकूल होने पर किसी अपराध अथवा गल्ती के फलस्वरूप उत्पन्न होता है तो वहाँ भी व्यक्ति को किसी प्रकार की हीनता का अनुभव नहीं होता। लेकिन ग्लानि सदैव अपनी कमी को सोचकर उत्पन्न होती है। इसके कारण वह अपनी तीव्र भर्त्सना करता हुआ देखा जाता है और अपने को कष्ट भी देना चाहता है। संकोच और लज्जा दूसरों के समक्ष व्यक्त होने वाले संवेग हैं। व्यक्ति अपनी किसी कमी के कारण दूसरों के समक्ष जाने में मानसिक रूप से जिस शिथिलता का अनुभव करता है उसे संकोच और लज्जा का नाम दिया जाता है। इन संवेगों के कारण व्यक्ति की समस्त वृत्तियाँ और चेष्टायें मंद हो जाती हैं। मानक हिन्दी कोश में भी लज्जा और संकोच को इसी प्रकार की संकुचित अवस्था कहा गया है। उसमें लिखा है कि लज्जा के कारण मुँह से बात नहीं निकलती, सिर तथा दृष्टि नीची हो जाती है।[1177] ग्लानि को इस शब्द कोश में अपने ही किसी कार्य का अनौचित्य मालूम होने पर मन में होने वाला खेद या हल्का दुःख लिखा है।[1178] "पछतावा" इस शब्दकोश के कोशाकार के अनुसार मन में होने वाला इस बात का दुःख जन्य विचार है कि मैंने ऐसा अनुपयुक्त या अनुचित काम क्यों किया अथवा अमुक उचित या उपयुक्त काम क्यों न किया।[1178] बृहत् हिन्दी कोश में भी इन संवेगों का विश्लेषण इसी रूप में किया गया है।[1179] पं0 रामचन्द्र शुक्ल लज्जा के सम्बन्ध में लिखते हैं- "दूसरों के चित्त में अपने विषय में बुरी या तुच्छ धारणा होने के निश्चय या आशंका मात्र से वृत्तियों का जो संकोच होता है- उनकी स्वच्छंदता के विघात का जो अनुभव होता है- उसे लज्जा कहते हैं।[1180] "ग्लानि में अपनी बुराई, मूर्खता, तुच्छता आदि के अनुभव से जो संताप होता है वह अकेले में भी होता है और दश आदमियों के

सामने प्रकट भी किया जाता है। ग्लानि अन्त:करण की शुद्धि का एक विधान है।"[1181] शुक्ल जी ने "संकोच" को लज्जा का हल्का रूप कहा। उन्होंने बताया कि यह किसी काम को करने के पहले ही होता है। कर्म पूरा होने के साथ ही उसका अवसर निकल जाता है, फिर तो लज्जा ही लज्जा हाथ रह जाती है।[1182]

पश्चिमी मनोविज्ञान में ग्लानि का विवेचन "रिग्रेट" के अन्तर्गत किया है। मैक्डूगल के अनुसार यह एक प्रकार का अनुताप है, जिसमें मूलतः विकसित आत्ममान अथवा अहंमान रहता है और उसी के साथ अन्य सामान्य नैतिक भावों की भी सत्ता रहती है। इस भाव में ऐसे दोषपूर्ण अथवा असफल अतीत कार्य पर वेदनानुभूति होती है, जिसमें सुधार नहीं किया जा सकता और जिससे व्यक्ति के अहंपर आघात पहुँचता है। यह स्थिति अन्य किसी के नहीं, व्यक्ति के अपने ही कार्य द्वारा उत्पन्न होती है और इसीकारण कार्य दोष आदि से उत्पन्न क्रोध स्वयं की भर्त्सना एवं आत्मपीड़न के रूप में व्यक्त होता है, यद्यपि इससे भी व्यक्ति को संतोष नहीं हो पाता और न ही उसके कुण्ठित अहं की क्षतिपूर्ति हो पाती है। (सोशल साइकोलाजी पृ0 136)

आचार्य भरत लज्जा को अनुचित कार्य से उत्पन्न मानते हैं। वे अनुचित कार्य में गुरुजनों के प्रति विपरीत आचरण, अपमान, प्रतिज्ञा निर्वाह न करना आदि को प्रमुखता प्रदान करते हैं।[1184] हैवलॉक एलिस लज्जा या 'माडेस्टी' का सरलतम एवं सर्वप्रथम तत्व काम को मानते हैं।[1185]

तुलसी ने संकोच, लज्जा, ग्लानि, पछतावा को उनके सामान्य अर्थ में ही लिया है। सती प्रसंग में वे संकोच की उत्पत्ति का कारण व्यक्ति का अंह और अपने को श्रेष्ठ मानने की इच्छा भी बताते हैं। सती को शिव से संकोच हो रहा था कि कहीं मैं शिव की दृष्टि में गिर न जाऊँ। तुलसी ने संकोच को शील के अर्थ में और अपराध मूलक रूप में दोनों ही रूपों में स्वीकार किया है।

तुलसी ने ग्लानि को सत्मार्ग की ओर प्रेरित करने का एक साधन माना है। उनका मानना है कि जब जीव को अपने दुष्कर्मों से ग्लानि होती है तभी वह सत्संग करता है और भगवत् भक्ति की ओर उन्मुख हो पाता है।

तुलसी साहित्य में इन संवेगों का बड़ा गहन विश्लेषण मिलता है। तुलसी ने संकोच/लज्जा/ ग्लानि आदि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सोचकर इसके अनेक सूक्ष्म से सूक्ष्म कारणों का परिचय दिया है।

संकोच/लज्जा का एक कारण मर्यादा उल्लंघन होता है, तुलसी ने मर्यादा उल्लंघन की

अनेक अवसरों को परखा है– वैवाहिक अवसर पर वर–वधू लोकरीतियां करने में संकोच का अनुभव करते हैं।[1186] स्त्री जब गुरुजनों के समक्ष होती है तब उसे अपने प्रेमपात्र को देखने में बड़ी लज्जा का अनुभव होता है। स्वयंवर सभा में सीता राम को देखते रहना चाहती हैं लेकिन गुरुजनों की उपस्थिति के कारण वे संकोच वश ऐसा नहीं करने पातीं।[1187] स्त्री बड़ों के सामने प्रियतम सम्बन्धी कोई दुःख व्यक्त नहीं कर पाती। सीता राम की सुकुमारता और धनुष की कठोरता को सोच बड़ी दुखी हैं लेकिन वे अपनी व्याकुलता व्यक्त नहीं कर पाती। उन्हें लज्जा का अनुभव होता है।[1188] पुत्री को माता–पिता से ससुराल की बातें कहने में संकोच का अनुभव होता है।[1189] बड़ों से अपना मनोरथ व्यक्त करने में, अपनी कोई बात कहने में मर्यादा के भय से संकोच का अनुभव करता है। भरत को राम के चरण चिन्हों से अंकित स्थानों को देखने की इच्छा है लेकिन वे इसे कहते राम का संकोच करते हैं।[1190] यदि कोई प्रेमपूर्वक स्त्री से उसके प्रियतम् सम्बन्धी बातें पूछे तो स्त्री को दो प्रकार का संकोच होता है। एक तो प्रियतम की बात कहने में मर्यादा का संकोच होता है और दूसरा यदि उत्तर न दिया तो पूछने वाले के स्नेह में ठेस लगेगी। इसका संकोच होता है। गाँव की स्त्रियों द्वारा राम का परिचय पूछने पर सीता को इसी प्रकार का संकोच हुआ।[1191] बड़ों के सामने अपना सम्मान करवाने में शीलवान् व्यक्ति बड़े संकोच का अनुभव करता है। राम भरत को खड़ाऊँ देना चाहते हैं लेकिन गुरुजनों, मन्त्रियों और समाज की उपस्थिति से वे सकुचा गये।[1192] जहाँ दो बड़े हों उनमें से एक की अवहेलना होने की सम्भावना के भय से हम कुछ न कह पा रहे हों और दूसरी ओर मर्यादा का संकोच दोनों की रंग स्थली बन जाती है। लक्ष्मण को जनकपुर देखने की इच्छा है लेकिन राम और विश्वामित्र दोनों के संकोच से घिर वे अपनी इच्छा को व्यक्त नहीं करते।[1193] मर्यादा के कारण व्यक्ति अपनी स्त्री से कुछ कहने में संकोच करता है और उसके गुण–शील को बखानने में संकोच करता है।[1194] बड़ों से एकाएक कुछ पूछने में संकोच होता है। राम के अयोध्या लौटने पर भरत कुछ पूछना चाहते हैं लेकिन वे पूछते सकुचाते हैं।[1195] छोटे की प्रशंसा करने में संकोच होता है। राम को भरत की प्रशंसा करने में संकोच हो रहा।[1196] कोई बड़ा हमसे कुछ पूछे और हम उसका उत्तर देने की बजाय उल्टे उससे प्रश्न करने लगें तो ऐसा करने में हमें मर्यादा भंग होने के कारण एक प्रकार का संकोच होता है। उस समय के संकोच का दूसरा कारण यह है कि हमारा श्रद्धेय हमसे सहज रूप में कुछ पूछे और हम उसका उत्तर सीधे, सरल रूप में न देकर रहस्य की सृष्टि करते हुये श्लेष युक्त वाणी में दें तो ऐसा करते हमें संकोच होता है। राम ने वाल्मीकि से रहने का स्थान पूछा लेकिन वाल्मीकि जी इसका उत्तर न दे उल्टे राम से यह पूछने लगे कि आप यह बातइये कि आप कहाँ नही है।[1197] कभी–कभी कोई बात पूछने में हमें इसलिए संकोच होता है कि पता नहीं यह बात हमारे जानने योग्य है या नहीं। कहीं हमारा पूछना अनुचित न हो जाये। इसमें भी मर्यादा भंग के कारण ही संकोच है। भरत शत्रुघन जनकपुर से पत्रिका आने पर दशरथ से बात पूछने में संकोच करते हैं।[1198]

हीनता बोध से बड़ी ग्लानि, संकोच और लज्जा का अनुभव होता है। किसी में अपने से अधिक सामर्थ्य देखकर हमें हीनता बोध होता है और हम सकुचा जाते हें ग्लानि और लज्जा का अनुभव करते हैं अनुमान की आग देख मेघ सूखे जाते हैं और अपनी सामर्थ्य को सोच सकुचाते हैं।[1199] किसी की महान् पराक्रम से प्राप्त उपलब्धि को देखकर वे लोग सकुचा जाते हैं जो अनधिकारी होते हुये भी उस उपलबिध को प्राप्त करना चाहते थे।[1200] शत्रु से सामना करते समय यदि शत्रु द्वारा हमारी सभी शक्तियाँ नष्ट हो जायें तो हम बहुत खिसिया जाते हैं।[1201] यदि शत्रु हमें बहुत हानि पहुँचा दे, हमारे शरीर को क्षत–विक्षत कर दे और हम कुछ न कर पायें तो हमें बड़ी ग्लानि होती है। कुम्भकर्ण को नाक आदि से विकराल हो जाने पर बड़ी ग्लानि हुई।[1202] यदि अभिमानी किसी साधारण से दिखने वाले प्राणी से पराजित हो जाये तो वह बहुत ही सकुचा जाता है। मेघनाद अंगद से पराजित होने से सकुचाने लगे।[1203] अपने से प्रभावशाली की उपस्थिति देखकर व्यक्ति संकुचित हो जाता है। क्योंकि उसके प्रकाश/तेज/प्रताप के सामने वह अपना प्रभाव विस्तार नहीं कर पाता है। रात्रि प्रभु से मिलने आई किन्तु सूर्य को देखकर संकोच के कारण सन्ध्या बन गयी अर्थात् वह अपना विस्तार न कर सकी।[1204] कभी–कभी संकोच संवेग का प्रयोग उस स्थिति में भी होता है जहाँ हमारी वृत्तियाँ/हमारा बल/हमारी डींग भरी उक्तियाँ अपने से किसी पराक्रमी/बलशाली को देख मंद पड़ जाती हैं। यज्ञशाला में परशुराम को देख राजा लोग जो डींग हाँक रहे थे, संकुचित हो गये।[1205]

सामर्थ्य से परे कार्य करने में सात्विक प्रकृति वाले को अपनी कमी सोचकर संकोच होता है। भरत की रहनी, करनी, भक्ति, वैराग्य, निर्मल गुण, ऐश्वर्य आदि ऐसे अवर्णनीय है कि सुकवि भी उनका वर्णन नहीं कर पाते और हीनता बोध से सकुचाते हैं।[1206] किसी से ऐसा काम करने का आग्रह किया जाये जिसको करने की सामर्थ्य उसमें न होत ा ऐसी अवस्था में संकोच का अनुभव होता है।[1207] किसी वस्तु की अलौकिक शोभा और महिमा के वर्णन में यदि उससे हीनवस्तु की तुलना की जाय तो ऐसा करने में कवि को लज्जा का अनुभव होता है। राम जिस वन में निवास कर रहें हैं वह वन इतना सुन्दर है कि उसकी उपमा कामदेव के क्रीडोद्यान और नन्दन वन से करने में कवि को लज्जा मालूम होती है।[1208]

प्रण का निर्वाह न कर पाने पर हमें लज्जा का अनुभव होता है। लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर राम यह सोचकर लज्जित होने लगे कि हम अब विभीषण को दिये वचन को पूरा नहीं कर पायेंगे।[1209]

अपने में किसी गुण का अभाव देखकर भी व्यक्ति हीनता बोध से सकुचा जाता है। किसी

की कोमलता और अपनी कठोरता देख सकुचाहट होती है। सीता–राम के कोमल चरणों के स्पर्श से पृथ्वी सकुचाती है।[1210] जिस गुण का हमें अभिमान है उसे यदि हम किसी दूसरे में अधिक विकसित रूप में देखें तो हमें लज्जा मालूम होती है। राम के नेत्रों का सौन्दर्य नवीन कमलों को लजाने वाला है। जिस घोड़े पर राम बैठे है उसकी चाल देख गरुड़ लजा जाते हैं।[1211]

कर्तव्य का पालन न कर पाने पर ग्लानि होना स्वाभाविक है। जिसके प्रति हमें जिस कर्तव्य का पालन करना चाहिए, वह तो हम कर न पाये किन्तु उस कर्तव्य का पालन का आदर्श हमारा श्रद्धेय रखने लगे तो हम ग्लानि से गड़ जायेंगे।[1212] यदि निर्वाह के मार्ग में बाधा पड़ जाये तो हम ग्लानि का अनुभव करते हैं। विभीषण रावण के साथ भाई का सा व्यवहार न कर पाने के कारण ग्लानि से गले जा रहे हैं।[1213] जो कार्य हमें करना चाहिए वह कार्य यदि हम नहीं कर पाते हैं तो ऐसी अवस्था में हमें लज्जा आती है। लक्ष्मण प्रीति का निर्वाह न कर पाने से लज्जित हो रहे हैं।[1214] राम कार्य के लिए लक्ष्मण ने विपत्ति मोल ली और मूर्च्छित हो गये। सुमित्रा के मुख से इसकी सराहना सुनकर तथा यह देखकर कि अपनी माँ की आज्ञा के कारण शत्रुघ्न युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गये, भरत और हनुमान दोनों ही ग्लानि और अनुताप से भर गये। उनकी ग्लानि का कारण था कि हम लोग या तो बातें कर रहे हैं या अन्य साधनों से राम की सहायता कर रहे हैं। लक्ष्मण और शत्रुघ्न धन्य हैं जो एक तो मूर्च्छित पड़े हैं और एक युद्ध में जाने को खड़े हैं। ऐसा सौभाग्य हमें नहीं मिलेगा।[1215] सामर्थ्य होते हुए भी यदि व्यक्ति अपने श्रद्धेय का दुःख दूर किये बिना ही लौटे तो उसे लज्जा का अनुभव होता है। हनुमान जी सीता का दुःख दूर कर सकते थे लेकिन राम की आज्ञा न मिलने के कारण वे ऐसा न कर सके और लज्जा से घिर गये।[1216] जो बात अभी तक जान लेनी चाहिए थी, उस बात को पूछते समय लज्जा होती है। लज्जा इस बात की होती है कि हम अभी तक इस बात को नहीं जान पाये। भरद्वाज को राम के स्वरूप के बारे में पूछते याज्ञवल्क्य से इसीलिए लज्जा हो रही है।[1217] कोई पराक्रमी व्यक्ति युद्ध में जब हार जाता है और उसका राजपाट, घर द्वार तथा सम्पत्ति सब छिन जाती है तब ऐसी अवस्था में उसे बहुत दुःख और ग्लानि होती है।[1218]

अपनी सामर्थ्य, अधिकार और पात्रता से अधिक वस्तु की अभिलाषा करने में संकोच होता है।[1219] कोई हमारी सहायता करें और हमारे पास उसे देने को कुछ न हो तो ऐसी अवस्था में हमें बहुत संकोच होता है। राम केवट को देना चाहते हैं लेकिन देने के लिए कुछ न होने पर उन्हें बहुत संकोच हुआ।[1220] निःसंतान होने पर ग्लानि का अनुभव होता है।[1221]

तिरस्कार और अपमान से ग्लानि का अनुभव होता है। विभीषण ने रावण के अपमान से बहुत ग्लानि का अनुभव किया।[1222] दयालु व्यक्ति से कुछ माँगते जब बहुत देर होने लगती है तो हम हीनता बोध के कारण ग्लानि से गलने लगते हैं।[1223] जिस स्वामी ने सभी पर कृपा की है यदि उस स्वामी

को हम अपने पर कृपा न करते देखें तो ऐसी अवस्था में हम ग्लानि से गलने लगते हैं।[1224] क्रोध में कोई किसी पर अपनी शक्ति का प्रयोग करें और वह विफल हो जाये तो उसे. अत्यन्त ग्लानि का अनुभव होता है।[1225] पात्र न होन पर भी किसी की कृपा हमें प्राप्त हो जाये तो हम अपने दोषों का ध्यान कर संकोच का अनुभव करते हैं।[1226] अपने दोषों को व्यक्त करने में स्वयं को लाज आती है।[1227] किसी के बड़प्पन के सामने अपनी क्षुद्रता का विचार कर हम संकोच में पड़ जाते हैं।[1228] जिस दोष को हम छिपाने का प्रयत्न कर रहे हों यदि दोष को दूसरा जान जाये तो मन में बड़ी ग्लानि होती है।[1229] जिस वस्तु के लिये हम अयोग्य हैं उसको माँगते बहुत संकोच होता है।[1230] जिससे हममे हीनता की भावना जगे और हमारी प्रतिष्ठा को आघात लगे ऐसे आत्मीय के सामने खड़े होने में हमें लज्जा का अनुभवन होता है।[1231] प्रिय को यदि हमारे कारण दु:ख मिले तो हमें संकोच होता है। जिसे हम सदैव प्रसन्न रखना चाहते है। उसके साथ खेलते यदि हम जीत जायें और वह हार जाये ऐसी अवस्था में हमें संकोच का अनुभव होता है।[1232] कुल का कोई व्यक्ति यदि उसकी मर्यादा के विरुद्ध काम करता है तो उसके कुल को लज्जा का अनुभव होता है।[1233] निन्दा से संकोच होना स्वाभाविक है क्योंकि इससे हीनतावृत्ति उत्पन्न होती है।[1234]

अपराध बोध से अपनी गलती को सोच व्यक्ति बहुत अधिक ग्लानि और संकोच में पड़ जाता है।[1235] जिसका अपराध बन गया है, जिसकी आज्ञा हमने नहीं मानी है, उसी की अनुमति लेकर अगर हम कोई काम करना चाहें तो हम अपने पहले के अपराध का स्मरण कर उसकी अनुमति माँगने में संकोच करते हैं। सती दक्ष के यहाँ जाने की अनुमति माँगते अपने पूर्व के अपराध को सोच संकोच से भर जाती है।[1236]

कपट या छल से हम किसी को भुलावे में डालना चाहें और हमारा कपट उसकी निगाह में पड़ जाये और वह इसे प्रकट भी कर दे तो ऐसी अवस्था में हम एक विचित्र प्रकार के संकोच में पड़ जाते हैं।[1237] अगर हमारे अपराध की किसी को जानकारी हो जाये और हमें भी ऐसा आभास हो जाये कि हमारा अपराध इसे पता लग गया है। इस स्थिति में यदि हम सत्य की दुहाई देकर उससे कुछ पूछना चाहें जबकि हम स्वयं कपट किए हुए है तो हमें ऐसी स्थिति में संकोच होना स्वाभाविक है।[1238] जब व्यक्ति अपने परिजनों और पुरजनों के शोक, दुख और विपत्ति का कारण स्वयं को समझता है और अपने दु:ख को किसी से कह नहीं पाता तो ऐसी अवस्था में अपने कार्य के दुष्परिणाम को सोच-सोच कर ग्लानि के कारण झींखता रहता है।[1239] अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए जिस मनुष्य को विवश करके धोखा देकर, कपट करके माध्यम बनाया जाता है उसे तो जीवन भर इस कारण पछताना ही पड़ता है कि उसने ऐसा क्यों किया साथ ही जिसने कपट किया है उसे भी दूसरे के जीवन में अपने हठ के कारण कलंक का भागी बनना पड़ता है।[1240] कभी-कभी अतीत की भूल याद आ जाने से व्यक्ति पछताने लगता है।[1241] कुचाल करने पर अन्त में पछताना ही पड़ता है।[1242] अकारण क्रोध के प्रदर्शन की वास्तविकता का पता लगने पर हम संकोच से गड़

जाते हैं।[1243] हमसे श्रद्धेय का भारी अपराध बन गया है, इस कारण अब हम उसके प्रिय नहीं, रहे होगें यह सोचकर हममें ग्लानि, पछतावा और दु:ख का भाव उत्पन्न होता है। भरत राम के प्रति हुए अपने अपराध से बहुत अधिक ग्लानि, पछतावा और दु:ख का अनुभव करते हैं।[1244] बिना विचारे कार्य करने से परिणाम में पछताना पड़ता है।[1245] कार्य विफलता की आशंका से पछतावा होता है।[1246] जिस कार्य से बहुतों को कष्ट और हमारे हाथ भी कुछ न लगे ऐसा कार्य करके भी हमें अन्त में पछताना पड़ता है।[1247] जो सहज रूप से ही हमारे हित का ध्यान रखते हों और हमें कल्याणकारी सीख देते हों यदि हम उनकी बात न मानें उनके अनुसार न चलें तो हमें अवश्य ही पछताना पड़ता है और हमारे हित की हानि होती है।[1248] कभी–कभी व्यक्ति क्रोध/आवेश और हठ में काम करते–करते भयंकर विपत्ति में फँस जाता है फिर जब उससे निकलने को कोई रास्ता नहीं मिलता, जो कार्य पूरा करना चाहता था वह कार्य भी नहीं होता वरन् उसमें असफल हो जाता है तो उसे अपने कृत्य पर पछतावा होने लगता है। प्रभापभानु सुअर का पीछा करते–करते घने जंगल में पहुँचकर पछतावा करने लगा।[1249] मिथ्या को सच समझने पर जब हमें अपनी भूल का बोध होता है तो हम सकुचा जाते हैं।[1250] हम अपना बल बखान कर रहे हों उसी समय हमारे जीवन के तिरस्कार और अपमान से भरे क्षण को कोई स्मरण दिला दे तो हम संकुचित हो जाते हैं। रावण को जब अंगद ने बालि से हुई उसकी पराजय याद दिला दी तो रावण जो गर्व से भरा हुआ था, सकुचा गया।[1251] यदि कोई हमें हमारी गल्ती का एहसास कराता हुआ हमारे आवेश को शान्त कर दे तो ऐसी अवस्था में हम सकुचा जाते हैं। भरत के क्रोध में भरे लक्ष्मण देववाणी द्वारा सचेत हो सकुचा गये।[1252] कभी–कभी व्यक्ति समाज का बहुसंख्यक वर्ग का समर्थन पाकर किसी की बात का व्यंग्यपूर्ण उत्तर देकर उसकी अवज्ञा करता जाता है। यह बात जब सीमा तक पहुँचने वाली होती है उस समय यदि कोई बड़ा उसकी भूल का एहसास करा दे या बरजने को कहे, रोक दे तो इस स्थिति में वह सकुचा कर वहाँ से हट जाता है। लक्ष्मण जब परशुराम पर व्यंग्य कसते ही गये तो राम ने उन्हें संकेत से ऐसा करने से रोक दिया, जिससे लक्ष्मण सकुचा गये।[1253]

कोई हमारी बात को काटकर अपनी बात रखे और उसको प्रमाणित करना भी चाहे तो ऐसी अवस्था में हम सकुचा जाते हैं। जनक लक्ष्मण की वाणी से संकोच के वश हो गये क्योंकि लक्ष्मण धनुष को तोड़कर अपनी बात प्रमाणित भी करने को तैयार थे।[1254] यदि कोई हमारे प्रश्न की अनुपयुक्तता के कारण उंल्टे हमसे प्रश्न करने लगे तो हमें संकोच होता है। राम बाल्मीकि से उनके प्रश्न को सुन संकोच के वश हो गये।[1255] जिस काम के करने से व्यक्ति को न यश मिले, न सुख मिले, न कोई लाभ हो उसे करने से अन्त में पश्चाताप करना पड़ता है।[1256] व्यक्ति को कोई ऐसी बात सुनना पड़े या ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़े जिस परिस्थिति के सामना करने से मृत्यु होती है तो उस स्थिति में पड़कर व्यक्ति पछताता है। पश्चाताप उस समय और बढ़ जाता है। जब उस परिस्थिति को उत्पन्न करने वाला वह

स्वयं हो। दशरथ राम के वियोग की बात सुनने के लिए अपने को जीवित देख पछता रहे हैं।[1257]

जो सुख पाने की हमें इच्छा है लेकिन हम उसे पाने में असमर्थ हैं तो ऐसी अवस्था में अवसर को जाते देख हम पछताने लगते हैं। मरने के निकट पहुँचे जटायु राम दर्शन की इच्छा से पछता रहे हैं।[1258] इस आशा से हम कहीं आयें कि हमें यश मिलेगा, बड़ा नाम होगा और अपने तेज प्रताप को प्रकट करने का अवसर मिलेगा, वहाँ पर पराजय, अपयश, विफलता मिलने के साथ-साथ हमें इसका बोध भी हो जायें कि हमने यहां आकर अच्छा नहीं किया तो हम ऐसी अवस्था में ग्लानि, हीनताबोध, निरर्थकता बोध के कारण अन्दर ही अन्दर गलने लगते है। स्वयंवर में आये राजा लोग इसीकारण ग्लानि से युक्त हो गलने लगे थे।[1259]

अनुचित कार्य यदि विवश होकर करना पड़े तो उसे करते पछतावा होता है। व्यक्ति को कोई कार्य ऐसा करना पड़े जो हो तो हितकारक लेकिन बहुत से लोगों को असहनीय दुःख देने वाला हो तो ऐसे कार्य को हम करेंगे तो अवश्य लेकिन दुःख के साथ। इस दुःख में हमारा पछतावा भी रहता है। पछतावे का कारण निरीह व्यक्तियों को दुःख पहुँचाना तथा किसी तरह का यश न मिलना है। देवताओं ने जब सरस्वती से ऐसा उपाय करने के लिए कहा जिससे राम राज्य त्याग कर वन चले जायें तो ऐसा करते सरस्वती पछताने लगी।[1260] सेवक की जिस इच्छापूर्ति के कारण स्वामी को विवश होकर अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़े ऐसी इच्छापूर्ति में स्वामी को बड़ा संकोच का अनुभव होता है। राम भरत की इच्छा से इसलिए अयोध्या लौटने में संकोच कर रहे क्योकि ऐसा करने पर उन्हें पिता को दिये वचनों को तोड़ना होगा।[1261] जब कोई हमारी बहुत विनय करता है, गिड़गिड़ाता हैं और चरणों में गिरकर प्रार्थना करता है तो हम यह सोचकर कि यह कार्य ठीक नहीं है, बार-बार संकोच का अनुभव करते हैं।[1262] अनुचित हो रहा है, ऐसा अनुचित जिससे किसी का अमंगल तो नहीं हो रहा है किन्तु परम्परा और लोक को देखते हुये अनुचित है और आज मुझे उसी में सहभागी होना पड़ रहा है, बड़ों की आज्ञा मानकर। ऐसी स्थिति में भी व्यक्ति को एक तरह का पछतावा होता है। राम को राजतिलक के समाचार से इसी प्रकार का पछतावा हो रहा है[1263] किसी के प्रेम, संकोच और मर्यादा के वश में होकर हमें कोई ऐसा काम करना पड़े जिसका उपयुक्त अवसर न हो, जो हमारे मन के बिल्कुल प्रतिकूल हो तथा हमारे संकल्प किये गये कार्य के मार्ग में बाधक हो तो ऐसी अवस्था में हमें भारी संकोच का अनुभव होता है। भरत शीघ्रतिशीघ्र राम के समीप पहुँचना चाहते हैं इसलिए वे 'भरद्वाज का आतिथि गृहण करने में संकोच करते हैं।[1264] यदि हमें किसी ऐसे व्यक्ति से शीघ्र मिलने की व्याकुलता हो जिसके जीवन में हमारे कारण कष्ट और विकट परिस्थितियों का उदय हो गया है तो ऐसी अवस्था में उससे मिलने जाते मार्ग में किसी के द्वारा स्वागत सत्कार के लिए हमें रूकना पड़े और तब जब कि हमारा मन शोक से युक्त हो तो आतिथ्य सत्कार स्वीकार करने में हमें

भारी संकोच होगा। भरत को राम के कारण भरद्वाज का आतिथ्य सत्कार गृहण करने में संकोच हो रहा है।[1265] यदि हमारे साथ कई लोग दुःखी हों और कहीं हमें शीघ्र पहुँचना हो तो रास्ते में कोई हमसे आमोद–प्रमोद करने के लिए कहे तो ऐसी अवस्था में हमें बहुत संकोच होता है। भरत अयोध्यावासियों के साथ शीघ्र राम के समीप जाना चाहते हैं इसीलिए वे भरद्वाज मुनि का सत्कार गृहण करने में संकोच करते हैं।[1266]

कर्तव्य वश जब व्यक्ति को भावना के विरूद्ध कार्य करना पड़े तो अपनी विवशता को सोच व्यक्ति ग्लानि से युक्त हो जाता है। लक्ष्मण सीता को वन में छोड़ते समय ग्लानि से युक्त हो जाते हैं।[1267] करुणावान् व्यक्ति को अपने मृदुल और सुकुमार आत्मीय को कठोर परिस्थितियो में साथ ले चलने में संकोच होता है।[1268]

किसी में विपरीत भाव उत्पन्न न हो जाये इस भय से भी व्यक्ति को कुछ करने में संकोच होता है।[1269] अपरिचित और अजनबी व्यक्तियों को चाहे जैसी आज्ञा देने में संकोच होता है।[1270] जो महिमावान् होता है उससे सीधे–सीधे कुछ पूछने में संकोच का अनुभव होता है।[1271] शीलवान् व्यक्ति कभी–कभी कठोर किन्तु कल्याणमय आज्ञा देने में संकोच का अनुभव करता है।[1272] यदि कोई हमारी अनुपस्थिति मे कुचक्र रचकर हमें प्रिय का अपराधी बना दे तो ऐसी अवस्था में प्रिय के सम्मुख जाने में हमें संकोच होता है। भरत इसीलिए राम के सम्मुख जाने में संकोच कर रहे हैं।[1273]

जिसको हमने कुकृत्य द्वारा कष्ट पहुँचाया है उससे मिलते समय संकोच होता है। कैकेयी राम से मिलने में संकोच कर रही है।[1274] कोई अपराध हो गया है जिससे लोग मुझे दोषी मानेंगे, इस बात की आशंका हो और सामने कोई इस अपराध की चर्चा न कर बैठे यह सोचकर भी हम संकोच का अनुभव करते हैं। भरत भरद्वाज मुनि के सामने जाने में अपने अपराध को सोचकर संकोच का अनुभव करते हैं।[1275] यदि किसी पराक्रमी व्यक्ति के क्रोध की हम पर बरसने की सम्भावना हुई और हमारे जीवन को खतरा भी हुआ तो ऐसी अवस्था में उस व्यक्ति को देखकर हम सकुचने लगते हैं। हमारे ऐसे सकुचने में थोड़ा भय और सहमना भी मिला रहता है। परशुराम को देख राजा लोग बुरी तरह सहमकर सकुच गये।[1276]

कभी–कभी व्यक्ति अपनी विवशता और असमर्थता के कारण भी पछताता है। निषाद राम वियोग दुःख से घोड़ों को व्याकुल देख उनका दुःख दूर करने में असमर्थ हैं, इसीलिए वे पछताते हैं।[1277] व्यक्ति भाग्यहीनता के कारण भी पछताता है। सीता की माता परशुराम के आने पर इसी कारण पछता रही।[1278]

आशा के प्रतिकूल कार्य से भी संकोच होता है। जिससे अपराध की सम्भावना न हो उसे अपराध की स्थिति में देखकर हम संकुचित हो जाते हैं।[1279] अपने से छोटा किन्तु आत्मीय जब हमारे किसी बड़े के लिए कोई अपशब्द कहता है तो हम संकोच में तो पड़ते ही हैं किन्तु यह बात श्रद्धेय तक न पहुँचे इसका भी ध्यान रखते हैं।[1280] यदि हमारा श्रद्धेय अपनी प्रतिष्ठा से गिरकर कार्य करे तो हमें लज्जा आती है।[1281]

किसी की विपत्ति में हम सहानुभूति व्यक्त करने जायें और वह उल्टे हमारी कुशल क्षेम पूछने लगे तो हमें उसका शील स्वभाव देखकर कुछ कहने में बड़ा संकोच होता है।[1282] जिसका हमने अपरा किया है यदि वही हमारे प्रति सम्मान प्रदर्शित करे लगे तो संकोच से हम गड़ जाते हैं।[1283] हमें कोई कुछ दे और उसका मूल्य लेने से इन्कार कर दें तो ऐसी वस्तु लेने में हमें संकोच होता है।[1284]

जिस कार्य से अहं को ठेस लगे वह कार्य करने में हमें लज्जा आती है। अभिमानी व्यक्ति को शत्रु से सन्धि करते लज्जा आती है।[1285] सच्चे वीरों को युद्ध से पीठ दिखाने में लज्जा आती है।[1286] दो विरोधी बातों के पालन करने में व्यक्ति दुविधाग्रस्त हो संकोच में पड़ जाता है।[1287]

यदि हमें कोई दो परस्पर विरोधी आज्ञाओं का पालन करना पड़े, अथवा किसी को एक आदेश के बाद दूसरे विरोधी आदेश का पालन करने के लिए विवश होना पड़े तो ऐसी अवस्था में संशय और संकोच का भाव उस समय और जटिलता धारण कर लेता है जब ऐसी स्थिति हो कि किसी एक आदेश का पालन हम बहुत दूर तक कर चुके हों और उस आदेश की बात पूरे समाज में फैल चुकी हो तथा उस आदेश पालन के पीछे धर्म निष्ठा/सत्य निष्ठा निहित हो तब हमारा मन उस आदेश के पालन से पीछे हटने पर एक प्रकार के धर्म संकट में पड़ जाता है। उस आदेश के विपरीत चलने के लिए कोई उत्तरदायी व्यक्ति हमसे आग्रह करे तब हम और संकोच में पड़ जाते हैं। राजा दशरथ सुमंत्र से राम, लक्ष्मण और सीता को लौटा लाने के लिए कहते हैं फिर वे ये निवेदन करते हैं कि यह कार्य तुम बिना संशय दुविधा और संकोच के करना और अगर राम को किसी प्रकार का संशय और संकोच हो तो तुम उसका निवारण करना। असल में इस संशय और संकोच में स्वंय दशरथ का संशय और संकोच मिला हुआ था। सुमंत्र को इस प्रकार का आदेश देते हुए राजा को स्वयं संकोच हो रहा था और राम इस बात को मानंगे इस पर उन्हें संदेह था। दूसरे उन्हें यह भी विश्वास था कि मेरे इस संदेश को सुनकर राम बहुत संकोच में पड़ेंगे।[1288] मनीषी लोगों को किसी दूसरे की सम्पत्ति किसी अन्य को देने में इस कारण संकोच होता है क्योंकि वह उनकी उपार्जित की हुई नहीं होती है।[1289]

जिस कार्य को करने की अभिलाषा है यदि उस कार्य को करने का अवसर व्यक्ति चूक जाये तो उसे बाद में पछतावा तथा अभिलाषा पूरी न होने से दुःख होता है।[1290] जिस सुख को हम लेना

चाहते हैं, जिस सुख के मिलने का समय भी है यदि हम ऐसी सुख को अवसर रहते लेने से चूकते हैं या चूकने के लिए विवश होते हैं तो हमें बाद में बड़ा पछतावा होता है। शंकर रामदर्शन करना चाहते हैं।[1291] स्वामी की सहमति जानकर भी जो उत्तर देता है उस सेवक को देखकर लज्जा को भी लज्जा आती है।[1292] जहाँ लज्जा आनी चाहिए वहां यदि लज्जा न आये अथवा ऐसा प्रसंग आ जाये जहां अपने पराक्रम प्रदर्शन का अवसर हो और वहां व्यक्ति अपनी वीरत/पराक्रम/बल और बड़प्पन गँवा बैठे उसके बाद भी वह वीरता की डीग हाँके तो यह कहना उचित ही है कि ऐसे व्यक्ति को देखकर लज्जा को भी लज्जा आने लगती है।[1293]

ग्लानि/संकोच/लज्जा आदि का व्यक्ति पर अनेक प्रकार से प्रभाव पड़ता है। यदि व्यक्ति अपने किसी भंयकर अपराध के दुष्परिणाम के कारण ग्लानि युक्त है तो उसकी यह ग्लानि उसे बड़ी ही व्याकुल करने वाली होती है। वह इस ग्लानि को दूसरे से कह नहीं जाता जिससे उसका हृदय कुम्हार के आँवे के समान जलने लगताहै। उसे बड़ा ही तीव्र दुःख होता है और वह मन ही मन अपने किये को सोचती अकथनीय ग्लानि से पीड़ित होने लगती है। शंकर से अपने अपराध का दण्ड पा लेने पर सती को इसी प्रकार की ग्लानि हुई। चूँकि इस ग्लानि का कारण वह स्वयं होती है। इसलिए वह अपने इस दुःख को किसी से कह नहीं पाती और ग्लानि से व्याकुल होती रहती है।[1294]

ऐसी पराजय जिसमें व्यक्ति का सब कुछ छिन जाये, उसे बड़ी ग्लानि होती है और वह इस ग्लानि के वश हो किसी के सामने नहीं आना चाहता छिपा रहना चाहता है। प्रतापभनु से पराजित हो कपटी तपस्वी राज्य आदि के छिन जाने से बड़ी ग्लानि से युक्त हुआ। वह न घर गया और न प्रतापभानु से मिला वह वन में तपस्वी के वेश में छिपकर रहने लगा।[1295]

अनजाने में प्रिय श्रद्धेय के प्रति हुए अपराध से व्यक्ति को जो ग्लानि होती है उससे व्यक्ति व्याकुल हो तरह–तरह से अपने को धिक्कारने लगता है, दोष देने लगता है और फिर अपने को निर्दोष साबित करने का प्रयास भी करने लगता है। भरत राम वनगमन् में स्वयं को कारण जान बहुत ही संकोच से युक्त हो कोसल्या से कहने लगे कि तीनों लोंको में मेरे समान अभागा कौन है– मुझे धिक्कार है! मैं बाँस के वन में आग उत्पन्न हुआ और कठिन दाह, दुःख और दोषों का भागी बना। फिर वे आगे अपने को निर्दोष बताने के लिए कहते हैं कि– ,कर्म, वचन और मन से होने वाले जितने पातक एवं उपपातक हैं, हे विधाता! यदि इस काम में मेरा मत हो, तो हे भाता! वे सब पाप मुझे लगें.....।[1296] इस प्रकार की ग्लानि में व्यक्ति प्रिय श्रद्धेय के सम्मुख जाकर अपनी सम्पूर्ण दीनता व्यक्त करना चाहता है। वह अपनी ग्लानि को किसी दूसरे उपाय से दूर होता नहीं देखता। भरत कहते हैं– राम के चरणों के दर्शन किये बिना मेरे जी की जलन नहीं जायेगी। मुझे दूसरा कोई उपाय नहीं सूझता।[1297]

प्रेम की तीव्रता के कारण व्यक्ति संकोच के वश हो उसी के अनुसार चलने लगता है। राम इसी प्रकार के संकोच के वश रहते हैं जिससे वे अपने भक्त की हर इच्छा पूरी कर देते हैं यहाँ तक कि वे अपनी सीमा से परे काम भी कर डालते हैं।[1298] बड़ों के संकोच में व्यक्ति अपने हृदय की बात नहीं कर पाता। या फिर अपनी बात संकेत में कहता है। भरत राम के संकोच में अपनी इच्छा व्यक्त नहीं कर पा रहे हैं। रम भी सबके जाने का अच्छा दिन समझ कर संकोच के वश हो जाने के लिए नहीं कहते वे दृष्टि फेरकर पृथ्वी की ओर ताकने लगते हैं।[1299]

भय और लज्जा के कारण व्यक्ति अहितकर कार्य नहीं करता है लेकिन जिसमें ये संवेग नहीं होते उसे कुछ भी करने में संकोच और हिचक नहीं होती।[1300] प्रिय के अनुचित कथन से (यदि वह हमारे आत्मीय के लिए कहा गया है) जो संकोच होता है उसमें हम प्रिय को ऐसा कहने से मना करने लगते हैं। लक्ष्मण ने सुमंत्र से दशरथ के लिए कुछ कटु शब्द कहे, यह देख राम ने लक्ष्मण को मना किया और साथ ही सुमंत्र से भी मना किया कि वे दशरथ से ये बातें न कहें।[1301] कभी–कभी व्यक्ति प्रेम के कारण संकोच में अपने निर्णय को भी बदल देता है।[1302] लज्जाशील व्यक्ति अपने गुणों का वर्णन स्वयं कभी नहीं करता निलज्ज ही करता है।[1303]

स्त्री को यदि प्रियतम् सम्बन्धी बात बताने के लिए विवश होना पड़े तो वह लज्जा के कारण मुख को आँचल से ढककर भौहे टेढ़ी करके नेत्रों को तिरछा करके इशारे से बताती है। गाँव की स्त्रियों द्वारा राम का परिचय पूछने पर सीता में लज्ज इसी तरह व्यक्त हुई।[1304] संकोच में व्यक्ति कष्ट भी सहता है।[1305]

किसी कार्य से लज्जित होने पर व्यक्ति का सिर नीचा हो जाता है।[1306] सुख प्राप्ति का अवसर यदि हम असमर्थ होने के कारण चूक जायें तो हम हाथ मल–मल कर, सिर धुन–धुन कर पछताने लगते हैं।[1307] लज्जित होने पर व्यक्ति श्री हीन हो जाता है।[1308] ग्लानि से व्यक्ति गलने लगता है,[1309] मन धसने लगता है,[1310] और पश्चाताप की अग्नि से हृदय जलने लगता है।[1311] अति ग्लानि में व्यक्ति के प्राण भी निकल जाते हैं।[1312] पश्चाताप से प्रेरित होकर व्यक्ति कभी–कभी अच्छे काम का भी संकल्प लेता है।[1313] प्रतिष्ठा जाने पर लज्जित होना पड़ेगा कभी–कभी इस भावना से भी व्यक्ति प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए कार्य करता है।[1314] यदि किसी में हमारी तुलना से अधिक गुण विद्यमान है तो हम हीनता बोध और तुलना के कारण उसके सामने नहीं जाते लेकिन यदि हमें उसके उस गुण का सुख लेने की इच्छा है तो हम वह लेंगे तो अवश्य लेकिन ऐसे लेंगे जिससे किसी को हमारी उपस्थिति का बोध न हो पाये। कामदेव और रति दूल्हे राम और दुल्हिन सीता के सौन्दर्य को देख लज्जित हो बार–बार छिप–छिप कर देख रहे हैं।[1315]

तुलसी ने लज्जा/संकोच के सम्बन्ध में कुछ स्वभावों की भी चर्चा की। सात्विक प्रकृति वाला व्यक्ति चाहे जितना उपकार करें, चाहें जितनी सम्पत्ति दान में दे दे, उसे सदैव संकोच रहता है कि हम इसे कुछ दे न पाये। राम को ऐसा ही संकोच हुआ कि हमने विभीषण को राज्य आदि सम्पत्ति देकर भी कुछ नहीं दिया।[1316] मनस्वी व्यक्ति अपने स्वरूप का बखान सुन संकोच से भर जाता है।[1317] कृतज्ञ व्यक्ति थोड़ी भी सेवा करने पर संकोच से भर जाता है।[1318] शीलवान् व्यक्ति का स्वभाव जहाँ सदैव संकोच के वश रहने का होता है[1319] वही निकम्में व्यक्ति सदैव लज्जा से रहित रहते हैं।[1320] अभिमानी ढींग हाँकने में लज्जा का अनुभव नहीं करता।[1321] दुर्गुणों के स्थाई और सहज होने पर निन्दा से भी व्यक्ति को संकोच नहीं होता।[1322] जिसे किसी से सामाजिक व्यवहार नहीं करना है उसे समाज का भी संकोच नहीं होता।[1323] जो मर्यादा का त्याग किये होता है वह लज्जा का भी त्याग किये होता है।[1324] शोक में अति व्याकुल हो जाने पर व्यक्ति को लज्जा नहीं रहती।[1325]

लज्जा/संकोच संवेग का अच्छा बुरा होना उद्दीपन पर निर्भर है। यदि व्यक्ति को किसी अच्छे/वांछित कार्य को करने में लज्जा या संकोच हो रहा है तो उसकी लज्जा निरर्थक है और यदि बुरे कार्य के कारण वह लज्जा और संकोच करता है तो उसकी लज्जा सराहनीय है। विनम्रता के कारण उत्पन्न लज्जा तो वांछित होती ही है लेकिन इसकी जब अति हो जाती है तो फिर यह कष्टदायक भी हो जाती है। पछतावा और ग्लानि भी जब अपने दोषों के अनुभव के कारण होता है तब तो वह उसके लिए कल्याणकारी सिद्ध होता है और यदि वह अहं की पूर्ति न होने के कारण उत्पन्न है तो ऐसी ग्लानि अच्छी ग्लानि नहीं मानी जा सकती।

इस प्रकार व्यक्ति के जीवन में जहाँ एक ओर लज्जा आवश्यक है वही दूसरी ओर सुखमय जीवन बिताने के लिए उसका भरपूर आनन्द लेने के लिए उसका त्याग भी आवश्यक है। क्योंकि लज्जा त्याग कर ही व्यक्ति प्रत्येक कार्य मर्यादा हीन कार्य भी उत्साह से कर पाता है,[1326] अपने मन की पूरी बात कह पाता है,[1327] किसी को भी आज्ञा दे पाता है[1328] और किसी भी प्रकार की अपनी इच्छा की पूर्ति में प्रवृत्त हो पाता है।

मानव जीवन में लज्जा/संकोच का यह महत्व होने के कारण ही इसे दूर करने का प्रयास किया जाता है। यदि हमारा प्रिय अपने किसी का पश्चाताप करता अत्यधिक ग्लानि से युक्त है तो ऐसी अवस्था में हम प्रिय के दोष को काल, कर्म और विधाता के सिर मढ़कर सान्त्वना देकर उसकी ग्लानि को दूर करने का प्रयास करते हैं। चित्रकूट में राम ने कैकयी की ग्लानि इसी प्रकार दूर की।[1329] यदि हमारा आत्मीय हमारे कारण संकोच के वश हैं तो उसके संकोच को लि भेंटकर दूर करने का प्रयास किया जाता है। राम ने कैकेयी से मिल भेंटकर उसकी ग्लानि दूर की।[1330] कभी-कभी ऐसा होता है कि हमारे मन में किसी गम्भीर अपराध के कारण ग्लानि है लेकिन ग्लानि की अवस्था में ही किसी कारण से हमारे मन में हर्ष

की लहर दौड़ जाये और हम किसी उत्सव आदि में सम्मिलित होकर अपने दुःख को भुलाना चाहें तो उस समय कुछ देर के लिए हम ग्लानि संवेग से मुक्त हो जाते हैं और ग्लानि हल्के संकोच में बदल जाती है। ऐसे स्थलों पर हर्ष के कारण प्रेम का भी संचार हो जाता है लेकिन पूर्व अपराध का स्मरण भय की स्थिति भी बनी रहती है। सती में दक्ष यज्ञ में जाने की इच्छा से हर्ष का संचार हुआ और शिव से प्रेम, भय और संकोच से युक्त हो उन्होंने मनोहर वाणी से जाने की आज्ञा मांगी।[1331] प्रेम उमड़ने पर लज्जा नहीं रहती है।[1332] ग्लानि से मुक्ति पाने के लिए व्यक्ति ईश्वर की भी शरण में जाता है। ध्रुव ने ग्लानि से हृदय बिध जाने से दुखी होकर भगवान के नाम को जपा।[1333] कार्य न होने से जीवन निरर्थक है इससे उत्पन्न पश्चाताप कार्य होने की सूचना मिलते ही समाप्त हो जाता है।[1334] कृतज्ञ और सर्वज्ञ स्वामी की शरण में आने पर व्यक्ति ग्लानि से रहित हो जाता है।[1335] पाप और ताप को दूर करने वाली बहुत सी सरस और पुरानी कथायें कहकर ग्लानि दूर की जाती है।[1336] यदि कोई दुष्ट हमें तरह–तरह से प्रताड़ित करे और हम उसका कुछ न बिगाड़ जायें तो ऐसी अवस्था में उत्पन्न ग्लानि उस समय दूर हो जाती है जब हमें किसी सामर्थ्यवान् का आश्रय मिल जाता है।[1337]

स्वाभिमानी व्यक्ति प्रण की मार्यादा और प्रतिष्ठा के लिए प्राण भी त्याग देते हैं। कभी–कभी वे ऐसा दूसरों की प्रतिज्ञा और प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए करते हैं यदि वे ऐसा न करें तो शायद उनके श्रद्धेय व्यक्तियों को प्रतिज्ञा पूरा न कर पाने के कारण लज्जित होना पड़े। इससे निष्कर्ष निकला कि व्यक्ति लज्जित न होना पड़े इसके लिए पहले से ही उपाय करता है।[1338] जो समर्थ होता है वह अपनी शरण में आये को उ स्थिति से बचाता है जिस स्थिति में जाने से उसे लज्जित होना पड़ सकता है।[1339] किसी बड़ी सभा या समाज में शौर्य प्रदर्शन करके महान यश प्राप्त करने कोई आये और उसमें वह सफल न हो सके तो उसकी मान, मर्यादा, लज्जा सब समाप्त हो जाती है। लेकिन यहाँ पर तुलसी ने लज्जा का प्रयोग प्रतिष्ठा के अर्थ में किया है।[1340] जिस पश्चाताप को व्यक्ति प्रकट नहीं कर सकता और न जिसके कारण समाज ही उसे धिक्कार सकता है। ऐसा मन में घुमड़ने वाला पश्चाताप मृत्यु भी नहीं मिटा सकती।[1341] तुलसी लज्जा को प्रतिष्ठा अर्थ में लेकर अनेक मनोवैज्ञानिक तथ्य उजागर किये हैं। उदार और करुणावान् व्यक्ति सबकी लाज रखने का प्रयास करते हैं।[1342] उन्मत्त और कुबुद्धि से ग्रस्त रहने पर व्यक्ति समाज और शांस्त्र दोनों की लज्जा अर्थात् मर्यादा को भूल जाता है।[1343] जिस पर कृपा होती है उसकी लज्जा और मर्यादा की रक्षा व्यक्ति स्वयं करता है।[1344] .

संकोच और विनय शिष्टाचार के एक आवश्यक अंग है।[1345] संकोच शील का पर्याय है।[1346] संकोच में भय भी शामिल रहात है।[1347] समय बीत जाने पर व्यक्ति पछताता है लेकिन उस पछताने में कोई लाभ नहीं होता।[1348] पछताने में यदि अपराध कम होता हो और हृदय पर दुःख घटता

हो तो पश्चाताप की साथकता है और यदि पछताने से अपराध का मार्जन न होता हो बल्कि ऐसा लगे कि प्रिय को दुःख देने में मै ही कारणीभूत हूँ तो स्वयं को अपना पछताना व्यर्थ लगने लगता है।[1349]

लज्जित होना या जिसके कारण लज्जित होना पड़े, वह कार्य उचित नहीं होता।[1350] भक्त अपने आराध्य से कोई ऐसी बात नहीं मनवाना चाहता जिसके मानने में उसे संकोच हो।[1351]

कभी–कभी अपराध इतना बड़ा और भंयकर होता है बल्कि अपराध ऐसा होता है जिसके मार्जन का कोई मार्ग नहीं सूझता है और जिसका अपराध हमसे बन पड़ा है वह हमें दण्ड देना तो दूर हमसे कुछ कहता भी नहीं सिर्फ हमें हमारी इच्छा पर छोड़ देता है और सारे सम्बन्ध तोड़ लेता है। उस दशा में अपराध से उत्पन्न शोक इतना तीव्र होता है कि प्राण छोड़ देने की इच्छा होती है। शिव द्वारा त्यागे जाने पर सती के मन की यही अवस्था थी। सती इस ग्लानि को व्यक्त भी नही कर पा रहीं हैं। कभी–कभी जिस कारण से ग्लानि होती है उसे कह देने पर भी हृदय को संतोष मिलता है।[1352]

विवाह के अवसर पर स्त्री में वाह्य रूप से तो संकोच दिखायी पड़ता है लेकिन उसके मन मे परम उत्साह रहता है।[1353] जिस व्यक्ति में मर्यादाबोध, गुरुजनों का भय जितना अधिक होगा, वह हृदय की बात प्रकट करने में उतना ही अधिक सकुचायेगा।[1354]

कभे–कभी जो हमारा अपमान करके बहुत दुःख पहुँचाता है यही नहीं जिस पर हमारी विशेष श्रद्धा और प्रेम होता है उसका भी अपमान करता है उस अपमान जनित दुःख को न सह पाने के कारण हम क्रोध से अभिभूत हो जाते हैं किन्तु जिससे बदला लेना है वह हमारा आत्मीय है, जिसका अपमान हुआ है, जो श्रद्धेय है उसके प्रति हम पहले ही गम्भीर अपराध कर चुके हैं जिससे उत्पन्न ग्लानि जनित शोक से हमारा हृदय पहले ही जला जा रहा है। अगर हम इस स्थान पर न आते तो उसका अपमान न होता। समारोह में शामिल न होने के कारण अपमान जनित अपराध हमसे और बन गया ऐसी अवस्था में जिसने अपमान किया है उससे हम यह कहकर कि आपने जो कुछ किया है उसके लिए आपको बाद में पछताना पड़ेगा हम अपने आपको दण्ड देते है और यह दण्ड कभी--कभी स्वयं मृत्यु का वरण होती है।[1355]

स्वामी का कार्य पूरा हो फिर मुझे चाहे लज्जित ही क्यों न होना पड़े लेकिन सच्चे सेवक को स्वामी के लिए लज्जित होने में कोई भय नहीं होता।[1356]

तुलसी ने ग्लानि शब्द मानसिक परिताप, अनुताप, मनस्ताप, मानसिक दुःख के अर्थ में भी किया है। उनका मानना है कि कलि के कालुष्य से जो मानसिक दुख अर्थात् ग्लानि उत्पन्न होती है

उसे रामचरित मानस सरोवर का जल दूर का देता है यहाँ ग्लानि का अर्थ शिथिलता भी है। ग्लानि शब्द का प्रयोग अपनी कमी के कारण उत्पन्न दुख के लिए प्रयुक्त किया है। अपमान या परिताप के पीछे कोई न कोई कमी या हीनता है। ध्रुव में इसी प्रकार की हीनता थी मै सुरुचि का पुत्र क्यों नही हुआ इसी के कारण आज मेरा अपमान किया गया।[1357]

तुलसी ने कहीं–कहीं सकुचे शब्द का प्रयोग मुरझाने के अर्थ में किया है, कभी–कभी विपरीत परिस्थिति की आशंका से व्यक्ति का मन मुरझा जाता है।[1358]

'अतिशय देखि धर्म कै ग्लानी' यहाँ ग्लानि का प्रयोग धर्म की शोचनीय अवस्था अथवा उसकी हानि से है। यहाँ ग्लानि का अर्थ संवेग वाली ग्लानि नहीं है। गीता में भी इसका प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है–

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। 4/7 श्रीमद् भगवत् गीता

ईर्ष्या :–

ईर्ष्या विवशता से होती है। जब व्यक्ति दूसरे की तुलना में अपने में कोई कमी देखता है और उस कमी को दूर नहीं कर पाता तब उसमें ईर्ष्या उत्पन्न होती है। ईर्ष्या का कारण कभी–कभी हीन–भावना भी होता है।

रामचन्द्र वर्म्मा इसे दूषित प्रवृत्ति या मनोभाव मानते हैं क्योंकि इसके कारण व्यक्ति दूसरे की अच्छी दशा सहन नहीं कर पाता है। इसी का मिलता–जुलता भाव "द्वेष" है जिसके बारे में वर्म्मा जी कहते हैं- द्वेष में व्यक्ति अपने प्रतिद्वन्द्वी से घृणा करने लगता है। "मत्सर" में स्वार्थभावना की प्रधानता होती है और यह भाव अधिक समय तक चलता रहता है।[1359] मानक हिन्दी कोश में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है– "किसी को अपने से अधिक उन्नत, सम्पन्न या सुखी देखकर मन में होने वाला वह कष्ट या जलन जिसके साथ उस व्यक्ति का वैभव, सुख आदि से वंचित करके स्वयं उसका स्थान लेने की अभिलाषा लगी रहती है।[1360] बृहत हिन्दी कोश में भी इसका यही अर्थ दिया गया है।[1361] भारतीय काव्य शास्त्र में इसका विवेचन "असूया" नाम के संचारी भाव के रूप में किया गया है– दूसरे की विशेषकर सपत्नी के सुख वैभव से ईर्ष्या को असूया कहते हैं।[1362] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ईर्ष्या के बारे में लिखते हैं कि दूसरे के सुध या भलाई को देखकर एक प्रकार का जो दुःख होता है उसे ईर्ष्या कहते हैं। ईर्ष्या प्राप्ति की उत्तेजित इच्छा नहीं है। ईर्ष्या व्यक्ति विशेष से होती है।[1363] निरोगधाम में ईर्ष्या को हीनता, कायरता, विवशता और संकीर्णता की भावना के मिश्रण से उत्पन्न माना गया है।[1364]

फ्रांसीसी मनोवैज्ञानिक रिबो ईर्ष्या को मुख्यतः दो भावों का मिश्रित रूप मानते हैं– किसी

प्राप्त इथवा अप्राप्त वस्तु के प्रति सुखद आकर्षण या प्रेम एवं उसकी अप्राप्ति या उससे वंचित होने का अवसादक– संताप। इससे विभिन्न स्तरों पर क्रोध एवं घृणा आदि की विनाशकारी वृत्तियाँ जाग्रत होती हैं।[1365] विलियम मैक्डूगल असूया और ईर्ष्या में कुछ भेद करते हुए असूया को आत्मलघुता एवं क्रोध का मिश्रित भाव मानते हैं। ईर्ष्या उनके अनुसार किसी सुसंगठित स्थायीभाव पर आधारित मिश्रित भाव है।[1366]

तुलसी भी ईर्ष्या को दूसरों के सुख से उत्पन्न दु:ख के रूप में देखते हैं। हम कोई सुन्दर रचना देखें और उसी के अनुरूप स्वयं भी बनाने का प्रयास करें लेकिन सफल न हो पायें तो हम उस सुन्दर रचना के रचयिता से ईर्ष्या करने लगते हैं।[1367] जो सुख हमारे आत्मीय को मिल सकता है वह सुख किसी दूसरे को मिलने की तैयारी देख हमारा हृदय ईर्ष्या से जल उठता है। जब कैकेयी ने राम के राज्याभिषेक, नगर की सजावट, कौसल्या राम को मिलने वाले सुख तथा अपने और भरत के भावी संकट की बात सुनी तो उसके हृदय में भावी संकट की आशंका से पहले भय हुआ फिर उनका सुख देख ईर्ष्या उत्पन्न हुई। यही ईर्ष्या कैकेयी में दूसरी उस समय व्यक्त हुई जब दशरथ कोपभवन में उसके क्रोध का कारण पूछते हैं और कहते हैं अब तो तुम्हारा मन चाहा हो गया। नगर, घर–घर में आनन्द उत्सव होने लगा है। कल राम का राज्याभिषेक किया जा रहा है। तुम भी मंगल वस्त्र पहनो यह सुनकर उसका कठोर हृदय ईर्ष्या के कारण फट गया लेकिन उस पीड़ा को भी उसने हँसकर छिपा लिया।[1368] दूसरों की सहज सम्पत्ति देखकर द्वेष उत्पन्न होता है।[1369] हमारे द्वारा तिरस्कृत व्यक्ति को सामर्थ्यवान् का आश्रय मिल जाने पर हमारा हृदय ईर्ष्या से जलने लगता है। विभीषण को राम की शरण पाते देख रावण ईर्ष्या से जल उठा।[1370]

तुलसी कहते हैं कि ईर्ष्या समय के दुष्प्रभाव से उत्पन्न होती है।[1371] ममता के कारण भी द्वेष प्रभावशाली हो जाता है।[1372]

ईर्ष्या से मन में बहुत जलन हो और दाह होती है, हृदय दलक उठता है और बहुत अधिक संताप होता है।[1373] ईर्ष्या बुद्धि को ग्रस लेती है।[1374] ईर्ष्या के कारण व्यक्ति को सद्‌वृत्तियाँ अच्छी नहीं लगतीं इसीलिए वह सद्‌वृत्तियों का आदर नहीं कर पाता।[1375] भत्सर के कारण ज्ञान नहीं उत्पन्न होता।[1376] ईर्ष्या के कारण व्यक्ति कपट करता है और दूसरों का नुकसान और अपना लाभ करने का प्रयास करता है।[1377] ईर्ष्या के कारण लोगों के अकल्याण की कामना की जाने लगती है। ईर्ष्या विरोध बढ़ाती है।[1378] ईर्ष्या में दूसरे का सुख छीन लेने की इच्छा होने लगती है।[1379] ईर्ष्या के कारण कठोरता और लालच आ जाता है।[1380] ईर्ष्या के कारण व्यक्ति अकारण क्रोध भी करने लगता है। स्वयंवर में राम की सफलता देख राजा लोग क्रोध में भरकर कहने लगे सीता को छीन लो और दोनों राजकुमारों को पकड़कर बाँध लो।[1381] जिस वस्तु से हमें ईर्ष्या होती है उस वस्तु को हम लोगों की आँखों से बचाकर रखना

चाहते हैं जिससे लोग उससे हमारी या हमारे कार्य की उससे, तुलना न कर सकें।[1382] ईर्ष्या के कारण व्यक्ति वस्तु के सौन्दर्य का अवलोकन नहीं कर पाता।[1383] उसका समभाव चला जाता है।[1384]

ईर्ष्या में व्यक्ति दूसरे का काम बिगाड़ने के लिए जिस व्यक्ति का सहयोग लेना चाहता है उसमें ईर्ष्या उत्पन्न करने का प्रयास करता है।[1385] ईर्ष्या को छिपाने का प्रयास किया जाता है। यह केवल उसी के सामने व्यक्त की जाती है जो हमारे समान ही ईर्ष्यालू हो।[1386]

तुलसी ने ईर्ष्या/मत्सर/द्वेष आदि को दुष्ट संवेग माने हैं।[1387] क्योंकि ये हर उत्तम कार्य में बाधा पहुँचाते हैं।[1388] और व्यक्ति को बहुत कष्ट देते हैं।[1389] मत्सर के होते हुए किसी के प्रति श्रद्धा/भक्ति नहीं जाग सकती।[1390] ईर्ष्या का त्याग करके ही व्यक्ति किसी के प्रति समर्पण कर सकता है,[1391] उससे प्रेम कर सकता है।[1392] द्वेष रहित होने पर ही व्यक्ति किसी से मिलने जा पाता है।[1393] ईर्ष्या अनर्थकारी संवेग है।[1394] यह व्यक्ति को कलंकित कर देता है।[1395] सद्‌बुद्धि वाले व्यक्ति से ईर्ष्या करने पर व्यक्ति करोड़ों युगों तक कौख नरक में पड़े रहते हैं।[1396]

तुलसी बताते हैं कि प्रभू से लगाव होने पर प्रभू की कृपा होने पर ईर्ष्या/मत्सर दूर हो जाता है।[1397]

क्षोभ :–

"क्षोभ" का अर्थ है किसी आघात से मन का बैचैन हो जाना; अशान्त और हलचल युक्त हो जाना। "मानक हिन्दी कोश" में इसे शान्ति, स्थिरता आदि में पड़ने वाली बाधा कहा गया है। कोई आपत्तिजनक बात या व्यवहार होने पर मन में होने वाली दुख जन्य विकलता क्षोभ होता है।[1398] बृहत् हिन्दी कोश में इस हलचल, खलबली, व्याकुलता और रोष कहा गया है।[1399]

भारतीय तथा पाश्चात्य मनोविज्ञान में क्षोभ का स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता है। तुलसी ने क्षोभ को उपर्युक्त अर्थ में ही लिया है और दुःख मिश्रित क्रोध के रूप में भी लिया है।[1400]

तुलसी कहते हैं कि अलौकिक सौन्दर्य का प्रभाव मन को धक्का देकर क्षुब्ध कर देता है। सीता की अलौलिक सुन्दरता देख राम की मन क्षुब्ध हो गया।[1395] जिस कार्य से दूसरे को लाभ हो और स्वयं को हानि की सम्भावना हो तो ऐसे कार्य को देखकर मन क्षुब्ध हो जाता है। राम के युवराज के उत्सव से मन्थरा के मन में इसीकारण क्षोभ हुआ।[1402] कोई हमारे आत्मीय के साथ अनुचित व्यवहार करे तो उसे प्रति हमारा मन क्षुब्ध हो जाता है।[1403]

हमारे मन में कोई इच्छा बड़ी बलवती है लेकिन पूर्ति का अवसर नहीं है तो ऐसी अवस्था में हमारे हृदय में बड़ी खलबली होने लगती है। शंकर जी राम दर्शन करना चाहते थे लेकिन भेद खुल न जाये इस डर से दर्शन नहीं कर पा रहे। लेकिन दर्शन की तीव्र इच्छा के कारण उनके हृदय में बड़ी खलबली मच गयी वे क्षुब्ध हो गये।[1404] इच्छित वस्तु की प्राप्ति असम्भव जानकर मन क्षुब्ध हो जाता है। राम के प्रति आकर्षित होने पर सीता पिता के प्रण को सोच क्षुब्ध हो गयी।[1405] किसी से हम कोई आशा करें और वह समय आने पर हमारी आशाओं पर पानी फेर दे तो ऐसी अवस्था में हम क्षोभ से युक्त हो जाते हैं। कौसल्या ने सीता से बहुत आशा की थी। लेकिन सीता के वन जाने के लिए तैयार होने से उनकी आधा धूमिल हो गयी और मन क्षुब्ध हो गया।[1406] यदि हम श्रद्धेय को अपने कारण कष्ट झेलते देखें तो मन में भारी क्षोभ उत्पन्न होता है। इन्द्र युद्ध स्थल में राम को रथरहित देख क्षुब्ध हो उठे।[1407] मन के विरुद्ध कुछ करने की सम्भावना मात्र से मन क्षुब्ध हो जाता है।[1408]

जिसके प्रति मन में शत्रुता या ईर्ष्या का भाव होता है उसके उत्कर्ष के सम्वन्ध में अगर कोई उत्सव हो रहा हो तो उसे दखकर हमारा मन क्षोभ अर्थात् अशान्ति क्रोध और द्वेष से भर जाता है।[1409] एकाएक तीव्र वेग से कोई वस्तु निकले अथवा अन्धड़ चले तो उसके प्रभाव से मन क्षुब्ध हो जाता है।[1410] अत्यन्त भयंकर और भारी वस्तु जब गिरती है तो गम्भीर समुद्र भी क्षुब्ध हो जाता है।[1411]

क्षोभ ईर्ष्या के कारण भी उत्पन्न होता है। काम, क्रोध और लोभ से मन पलभर में क्षुब्ध हो जाता है।[1412]

प्रतयेक संवेग का मूल कारण मन का क्षुब्ध होना है इसलिए मन के क्षुब्ध होने पर व्यक्ति में तुरन्त काम, क्रोध आदि संवेग जाग्रत हो जाते हैं।[1413] क्षोभ वैराग्य और शान्ति को नष्ट कर देता है।[1414] क्षोभ व्यक्ति के ध्यान को भंग कर देता है और दूसरी ओर प्रेरित कर देता है।[1415]

स्वामी के प्रतिकूल होने की आशंका से क्षुब्ध मन स्वामी का स्नेह देखकर क्षोभ रहित हो जाता है।[1416] क्षोभरहित हृदय में ही भगवत् चेतना का वास होता है।[1417] मन की क्षुब्ध स्थिति से व्यक्ति बचना चाहता है।[1418] विशेष शक्ति या गति के कारण वातावरण में भी क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। बोध के प्रकाश से क्षोभ स्वतः ही नष्ट हो जाता है।[1419]

चपलता :-

"चपलता" अथवा "चंचलता" भी एक मानसिक अवस्था है। इस अवस्था में चित्त स्थिर नहीं रह पाता बड़ा ही चंचल हो जाता है। यह स्थिति अनुराग आदि संवेग के प्रभाव से भी हो सकती है।

बालकों में तो सहज चपलता रहती है। 'मानक हिन्दी कोश' में इसे चपल होने की अवस्था या भाव बताया गया है। साहित्य में यह वह अवस्था है जब किसी प्रकार के अनुराग के कारण आचरण की गम्भीरता था अपनी मर्यादा का ध्यान नहीं रह जाता।[1420] "बृहत् हिन्दी कोश" में इसका अर्थ अस्थिरता तेजी, जल्दबाजी दिया है। [1421] भारतीय काव्य शास्त्र में चपलता का विवेचन संचारी भाव के रूप में किया गया है। "रस भीमांसा" में पं0 रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं राग, द्वेष, हास्य आदि की प्रेरणा से उत्पन्न वह मानसिक अस्थिरता चपलता कहलाती है जिसके अनुसार लोग अनेक प्रकार की ऐसी चेष्टाएँ प्रदर्शित करते हैं जो नियमित प्रयत्न की दशा को नहीं पहुँचती। जैसे नायक को देखकर नायिका का बिना प्रयोजन इधर--उधर कर लगना, किसी को खोदकर या चपत लगाकर भागना इत्यादि। ....जिससे घृणा या द्वेष हो उसे देखकर भला–बुरा या अप्रिय वचन कहने लगना भी चपलता ही है। लेकिन यह सब चपलता तभी तक कही जायेगी जब तक उगता प्रकट न होगी।[1422] तुलसी ने चपलता नामक भाव को भी कई स्थानों पर उभारा है। जब व्यक्ति में कोई चाह बड़ी तीव्र होती है तो वह उसकी पूर्ति के लिए ढिठाई करने लगता है चाहे वह कार्य उसकी सामर्थ्य से बारह क्यों न हो। तुलसी कहते हैं कि मेरी बुद्धि तो अत्यन्त नीची है और चाह बड़ी ऊँची। मैं श्री राम के गुणों का वर्णन करना चाहता है। राम का चरित्र अथाह है और मेरे मन और बुद्धि कंगाल है। सज्जन मेरी ढिठाई को क्षमा करेंगे।[1423] मोह, संदेह और भारी अज्ञान के कारण व्यक्ति का चित्त चंचल हो जाता है और वह इस चंचलता के कारण अनुचित कृत्य भी कर डालता है। सती में मोह के कारण ऐसी चपलता आ गयी कि वे शिव के कहने से राम की परीक्षा लेने चल दी। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि चपलता किसी को जानने के सम्बन्ध में उत्पन्न होती है।[1424] रुचकर वस्तु पाने की तीव्र इच्छा के कारण व्यक्ति चपल हो जाता है। नारद जी ने जैसे ही विश्वमोहिनी को देखा उनका चित्त चंचल हो गया।[1425] विनोदी व्यक्ति का चित्त जरा सी मनोरंजक वस्तु को देखकर चंचल हो जाता है। शिवगण नारद को वानर मुख धारण कर देख अपनी चपलता व्यक्त करने लगे।[1426] बालकों में स्वाभाविक चपलता होती ही है इसी कारण बालक राम में बहुत चपलता दिखाते हैं। दशरथ जी जब उन्हें खाने के लिए बुलाते हैं तब वे अपने बालसखाओं को छोड़कर नहीं आते।[1427] किसी को अनावश्यक अत्यधिक क्रोध की अभिव्यक्ति करते देख हम चपलता पूर्वक उसके प्रति अनेक व्यंग्य करने लगते हैं। परशुराम के क्रोध को देखकर लक्ष्मण चंचल हो गये और वे उनकी हँसी करने लगे।[1428] चरमसीमा पर पहुँचे प्रेम में भी व्यक्ति का चित्त चंचल हो उठता है उसे यह ध्यान नहीं रहता कि वह क्या कर रहा है। सतीक्ष्ण को जब यह मालूम हुआ कि राम आने वाले हैं तो वे प्रेम के वश हो कभी पीछे घूमकर चलने लगते काभी आगे चलने लगते और कभी गा–गाकर नाचने लगते।[1429]

चित्त की यह चंचलता अनेक प्रकार से व्यक्त होती दिखती है। चपलता के कारण व्यक्ति ठिठाई करने लगता है और बच्चों जैसे वचन बोलने लगता है।[1430] चपलता की अवस्था में बुद्धि ठीक तरह

से काम नहीं करती जिससे व्यक्ति अनुचित कृत्य भी कर डालता है। मोह के कारण चंचल हुई सती की ऐसी ही अवस्था थी। वे राम की परीक्षा लेने गयीं और भयंकर दु:ख के वश हो गयी।[1431] इच्छित वस्तु प्राप्त करने की चपलता में व्यक्ति उस वस्तु को प्राप्त करने के उपाय को सोचने में तत्पर हो जाता है और जैसे ही उसे कोई उपाय समझ में आता है वह तुरन्त उसे करने लगता है। विश्वमोहनी को प्राप्त करने की इच्छा से नारद ने इसी प्रकार की चपलता दिखायी वे भगवान के पास उनका रूप मांगने गये जिससे विश्वमोहिनी उन्हीं के गले में वरमाला डाल दे।[143] मनोरंजक व्यक्ति या वस्तु को देख उत्पन्न चपलता में व्यक्ति व्यंग्य करने लगता है। अनेक प्रकार की अटपटी बातें करता है और बहुत प्रसन्न हो होकर हँसता है।[1433] बालक चंचलता के कारण बुलाने पर भाग जाता है।[1434] प्रेम के कारण चंचल हुआ व्यक्ति कभी–कभी इधर–उधर दौड़ने लगता है और कभी प्रिय के गुण गा–गाकर नाचने लगता है। सुतीक्षण की राम प्रेम में यही दशा थी।[1435]

तुलसी बताते हैं कि जो व्यक्ति स्वभाव से चपल होता है वही व्यक्ति तरह–तरह की हरकतें करता है और नाच नाचता है इसलिए यदि मनोरंजन के लिए नाच आदि देखना हो तो चंचल प्रकृति वाले व्यक्ति से ही नाचने के लिए कहना चाहिए। राम विवाह के अवसर पर चंचल घोड़ों को खूब नचाया जा रहा है।[1436] चपलता वश व्यक्ति कभी प्रकट होता है और कभी छिप जाता है।[1437] तुलसी का विचार है कि स्त्री में चञ्चलता अवश्य ही होती है।[1438] चंचलता व्यक्ति की चाल से बहुत व्यक्त होती है। चंचल व्यक्ति बड़ा ही तेज चलता है वह धरती पर पैर रखता हुआ ऐसा मालूम देता है मानों जलते हुए लोहे पर उसने पैर रखा हो अर्थात् वह जैसे ही पैर धरती में रखता वैसे ही वह उसे उठा कर उसे दूसरे स्थान पर रख देता है।[1439] बन्दरों में बहुत चंचलता होती है। चंचलता व्यक्ति को सब प्रकार से हीन कर देती है।[1440] किसी–किसी की चंचलता उसका गुण हो जाती है। घोड़े यदि चंचल न हो सुस्त हो तो वे किसी काम के नहीं रहते क्योंकि घोड़ों को व्यक्ति उसकी तेज चाल को देखकर ही स्वीकार करता है।[1441] चंचलता में व्यक्ति अनेक भूल कर जाता है।[1442] चंचलता का कारण व्यक्ति का अज्ञान होता है इसीलिए बालकपन में चित्त में चौगुनी चंचलता होती है। चंचलता में व्यक्ति अपने मन के वश रहता है उसे जो अच्छा लगता है वह वही करता है और प्रसन्न रहता है। बालक चंचलता के कारण खेलता और खाता–फिरता है और प्रसन्न रहता है।[1443]

जड़ता :–

"जड़ता" संज्ञाहीन होने की अवस्था का नाम है। मानक हिन्दी कोश में इसे निर्जीव, अचेतन या मूर्ख होने की अवस्था, गुण या भाव कहा गया है। साहित्य में यह ऐसी अवस्था का सूचक है जिसमें मनुष्य आश्चर्य या भय के कारण इतना अधिक स्तब्ध हो जाता है कि उसे अपने कर्तव्य की भी सुध नहीं रहती।[1444] बृहत हिन्दी कोश में भी इसे स्तब्धता या चेष्टाहीनता का द्योतक माना गया है जो प्रिय व्यक्ति

से वियोग होने या घबराहट आदि की स्थिति में नायक या नायिका में परिलक्षित होती है।[1445] भारतीय काव्य शास्त्र में संचारी भाव के रूप में इसका विवेचन है। किसी भाव के उद्रेक से अंत:करण की बोधात्मक क्रिया कुछ काल के लिए बंद सी हो जाती है। इसे मानसिक स्तंभ कह सकते हैं। इसके साथ ही शरीर स्तंभ भी होता है।[1446] जड़ता का ही एक हल्का रूप "बुद्धिमांद्य" है जो किसी भाव की समुपस्थिति के कारण भी थोड़ी देर के लिए हो सकता है और स्थायी दशा में प्रकृतिस्थ भी देखा जाता है। शोक या विषाद के समय कभी–काभी किसी की कही हुई साधारण बात भी समझ में नहीं आती।[1447]

तुलसी जड़ता की अवस्था अनेक कारणों से उत्पन्न मानते हैं। वे कहते हैं कि मोह आदि के कारण व्यक्ति में जड़ता आ जाती है। इस अवस्था में बुद्धि कुंठित हो जाती है जिससे व्यक्ति को चाहे जितना समझाया जाय उसे समझ में नहीं आ पाता। सती की बुद्धि मोह के कारण जड़ हो गयी थी।[1448] किसी अलौकिक छबि को देखकर व्यक्ति विस्मय आदि के कारण जो थोड़ी देर के लिए चित्रलिखा सा रह जाता है वह भी जड़ता की अवस्था है। इस अवस्था में व्यक्ति सुध–बुध से रहित हो जाता है जिससे वह देर तक पलक रोके खड़ा रहता है। राम की छबि देखकर सीता की अवस्थं ऐसी ही हो गयी।[1449] प्रेम की चरमसीमा में भी व्यक्ति की बुद्धि कार्य करना बन्द कर देती है और उसमें जड़ता सी आ जाती है। भरत जब राम से मिलने चित्रकूट पहुँचे तो राम ने भरत को देखते ही अधीर होकर गले से लगा लिया और प्रेम के कारण अपनी सुध से रहित हो गये। उनका मन, बुद्धि चित्त और अंहकार सब क्रिया रहित हो गया।[1450] जड़ता व्यक्ति की बुद्धि को वैसा ही निष्क्रिय कर देती है जैसा कड़ा जाड़ा व्यक्ति को निष्क्रिय कर देता है।[1451] जड़ता से व्यक्ति में कठोरता आ जाती है।[1452] अति स्नेह भी व्यक्ति में जड़ता ला देता है जिसमे व्यक्ति बिना विचारे अकल्याणकारी बातें कहने लगता है।[1453] जड़ता मों व्यक्ति दूसरों को ठगने लगता है।[1454] जिस गुण का हमें अभिमान है वह गुण यदि हम किसी दूसरे में देखें तो हम उसे देखते ही कुछ देर के लिए थकित से रह जाते हैं। लंका में हनुमान के तेज की भंयकरता देखकर सूर्य थकित रह गये। जब व्यक्ति थकित अर्थात् स्तब्ध हो जाता है तब वह अपना कार्य करना भूल जाता है। सूर्य थकित होने पर अपने घोड़े चलाना भूल गये।[1455]

संतोष :–

"संतोष" वह् मानसिक अवस्था है जिसमें व्यक्ति प्राप्त सुख से अधिक सुख प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखता और प्रसन्न रहता है। संतोष अपनी परिस्थिति से समझौता करने का नाम है। संतोष मानसिक सुखों से भी उत्पन्न हो सकता है और वाह्य सुखों से भी। इसीलिए ऐसा देखा जाता है कि कोई–कोई सर्वसाधनों से ही होते हुए भी परम संतोष का जीवन बिताता है।

मानक हिन्दी कोश और बृहत हिन्दी कोश में संतोष के पर्याय रूप में तोष, तृप्ति,

परितोष, कृत कृत्य आदि शब्दों को लेकर इसी सामान्य अर्थ को लिया गया है। "संतोष वह मानसिक अवस्था है जिसमें व्यक्ति प्राप्त होने वाली वस्तु को यथेष्ट समझता है और उससे अधिक की कामना नहीं करता। संतोष वह अवस्था है जिसमें अभीष्ट कार्य होने या वांछित वस्तु प्राप्त होने पर क्षोभ मिट जाता है और फलतः कुछ अवस्थाओं में हर्ष भी होता है।"[1456] बृहत हिन्दी कोश में इसे जो मिले उसी में प्रसन्न रहने का भाव बताया गया है।[1456] रामचन्द्र वर्म्मा "शब्द साधना" में लिखते हैं कि यह उस मनोवृत्ति का सूचक है जिसमें कोई विशेष कामना या लोभ नहीं होता और जो कुछ अपने पास होता या सहज में मिल जाता है, उसी से मनुष्य निश्चित और प्रसन्न रहता है। वस्तुतः यही संतोष है।[1458]

श्रीमद् भगवत् गीता में नित्य संतोष के बारे में लिखा है। प्रत्येक क्रिया करते हुए निरनतर परम आनन्द का अनुभव करना ही "नित्य सन्तुष्ट रहना" है। इस प्रकार सन्तुष्ट रहने वाले भक्त की शान्ति, आनन्द और संतोष का कारण केवल भगवान के नाम, गुण प्रभाव, लीला और स्वरूप आदि का श्रवण, मनने और कीर्तन तथा पठन–पाठन आदि ही होता है। सांसारिक वस्तुओं से उसके आनन्द और संतोष का कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता।[1459] सन्तुष्ट रहने वाले का चित्त स्थिर होता है।[1460] वह ईर्ष्या, हर्ष और शोक सबसे रहित होता है।[1461]

मानस मुक्तावली में पं० रामकिंकर उपाध्याय जी व्यकि और समाज के संतुष्ट होने के सम्बन्ध में लिखते हैं कि व्यक्ति अथवा समाज तब तक सुखी एवं सन्तुष्ट नहीं हो सकता जब तक अन्तर और वाह्य दोनों की दरिद्रता का पूर्ण विनाश नहीं हो जाता।[1462] भारतीय मनोविान में असंतोष के बारे में कहा गया है कि यह तृष्णा एवं कामना की अतृप्ति से उत्पन्न होता है। यह दुःख पूर्ण है। महाभारत में इसीकारण संतोष को परम सुख कहा गया है–

"असंतोषस्य नास्त्यन्तस्तुष्टिस्तु परमं सुखम्।"[1463]

पं० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भावों का विवेचन करने के दौरान सन्तोष बारे में लिखते हैं– "इष्ट की प्राप्ति से इष्ट की पूर्ति के अनुभव का नाम – संतोष है। रति, क्रोध और उत्साह में यह प्रायः संचारी होकर आता है। प्रेम में प्रिय का साक्षात्कार होने पर उसके रूप दर्शन और वचन श्रवण से नेत्रों और कानों का तृप्त होना संतोष ही कहा जायेगा।"[1464]

अरस्तू के अनुसार जो तृप्त होता है फिर वह और इच्छा नहीं करता। पाश्चात्य विचारकों संतोषपूर्ण जीवन को सुखी जीवन मानते हुए अपना मत देते है कि एक सामान्य व्यक्ति जिन चीजों से प्रसन्न होता है विवेकवान व्यक्ति दूसरी ही चीजों से सुखी रहता है।[1465]

तुलसी ने कुछ स्थितियों में संतोष को वांछनीय और कुछ स्थितियों में अवांछनीय समझकर

इसे गुण और अवगुण दोनों रूपों में स्वीकार किया है। उन्होनें यह बताना चाहा कि व्यक्ति को अपने व्यावहारिक जीवन में सदा संतुष्ट रहना चाहिए लेकिन उसे ऐसे कार्यों से कभी संतुष्ट नहीं होना चाहिए जो कल्याणकारी हो स्वयं के साथ–साथ लोक में मंगल की स्थापना करने वाले हों।

तुलसी ने माना कि व्यक्ति को अपनी प्रकृति तथा भाव के अनुसार प्राप्त वस्तु से ही संतोष मिलता है। एक वसतु सबके लिए संतोष का कारण नहीं हो सकती।

उनका यह भी कहना है कि वाह्य क्रिया या वस्तु से नहीं उसके पीछे जो भाव होता है उससे व्यक्ति को संतोष मिलता है।[1466] पूर्ण काम पुरुष प्रेम से पुष्ट वचनों को सुनकर संतुष्ट होता है।[1467] भगवान भक्त के आन्तरिक और पवित्र भाव से संतुष्ट होते हैं।[1468] भगवान सद्‌गुणों से संतुष्ट होते हैं।[1469] परम संतोष आत्मानुराग पर आधारित है।[1460] भक्त को आराध्य के गुण स्मरणं से उनकी लीलाओं के गाने और सुनने से संतोष और सुख का अनुभव होता है।[1471] भक्त के लिए प्रभु कृपा से बढ़कर अघाने वाली कोई वस्तु नहीं है। विभीषण राम के पास जाते सोच रहे हैं कि अहा। प्रभु मेरे इस माथे पर अपने हाथ रक्खेंगे। उससे बढ़कर और कौन लाभ होगा जिससे मैं अघाऊँगा।[1472] आत्मीय द्वारा प्रभु की भक्ति स्वीकार कर लेने पर संतोष का अनुभव होता है। सुमित्रा को लक्ष्मण की मूर्च्छा शोक तो हुआ लेकिन इस बात से संतोष हुआ कि लक्ष्मण ने राम भक्ति स्वीकार कर ली है।[1473] प्रेम का प्यासा व्यक्ति प्रेम से परिपुष्ट मधुर वचनों से ही संतुष्ट होता है। सीता ने गाँव की स्त्रियों को प्रेम की प्यासी देख मधुर वचन कह–कह कर उनका संतोष किया।[1474]

भक्ति मन को पूर्ण तृप्त कर देने वाली होती है।[1475] जिसका प्रसन्न होना अत्यन्त कठिन है यदि उसके लिए कठोर परिश्रम किया जाय तो वह सरलता से संतुष्ट हो जाता है। शिवजी दुराराध्य हैं किन्तु तपस्या करने और उनके लिए कष्ट सहने पर वे शीघ्र संतुष्ट हो जाते हैं। यहाँ संतुष्ट का अर्थ प्रसन्न होने से है।[1476] आज्ञा पालन से पिता को संतोष मिलता है।[1477] सम्मान और दान पाकर भी व्यक्ति को तृप्ति मिलती है।[1478] कभी–कभी अपने से बड़े और महान् व्यक्ति का अतिथि सत्कार करके हम कृतार्थता का अनुभव करते हैं।[1479] याचक लोग सदा कुछ पाने के बाद ही संतुष्ट होते हैं।[1479] याचक लोग सदा कुछ पाने के बाद ही संतुष्ट होते हैं।[1480] यदि कोई हमारे जाने से दुखी और खिन्न है तो ऐसी अवस्था में उसे सन्तुष्ट करने का साधन विनय और प्रणाम रहता है। वह तरह–तरह से विनय और प्रणाम करके उसका क्षोभ दूर करने का प्रयत्न करता है। राम ने वन जाते समय सुमंत्र से विनय और प्रणाम द्वारा माताओं को संतुष्ट करने के लिए कहा।[1481] विनय, शील और भक्ति युक्त उत्तम वचनों से कोई भी किसी भी समय संतुष्ट और प्रसन्न हो सकता है।[1482] इच्छा के अनुकूल कोई कार्य करे तो इसे

सुनकर संतोष होता है।[1483] आत्मीय को कल्याणकारी मार्ग पर चलते देख विशेष संतोष होता है।[1483] आत्मीय को कल्याणकारी मार्ग पर चलते देख विशेष संतोष होता है।[1484] मनचाही वस्तु पाकर व्यक्ति संतुष्ट हो जाता है।[1485] क्रोध की मनचाही अभिव्यक्ति से संतोष मिलता है।[1486] जिस कार्य से व्यक्ति की दीर्घकाल व्यापी चिन्ता दूर हों और उसे असीम आनन्द मिले, उसकी सारी इच्छायें तृप्त हो जायें, उस मकान से व्यक्ति धन्य, कृतार्थ और सफल काम कहा जाता है। राजाजनक धनुष के टूटने पर राम-लक्ष्मण से कृतार्थ हो गये।[1487] दुर्लभ वस्तु यदि पृथ्वी पर ही सुलभ हो जाये तो व्यक्ति उससे पूर्ण तृप्त हो जाता है।[1488] अवतारी पुरुष के प्रभाव से भी हृदय में संतोष का भाव उत्पन्न हो जाता है।[1489] विपत्ति में पड़ व्यक्ति को समझाने बुझाने से ही संतोष मिलता है। राम ने वन में माताओं को समझा–बुझा कर संतोष कराया।[1490] स्वामी के अनुकूल होते ही सेवक को परम संतोष हो जाता है।[1491] बड़ों के आशीर्वाद से व्यक्ति कृतार्थ हो जाता है।[1492]

अमृत से व्यक्ति सदा के लिए तृप्त हो जाता है।[493] दो आत्मीयों की यदि परस्पर विरोधी इच्छा हो तो उनमें जो प्रोढ़, अनुभवी व्यक्ति होगा उसे विवेकपूर्ण वचनों से संतुष्ट किया जायेगा और दूसरों को भले–बुरे का ज्ञान कराकर शान्त किया जायेगा। राम ने ऐसा ही किया। कौसल्या को विवेकपूर्ण वचनों से और सीता को वन के दु:खों को कहकर संतोष करने का प्रयास किया।[1494] आत्मीय परिजनों के सुख–संतोष को देखकर हमें भी सुख–संतोष होता है।[1495] जो हमारी विपत्ति दूर कर देता है उससे हम पूर्ण सन्तुष्ट होते है और उसे हम जी भर कर आशीष देते हैं। विश्वामित्र ने ताड़का को मारने के कारण राम को अघाकर आशीर्वाद दिया।[1496] किसी के कार्य के समस्त व्यवधानों को नष्ट कर उसे संतुष्ट किया जा सकता है।[1497] उत्तम सुहाग और गौरव से स्त्री संतुष्ट होती है।[1498] किसी को तपबल, बाहु बल और स्नेह बल से संतुष्ट किया जा सकता है।[1499] कभी–कभी व्यक्ति की उपस्थिति मात्र से ही तृप्ति मिलती है।[1500]

जब व्यक्ति किसी चीज का सुख अघाकर लेता है तभी उसे उससे संतोष मिलता है। किस–किस सुख का भोग व्यक्ति अघाकर करता है इसका भी तुलसी ने संकेत दिया है। जिस वस्तु से सुख मिले उस वस्तु का सेवन व्यक्ति तृप्त होने तक करता है। तुलसी प्रेमानन्द का अनुभव अघाकर कर रहे हैं। अपने इष्ट को पाकर भक्त इससे मिलने वाला लोक–परलोक का लाभ अघाकर लेना चाहता है।[1502] सौन्दर्य का आनन्द व्यक्ति अघाकर अनुभव करना चाहता है।[1503] अपने काम को व्यक्ति अघाकर बनाना चाहता है।[1504] कर्तव्य को पूर्णरूप से करने में जो तृप्ति मिलती है उसे भी व्यक्ति अघाकर लेना चाहता है।[1505] अभीष्ट फल का भोग व्यक्ति अघाकर करना चाहता है।[1506] तीव्र क्रोध में व्यक्ति जी खोलकर अघाकर कठोर वचन कहता है।[1507]

तुलसी ने यह भी बताना चाहा कि व्यक्ति को किसी–किसी अवस्था में संतोष प्राप्त नहीं भी

होता है। यदि व्यक्ति अति क्रोध की अवस्था में है तो वह उसे अपनी खोयी वस्तु प्राप्त हो जाने पर भी संतोष नहीं होता है। नारद जी अपना रूप पाकर संतुष्ट नहीं हुए और क्रोध से अधिक व्याकुल हो उठे।[1508]

बिना आधार और अबलम्ब के मन को शान्ति और संतोष नहीं मिलता है। भरत जी को जब तक अपने प्रेम का अवलम्ब नहीं मिला उन्हें संतोष नहीं हुआ।[1509] अधिक प्यास में व्यक्ति थोड़े जल से तृप्त नहीं हो पाता।[1510] दुविधाग्रस्त मन किसी भी निर्णय से संतोष नहीं पाता।[1511]

कोई–कोई सुख ऐसा होता है कि उसे चाहे जितना लिया जाये, व्यक्ति को कभी तृप्ति नहीं मिलती है। व्यक्ति उसे और लेना चाहता है। आनन्दकारी वस्तु के सेवन से व्यक्ति को कभी तृप्ति नहीं होती। भक्त आराध्य के रूप का दर्शन चाहे जितनी दूर करे वह इससे तृप्त नहीं होता है। शिव जी राम के रूप को हृदय के नेत्रों से देखकर कभी तृप्त नहीं हो पाये।[1512] आराध्य/श्रद्धेय के वचनों को सुनने से कभी तृप्ति नहीं होती। वानर राम के वचनों से तृप्त नहीं हो रहे।[1513] प्रेमास्पद के शारीरिक सौन्दर्य को देखने से कभी तृप्ति नहीं होती है।[1514] अनन्त सौन्दर्य को देखने से किसी को भी तृप्ति नहीं होती।[1515] प्रिय की प्रशंसा करने से व्यक्ति कभी तृप्त नहीं होता।[1516]

रामचरित्र के श्रवण में विशेष रस का अनुभव करने वाला राम चरित्र सुनते–सुनते तृप्त नहीं होता है।[1516] कभी–कभी अपने से बड़े वैभव सम्पन्न और पूर्ण काम व्यक्ति को अपनी सामर्थ्य भर बहुत कुछ देने के बाद भी हम संतुष्ट नहीं होते। हमें लगता है कि हमारे देने में कुछ कमी रह गयी है। ऐसी अवस्था में वह पूर्णकाम व्यक्ति अनेक प्रकार से समझा बुझाकर हमें यह विश्वास और संतोष दिलाने का प्रयास करता है कि हम आपकी सेवा से प्रसन्न और संतुष्ट हैं।[1518] आनन्द से व्यक्ति कभी तृप्त नहीं होता। इसलिए तृप्ति के लिए उसे आनन्द की अभिव्यक्ति करनी पड़ती है। इसी क्रम से वह अघाता नहीं है।[1519] जो कर्म जिसे रुचता है, उस काम से वह अघाता नहीं है। दुष्ट लोग पापकर्म और अनीति करते कभी तृप्त नहीं होते।[1520] भ्रम और छल पूर्ण वस्तु से तृप्त होने के बाद भी मन संतुष्ट नहीं होते।[1520]

व्यक्ति या तो स्वयं संतोष प्राप्त करने का प्रयास करता है अथवा उसे कोई दूसरा संतोष दिलाने का प्रयास करता है। किसी को भली प्रकार से परितुष्ट करने के लिए अनेक विधियों का सहारा लिया जाता है, अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं और उसे समय देना पड़ता है। मुनि ने काकभुशुण्डि का अनेक प्रकार से संतोष कराया।[1521] कोई–कोई वर्ग ऐसा होता है जिसको संतुष्ट रखने के लिए अलग से कुछ विशेष नहीं करना पड़ता लेकिन इसका ध्यान रखना पड़ता है कि हमसे कोई भूल न हो पाये जिससे हमारे कारण

वह वर्ग असंतुष्ट न हो जाये, ब्राह्मण वर्ग ऐसा ही वर्ग है।[1522] बदले समय में किसी को संतुष्ट करने की क्रियाओं में परिवर्तन आ जाता है। इसीलिए तुलसी ने लिखा है कि द्वापर युग में भगवान अर्चना करने से परितुष्ट होते हैं।[1524] हर व्यक्ति एक ही वस्तु से सन्तुष्ट हो जाता हो, ऐसा नहीं है। हरेक को संतोष देने के लिए अलग-अलग व्यवहार करना पड़ता है। यह व्यवहार लक्ष्य के स्तर, उसकी मानसिकता और उसकी इच्छा के अनुसार होता है। रुचि भेद का भी इसमें प्रभाव पड़ता है। राम ने इसीलिए याचकों को दान और आदर देकर और मित्रों को केवल प्रेम से संतुष्ट किया।[1525] एक व्यक्ति एक क्रिया द्वारा विरोधी प्रकृति के माता-पिता को संतुष्ट कर सके यह अत्यन्त दुर्लभ है। वाणी संतुष्ट करने वाली होती है किन्तु हर प्रकार की वाणी हरेक को सन्तुष्ट नहीं कर सकती। शिवजी की भक्ति, ज्ञान और धर्म से युक्त वचन रचना सुनकर राम सन्तुष्ट हो गये।[1526] हर पदार्थ का स्वाद होता है लेकिन स्वाद होने मात्र से ही वह हमें सन्तुष्ट, तृप्त करने वाला होगा। यह आवश्यक नहीं है। वस्तु का स्वाद उसके गुण पर निर्भर है और किसे किस प्रकार के स्वाद में संतोष मिलेगा यह उसकी रुचि, पात्रता और स्वभाव पर निर्भर है। तुलसी यहां राम नाम की महिमा का गान कर रहे हैं। उनका कहना है कि इनका स्वाद संतोषदायक सुगति रूपी अमृत के समान है। कई वस्तुएं ऐसी होती हैं जिनका कोई स्वाद ही नहीं होता है। कुछ वस्तुएं ऐसी होती हैं जिनका स्वाद तृप्ति दायक तो होता है किन्तु अमृत के समान संतोष देने वाला नहीं होता है। अमृत दिव्य है इसलिए राम नाम के अक्षर अमृत के समान दिव्य स्वाद देने वाले हैं।[1527]

किसी को संतुष्ट करने के अनेक कारण होते हैं। कभी-कभी हमारे व्यवहार से एक पक्ष सन्तुष्ट और प्रसन्न होता है लेकिन दूसरा पक्ष दुखी और खिन्न हो जाता है। तब खिन्न पक्ष को भी किसी प्रकार संतुष्ट कराना पड़ता है। राम ने गुह का सहज स्नेह देखकर उसे अपने साथ ले लिया। गुह के हृदय में अत्यन्त हर्ष हुआ लेकिन जो जाति भाई थे वे दुखी और निराश हो गये तब उनके दुःख और निराशा को दूर करने के लिए राम ने किसी तरह सन्तुष्ट किया।[1527] दूर जाता प्रिय अपने आत्मीयों को पहले हर तरह से संतोष कराता है, तब कहीं जाता है। राम सबको संतोष दिलाकर फिर वन गये।[1529] कभी-कभी कर्तव्यवश भी सबका संतोष कराना पड़ता है। यदि किसी के जाने से व्यापक असन्तोष, दुःख फैलता हो तो हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि किसी तरह सबको परितुष्ट किया जाय।[1530]

संतोष का व्यक्ति पर अनेक प्रकार से प्रभाव पड़ता है। जो हमारे संतोष और तृप्ति का कारण होता है उसके प्रति व्यक्ति शुभकामना या कृतज्ञता व्यक्त कर आशीष देता है। राम जन्म पर याचक लोग द्रव्य पाकर सन्तुष्ट हो आशीर्वाद देते हुए द्वार से निकलते हैं।[1531] संतोष होने पर व्यक्ति शान्ति पा जाता है, उसकी कामनाओं का नाश हो जाता है।[1532] संतोष लोभ को नष्ट कर देता है, संतोष से स्वभाव में शीतलता आती है और व्यक्ति का तेज और बल बढ़ता है।[1532] सन्तुष्ट व्यक्ति का तेज और बल

में उदारता जागती है और वह दूसरों को भी दान आदि देकर संतुष्ट करने का प्रयास करता है।[1534] संतोष ही सुख का सार है, संतोष सदा सुखद होता है इससे प्रतिकूल वस्तु भी सुखद हो सकती है।[1535] संतोष होने पर व्यक्ति फिर झूठे सुख के लिए नहीं भटकता।[1536] उसमें स्थिरता आ जाती है।[1537] परम संतोष व्यक्ति को देह की भौतिक स्तर की सीमा से ऊपर उठा देता है।[1538] जिससे मन तृप्त हो जाता है उससे मन फिर उकताने लगता है।[1539] परितुष्ट होने पर व्यक्ति मां की तरह पालन करता है।[1540] रक्षा करता है।[1541] किसी पर करुणा करता है।[1542] जी भरकर जो काम किया जाता है उसका फल भी जी भरकर मिलता है।[1543]

परितोष या संतोष रोष का उल्टा है।[1544] इसका स्वाद अमृत के समान होता है।[1545] दुखों और दोषो से रहित व्यक्ति सदा संतोषी होता है।[1546] संतोष से उत्पन्न सुख की अभिव्यक्ति व्यक्ति के भुखमुद्रा से होती है।[1547] संतोष का आधार मन है। वस्तु में संतोष देने का गुण नहीं होता। वस्तु के कारण मन को संतोष का जो भ्रम होता है प्राणी उसी को संतोष मानकर मग्न रहता है।[1548] किसी को संतोष देने से उसके स्नेह की पुष्टि होती है।[1549] कुछ वस्तुएं ऐसी होतीं हैं जो सबको सब समय तृप्ति देतीं है।[1550] प्रभु की बाललीला देख जो संतोष मिलता है वेसा संतोष वैसी तृप्ति व्यक्ति को सारे जन्म में भी नहीं मिल सकती।[1551] तृप्ति दायक प्रसंगों में प्रत्यक्ष भाग लेने से तो संतोष मिलता ही है बल्कि उनके स्मरण करने से भी उतनी तृप्ति मिलती है।[1552] जो जिससे संतुष्ट होता है। उसी को वह तृप्त करने का प्रयास करता है।[1553] किसी–किसी का स्वभाव जो मिल जाये उसी में संतोष करने का होता है।[1554] समय के दुष्प्रभाव से संतोष चला जाता है।[1555] ब्राह्मण वर्ग के संतुष्ट रहने से मंगल का विधान होता है। इसलिए ऐसे वर्ग के त्रस्त, दुखी और असन्तुष्ट न होने का ध्यान रखना पड़ता है।[1556] सामान्य वस्तुओं से जो संतोष मिलता है वह क्षणिक या अस्थाई होता है लेकिन दिव्य वस्तुओं से जो संतोष मिलता है वह चिरस्थाई होता है। उससे संतोष को भी संताष मिलता है। इस संतोष में तृप्ति देने का ही गुण नहीं होता उसमें श्रम को दूर करने तथा दरिद्रता, दुःख और रोगों को भी दूर करने का गुण होता है। इसलिए इसमें विशेष संतोष का भाव होता है।[1556]

संतोष होना एक गुण है लेकिन कहीं कहीं सन्तुष्ट न होना एक गुण हो जाता है। इस स्थल पर संतोष संवेग के इसी पक्ष की ओर संकेत किया गया है तुलसी दास कहते हैं– राम कृपा से मेरी सब कमी पूरी हो जायेगी। क्योंकि वे दीनों पर कृपा करने से कभी नहीं अघाते। असल में कृपा के पीछे जो करुणा का भाव होता है उस करुणा की कोई सीमा नहीं होती।[1558] हित कल्याण और भलाई के कार्यों से व्यक्ति कों संतुष्ट नहीं होना चाहिए।[1559] संतोष तभी स्थिर रहता है जब वैराग्य हो।[1560] ऐसी इच्छा की पूर्ति जिससे धन्यता का बोध हो कृतकृत्य कहा जाता है।[1561] किसी को उपहार देने या किसी के लिए

कोई कार्य करने की सार्थकता उसको संतुष्ट करने में है। उपासना की महत्ता इसी में है कि उससे इष्ट सन्तुष्ट. हो जायें।[1562] दिखावटी संतोष में ऊपर का आडम्बर बहुत होता है।[1563]

कोई केवल प्रेम से संतुष्ट होता है कोई केवल आदर और दान से तथा कोई–कोई आदर, दान और प्रेम मिलने पर संतुष्ट होता है। राम विवाह के बाद रानियों ने ब्राह्मणों को भोजन करवाया। आदर और प्रेमपूर्वक दान दिया। इन तीनों से भली प्रकार परिपुष्ट किया तब वे मन से संतुष्ट हुए और उनका यह संतोष आशीर्वाद के रूप में व्यक्त होने लगा। यहां संतोष संवेग की यह विशेषता है कि पहले भोजन तथा कुछ वस्तुएं और वस्तुओं के साथ प्रेम देकर भली प्रकार उन्हें परिपोषित अर्थात् एक प्रकार से उनका परिपालन किया। यहां पर परितोष शब्द का प्रयोग बहुत विलक्षण है। राजा का कार्य प्रजा का पालन करना है उसमें भी जो बुद्धिजीवी होते हैं उनके पालन का राजा पर विशेष भार होता है। उन्हें आनन्द के अवसरों पर भोजन, दान से परिपोषना पड़ता है अर्थात् उनकी जीविका का प्रबन्ध करना पड़ता है और साथ में उनके प्रति प्रेम और कृतज्ञता व्यक्त करना पड़ता हैं इससे उनका मन बहुत भर जाता है तभी संतोष के रूप में उनके भुख से आशीर्वाद निकलते हैं।[1564]

तुलसी ने मानस में कुछ विशेष जीवन मूल्यों को प्रमुखता देने का प्रयास किया है। इन जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति उन्होंने कुछ पात्रों के माध्यम से की है। जैसे माता–पिता के वचनों में प्रेम अथवा माता–पिता को संतुष्ट करने वाला राम के चरित्र में यह गुण प्रभूत मात्रा में मिलते हैं। इसलिए वे कहते हैं। माता–पिता को संतुष्ट करने वाला पुत्र संसार में दुर्लभ है। यदि यह दुर्लभ अवसर मुझे प्राप्त हुआ है तो मैं अत्यन्त सौभाग्यशाली हूँ। इसलिए माता–पिता के वचन मानकर वन जाकर मैं उन्हें जरूर संतुष्ट करूँगा।

"संतोषे"–"संतुष्ट किया के साथ परिपोषे– "परिपुष्ट किया" शब्द का प्रयोग अवश्य किया गया है। जहाँ कोई व्यक्ति केवल हमारे प्रेम का इच्छुक है और उसी से वह संतुष्ट हो सकता है ऐसे स्थलों पर पात्र प्रेम से संतुष्ट करने के साथ–साथ उसे परिपुष्ट भी करता है। परिपुष्ट का अर्थ लालन–पालन से होता है। परिपोष ने में किसी का मन भरने की बात होती है। इसमें यह भी संकेत है प्रेम पाकर व्यक्ति छक जाता है।

नियति से जो विपत्ति आती है उसमें विवेक और संतोष से ही धीरज आता है।

<u>क्षमा/दया/कृपा/करुणा</u> :–

क्षमा/दया/कृपा/करुणा ये संवेग दूसरों के दुःख की अनुभूति से उत्पन्न होने वाले संवेग हैं। लेकिन इन संवेगों में परस्पर कुछ भिन्नता है। किसी के अपराध करने पर जब हम उसको उस अपराध का

कोई दण्ड नहीं देते हैं और उसके अपराध को समझते हुए भी मन में कोई विकार नहीं लाते हैं तो ऐसी दशा को क्षमा करना कहते हैं। मानक हिन्दी कोश में लिखा है– "क्षमा मन की वह भावना या वृत्ति है जिससे मनुष्य दूसरे के द्वारा पहुँचाया हुआ कष्ट चुपचाप सहन कर लेता है और कष्ट पहुँचाने वाले के प्रति मन में कोई विकार नहीं आने देता।" दूसरा अर्थ– किसी दोषी या अपराधी को बिना किसी प्रतिकार के छोड़ देने का भाव।"[1565]

दया, करुणा, कृपा का सम्बन्ध अपराधी के अपराध से उतना नहीं है जितना क्षमा का होता है। इन संवेगों का सम्बन्ध दुःखी और आर्त्त व्यक्ति से है। किसी दुःखी और आर्त्त व्यक्ति को देखकर जो दुःख होता है और उस दुःख को दूर करने की जो इच्छा होती है उसे "दया" कहते हैं। "करुणा" भी दया की तरह का भाव है लेकिन अन्तर यह है कि इसमें किसी आर्त्त व्यक्ति के दुःख का बड़ी गहराई से अनुभव किया जाता है और उसके दुःख को शीघ्रातिशीघ्र किसी भी उपाय से दूर करने का प्रयास किया जाता है। दया में व्यक्ति अपने को विरोधी परिस्थितियों में नहीं डालता। अपनी प्रतिष्ठा बनाये हुये दुखी व्यक्ति की सहायता करना चहता है लेकिन करुणा उत्पन्न होने पर ऐसा नहीं होता। करुणावान् दुःख हरने के लिए प्रतिष्ठा से गिर कर भी काम कर सकता है। भगवान करुणावान् है इसीलिए उन्होंने देवताओं के दुःख को देख मानव लीला करने का प्रण किया। "कृपा" दया और करुणा की तरह का ही भाव है लेकिन इसमें किसी के कार्य अथवा भाव की रक्षा करने का भाव अधिक होता है। किसी की कृपा पाकर हम कार्य को निर्विघ्न समाप्त कर सकते हैं। भगवान की कृपा पाकर हम उनके प्रति प्रेम का निर्वाह कर सकते हैं। किसी की कृपा प्राप्ति के लिए व्यक्ति में पात्रता होनी चाहिए। केवल इसमें दुखी होने से काम नहीं चलेगा। कृपा सुपात्र पर ही की जाती है लेकिन दया और करुणा सब प्रकार से दीन व्यक्ति पर भी की जा सकती है। भगवान अधिकारी भक्त पर ही कृपा करते हैं। कृपा का सम्बन्ध कृपालु के प्रभाव से है लेकिन दया और करुणा का सम्बन्ध क्रिया से है। बिना कुछ करे बिना कहीं जाये भी कृपा की जा सकती है लेकिन दया/करुणा में ऐसा सम्भव नहीं है। "भगवद्‌गुण दर्पण" में कृपा की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है– भगवान का अपने सामर्थ्य के अनुसंधान के साथ समस्त प्राणियों की रक्षा करना ही कृपा है। रामचन्द्र वर्म्मा ने "शब्द साधना" में इसे सद्‌गुणों का एक अंग बताया और कहा कि कृपा और दया में कुछ अन्तर है।[1566] कभी–कभी कृपा का प्रयोग दया के स्थान पर खटकता है। "मानक हिन्दी कोश" और बृहत् हिन्दी कोश में कृपा को उदारता पूर्वक अथवा स्वभावतः दूसरों की भलाई करने की वृत्ति, प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखते हुए दुःख निवारण इच्छा के अर्थ में परिभाषित किया गया है।[1567] दया को इन शब्द कोशों में किसी विपन्न के प्रति हृदय में उत्पन्न होने वाला सहानुभूति का भाव जो उसका दुःख दूर करने के लिए प्रेरित करे, अपने व्यक्ति या अपने से दुर्वल व्यक्ति के साथ किया जाने वाला कोमल व्यवहार बताया गया है।[1568] मानक हिन्दी कोश में "करुणा"

किसी असमर्थ, असहाय, दुःखी अथवा संकट में पड़े हुए व्यक्ति को देखकर मन में होने वाली उसके की ऐसी अनुभूति है जो उसका कष्ट या दुःख दूर करने की प्रेरणा देती है।[1569]

भारतीय काव्यशास्त्र में करुण रस के विवेचन में श्री शंकुक ने करुणा के सम्बन्ध में मत दिया है कि सदय-हृदयता लोक में "करुणा" नाम से प्रसिद्ध है। वह (अपने दृश्यमान रोदन विलपन आदि) लिंगों द्वारा अनुकर्ता (नट) में स्थित शोक का अनुभव करने वाले सामाजिकों में रहती है, इसलिए इस रस का "करुण" यह (सार्थक) नाम है।[1570] पं0 रामचन्द्र शुक्ल करुणा के बारे में लिखते हैं- "दुःख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उल्टा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है। उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है, उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है।[1571] कृपा या अनुग्रह से भी दूसरों के सुख की योजना की जाती है, पर एक तो कृपा या अनुग्रह में आत्म-भाव छिपा रहता है और प्रेरणा से पहुंचाया हुआ सुख एक प्रकार का प्रतिकार है।[1572] मैक्डूगल ने निःस्वार्थ लोक रक्षा के संवेग का विवेचन प्रस्तुत किया कि इसके कारण निःस्वार्थ क्रोध उत्पन्न होता है और सम्पूर्ण नैतिक भावनायें भी इसी के कारण उत्पन्न होती हैं। न्याय और जनहितकारी कानून का भी यही जनक है। सहानुभूति की भावना भी इसी से उत्पन्न होती है। निःस्वार्थ भावना के कारण भी व्यक्ति दूसरे के सुख-दुःख में सहभागी होता है। सहानुभूति का अर्थ दूसरे के दुःख दूर कर उसके सुख को निरन्तर बनाये रखना है। जिनमें सहानुभूति और करुणा की भावना दुर्बल होती है वे दूसरे की विपत्ति और दुःख से आंखें फेर लेते हैं या उनसे दूर हट जाते हैं। ....दया जिसके प्रति दिखाई जाती है व्यक्ति उसके नजदीक जाता है किन्तु दया विशुद्ध दुःख नहीं है क्योंकि इसमें एक तरह का माधुर्य का तत्व रहता है। जिसके शैण्ड सुख से जोड़ता है। इस तरह से दया और दुःख दोनों का मिश्रण है।[1573]

तुलसी ने भी दया, करुणा, क्षमा को किसी की दीन दशा देखकर उत्पन्न होने वाला भाव माना है और कृपा को एक ऐसी अद्‌भुत दुःख विनाशक औषधि माना है जो भगवान आदि के हृदय में करुणा आदि संवेगों की प्रेरणा से उत्पन्न होता है और इससे भक्तों के समस्त दुःख दूर हो जाते हैं।

तुलसी ने इन उपर्युक्त समस्त संवेगों का पूरा मनोविज्ञान प्रस्तुत किया है। उन्होंने बताया कि किसी की दुर्दशा/व्याकुलता देख उस पर दया करुणा आती है। चन्द्रमा नामक मुनि को सम्पाती पर उसकी बुरी दशा देखकर बड़ी दया आयी।[1574] किसी पर अत्याचार को होते देख उसके आर्त्तभाव के कारण उस पर दया आती है।[1575] दीन व्यक्ति सदैव ही है।[1576] सेवक पर क्रोध नहीं दया की जाती है।[1577] सर्वलक्षण श्रेष्ठ सम्पन्न व्यक्ति को भटकते देखकर दया उत्पन्न होती है।[1578] सष्टिकर्त्ता को अपनी सृष्टि के प्राणियों पर समान रूप से दया होती है।[1579] दास अपराधी होने पर भी दया का अधिकारी होता है।[1580] जिसे अपनाता है उसे ही व्यक्ति करुणार्द्र, दृष्टि से निहारता है।[1581]

क्षमा के सम्बन्ध में तुलसी कहते हैं कि जिसका भाग्य विपरीत हो और वह छोटे मुँह बड़ी बात कहे तो वह क्षमा के योग्य होता है।[1582] यदि किसी को अनुचित वर्ताव परिस्थिति वश करना पड़े तो वह वर्ताव क्षमा के योग्य होता है।[1583] दुःख के कारण यदि कोई किसी को उत्तर देने का अपराध करता है तो उसका अपराध क्षमा के योग्य होता है।[1584] शरण में आये अपराधी के सभी अपराध क्षमा के योग्य होते है।[1585] तीव्र जिज्ञासा के कारण अनुचित पूछने का अपराध भी क्षमा के योग्य होता है।[1586] कभी–कभी व्यक्ति अपने यश, अपनी प्रसिद्धि के नष्ट होने के डर से किसी के पापों और अवगुणों को क्षमा कर देता है।[1587] सच कहने के प्रयास में यदि कुछ अनुचित या असत्य निकल जाये तो वह क्षमा के योग्य होता है।[1588] प्रेम के कारण की गयी ढिठाई क्षमा के योग्य होती है।[1589] किसी का हित करने की दृष्टि से कोई बात कही जाय और वह उसे न रुचे तो उसका यह कार्य क्षमा के योग्य होता है।[1590] बालक का अपराध क्षमा के योग्य होता है।[1591] अनजाने में कहे गये अनुचित बचन क्षमा के योग्य होते हैं।[1592] यदि कोई कष्ट किसी को न चाहते हुए भी देना पड़े तो वह इसके लिए क्षमा चाहता है।[1593]

गुणहीन व्यक्ति का अपराध क्षमा कर देना चाहिए।[1594] यदि असमय कोई काम करना पड़े तो व्यक्ति ऐसा करने से पहले क्षमा माँगने की औपचारिकता पूरी करता है।[1595] कवि की चपलता क्षमा के योग्य होती है।[1596] धर्म का विचार करके या किसी का अपराध क्षमा किया जाता है।[1597] भगवान अपने भक्त वत्सल स्वभाव के कारण अपराधी के सब अपराधों को क्षमा कर देते हैं।[1598] भगवान भक्ति और स्नेह के वशीभूत रहने के कारण पापी के पापों को भी क्षमा कर देते हैं।[1599]

कृपा का कौन पात्र हो सकता है इसका विवेचन प्रस्तुत करते हुए तुलसी कहते हैं कि कोई बालक हो, सच्चा दास हो, साधनों से हीन–दीन सेवक हो, हमारे आश्रित हो, अनाथ हो तो ऐसे व्यक्ति कृपा के पूर्ण अधिकारी होते हैं।[1600] भगवान की भक्त पर बहुत कृपा होती है।[1601] कभी–कभी किसी की सज्जनता, उदारता और करुणा देखकर उसके आग्रह के कारण शापग्रस्त और अपराधी व्यक्ति पर भी ईश्वर की विशेष कृपा देखी जाती है।[1602] भगवान की कृपा दीन, मलीन, पापी, बुद्धिहीन और जातिहीन को भी सुलभ हो जाती है,[1603] जहाँ सत्य, शील, शूरता, धैर्य, विवेक, परोपकार, क्षमा और समता रहती है, वहाँ कृपा भी अवश्य रहती है।[1604] गरीब व्यक्ति सामर्थ्यवान् की कृपा चाहता है।[1605] भक्त इष्ट कृपा से क्षणभर के लिए भी विलग नहीं होना चाहता।[1606] जो रूप, शील और गुणों की खान होता है उसकी कृपा दृष्टि बड़े–बड़े तक चाहते हैं।[1607] शरण में आये व्यक्ति पर कृपा की जाती है।[1608]

कृपा/दया आदि प्राप्त करने के लिए पात्रता होनी चाहिए। तुलसी कहते हैं कि निष्काम प्रेम के कारण प्रभु जितनी कृपा करते हैं[1609] उतनी जप, तप, नियम, व्रत आदि से नहीं। प्रभु की आज्ञा मानने से, भगवत् जप से, विनय से, प्रार्थना से छल रहित प्रेम से कृपा अवश्य ही मिलती है।[1610] संतों पर आस्था

और धैर्य धारण करने से रामकृपा अवश्य प्राप्त होती है।[1611] भगवान भक्त के सिर नवाने मात्र से ही उस पर कृपा करते हैं।[1612] उत्तम व्यवस्था होने पर ही हृदय में दया का भाव उपजता है।[1613] सिद्ध सुर, मनुज, दनुज अति कठिन सेवा, हठयोग, यज्ञ और प्राणों की बलि से द्रवित होते हैं।[1614]

तुलसी कहते हैं कि कृपा ऐसे हृदय में ही उत्पन्न होती है जिसका स्वभाव क्रोधी न हो,[1615] कठोर न हो, जो गुणवान और शीलवान हो, कोमल और दयालु हृदय वाला हो।[1616] इसीलिए ऐसा देखा जाता है कि ब्राह्मणों, दिव्य आत्माओं तथा भगवान में बहुत कृपा होती है।[1617] ये लोग तो अपराध करने पर भी शरण में आये पर कृपा कर देते हैं।[1618] तुलसी ने बताया कि जो दानी व्यक्ति होता है, वह बुरे समय में भी गरीबों पर कृपा करता है।[1619] भगवान का क्रोध कृपा रूप ही होता है।[1620] रीझने पर ही कोई किसी पर कृपा कर पाता है।[1621] भगवान अपने भक्त पर विपत्ति पड़ने पर तत्काल बिना विलम्ब के कृपा करते हैं।[1622]

दया/करुणा आदि संवेगों के लिए ऐसे ही चित्त की आवश्यकता होती है,[1623] निग्रहीता चित्त जितेन्द्रिय मुनि अवश्य ही दया का निधान होता है।[1624] राक्षसी प्रवृत्ति वालों में तथा क्रूर व्यक्ति में दया कभी उत्पन्न नहीं हो सकती।[1625]

किसी सामर्थ्यवान् की/अपने स्वामी की कृपा वैसे तो व्यक्ति हर समय चाहता है लेकिन किन्हीं–किन्ही परिस्थितियों में उसे कृपा/दया की बहुत ही आवश्यकता होती है। जब–जब व्यक्ति किसी विपत्ति में पड़ा हो, तो ऐसे अवसर पर उसे अपने स्वामी की कृपा की बहुत याद आती है। सीता जब रावण के हाथ पड़ जाती है, तो वे राम की कृपा के लिए बैचेन होने लगती है।[1626] किसी बड़े कार्य की सफलता के लिए व्यक्ति बुद्धि की राशि और शुभ गुणों के धाम की कृपा चाहता है।[1627] असम्भव समस्या के समाधान के लिए भी व्यक्ति अपने हितकारी और सामर्थ्यवान् की कृपा चाहता है।[1628] और किसी छोटे स्वार्थ की पूर्ति के लिए व्यक्ति भगवत् कृपा का उपयोग करता है।[1629] तुलसी कहते हैं कि दैवी वरदान दैवी कृपा अथवा दया वश ही मिलता है इसलिए वरदान पाने के लिए देवताओं की दया का आह्वान आवश्यक है। कौसल्या ने देवताओं से प्रार्थना की कि वे दया करके राम के कल्याण का वरदान दें।[1630] हरि भक्ति के लिए भी प्रभु की दया आवश्यक होती है।[1631]

तुलसी ने कृपा को विशेष रूप से राम कृपा को महिमा मण्डित माना है क्योंकि इससे अनेक शुभ फल प्राप्त होते हैं। उन्होंने बताया कि जब प्रभु की कृपा होती है तभी राम की प्रभुता समझ में आती है, उनकी लीला का रहस्य जाना जा पाता है।[1632] कृपा के कारण भगवान भक्त के स्मरण करते ही उसके पास पहुँच जाते हैं।[1633] कृपा से चित्त का मनोरथ चौगुना आनन्द देने वाला हो जाता

है।[1634] भगवान भक्त के दुःख और भय का नाश कृपा उत्पन्न होने पर ही कर पाता है।[1635] इसलिए कृपा दुःख और भय आदि का नाश करने वाली भी होती है।[1636] रामकृपा से असम्भव से असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाता है।[1637] भगवत् कृपा से जीव को ज्ञान की प्राप्ति होती है।[1638] भगवान की एक कृपा दृष्टि से भक्त संसार सागर से गाय के खुर के समान पार हो जाता है।[1639] रामकृपा से दुःखमय वस्तुएं सुखमय हो जाती हैं।[1640] रामकृपा से भक्ति योग जाग जाता है।[1641] रामकृपा से नित्य रहने वाला सुख प्राप्त होता है।

अतुलित कृपा से निम्न से निम्न व्यक्ति भी बड़ों के सम्मान का अधिकारी हो जाता है।[1642] प्रभु कृपा से व्यक्ति सौभाग्य विजय और यश से मण्डित हो जाता है।[1643] जिस पर कृपा होती है उसको व्यक्ति बाँह पकड़कर अपना लेता है।[1644] भगवत् कृपा होने पर भगवत् नाम कल्पवृक्ष तुल्य हो जाता है।[1645] कल्याणकारी की कृपा दृष्टि बड़ो–बड़ों को अनुकूल कर देती है।[1646] भगवत् कृपा से स्वार्थ और परमार्थ दोनों बन जाते हैं।[1647] प्रभु की कृपा से पापी और अवगुणों का भण्डार व्यक्ति भी आनन्द मंगल से युक्त हो जाता है।[1648] राम कृपा से सबकी भलाई होती है।[1649]

भगवत् दया से ही विभेदकारी बुद्धि का नाश होता है।[1650] जिस पर कृपा होती है तथा जो हमारे आश्रित होता है उसको घायल देखकर तीव्र क्रोध उत्पन्न होता है।[1651] कृपा मिल गयी है यह विश्वास होने के बाद ही व्यक्ति आश्वस्त होकर किसी बड़े काम में लगता है।[1652]

कृपा की कोई निश्चित सीमा नहीं होती है।[1653] कृपा से व्यक्ति कभी तृप्त नहीं होता है।[1654] वह उसे अघाकर लेना चाहता है।[1655] किसी की अप्रत्याशित कृपा प्राप्त होने पर मन हर्ष से भर जाता है[1656] और कृतज्ञता वश नेत्रों में आंसू आ जाते हैं।[1657] भगवान भक्तों के प्रति अपनी दया और करुणा की अभिव्यक्ति अपनी दृष्टि के द्वारा करते हैं।[1658] अपराधी पर जो कृपा की जाती है उसमें क्षमा का अंश अवश्य रहता है।[1659] जिस कृपा में प्रदर्शन या दया का अंश होता है वह कायरता कहलाती है।[1660] किसी शाप के कारण यदि भगवान का दर्शन हो जाय तो वह शाप भगवत् अनुग्रह जैसा लगने लगता है।[1661]

भगवत् कृपा विरले ही पा पाते हैं।[1662] कृपा में अमृत जैसी मधुरता होती है,[1663] निश्छलता होती है।[1664] कृपा करने की रीति होती है जो स्वभाव के अनुसार ही व्यक्ति की अलग–अलग होती है।[1665] कृपापूर्वक मिली वस्तु आदर और विनयपूर्वक स्वीकार करना चाहिए।[1666] जिसके हृदय में अपार कृपा होती है, उसका क्रोध क्षणिक होता है।[1667] कभी–कभी दया के कारण दुःसह दुख सहना पड़ता है।[1668] कभी–कभी विनय और प्रशंसा में भी आपकी मुझ पर कृपा है अथवा आपकी कृपा से मैं इसमें सफल होऊँगा इस प्रकार के औपचारिक शब्दों का प्रयोग करता है।[1669] रामकृपा वर्णनीय होती है।[1670]

निष्कर्ष

तुलसी ने अपने साहित्य के कुछ व्युत्पन्न और कुछ मिश्र संवेगों की भी चर्चा की है। प्रस्तुत अध्याय में हमने इन्हीं संवेगों को समझने का प्रयास किया है। व्युत्पन्न संवेगों में "विश्वास", आशा–निराशा, दुःख–सुख तथा उत्साह को लिया गया है और मिश्र संवंगों में मोह/भ्रम/आशंका, श्रद्धा, श्लाघा, कृतज्ञता, वैराग्य, ग्लानि/लज्जा/संकोच/पछतावा, ईर्ष्या, क्षोभ, चपलता, जड़ता, संतोष, क्षमा/दया/कृपा/करुणा का विश्लेषण किया गया है।

इन सभी संवेगों के विश्लेषण को हम संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं। तुलसी ने किसी बात/विचार/मत को प्रामाणिक अथवा सत्य मान लेने की धारण को "विश्वास" कहा है। किसी की शक्ति का प्रमाण मिल जाने पर उसकी सफलता पर विश्वास होता है, किसी भी दशा में प्रतिकूल न चलने वाले पर विश्वास होता है, सुख और सौभाग्य की खान वस्तु पर विश्वास होता है किसी की महिमा सुनकर उस पर विश्वास हो जाता है, उत्साह वर्धक वचनों से आत्मविश्वास उत्पन्न हो जाता है विश्वास उत्पन्न होने पर व्यक्ति में बल आ जाता है, विचारों में दृढ़ता आ जाती है, प्रेम उत्पन्न होता है, समर्पण का भाव पैदा होता है। विश्वास से अनेक लाभ हैं। विश्वास से ही काम पूरा होता है, सुख और सिद्धि मिलती है, शुभ वस्तु पर विश्वास मंगलकारी होता है। विश्वास का प्रेम के साथ बड़ा गहरा सम्बन्ध है। विश्वास हृदय की सच्चाई, निश्छलता, सत्यनिष्ठा और सच्चे स्नेह पर निर्भर है। तुलसी ने दो प्रकार के विश्वास की बात की। पहला विश्वास बुद्धिगत होता है और दूसरा विश्वास स्वभाव का अंग बन जाता है। स्वभावगत विश्वास से ही अनन्य प्रेम की प्राप्ति होती है।

किसी कार्य के सम्बन्ध में यह धारणा कि यह कार्य हो जायेगा– आशा कहलाती है और आशा के टूटने पर जो हताश होने का भाव होता है उसे निराशा करते हैं। आशा को व्यक्ति विविध बाधाओं के उपरान्त भी नहीं छोड़ना चाहता। आशा किसी के स्वभाव का स्मरण करके की जाती है। आशा में बहुत बल होता है। आशा से इच्छापूर्ति की प्यास जागती है, दारुण आशा व्यक्ति को बहुत दुःख देती है। किसी के प्रति पूर्ण समर्पण के लिए सब प्रकार की आशाओं को त्यागना पड़ता है। आशा तभी तक रहती है जब तक उसकी पूर्ति का मार्ग खुला रहता है। आशा संतोष होने पर दूर हो जाती है। "निराशा" की बात करते हुए तुलसी कहते हैं निराश होने पर व्यकित तेजहीन हो जाता है।

दुःख एक कष्टदायक अनुभूति का नाम है और सुख आनन्ददायय अनुभूति का नाम है। तुलसी ने दुःख के कारणों की चर्चा करते हुए कहा कि दुःख विपत्ति आने पर, इच्छापूर्ति न होने पर, प्रिय से वियोग हो जाने पर, प्रिय के कष्ट को सोचकर उत्पन्न होता है। दुःख के आने पर व्यक्ति व्याकुल

हो जाता है, वह शिथिल हो जाता है, उसके ओंठ सूखने लगते हैं, वाणी रुद्ध जाती है, वह मूर्च्छित हो जाता है, उसके प्राण तक निकल जाते हैं। दु:ख से मुक्त होने का शीघ्र अति शीघ्र प्रयत्न किया जाता है। जो दु:ख से मुक्ति दिलाता है वह प्रशंसनीय तथा श्रद्धा का पात्र हो जाता है। परम चेतना को कभी भी दु:ख का अनुभव नहीं होता। करुणावान तथा मृदुल स्वभाग वाला थोड़ी सी पीड़ा से अधिक व्याकुल हो जाता है। कोई–कोई दु:ख प्रकृति को भी अपने वश में कर लेता है। प्रिय के विछोह का दु:ख जड़–चेतन, पशु–पक्षी, वैराग्यवानों आदि सभी को दु:खी कर देता है दूसरे के दु:ख को देख जो दु:ख होता है उसमें करुणा मिली होती है। दु:ख छिपाने से छिपाते नहीं है। गहरे मानसिक दु:ख को परिताप कहते हैं।

तुलसी ने दुष्परिणाम की आशंका से उत्पन्न उद्विग्न अवस्था को "चिन्ता" कहा। यह एक बड़ा ही सशक्त संवेग है। यह ईश्वरीय समर्पण के बिना किसी प्रकार दूर नहीं होता। चिन्ता अनेक बातों की हो सकती है। प्रिय के सुख की चिन्ता हो सकती है, अपने भावी अनिष्ट को सोचकर चिन्ता हो सकती है, भीषण दु:ख से मुक्ति का उपाय न मिलने पर चिन्ता हो सकती है। चिन्ता व्यक्ति को बहुत ही व्याकुल कर देती है चिन्ता में हृदय जलने लगता हे, चिन्ता में एक क्षण युगों के समान बीतता जान पड़ता हे। चिन्ता में नींद नहीं आती चेहरे का रंग उड़ जाता है तथा ओठ सूखने लगते हैं।

सुख के सम्बन्ध में तुलसी कहते हैं कि प्रेम में सुख होता है, सौन्दर्य और शोभा के दर्शन से सुख होता है, किसी का स्नेह पाकर सुख होता है, महापुरूषों के आगमन से सुख होता है। दुष्टों के नाश से सुख होता है तथा इच्छापूर्ति से सुख होता है। सुख अथवा आनन्द में व्यक्ति गाता है, नाचता हे, सारे वातावरण को और स्वयं को सजाता है, आनन्द में व्यक्ति तरह–तरह के मनोरथ करता है, पुलकित होने लगता है किसी की सराहना करने लगता है। दिव्य वस्तु से सभी को, सब प्रकार के सुख मिलते हैं। सुख को व्यक्ति नष्ट करना नहीं चाहता लेकिन जैसे ही सुख की विरोधी परिस्थितियां उत्पन्न होती हैं वैसे ही सुख नष्ट हो जाता है। कभी–कभी व्यक्ति बोध के धुमिल हो जाने पर सुख स्रोत को नहीं पहचान पाता। तुलसी ने बताया कि प्रेम से सम्बन्धित जो भी क्रिया की जाती है वह सुखपूर्वक ही की जाती है। दिव्य सुख की प्राप्ति बुद्धि के स्थिर होने तथा कामनाओं के नाश होने पर ही होती है। गुणों के आगार तथा सामर्थ्यवान् को तरह–तरह प्रसन्न करने का प्रयास किया जाता है। किसी को प्रसन्न करने के पीछे कोई–कोई प्रयोजन अवश्य बना देता है। कभी–काभी हर्ष और विषाद का साथ–साथ अनुभव होता है। सुख कई प्रकार का होता है– ब्रह्मसुख, परम सुख, काम सुख, राज सुख, अनूप सुख, प्रेम सुख, महासुख, अकथनीय सुख, नूतन सुख, सुर सुख, तीव्र सुख, अति सुख, दुर्लभ सुख, सुकृत सुख, अनिर्वचनीय सुख, अमित सुख।

उमड़े हुए साहस को तुलसी ने उत्साह का नाम दिया है। उन्होंने बताया कि जिस कार्य में

हमारी रुचि होती है, उसको करने में उत्साह व्यक्त होता है। दिव्य आत्मा में विपरीत समय में भी बड़ा उत्साह रहता है। लेकिन उलझन में पड़े चित्त में उत्साह का सदा अभाव रहता है। यदि आनन्दोत्सव नित्य मनाया जाये तो उत्साह निरन्तर उमड़ता रहता है लेकिन यदि आनन्द प्रवाह में बाधा आ जाये तो उत्साह नष्ट भी हो जाता है।

मिश्र संवेगों की श्रृंखला में मोह/संकट/आशंका/भ्रम को तुलसी ने अज्ञान के कारण उत्पन्न किसी मिथ्या बोध की ओर ले जाने वाली अवस्थायें कहा। जब हम समझते हुए भी किसी गलत धारणा को बनाये रखते हैं तो उस अवस्था को मोह कहते हैं, दुविधामयी स्थिति को संदेह कहते हैं, कुछ को कुछ समझ लेने को भ्रम कहते हैं। तुलसी ने बताया कि रहस्य को न जानने के कारण, किसी की वास्तविकता को न समझ पाने के कारण, किसी की सच्चाई का बोध न होने के कारण व्यक्ति मोह/भ्रम/संदेह आदि के वश हो जाता है। मोह को अंध प्रेम तथा मुग्ध होने के अर्थ में भी लिया जाता है, मोह आदि के वश में होने पर बुद्धि ठीक तरह से काम नहीं करती। मोह के कारण ही समस्त विकारों का जागरण होता है, व्यक्ति को जगह–जगह भटकना पड़ता है, वह सद्‌गुणों से प्रेम नहीं कर पाता और दारुण दुःख सहता है। मोह/भ्रम आदि का त्याग ईश्वरीय प्रेम के लिए बड़े ही आवश्यक है, इनके रहते व्यक्ति कभी भी स्थाई सुख नहीं पा सकता।

किसी के प्रति आदर के भाव को तुलसी ने श्रद्धा कहा है। श्रद्धा के उत्पन्न होने पर व्यक्ति श्रद्धेय को प्रणाम करता है, चरणों में गिरता है, सिर झुकाता है, गुणों का गान करता है, हाथ जोड़ता है, आज्ञा का पालन करता है। श्रद्धा में व्यक्ति को अपनी लघुता का सदा मान रहता है। श्रद्धा का विश्वास के साथ बड़ा गहरा सम्बन्ध होता है। श्रद्धा से ही भगवत् प्रेम पाया जा पाता है। प्रशंसा करने के भाव को तुलसी ने श्लाघा बताया। श्लाघा की अभिव्यक्ति गुणवान व्यक्ति के प्रति ही होती है। किसी का उपकार मानने का भाव "कृतज्ञता" है। राग के नष्ट हो जाने को वैराग्य कहते हैं। तुलसी ने वैराग्य को भक्ति के संदर्भ में ग्रहण किया। उन्होंने बताया कि जब साधक को संसार से वैराग्य हो जाता है तभी भगवान के प्रति राग जागता है। किसी सुख से ऊब जाने पर अथवा किसी वस्तु का दुःख का कारण बन जाने पर वैराग्य उत्पन्न होता है। वैराग्य की प्राप्ति धर्म से होती है। वैराग्य सात्विक स्वभाव वाले व्यक्ति में ही उत्पन्न होता है। यदि विषयों के प्रति राग हो जाये, भगवान में संदेह हो जाये तो वैराग्य तुरन्त नष्ट हो जाता है। वैराग्य से बुद्धि सचेत हो जाती है, व्यक्ति में धैर्य आ जाता है, भेद बुद्धि समाप्त होती है। वैराग्य सृष्टि का एक अनिवार्य तत्व है, यह अन्तर की वस्तु होती है। तुलसी ने वैराग्य को एक श्रेयस्कर वृत्ति माना है।

ग्लानि/लज्जा/संकोच/पछताना ये संवेग व्यक्ति में अपराध बोध से उत्पन्न होते हैं। संकोच और लज्जा की अभिव्यक्ति मर्यादा उल्लंघन के भय में भी देखी जाती है। हीनता बोध के कारण भी व्यक्ति

अत्यधिक ग्लानि, संकोच और लज्जा का अनुभव करता है। सामर्थ्य से परे काम करने में सात्विक प्रकृति वाले को संकोच होता है। कर्तव्य का पालन न कर पाने से ग्लानि होती है, तिरस्कार और अपमान से ग्लानि होती है। अनुचित कार्य करने पर बाद में पछतावा होता है। अवसर चूक जाने पर पछतावा होता है।

तुलसी का मानना है कि संकोच और लज्जा के आने पर व्यक्ति अनुचित कार्य नहीं करता है, लज्जा शील व्यक्ति अपने गुणों का वर्णन कभी नहीं करता, लज्जाशील स्त्री मर्यादा का सदैव ध्यान रखती है। लज्जा में सिर नीचा हो जाता है, पछतावा में व्यक्ति हाथ मलता है और सिर धुनता है। ग्लानि में व्यक्ति गलने लगता है। हीनता बोध से उत्पन्न ग्लानि में व्यक्ति सम्मुख नहीं जाता। सात्विक प्रकृति वाला व्यक्ति चो जितना उपकार कर दे उसे संकोच रहता ही है। यदि अच्छे कार्य को करने में लज्जा आती है तो वह लज्जा अच्छी नहीं समझी जाती और यदि बुरे कार्य को करने में लज्जा आती है, तो वह अच्छी समझी जाती है। लज्जा, संकोच आदि इन संवेगों के कारण व्यक्ति को सुख नहीं मिल पाता है, इसलिए विविध उपायों द्वारा इसे दूर करने का उपाय भी किया जाता है। संकोच कभी–कभी शिष्टाचार का अंग होकर सामने आता है। भक्त अपने आराध्य को कभी संकोच में डालकर कार्य नहीं कराना चाहता। कोई–कोई ग्लानि तीक्ष्ण दुःखकारक होती है। किसी–किसी ग्लानि में व्यक्ति अपने प्राणों का भी अन्त कर लेता है।

दूसरे की तुलना में जब हम अपने में दूर न हो पाने वाली कोई कमी देखते हैं, तो ऐसी अवस्था में जो भाव जागता है उसे ईर्ष्या कहते हैं। तुलसी बताते हैं कि ईर्ष्या के कारण हृदय में जलन होती है, बुद्धि नष्ट हो जाती है, उसे सद्‌वृत्तियाँ अच्छी नहीं लगती। व्यक्ति कपट करने लगता है, दूसरे के अकल्याण की कामना करने लगता है। ईर्ष्या को तुलसी ने एक दुष्ट संवेग कहा है। किसी आघात से जब मन की शानित भंग हो जाती है तो उस अवस्था को क्षोभ कहते हैं। अलौकिक सौन्दर्य का प्रभाव मन को क्षुब्ध करने वाला होता है। अपनी हानि की सम्भावना से भी मन क्षुब्ध हो जाता है। किसी के अनुचित व्यवहार से मन में बड़ा क्षोभ जागता है। बलवती इच्छा की पूर्ति जब तक नहीं होती तब तक मन बहुत ही क्षुब्ध रहता है। काम, क्रोध, लोभ आदि दुष्प्रवृत्तियों के जागने पर भी मन क्षुब्ध होता है। चित्त की अस्थिरता को तुलसी ने "चपलता" कहा है। चपलता में व्यक्ति ढिठाई करने लगता है, अनुचित कार्य करने लगता है, व्यंग्य आदि कसने लगता है, इधर–उधर भागने लगता है। "जड़ता" में व्यक्ति ज्यों कि त्यों रह जाता है तथा बुद्धि कुंठित रहती है।

तुलसी ने संतोष को प्राप्त सुख से अधिक सुख प्राप्त न करने की इच्छा बताया। तुलसी ने बताया कि व्यक्ति को कल्याणकारी कार्यों में कभी संतोष नहीं करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के संतोषदायक पदार्थ अलग–अलग होते हैं। कोई–कोई सुख ऐसा होता है जिससे कभी तृप्ति नहीं मिलती है। किसी को परितुष्ट करने के लिए विधियों का सहारा लिया जाता है। कभी–कभी एक को संतुष्ट करने में दूसरा पक्ष

खिन्न हो जाता है। सन्तोष प्राप्त होने पर व्यक्ति कृतज्ञता व्यक्त करता है, शान्ति मिलती है, लोभ का नाश हो जाता है, उसमें उदारता की वृत्ति जागती है। क्षमा/दया/कृपा और करुणा ये संवेग दूसरों के दुःख की अनुभूति से उत्पन्न होने वाले संवेग हैं। क्षमा का सम्बन्ध पूर्णरूप से अपराधी के अपराध से होता है। यदि किसी का भाग्य विपरीत हो, यदि किसी को अनुचित बर्ताव परिस्थितिवश करना पड़े, यदि कोई तीव्र जिज्ञासा के कारण अनुचित बात पूछ बैठे, यदि अपराध करने वाला बालक हो, तो ऐसा अपराधी क्षमा का पात्र होता है। सच्चे दास पर कृपा की जाती है। असहाय, दीन तथा व्याकुल व्यक्ति पर दया आती है। निगृहीत चित्त, जितेन्द्रिय ही दया के विधान होते हैं। प्रभु कृपा की हर समय चाह होती है। भगवत दया से विभेदकारी बुद्धि का नाश होता है। कृपा से व्यक्ति कभी तृप्त नहीं होता, उसे वह अधाकर लेना चाहता है।

****

:: चतुर्थ अध्याय ::

सन्दर्भात्मक टिप्पणियाँ

1. मानक हिन्दी कोश (पाँचवा खण्ड) पृ0 93
   वृहत् हिन्दी कोश, पृ0 1286
2. मानस मुक्तावली (भाग–1) पृ0 24
3. वही (भाग–3) पृ0 141
4. सोशल साइकोलॉजी, पृ0 370--371
5. बटु बिस्वास अचल निज धरमा ।
   तीरथ राज समाज सुकरमा ।। 1/1/11 मा0
6. विषई जीव पाई प्रभुताई। मूढ़ मोह बस होहिं जनाई।। 2/227/1 मा0
   – जग बौराइ राज पदु पाएँ। 2/227/8 मा0
   –मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा।। 7/119/16 मा0, 1/145/1मा0, 1/8 मा0, 1/139/8 मा0, 1/120/8 मा0, 1/124/8 मा0, 7/95/5 मा0 2/67/2 मा0, 2/183 मा0, 3/33/1–2 मा0, 7/69/7 मा0, 7/71 मा0
7. भाग छोट अभिलाषु बड़ करउँ एक बिस्वास ।
   पैहहिं सुख सुनि सुजन सब खल करिहहिं उपहास ।। 1/8 मा0
8. 6/48/7 मा0
9. 2/71/4 मा0, 3/15/6 गीता
10. 5/13 मा0
    – सत्य बचन बिस्वास न करही। बायस इव सबही ते डरही।। 7/111/14 मा0
    – 1/172/7 मा0
    – हौ रघुबंस मनि को दूत ।
    मातु–भानु प्रतीति जानकि। जानि मारुत पूत।। 5/6/1–2 गीता
11. कहे बचन बिनीत प्रीति–प्रतीति–नीति निचोर ।
    सीय मुनि हनुमान जान्यो भली भाँति भलोइ ।। 5/5/9 गीता
12. – 7/82/5 मा0
    – कनक भूधराकार सरीरा । समर भयंकर अति बल बीरा ।। 5/15/9 मा0
    – 5/2 मा0, 7/88/7 मा0
13. 4/6/13 मा0

14. 1/208/4 मा0
15. तब ब्रह्मॉ धरिनिहि समुझावा ।
    अभय भई भरोस जियँ आवा ।। 1/186/9 मा0
16. 5/26/1 मा0
17. 5/28 मा0
18. होइहि काजु मोहि हरष विसेषी। 5/श्लोक/3 मा0
19. 2/6/6 मा0, 6/श्लोक/7 मा0
20. एक बार कालउ किन होऊ ।
    सिय हित समर जितब हम सोऊ ।। 1/244/7 मा0, 1/132/5 मा0
21. सुनि सिव के भ्रम भंजन बचना ।
    गिरि गै सब कुतरक कैरचना ।। 1/118/7 मा0, 7/54/9 मा0
22. 1/258/3–4 मा0
23. 1/230/6 मा0
24. 2/226 मा0
25. यह जिय जानि रहौं सब तीज रघुबीर भरोसे तेरें ।
    तुलसिदास यह बिपति बागुरौ तुम्हहिं सों बनै निबेरें।। 187/9 वि0, 178/10 वि0
26. राम जपु, मूढ़ मन, बार बार ।
    सकल सौभाग्य–सुख–खानि जिय जोनि शठ, मानि विश्वास वद वेद सारं । 46/2 वि0
27. तुलसिदास भरोस परम करुना कोस
    प्रभु हरिहैं विषम भवभीर । 197/11 वि0
28. नाथ नीके कै जानिबी ठीक जन- जीय की।
    रावरो भरोसो नाह कै सु–प्रेम–नेम लियो।
    रुचिर रहनि रुचि मति गति तीय की। 263/2 वि0
29. 250/8 वि0
30. 151/10 वि0
31. 94/8 वि0
32. 119/9 वि0, 95/5 वि0
33. 173/1 वि0
34. राम नाम ही सों जोग–छेम, नेम, प्रेम–पन ।
    सुधा सो भरोसो एहु, दूसरो जहरु ।। 250/7–8 वि0

35. बिपति बेरावन बंधु–बाहु बिनु करौ भरोसो काको। 6/7/2 गीता

36. 1/66/14 गीता

37. राम–सिय–सुत, पुर–अनुग्रह, उचित, अचल प्रतीति। 7/35/6 गीता

38. 2/61/6 गीता

39. पाँच की प्रतीति न भरोसो मोहि आपनोई ।
तुम अपनायों हौं तबै हीं परि जानिहौं ।। 7/63/5 कविता, 7/77/3 कविता, 7/27/4 कविता, 7/81/8 कविता, 95/5 वि0

40. हृषी केस मुनि नाउँ जाउँ बलि, अति–भरोस जिय मोरे ।
तुलसिदास इंद्रिय–संभव दुख, हरे बनिहिं प्रभु तोरे ।। 119/9 वि0

41. 4/29/6 मा0

42. 2/244/2–3 मा0

43. 2/166/5–2/167/8 मा0 तक

44. 2/168/2–3 मा0

45. 1/222/6 मा0

46. राम जपु जीह जानि, प्रीति सों प्रतीत मानि । 247/1 वि0

47. तेहिं बल मैं रघुपति गुन गाथा । कहिहउँ नाइ राम पद माथा ।
मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि भग चलत सुगम मोहि भाई ।
अति अपार जे सरित बर जौ नृप सेतु कराहिं ।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिं ।
एहिं प्रकार बल मनहि देखाई । करिहउँ रघुपति कथा सुहाई । 1/12/9–1/13/1 मा0
6/108/7–8 मा0, 7/103 मा0, 1/14/8 मा0, 1/27/2 मा0, 1/9/2 मा0,
2/233/5 मा0
रावरौ भरोसो बल, कै है कोऊ कियो छल,
कैधों कुल को प्रभाव, कैधों लरिकई है? 1/86/12 गीता
– 254/6 वि0

48. ध्रुव बिस्वासु अवधि राका सी । स्वामि सुरति बीधि बिकासी । 2/324/5 मा0
– यह सपना मै कहउँ पुकारी । होइहि सत्य गएँ दिनचारी । 5/10/7 मा0
– उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख, प्रभु–पद बिमुख न पैहों । 104/3 वि0

49. 1/258/3–6 मा0
नाम सों, प्रतीति–प्रीति हृदय सुथिर थपत ।
पावन किये रावन–रिपु तुल सिहु–से अपत । 130/9–10 वि0, 24/12 वि0

50. 3/35/6 मा0, 7/88/7 मा0, 7/126 मा0

51. तुलसी भरोसो न भवेस भोलानाथ को तों,
कोटिक कलेस करौ मरौ छार छानि सो। 7/161/5 कविता, 7/81/8 कविता,
4/2/4 मा0, 1/118/8 मा0

52. सौवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के। 7/109/8 कविता

53. तुलसी तिहारो भये भयो सुखी प्रीति–प्रतीति बिनाहू। 275/7 वि0

54. – 151/17 वि0, 173/11 वि0
– अस मोहि सब बिधि भूरि भरोसो। किएँ बिचारु न सोचु खरो सो। 1/313/5 मा0

55. कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें। असि परतीहि बजहु जनि मोरें। 1/137/6 मा0,3/41/6मा0

56. सखी बचन सुनि भै परतीती। मिरा बिषादु बढ़ी अति प्रीती। 1/256/3 मा0

57. 4/2/4 मा0, 2/71/4 मा0, 261/15 वि0

58. 168/8 वि0, 7/102/6 मा0

59. 31/8 वि0

60. 1/86/10 गीता

61. 1/55/3 मा0

62. 2/21 मा0, 1/160/6 मा0

63. नाथ दैव कर कवन भरोसा। सोषिअ सिंधु करिअ मन रोसा ।। 5/50/3 मा0

64. 1/222/6 मा0

65. 3/1/11 मा0

66. राम प्रीति–प्रतीति पोली, कपट–करतब ठोसु । 159/4 वि0

67. कलि कालहु नाथ।नाम सों परतीति–प्रीति एक किंकर की निबही है। 279/2 वि0

68. 2/41/6 मा0 ,

69. प्रीति–प्रतीति जहाँ जाकी, तहँ ताको काज सरो। 226/9 वि0

70. 279/2 वि0

71. मुनि दुर्लभ हरि भगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरंतर सुनहिं मानि बिस्वास। 7/126 मा0, 151/17 वि0, 247/1 वि0
225/1 वि0, 7/139/4 कविता, 7/162/5 कविता

72. `कविनउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। 7/89/8 मा0, 5/6/4 मा0, 7/79/8 मा0
73. 7/103क मा0
74. 1/137/6 मा0
75. अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नंहिं संता। 5/6/4 मा0, 116/10 वि0, 170/14 वि0, 184/18 वि0
76. 1/161/3 मा0
77. मोरे जियँ भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ग्यान मन माहीं। 3/9/6 मा0
    बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु ।
    राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु ।। 7/90क/मा0, 3/35/1 मा0
78. नोई निबृति पात्र बिस्वासा ।
    निर्मल मन अहीर निज दासा ।। 7/116/12 मा0
79. 194/8 वि0
80. 254/6 वि0
81. 5/59/6 मा0
82. एहि ते तब सेवक होत मुदा। मुनि त्यागत जोग भरोस सदा। 7/13/14 मा0, 7/45/3 मा0, 3/9/2 मा0, 3/6ख मा0, 7/12/6.11 मा0, 7/63/5 कविता, 7/77/3 कविता, 7/9/4 कविता
    दूसरो, भरोसो नाहिं, बासना उपासना की, बासव, बिरंचि सुर–नर मुनि गन की। 75/3 वि0 168/8 वि0, 103/4 वि0, 155/2 वि0, 186/12 वि0
83. प्रीति प्रतीति बचन मन करनी ।
    श्री मुख राम प्रेम बस बरनी ।। 2/320/5 मा0
84. 1/163/3 मा0
85. 1/163/4 मा0
86. 1/137/6–8 मा0
87. 2/71/4 मा0
88. 2/48 मा0
89. मानक हिन्दी कोश – पहला खण्ड –291
    बृहत् हिन्दी कोश – 159 पृ0
90. श्री मद्‌भगवत् गीता– 3/30, 16/12

91. मानस मुक्तावली – रामकिंकर उपाध्याय पृ0 224

92. एन इन्ट्रोडक्सन टू सोशल साइक्लोजी
विलियम मैक डुग्गल, पृ0 368– 369, 372, 373

93. वही

94. वही

95. अब जनि कोउ भाखै भटमानी। बीर बिहीन मही मैं जानी।
तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि–बैदेहि बिबाह।। 1/25/3–4 मा0

96. तुलसिदास यहि आस, सरन राखिहि जेहि गीघ उघारयो। 202/10 वि0

97. तुलसिदास कहँ आस यहै बहु पतित उघारे। 110/8 वि0

98. 110/8 वि0

99. राम नाम मातु पितु स्वामि समरथ हितु
आस राम नाम की, भरोसो राम नाम को। 7/178/2 कविता

100. विषम वियोग न जाइ बखाना ।
अवधि आस सब राखहिं प्राना ।। 2/85/8 मा0

101. दरस–आस–पियास तुलसीदास चाहत मरन। 218/10 विनय

102. लोभ मनहिं नचाव कपिज्यों, गरे आसा डोरि। 158/9 वि0, 123/9 वि0, 199/12 वि0

103. आस–बिबस खास दास है नीच प्रभुनि जनायो। 276/3 वि0

104. 278/2 वि0

105. 218/10 वि0, 123/9 वि0, 1/23/5 मा0

106. 123/9 वि0

107. सुधा समुद्र समीप बिहाई। मृग जलु निरखि मरहु कत धाई। 1/245/5 मा0

108. तुलसिदास तजि आस त्रास सब ऐसे प्रभु कहँ गाई। 5/45/10 गीता

109. त्यागि सब आस संत्रास, भव पास, असि निसित हरिनाम जपु दास तुलसी। 46/18 वि0

110. जे लोलुप भये दास आस के ते सबही के चेरे। 168/7 वि0

111. यह बिनती रघुबीर गुसाई ।
और आस–बिस्वास–भरोसो, हरौं जीव जड़ताई। 103/2 वि0

112. राम रहित धिग जीवन आसा । 2/154/5 मा0

113. 1/251/4 मा0

114. एकहिं बार आस सब पूजी। अब कछु कहब जीभ करि दूजी।। 2/15/1 मा0

115. नृपन्ह केरि आसा निसि नासी। बचन नरवत अवली न प्रकासी।। 1/254/1 मा0
116. 2/50/5 मा0
117. 6/95/6 मा0
118. सर सरीर सूखे प्रान–बारिचर जीवन–आस तजि चलनु चहेरी। 5/49/5 गीता
119. आस त्रास तिमिर तोष तरनि तेज जारे। 1/38/8 गीता
120. घायल लषनलाल लखि बिलखाने राम,
भई आस सिथिल जगन्निवास दील की। 6/52/4 कविता
121. जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास, अरु विषय आस मन माहीं। 123/9 वि0
122. प्रभु–बिस्वास आस जीती जिन्ह, ते सेवक हरि केरे। 168/8 वि0
123. 7/34/5 मा0
124. 7/121/6 मा0
125. 3/13 मा0
126. प्रभुहि देखि सब नृप हियँ हारे। जनु राकेस उदय भएँ तारे। 1/244 मा0
127. 1/37/5 मा0
128. 1/42/8 मा0
129. 1/37/5 मा0
130. 4/7/4 मा0
131. एहि बीच कपिन्ह बिधंस कृत मख देखि मन महुँ हारई। 6/84/6 मा0
132. कपि बल देखि सकल हियँ हारे । 6/34/1 मा0
133. 6/48/6 मा0
134. 1/250/5 मा0
135. भयेहूँ उदास राम, मेरे आस रावरी। 178/1 वि0
136. 178/1 वि0
137. ते धन्य तुलसीदास आस बिहाइ जे हरि रंग रए। 3/45/60/4 मा0
138. 46/18 वि0, 199/12 वि0
139. निज निज अवसर सुधि किये, बलि जाउँ, दास–आस पूजि है खास खीन की। 278/2 वि0
140. 163/8 वि0
141. 163/8 वि0

141. बृहत् हिन्दी कोश– पृ0 631, 1363, 1289, 1396, 1368

(क) 1388, 834, 784, 831, 1488, 569, 271, 1274–75, 1316, 354

(ख) मानक हिन्दी कोश तीसरा खण्ड– पृ0 69, 193–194 पृ0 पांचवा खण्ड, 97 पृ0 पांचवा खण्ड, 218 पृ0 पांचवा खण्ड, 188 पृ0 पांचवा खण्ड, 207 पृ0 पांचवा खण्ड, 518 पृ0 तीसरा खण्ड, 418 पृ0 तीसरा खण्ड, 352 पृ0 पांचवा खण्ड, 532 दूसरा खण्ड, 125 पांचवा खण्ड, 488 पृ0 पहला खण्ड, 42 दूसरा

142. शब्द साधनाः राम चन्द्र वर्म्मा पृ0 137

143. An Introduction to Social Psychology: William Mc Dugall, M.B. F.R.S. पृ0 366

144. श्रीमद् भगवत् गीता, पृ0 13/6

145. श्रीमद भगवत् गीता, पृ0 1/47

146. श्रीमद् भगवत् गीता, पृ0 2/1

147. श्रीमद् भगवत् गीता, पृ0 2/8

148. (क) 2/69/1 मा0

(ख) सुनि राजा अति अप्रिय बानी। हृदय कंप मुख दुति कुमुलानी।
चौथे पन पायउँ सुत चारी। बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी।। 1/207/1–2 मा0

149. राम वियोग विकल सब ठाढे।
जहँ तहँ मनहुँ चित्र लिखि काढ़े। 2/83/1 मा0
– जबहि रघुपति संग सीय चली।
बिकल बियोग लोग, पुरतिय कहैं, अति अन्याउ, अली। 2/1021–2 गीता
2/248/मा0, 2/142 मा0, 2/104/8 मा0 1/48/8 मा0, 1/136/8 मा0, 1/336/मा0, 2/302/1 मा0, 7/4 ख मा0, 6/108 क मा0, 1/332/1 मा0

150. 2/140/5 मा0

151. 2/170/8 मा0

152. 5/20 मा0

153. 2/9/4 मा0

154. हृदय हरस निषाद अति पति मुद्रिका पहिचानि। 5/2/9/ गीता0, 2/188/2 मा0

155. सोक बिकल सब रोवहिं रानी।
रूपु सीलु बलु तेजु बखानी। 2/155/3 मा0

156. 6/103/1 मा0, 1/86/6 मा0

157. सुवन सोक संतोष सुमित्रहि, रघुपति भगति बरे हैं। 6/13/3 गीता0
6/60/3–16/ मा0

158. 1/255/मा0, 1/256/5 मा0

159. सुनि लछिमन सीता कै बानी। विरह बिबेक धरम निति सानी।
लोचन सजल जोरि कर दोऊ। प्रभु सुन कछु कहि सकत न ओऊ। 6/108/3–4 मा0

160. 2/109/6 मा0

161. 2/308/6 मा, 2/95/6 मा0

162. अपने चलत न आजु लागि अनमल काहुक कीन्ह।
कहिं अघ एकहिं बार मोहि देअ दुसह दुखु दीन्ह। 2/20 मा0

163. कह अंगद लोचन भरि बारी। दुहुँ प्रकार भद मृत्यु हमारी। 4/25/3 मा0

164. 6/101/6 मा0

165. 5/9/2 कविता, 5/5/3 कविता, 1/11/2 कविता, 6/4/6 कविता

166. 7/183/1 कविता, 7/177/1 कविता, 7/130/2 कविता, 93/9 वि0

167. 7/124/5 कविता, 7/2124 कविता0, 7/154/3 कविता, 7/174/3 कविता

168. 7/73/2 कविता, 7/81/1 कविता, 7/148/1 कविता, 7/97/3 कविता, 80/2 वि0,
7/97/3 कविता, 5/6/7 कविता, 7/79/4 कविता

169. 7/83/2 कविता, 7/176/2 कविता, 5/25/2 कविता, 6/16/8 कविता, 5/16/2 कविता,
2/2 विनय, 136/8/3 विनय, 271/8 विनय, 7/13/9 मा, 7/121 क मा0, 6/39/10मा
6/99/ मा0, 6/31क/मा0

170. रूदन करत देखी सब नारी। भयड विभीषनु भनु दुख भारी। 6/104/4 मा0 6/22/2 मा0
5/8 मा0, 4/6/1 मा0, 6/61 मा0, 5/31/1 मर0, 2/38/8 मा0, 1/75/2 मा0,
6/116 मा0, 2/120 मा0, 1/251/7 मा0, 2/55/4 मा0
पंकज से पगनि पानद्वौं न परुष पथ, कैसे निबहे हैं निब हैगे, गति नई है?
एही सोच संकट मगन नर नारि, सबकी सुमति राम राग रंग रई है। 2/34/9–12 गीता0
1/89/10 गीता0, 6/152/3 कविता

171. 1/259/3 मा0

172. 7/21/5 कविता0, 222/7 विनय

173. अस बिचारि रघुवंस मनि हरहु विषम भव मीर। 7/130 क मा0 7/106/6 मा0,
245/2 विनय

174. खेद खिन्न छुद्रित तृषित, राजा बाजि समेत।
खोजत व्याकुल सरित सर जल, बिनु भयउ अचेत। 1/157/ मा0, 4/23/3 मा0, 7/100/10 मा0, 6/39/10 मा0

175. सुनि अति बिकल भरत बर बानी। आरति प्रीति बिनय नय सानी।
सोक मगन सब सभाँ खमारू। मनहुँ कमल बन परेउ तसारू। 2/262/1–2 मा0, 1/283/5 मा, 7/13/11 गीता0
विघरक बैठि कहइ कटु बानी। सुनत कठिनता अति अकुलानी। 2/40/1 मा0, 5/11/4 मा0 5/50/2 मा0, 2/28/4 मा0, 6/8/4 मा0

176. भए बरन संकार कलि भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं दुख भय रुज सोक वियोग। 7/100 क/मा0

177. 2/22/6 मानस, 2/302/1 मा0, 1/22/35 गीता0, 7/17/16 गीता0

178. 94/12 विनय, 7/3/1 कविता0, 6/62/मा0, 7/105 ख मा0

179. प्रभु को उदास भाउ, जन को पाप प्रभाउ,
दुहुँ भाँति दीनबन्धु। दीन दुख दहैगो। 259/3–4 विनय

180. सिला साप संताप बिगत भह, परसत पावन पाउ। 100/7 विनय

181. तुम सुखधाम राम श्रम भंजन, हौं अति दुखि तत्रिबिध श्रम पाई। 242/7 विनय

182. मूल्यों सूल करम कोलन्ह तिल ज्यों बहु बारनि पेरो। 143/4 विनय

183. 109/8 वि0, 119/10 वि, 111/4 वि0, 88/3 वि0

184. 1/67/1 मा0, 6/72/5 मा0, 2/300/छं0 मा0, 5/35/9 मा0, 4/16/9 मा0, 4/15/8 मा0, 2/13 मा0

185. 1/104/3 गीता0,

186. 1/89/10 गीता0

187. 2/214/8 मा0

188. कहत हित अपमान मैं कियो, होत हिय सोइ सालु। 5/3/3 गीता0,
2/2 वि0, 218/6 वि0, 152/7 वि0, 110/7 वि0, 5/3/3 गीता0

189. नाना भाँति मनहिं समुझावा। प्रगटन ग्यान हृदयं भ्रम छावा।
खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई। भयउ मोह बस तुम्हरिहिं नाई। 7/58/1–2 मा0, 1/285/मा0, 2/47/मा0, 6/110/20 मा0, 57/13 वि0, 136/1/4 वि0,
– काम क्रोध मद लोभ रत गुहा सक्त दुख रूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ परे तम कूप। 7/73 क मा0

–सुत सनेहु इत बचनु उत संकट परेउ नरेसु।
सकहु त आयसु धरहु सिर भेटहु कठिन कलेसु। 2/40/मा0, 2/31/4 मा0, 2/301/6 मा0
1/56 मा0, 2/54 मा0, 7/30/5 गीता0, 49/17 वि0, 7/166/6 कविता0
–5/23/मा0, 7/101/1 मा0, 1/279/3 मा0, 5/46 मा0, 7/106 ख0, 5/22/9 गीता
102/8 वि0, 199/10 वि0, 163/8 वि0, 202/3 वि0, 134/3 वि0

190. 247/4 वि0, 1/70/6 मा0, 2/91 मा0, 2/46/5 मा0, 7/92/6 मा0, 2/61 मा0,
2/61/3 मा0, 1/38/1 मा0

191. 1/93/3 गीता0.

192. 1/38/15 गीता0

193. 7/104/3 कविता0, 7/135/4 कविता

194. 1/56/6 मा0

195. 1/75/2 मा0

196. 1/117/1–2 मा0

197. 2/20 मा0

198. 1/142/ मा0

199. 1/159/7 मा0

200. 1/170 मा0

201. 1/175/8 मा0

202. 1/182/छं0 4 मा0

203. 2/45/7 मा0

204. सुनि मृदु बचन भूप हियँ सोकू। ससि कर छुअत बिकल जिमि कोकू।
गयउ सहमि नहिं कछु नहिं आवा। जनु सचान बन झपटेड़ लावा।
बिबरन भयउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहूँ तरु तालू। 2/28/2–4 मा0
– 1/51/2 गीता0, 11/10 पि0, 114/4 विनय0

205. 2/30/5–2/32/4 मा0
5/43/15 गीता0, 93/2 विनय

206. देखी व्याधि असाध नृपु परेउ धरनि धुनि भाथ।
कहत परम आरत बचन राम–राम रघुनाथ।
व्याकुल राउ सिथिल सब गाता। करिनि कलपतरु भनहुँ निपाता।
कंठु सूख मुख आव न बानी। जनु पाठीनु दीन बिनु पाती। 2/34/–2/34/2 मा02/59/2 गी0

207. 2/36/2-3 मा0, 93/10 विनय0, 114/4 वि0

208. 2/36/7 मा0

209. परी न राजहि नीद निसि हेतु जान जगदीसु। 2/38 मा0

210. सूखहिं अधर जरइ सब अंगू। मनहुँ दीन मनिहीन अंगू। 2/39/1 मा0

211. सीय सहित सुत सुग दोउ देखि देखि अकुलाई।
सकइ न बोलि् बिकल नरनाहू। सोक जनित उर दारुन दाहू।

212. भूपहि बचन बानसम लागे। करहिं न प्रान पयान अभागे।
लोग विकल मुरुछित नरनाहू। काह करिहअ कछु सूझ न काहू। 2/78/6-7 मा0

213. सुठि सुकुमार कुमार दोउ जनक सुता सुकुमारि।
रथ चढ़ाइ देखराइ बनु फिरेहु गएँ दिन चारि। 2/81/ मा0

214. लेत सोच भरि छिनु छाटीं। जनु जरि पंख परेउ संपाती।
राम सम कह राम सनेही। पुनि कह राम लखन बैदेही। 2/147/7 मा0

215. सूत बचन सुनतहिं नरनाहू। परेउ धरनि उर दारुन दाहू।
तलफत बिषम मोह मन भापा। माजा मनहुँ मीन कहुँ दाया। 2/152/5-6 मा0
प्रान कंठगत भयउ भुआलू। मनि बिहीन जनु व्याकुल व्यालू।
इन्द्रीं सकल बिकल भइ भारी। जनु सर सरसिज बनु विनबारी। 2/152/1-2 मा0
बिलपत राउ बिकल बहु भाँती। भइ जुग सरिस सिराति न राती। 2/154/3 मा0
राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुवर बिरहँ राउ गयउ सुरधाम। 2/155/ मा0 6/6/4 गीता0, 2/3/5 गीता0

261. मुख सुखहिं लोचन स्त्रवहिं सोकु न हृदयँ समाई।
मनहुँ करुन रस कटकई उतरी अवध बजाई। 2/46 मा0

217 जरहिं बिषम जर लेहि उसासा। कवनि राम बिनु जीवनु आसा। 2/50/5 मा0

218. सहमि सूखि सुनि सीतलि बानी। जिमि जवास परे पावस पानी।
कहि न जाइ कछु हृदय बिषादू। मनहुँ मृगी सुनि केहरि नादू।
नयन सजल तन थर-थर कांपी। माजहिं खाइ मीन जनुमापी। 2/53/2-4 मा0
- 2/72/6 मा0

219. 2/56/5-7 मा0, 2/4/ गीता0, 1/100/5 गीता0

220. /56/- 2/66/4 मा0 2/69/1- 2/72/1 मा0 2/6/ गीता0
ठाढ़े हैं लषन कमल कर जोरे।
उर धकधकी, न कहत कछु सकुचानि, प्रभु परिहरत सबनि तृन तोरे। 2/11/1-2 गीता

221. 2/73 मा0

222. 2/75/4 मा0

223. 2/80/3 मा0

224. 2/166/1, 2/182/2 मा0, 6/14/3 गीता0

225. 2/155/3–4 मा0

226. 2/159/3–6 मा0

227. 1/86/6 मा0, 6/5/3 गीता0, 217/2 विनय0, 136/6/3 वि0

228. सकल सखी गिरिजा गिरि मैना। पुलक सरीर भरे जल नैना। 1/67/3 मा0
भूठि न होई देवरिषि बानी। सोचहिं दंपति सखीं सपानी।
उर धरि धीर कहइ गिरिराऊ। कहहु नाथ का करिअ उपाऊ। 1/67/7–8 मा0

229. 1/81/5–8 मा0
धरनि धरहिं मन धीर कह विरंचि हरिपद सुमिरु।
जानत जनकी पीर प्रभु भंजहि दारुन विपति। 1/184/ मा0

230. 1/137/2 मा0
हरगन मुनिहि जात पथ देखी। बिगत मोह मन हरष बिसेषी।
अति समीत नारद पहिं आए। गहि पद आरत बचन सुनाए।। 1/138/1–8 मा0

231. भग लोग देखत करत हाय हाय हैं।
बन इनको तो बाम बिधि कै बनाय हैं। 2/28/ गीता0
– 2/20/ कविता0

232. 2/93/4–5 मा0

233. 5/6– 16 कविता0

234. 3/10/ गीता0

235. करत कहू न बनत, हरि हिय हरष सोक समोइ। 5/5/13 गीता0, 6/6/4 गीता0

236. 2/67/6 मा0, 247/4 वि0, 102/8 वि0, 98/9 वि0, 122/3 वि0, 2/54/10 गीता0
1/21/5 मा0, 7/40/6 मा0, 2/64/5 मा0,

237. 2/33/6 मा0

238. 2/36/1 मा0

239. दुखवहु मोरे दास जनि, मानेहु मोरि रजाइ।
भलेहिं नाथ, माथे धरि आयसु चलेउ बजाई। 2/47/3–5 मा0

240. 2/74/8 मा0

241. तुलसिदास प्रभु कृपाल, निरखि जीव जन बिहालु।
—भंज्यो भव जाल परम मंगलाचरे। 74/15–16 विनय0
—जरत सुर असुर, नरलोक शोकाकुल, मृदुल चित्त, अचित, कृत गरल थानं। 11/10 वि0, 58/14 वि0, 166/14 वि0, 1/169/6 मा0, 1/53/3 मा0, 3/40/6 मा0

242. कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सम अरु असुम कर्म फलदाता।
अस बिचारि जे परम सयाने। भजहिं मोहि संसृत दुख जाने। 7/40/5–6 मा0

243. 46/9 वि0, 29/2 वि0, 25/2 वि0, 106/10 वि0, 6/23/8 गीता0, 5/43/15 गीता0

244. 5/43/15 गीता0, 25/2 वि0

245. 166/14 वि0, 168/2 वि0, 92/10 वि0, 2/250/7 मा0, 2/254/7 मा0, 7/161/7क0 6/56/7 कविता0, 1/6/34 गीता0, 6/23/8 गीता0, 109/1 वि0, 106/10 वि0

246. मैं दुख सोक बिकल कृपालु। केहि कारन दया न लागी। 114/4 वि0, 127/10 वि0 109/1 वि0, 7/82/4 मा0, 7/97/6 कविता0, 7/26/1 कविता0

247. गुर, पुरलोग, सास—दोउ देवर, मिलत दुसह डर तपनि बुतैहै। 5/50/9 गीता0, 5/51/9 गीता0, 6/20/10 गीता0, 2/69/8 गीता0, 7/38/20 गीता0, 2/53/5 गीता0, 6/9/12 गीता0, 2/67/6 मा0, 2/211/8 मा0,

248. 2/197/6 मा0

249. 2/211/6 मा0 2/182/ मा0,

250. कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहि राम पिरीते। 7/1/11 मा0

251. करत प्रबेस मिटे दुख दावा। जनु जोगीं परमारथु पावा। 2/238/3 मा0

252. ऐसेंहि हरि बिनु भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा। 7/78 ख मा0, 7/88/5 मा0
—जपहिं नामु जन आरत भारी। अरहिं कुसंकट होहि सुखारी। 1/21/5 मा0, 247/4 वि0, 206/5 वि0, 144/8 वि0, 7/28/4 कविता

253. 1/71/2 मा0, 47/2 वि0,

254. 1/71/2 मा

255. 2/222/1 मा0

256. 2/250/7 मा0' 5/31/4 गीता0, 20/3 वि0, 7/180/2 कविता, 6/58/6 कविता

257. 4/3/1 मा0

258. 2/266/2 मा0, 2/306/मा0

259. 1/6/34 गीता0, 1/4/7 गीता0, 7/23/8 गीता0

260. 8/2 वि0, 58/1 वि0, 44/7 वि0, 40/15 वि0, 6/56/7 कविता0, 7218/2 कविता0 7/82/6 कविता

261. 8/2 वि0, 13/5 वि0,

262. 49/10 वि0, 37/2 वि0, 98/9 वि0, 144/6 वि0, 7/154/3 कविता0,

263. 47/6 वि0, 220/2 वि0,

264. 136/10/1 वि0

265. 7/26/1 कविता0, 147/12 विनय0, 253/11 वि0,

266. 7/79/4 कविता0, 7/75/1 कविता0, 7/76/5 कविता0, 74/11 वि0

267. 6/3/7 कविता0

268. सेइय सहित सनेह देह भरि, काम धेनु कलि कासी।
समनि सोक संताप पाप रुज, सकल सुमंगल रासी। 22/1–2 वि0, 26/4 वि0, 218/2 वि0

269. 1/59/6 गीता0

270. 1/59/6 गीता0

271. 5/38/3 गीता0

272. 2/269/ मा0

273. 2/254/7 मा0

274. 2/175/6 मा0

275. 2/156 मा0

276. 2/153/4 मा0, 1/71 मा

277. 2/60/7 मा0, 2/142/3 मा0, 4/25/11 मा0

278. 1/96/5 मसा0, 2/160/1 मा0, 2/166/2 मा0

279. 1/42/6 मा0, 18/2 वि0

280. 2/213/ मा0, 2/66/2 मा0

281. अबिचल, अमल, अनामय, अबिरल, ललित, रहित छल छाया।
समन समल संताप पाप रुज मोह मान मद माया। 7/14/5–6 गीता, 7/138/4 कविता

282. 6/22/14 गीता0

283. 1/6/52 गीता0.

284. 7/38/13 गीता0, 7/38/8 गीता0, 2/183/8 मा0

285. 2/224/1–2 मा0,

286. 2/190 मा0

287. 1/56 मा0, 113/4 वि0

288. 1/60/6 मा0

289. 1/256/3 मा0, 1/117/1–2 मा0, 1/98 मा0, 2/47 मा0, 2/2 वि0, 136/10/6 वि0
46/11 वि0, 56/13 वि0, 122/3 वि0

290. 5/30/4 कविता0

291. 6/3/7 कविता0

292. 73/6 वि0, 120/6 वि0, 10/1 वि0, 58/17 वि0

293. 1/ सो0 मा

294. 1/117/1–2 मा0

295. चालहु प्रजा सोकु परिहरहू। 2/174/1 मा0

296. नहीं तृन चरहिं न पिअहिं जलु मोचहिं लोचन बारि।
व्याकुल भए निषाद सब रघुवर बाजि निहारि।
धरि धीरजु तब कहइ निषादू। अब सुमंत्र परिहरह बिषादू। 2/142/1 मा0

297. 2/175/2 मा0, 2/200/6 मा0

298. 2/173/1 मा0

299. तात करहु जनि सोचु बिसेषी।
सब दुखु मिटिहिं राम पग देखी। 2/211/8 मा

300. 2/274/1 मा0

301. 47/6 वि0

302 203/33 वि0

303. 136/7/2–3 वि0,89/4 वि0, 107/7 वि0,201/6 वि0, 5/7 वि0,
मूल्यों सूल करम–कोलुन्ह तिल ज्यों बहु बारनि पेरो। 143/4 वि0, 1/62/6

304. रामदास लालसा उछाहु।
पथ श्रम लेसु कलेसु न काहू। 2/274/6 मा0

305. तब लगि मोहि परिखेहु तुम्ह भाई।
सहि दुख कंद मूल फल खाई। 5/श्लोक/2 मा

306. 7/120/15 मा0, 6/96/2 मा0, 2/312/7 मा0, 2/305/5 मा0, 2/130/1 मा0,
1/167 मा0, 166/14 वि0

307. सिबि दधीच हरिचंद नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा।। 2/94/3 मा0

308. 1/279/3 मा0, 2/318/2 मा0
309. 1/66/7 गीता
310. 168/2 विनय
311. 109/8 विनय
312. 157/5 विनय
313. 167/9 वि0
314. 71/9 वि0
315. 246/6 वि0, 136/11/5 वि0, 136/10/5 वि0
316. 203/26 वि0
317. 268/6 वि0,
318. 172/7 वि0
319. 2/165 मा0, 2/148/8 मा0, 1/253/7 मा0, 2/2 श्लोक मा0, 2/11/3 मा0, 3/27/4 मा0
320. 7/111/1 मा0
321. 2/239/1 मा0
322. 2/66/4 मा0, 2/98/2 मा0
323. 2/142/1 मा0
324. 2/62/4 मा0
325. 2/44/7 मा0
326. 2/39/3 मा0, 2/84/2 मा0, 6/60/3 मा0, 2/219 मा0
327. 2/95/6 मा0
328. 2/21/2 मा0
329. 2/15 मा0
330. 2/86/8 मा0
331. 5/14/5 मा0
332. 1/96/4 मा0, 7/124/8 मा0
333. 2/44/7 मा0
334. 7/38/3 मा0, 1/264/1 मा0
335. 6/11/10 मा0, 3/37 मा0, 6/99/2 मा0

336. 1/338/3 मा0

337. 1/55/7 मा0

338. 2/99 मा0, 2/142 मा0

339. 2/70/7 मा0

340. 2/218 मा0

341. प्रनतपाल रघुबंसमनि त्राहि त्राहि अब मोहि।
आरत गिरा सुनत प्रभु अभय करैगो तोहि। 6/20 मा0, 1/109/3 मा0, 3/1/14 मा0

342. 75/7 वि0

343. 2/37/4 मा0

344. कोसलपति गति सुनि जनकौरा। भे सब लोक सोक बस बौरा।।
जेहिं देखे तेहि समय बिदेहू। नामु सत्य अस लाग न केहू।। 2/270/2 मा0

345. 1/337/1 मा0, 2/157/4 – 2/157/8 मा0, 2/99 मा0, 3/88/6 मा0, 1/337/5 मा0
2/53 मा0

346. 1/188/3 मा0, 6/18/5 गीता

347. 3/29/6 मा0

348. 1/134/5 मा0

349. 6/59/2 मा0

350. 2/245/6 मा0, 2/75/8 मा0

351. 1/72/8 मा0

352. 1/56 मा0

353. 2/246/6

354. 1/90/1 मा0

355. 7/57 मा0

356. 7/दोहा 1 मा0

357. 2/294/8 मा0

358. 2/175/6 मा0

359. 2/98/3 मा0

360. 1/156/5 मा0

361. 1/56 मा0

362. 2/276/8 मा0
363. 1/183/8 मा0
364. 6/58/5 मा0
365. 2/246/4 मा0
366. 2/13 मा0
367. 1/62/6 मा0
368. 1/45/8 मा0
369. 1/273/7 मा0
370. 2/70/4 मा0
371. 7/108/7 मा0
372. 2/67 मा0
373. 1/58/1 मा0
374. 2/141/6 मा0
375. 1/59/1 मा0.
376. 1/75/2 मा0
377. 7/112/5 मा0
378. 1/260/3 मा0
379. 1/259/6 मा0
380. 1/259/6 मा0
382. 2/49/1 मा0
382. 2/158/ मा0
383. 2/37/4 मा0
384. 4/6/2 मा0
385. 2/244/6 मा0
386. 211/9 वि0, 88/3 वि0, 136/1/2 वि0
387. 89/3 वि0
388. 256/3 वि0, 257/9 वि0, 90/8 वि0,
389. 203/20 वि0, 231/3 वि0
390. 189/6 वि0,

391. 112/10 वि0
392. 2/88/5 गीता0
393. 7/38/5 गीता0
394. 1/5/5 मा0
395. 1/48 ख मा0
396. 1/42/6 मा0
397. 1/67/1 मा0
398. 1/53/3 मा0, 1/184 मा0, 5/10/6 गीता0, 5/4/8 गीता0, 5/44/8 गीता0
399. 2/244/6 मा0
400. 1/96/छं0 मा0, 2/149/5–6 मा0, 2/91/4 मा0, 2/11/4 मा0,
401. 1/260/3 मा0, 2/49/8 मा0, 1/260/3 मा0
402. 2/31/5 मा0, 2/179/4 मा0, 2/313/2 मा0, 7/28/4 कविता0
403. 5/9/6 मा0, 5/11/1–2 मा0, 3/40/6 मा0, 98/9 वि0, 7/148/7 कविता0
404. अति लघु बात लागि दुखु पावा। 2/44/7 मा0
405. 2/44/7 मा0
406. 2/234/ मा0
407. 1/96/ मा0
408. 4/46/ मा0
409. 7/23/8 गीता0
410. 2/9/4 गीता0
411. 5/31/3 गीता0
412. 1/144/8 गीता0
413. 239/10 विनय0
414. 217/6 विनय0, 213/2 विनय0
415. 68/3 विनय0
416. 75/9 विनय0
417. 151/11 विनय0
418. चिन्ता: एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन पृ0 1
419. अमर कोश 1/23

420. चिन्ताः एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन पृ0 41

421. फ्रायड : मनोविश्लेषण पृ0 359– 365 पृ0

422. मानक हिन्दी कोश दूसरा खण्ड पृ0 238

423. मानस मुक्तावली भाग 3, पृ0 142

424. 2/282 मा0, 2/283/3 मा0, 1/272/ मा0, 6/76/8 मा0, 7/1/3 मा0, 2/40/3 मा0, 2/98 मा0, 2/6/8 मा0, 2/95/ मा0, 2/150/7 मा0, 2/95/2मा0 1/55/5 मा0, 1/174/2 मा0, 1/266/7 मा0, 1/269/6 मा0, 2/271/2 मा0, 2/298/6 मा0, 2/225/6 मा0, 7/123/8 कविता0, 6/17/3 गीता0, 1/12/2 गीता0, 1/92/5 गीता0, 1/101/6 गीता0, 2/86/6 मा0,

425. रघुपति अनुजहि आवत देखी।
बाहिज चिंता कीन्हि विसेषी। 3/29/1 मा0

426. राज लखन सब अंग तुम्होरं।
देखि सोचु अति हृदय हमारे। 2/11/4 मा0, 2/34/1 गीता0,
6/18/7 गीता0

427. चुपहिं रहे रघुनाथ संकोची।
प्रभु गति देखि सभा सब सोची। 2/269/3 मा0

428. 2/226/1 मा0

429. है है कहा विभीषन की गति रही सोच भरि छाती। 6/7/6 गीता0

430. सुनहु पथिक! जो राम मिलहिं बन, कहियो मात संदेसों।
तुलसी सोहि और सबहिनतें इन्ह को बड़ों अंदेसों। 2/87 गीता0

431. 2/60/8 गीता0

432. फिरिहैं किधौं फिरन कहिहैं प्रभु कलपि कुटिलता मोरि।
हृदय सोच, जल भरे बिलोचन, नेह देह भइ मोरि। 2/70/4 गीता0

433. 1/130/6 मा0, 1/169/2 मा0, 1/266/7 मा0, 2/265/5 मा0, 2/296/8 मा0, 2/216/7 मा0, 1/104/3 गीता0, 5/7/9 गीता0, 195/6 वि0, 2/69/4–5 मा0, 2/212/1 मा0, 195/6 वि0 6/98/3 मा0

434. 1/262/4 मा0,

435. राम सुकीरति मनिति भदेसा।
असमंजस अस मोहि अंदेसा। 1/13/10 मा0

436. कहौं सो विपिन हैं धौं केतिक दूरि।
जहाँ गवन किया, कुँवर कोसलपति, बूझति सिय पिय पतिहि बिसूरि। 2/13/1-2 गीता0

437. निज अथजाल, कालिकाल की करालता,
बिलोकि होत व्याकुल, करत सोई सोचु हौं। 7/121/8 कविता0

438. 6/53/6 कविता0

439. मोहि अछत यहु होई उछाहू। लहिहिं लोग सब लोचन लाहू।
पुनि न सोच तनु रहउ कि जाऊ। जेहिं न होई पाछें पछिताऊ। 2/3/5 मा0

440. 1/70/5 गीता0, 2/67/3 मा0, 2/48/2 मा0, 1/173/7 गीता0, 275/5 वि0

441. कौसल्या दिन राति बिसूरति। बैठि मनहिं मन मौन।
तुलसी उचित न होइ रेइबो, प्रान गए संग जौन। 2/86/5-6 गीता0

442. 2/147/6 मा0

443. 29/2 वि0, 1/205/5 मा0

444. नित नव सोचु सती उर भारा।
कब जैहउँ दुख सागर पावा। 1/58/2 मा0

445. 7/132/1 कविता0, 7/62/2 मा0, 2/152/4 मा0, 2/144 मा0, 2/205/4 मा0,
7/121/8 कविता0, 76/13 वि0, 29/2 वि0, 76/13 वि0, 275/5 वि0, 139/10 वि0

446. 263/6 वि0, 172/7 वि0, 150/1 वि0, 1/165/7 मा0, 2/281/7 मा0

447. 59/17 वि0, 1/67/7 मा0, 2/157 मा0, 6/13/6 मा0, 1/104/3 गीता0,
6/9/4 कविता0

448. 1/69/5 गीता0, 2/70/4 गीता0, 7/26/6 गीता0,

449. 3/22 मा0, 4/25/8 मा0, 4/26/6 मा0

450. 7/22/3 कविता0

451. 7/83/6 कविता0

452. 5/8/4 गीता0

453. 1/231/1 मा0

454. 2/263/7 मा0

455. हृदयं सोचु समुझत निज करनी। चिंता अमित जाइ नहिं बरनी।
निज अघ समुझि न कहु कहि जाई। तपइ अवाँ इव उर अधिकाही 1/57/1-4 मा0
1/87/13 गीता0

456. 1/58–1/59 मा0

457. माथें हाथ मूदि दोउ लोचन।

तनु हारि सोचु लाग जनु सोचन। 2/28/7 मा0

458. सोच बिकल बिबरन महि परेऊ। मानहुँ कमल मूलु परिहरेऊ।

परी न राजहि नींद निसि हेतु जान जगदीसु।

रामु रामु रटि मोरू किय कहइ न मरमु महीसु। 2/37/7–2/38 मा0, 6/5/9 गीता0

459. सूखहिं अधर जरइ सब अंगू।

मनहुँ दीन मानिहीन मुअगू। 2/39/1 मा0

460. लेत सोच मरि छिनु छिनु छाती।

जनु जरि पंख परेउ संपाती। 2/147/7 मा0

461. अनरथु अवध अरंमेउ जबतें। कुसगुन होहिं भरत कहुँ तब तें।

मागहिं हृदयँ महेस मनाई। कुसल भातु पितु परिजन भाई।

एहि बिधि सोचत भरत मन धावन पहुँचे आई।

गुर अनुसासन श्रवन सुनि चले गनेसु मनाइ।

हृदय सोचु बड़ कछु न सोहाई। अस जानहिं जियँ जाउँ उड़ाई।

एक निमेष बरष सम जाई। एहि बिधि भरत नगर निअराई। 2/156/5, 2/157/8 मा0

462. 2/166/4 – 2/167/8 मा0

463. 2/275/2 मा0

464. पन परिताप, चिंता–निसि, सोच–संकोच– तिमिर नहिं थोरी। 1/104/3 गीता0

465. 7/123/8 कविता0

466. 2/316/3 मा0, 2/21/5 मा0, 220/20 वि0, 159/8 वि0

467. 29/2 वि0

468. 1/47/5 गीता0

469. 1/95/13 गीता0

470. 2/226/6 मा0,

471. 2/149/8 मा0

472. 2/151 मा0

473. 4/4/7 मा0

474. 235/8 वि0
475. 263/6 वि0, 7/77/5 कविता0, 7/1121 कविता0
476. 2/267 मा0
477. 2/241 मा0, 2/319 मा0
478. 2/50/8 मा0
479. 4/6/10 मा0
480. 1/262/4 मा0, 152/8 वि0
481. 150/1 वि0
482. 7/75/1 कविता0
483. 2/160/4 मा0
484. 2/172/5 मा0
485. 2/173/1 मा0, 2/98/2 मा0
485 2/45 मा0
487. 2/314/6 मा0
488. 2/211/8 मा0
489. 2/171/2 मा0
490. 2/172/4 मा0
491. 2/171/3 – 2/172/3 मा0
492. 4/27/9 मा0, 2/17 मा0, 2/13/5 मा0
493. बृहत् हिन्दी कोशः कालिका प्रसाद/राज बल्लभ सहाय/मुकुन्दीलाल, पृ0 145, 1106 पृ0, 1088 पृ0
494. मानक हिन्दी कोशः रामचन्द्र वर्म्मा पृ0 528 पृ0, 641 पृ0
495. शब्द साधनाः रामचन्द्र वर्म्मा पृ0 34
496. Great Books of the Western World the Great Idiaas-1 पृ0 686 से 688 तक
497. आवत सुत सुनि कैकयनंदिनि।
हरषी कबि कुल जलरूह चंदिनि। 2/158/2 मा0
498. राका ससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरषान।
बढ्यो कोलाहल करत जनु नारि तरंग समान। 7/3 ग मा0

499. तापस नृप निज सखहि निहारी।
हरषि मिलेउ उठि भयउ सुखारी। 1/170 मा0

500. मुदित भए सुनि रघुवर बानी।
भयउ लाभ बड़ गइ बड़ि हानी। 2/72 मा0

501. पाय परवारि बैठि तरु छाहीं।
करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं। 2/66/3 मा0

502. गुनिहि राम बहु भाँति जगावा।
जग ध्यान जनित सुख पावा। 3/9/17 मा0

503. बरनि उभापति राम गुने हरषि गए कलास।
तब प्रभु कपिन्ह दिवाए सब विधि सुख प्रद बास। 7/14 ख मा0

504. पूजहिं माधव पद जल जाता।
परसि अखद बटु हरषहिं गाता। 1/43/5 मा0

505. मगन मोद लिए गोद सुमित्रा बार–बार बलि जाई। 1/19/2 गा0

506. प्रीति मगन बिलोकि रघुराई। हरषि उठाइ लियो उरलाई। 6/120/18 मा0

507. राजसभा रघुबीर मृनाल ज्यों संभु सरासन तोरयो।
यों कहि सिथिल सनेह बंधु दोउ, अब अंक मरिलीन्हें। 1/102/11 गीता0

508. मुनि धन जन सरबस सिव प्राना।
बाल केलि रस तेहिं सुख माना। 1/197/2 मा0

509. 1/51/3 गीतावली

510. 4/6/94 मा0

511. 3/11/1 मा0

512. 2/122/5 मा0

513. 6/108/6 मा0

514. 7/81/3 मा0

515. 2/189/6 मा0

516. निरखि सहज सुंदर दोउ भाई। होहि सुखी लोचन फल पाई। 1/219/2 मा0
–देखि सरूप सनेह सब मुद्रित जनम फलु पाइ। 2/221 मा0
–7/11/1 गीता0 1/91/2 गीता0

517. जनकसुता समेत प्रभु सोभा अमित अपार।
देखि भाल कपि हरषे जय रघुपति सुखसागर।। 6/109 ख/ मा0, 7/11ख मा0

518. बहुरि बच्छ कहि लालु कहि रघुपति रघुबर तात।
कबहि बोलाइ लागाइ हिय हरषि निरखि हउँ गात। 2/68/ मा0

519. 1/322/1–4 मा0

520. 1/321/छं0 मा0

521. 1/324/छं0 मा0

522. 1/289/1 मा0, 1/211/5 मा0, 1/220 मा0, 2/124 मा0

523. 2/62/8 गीता0

524. 1/45/13 गीता0

525. 1/37/19 गीता0

526. 1/61/1 गीता0 1/61/4 गीता0

527. 268/5 विनय0, 139/19 विनय0, 5/10/6 विनय0

528. 268/7 विनय0

529. 31/5 विनय0, 64/5 विनय0, 30/4 विनय0, 44/34 विनय0

530. 5/25/2 कवितावली, 6/30/7 कविता0

531. प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु विधि वस सुढर ढरे हैं। 6/13/8 गीता0
–सुनत सुहावनि चाह अवध घर घर आनंद बधाई। 1/102/13 गीता0
–जनक मुदित मन टूटत पिनाके । 1/94/1 गीता0
–दादुर मुदित, भरे–सरित–सर, भहिं उमंग जनु अनुराग। 7/18/12 गीता0
–आकरण्यों सिय–मन समेत हरि, हरष्यों जनक हियो। 1/90/13 गीता0

532. 6/20/6 गीता0

533. 1/158/ मा0

534. 1/49/1 मा0

535. 2/236 मा0

536. 1/235/छं0 मा0

537. 2/6/2 मा0

538. 1/269/5 मा0

539. 1/268/5 मा0

540. 1/142/3 मा0

541. 1/253/3 मा0

542. रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसिका बृद्ध तह दखि हरष कपिराइ। 5/5 मा0

543. बीर वरहिं जनु तीर तरू मज्जा बहु बह फेन।
कादर देखि डरहिं तहँ सुमटन्ह के मन चेन। 6/87/ मा

544. 7/78/9 मा0

545. 2/309/3 मा0

546. 2/211/6 मा0

547. 1/241/1 मा0

548. 7/94/1 मा0

549. 3/43/7 मा0

550 3/17/8 मा0, 1/298/2 मा0

551. 1/185/छं0 3 मा0, 1/193/2 मा0, 2/126/7 मा0, 1/47/3 मा0

552. 1/192/3 मा0

553. 3/33/6 मा0

554. 5/29/2 कविता0

555. 1/96/8 गीता0

556. 3/43/3 गीता0

557. 1/39/3 गीता0

558. 1/45/2 गीता0

559. 7/62 मा0

560. 5/5/3 मा0

561. 1/286/6 मा0

562. 1/22/35 गीता0, 1/38/19 गीता0, 1/86/23 गीता0, 5/51/14 गीता0, 1/92/18 गीता0, 1/9/7 गीता0, 3/16/8 गीता0, 1/43/16 गीता0

563. 1/18/7 मा0, 2/207/7 मा0, 2/250/6 मा0

564. 2/311/7 मा0

565. 6/102/9 मा0

566. 2/302/4 मा0

567. 2/287/7 मा0
568. 1/216/7 मा0
569. 1/90/2 मा0
570. 5/59/7 मा0
571. 2/106/4 मा0
572. 6/46/5 मा0
573. 1/85 मा0,6/100/छं02 मा0, 7/113/7 मा0, 6/88/छं0मा0
574. 2/234/4 मा0
575. 3/13/5 मा0
576. 2/306/4 मा0, 2/219/4 मा0, 2/123/8 मा0
577. 2/315/8 मा0
578. 6/101/6 मा0
579. 1/58/3 गीता0
580. 3/17/1/3 गी0, 5/28/4 गी0, 6/20/7 गीता0
581. 7/22/8 मा0, 2/86/7 मा0
582. 1/142/3 मा0
583. 2/278/4 मा0, 2/310/6 मा0, 6/118/7 मा0
584. 1/306 मा0
585. 1/105/ मा0
586. 1/178/5 मा0
587. 2/135/4 मा0
588. 2/131/2 मा0
589. 2/130/5 मा0
590. 7/62/2 मा0
591. 7/44/2 मा0
592. 1/21/5 मा0
593. 1/1/11-12 मा0
594. 1/189/6 मा0
595. 1/189/8 मा0

596.

597. 1/91/6 मा0

598. 1/134/2 मा0

599. 2/80/1 मा0, 2/100/7 मा0, 3/27/16 मा0, 1/111/7 मा0

600. 1/29/2 मा0

601. 2/103/1 मा0

602. 1/40/6 मा0

603. 3/44/1 मा0

604. 7/63/6 मा0

605. 1/90/8 मा0

606. (क) दसरथ पुत्र जन्म सुनि काना। मानहुँ ब्रह्मानंद समाना।
परमानंद पूरि मन राजा। कहा बोलाइ बजावहु बाजा।
गुर बसिष्ठ कहँ गयउँ हंकारा। आए द्विजन सहित नृप द्वारा।
अनुपम बालक देखेन्हि जाई। रूप रासि गुन काहि न सिराई।
नंदीमुख सराध करि जातकरम सब कीन्ह।
हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह। 1/192/1–1/193 मा0

(ख) बाजे बजाने की अन्य स्थानों पर भी अभिव्यक्ति–
1/247/5 मा0, 1/261/4 मा0, 1/264/1 मा0, 1/285/मा0, 1/295/1–2 मा0, 1/301/5 मा0, 6/102/छं मा0, 7/8/4 मा0, 6/109 क मा0, 2/94/4 गीता0, 1/96/8 गीता0, 5/37/6 गीता0, 5/39/8 गीता0, 7/34/3 गीता0, 6/23/2 गीता0, 1/1/4 गीता0, 6/22/2 गीता0

दान देने की अभिव्यक्ति – 1/195/8 मा0, 1/196/1 मा0, 1/294/8 मा0, 1/345 मा0, 2/7/4 मा0

607. (क) 1/193/1 – 1/195/ तक मा0

(ख) हरष वन्त चर–अचर, भूमि सुर–तनरूह पुलक जनाई।
बरषहिं बिबिध–निकर कुसुमावलि, नभ दुन्दुभी बजाई।
कौसल्यादि भातुं मन हरर्षित, यह सुख बरनि न जाई।
सुनि दसरथ सुत जनम लिये, सब गुरूजन विप्र बोलाई।
बेद–बिहित करि क्रिया परम सुचि, आनंद उर न समाई।

सदन बेद–धुनि करत मधुर मुनि, बहु विधि बाज बधाई।
पुरवासिन्ह प्रिय–नाथ–हेतु निज निज सम्पदा लुटाई। 1/1/ गीता0

(ग) पुष्प वरसा – 2/205/मा0, 1/247/5 मा0, 1/301/4 मा0, 1/325/छं04 मा0, 7/10/1 मा0, 6/102/छं0 मा0

गाना– 1/193 मा0, 1/247/5 मा0, 1/264/3 मा0, 1/301/6 मा0, 1/344/छं0 मा0, 6/109 क मर0, 7/3 ख मा0, 7/8/5 मा0

मांगलिक द्रव्य– 7/2/4–6 मा0

नगर सजाना– 1/295/6 –1/296 मा0, 1/343 मा0

608. (क) बारि विलोचन बाँचत पाती। पुलक गात आई मरिछाती।
रामु लखनु उर कर बर चीठी। रहि गए कहत न खारी मोती।
पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची। हरषी सभा बात सुनि साँची। 1/289/3–6 मा0

(ख) पुलकित– 1/228/मा0, 1/259 मा0, 1/81मा0, 2/205/मा0

609. 1/294/1 – 1/295 मा0

610. (क) गावहिं मंगल मंजुल बानीं। सुनि कल ख कलकंठि लजानीं।
मंगल द्रव्य मनोहर नाता। राजत बाजत बिपुल निसाना। 1/296/3–5

(ख) सुरन्ह सुमंगल अवसरू जाना। बरषहि सुमन बजाइ निसाना। 1/313/1 मा0

611. 1/311 मा0

612. संभु समय तेहि रामहि देखा। उपजा हियँ अति हरषु विसेषा।
जय सच्चिदानंद जग पावन। अस कहि चलेउ मनोज नसावन। 1/49/1–3 मा0

613. संभु चरित सुनि सरस सुहावा। भरद्वाज मुनि अति सुख पावा।
बहु लालसा कथा पर बाढ़ी। नयनन्हि नीरू शोभा बलिहाई। 1/103/1–2 मा0

614. अहो धन्य तब जन्मु मुनीसा। तुम्हहि प्रान सम प्रिय गौरीजा। 1/103/4 मा0

615. सचि आरती मुदित उठि धाई। द्वारेहिं भेटि भवन लेइ आई। 2/158/3 मा0

616. प्रभु आगमनु श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा।
हे बिधि दीन बंधु रघुराया। मो से सठ पर करि हहि दाया। 3/9/3–4 मा0
–होइ हैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भव मोचन।
दिसि अरू बिदिस पंथ नहि सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं सूझा। 3/9/9–11 मा0

617. 3/9/20– 3/11 मा0

618. फिरत सनेहँ मगन सुख अपने।
नाम प्रसाद सोच नहिं सपने। 2/24/8 मा0

619. परमानंद प्रेम सुख फूले ।
बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले। 1/195/5 मा0

620. सुख भूल दुध्हु देखि पुलक तन हुलस्यो हियो। 1/323/छं0 3 मा0

621. सुसनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता मे प्रमोद परिपूरन गाता।
मन प्रसन्न तन तेजु बिराजा। जनु जिय राउ समु भए रजा। 2/255/4–5 मा0

622. जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहु। मोपर करहु कृपा अरूनेहू। 7/83/7 मा0
एवमस्तु कहि रघुकुल नायक। बोले बचन परम सुखदायक। 7/84/1 मा0

623. 7/117/2 मा0 7/89/7 मा0

624. 1/144/8 मा0

625. 1/43 ख/5 मा0

626. 1/49/1–5 मा0

627. 1/71/ मा0

628. 1/130/2 मा0

629. (क) सुनु सेवक सुरतरू सुरधेनू। 1/145/1–2 मा0
सेवत सुलभ सरल सुखदायक

(ख) सुनु सर्वग्य कृपा सुख सिंधो। 7/17/1 मा0

(ग) पुनि पुनि कहहिं धन्य सुखरासी। 7/19/6 मा0

(घ) तात कुसल कहु सुख निधान की। 6/59/1 मा0

(ङ.) जय जय जय कृपाल सुख कंदा। 5/33/5 मा0

(च) सुख स्वरूप रघु बंस मनि मंगल मोद निधान। 2/200 मा0

(छ) 1/34/2 गीता0

(ज) 204/4 वि0, 49/1 विनय0

(झ) 46/10 विनय, 22/13 विनय, 46/4 विनय0, 13/3 विनय0, 51/2 विनय0, 159/9 विनय0, 64/7 विनय0, 255/4 विनय0

(ञ) 1/74/4 कवितावली, 7/112/5 कविता0, 1/149/4 कविता0

630. 7/90 ख मा0

631. 1/31/11 मा0

632. 2/105/2 मा0

633. 1/1/7–1/2 मा0, 7/3/23 गीता0, 49/18 विनय0

634. 1/19/2 मा0

635. 7/118/10 मा0, 31/10 विनय0, 136/2/2 विनय0

636. 1/14/2 गीता0

637. 1/6/28 गीता0, 43/1 विनय0

638. 1/59/5 गीता0

639. 44/31 विनय0

640. 7/14/1 मा0, 7/29/2 कविता0, 7/1/2 गीता0

641. 2/64/8 मा0

642. 1/241/5 मा0

643. 7/83 ख मा0

644. 7/152/2 कविता0, 1/7/9 मा0, 1/22/6 मा0, 1/185/छ.2 मा0, 7/77 ख मा0
43/1 मा0

645. सोचु हृदयँ बिधि का हो निहारा ।
सबु सुखु सुकृतु सिरान हमारा ।। 2/69/4 मा0

646. सत्व बहुत रज कछु रति कर्मा।
सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा ।। 7/103/3 मा0

647. राम सैल बन देखन जाहीं ।
जहँ सुख सकल दुख नाहीं। 2/248/5 मा0

648. सकल लोक लोलन सुखदायक,नख सिख सुमग स्याम सुन्दर तन। 7/16/20 मा0

649. रघुपति सदा संत सुखदायक । 2/3/3 गीता0

650. राम विरोधी उर कठोर तें प्रगट कियो है बिधि मोहू।
सुंदर सुखंद सुसील सुधा निधि, जरनि जाइ जिहि जोए। 2/61/2–3 गीता0

651. बल विनोद, मोद मंजुल बिघु लीला ललित जुन्हैया।
भूपति पुन्य–पयोधि उमंग, धर घर आनंद बधैया। 1/9/7–8 गीता0

652. आजु महा मंगल कोसलपुर सुनि नृप के सुत चारि भए। 1/3/1 गीता0

653. राम राज भइ काम धेनु महि, सुख संपदा लोक छाए। 6/23/9 गीता0
1/4/4 गीता0

654. हृदयँ सोचु समुझत निज वरनी। चिंता अमित जाइ नहि बरनी।
संकर रूख अवलोकि भवानी। प्रभु मोहि तजेउ हृदयँ अकुलानी। 1/57/1-3 मा0

655. दीनदयालु दुरित दरिद दुख दुनी दुसह तिहुँ ताप तई है।
देव दुवार पुकारत आरत, सबकी सब सुख हानि भई है। 139/1-2 वि0

656. तारकु असुर भयउ तेहि काला। भुज प्रताप बल तेज विसाला।
तेहिं सब लोक लोक पति जीते। भए देव सुख संपति रीति। 1/81/5-6 मा0

657. जयति, पायोधि पाषाण जलयान कर, यातुधान प्रचुर हर्ष हाता। 26/9 वि0

658. हृदय मलिन बासना मान मद जीव सहज सुख त्यागे। 82/4 वि0

659. जीव को जीवन प्रान को प्यारो।
सुखहु को सुख राम सो बिसारो। 176/4 वि0

660. मोहि मूढ मन बहुत बिगोयो।
याके लिए सुनहु करुनामय, मै जंग जनभि जनभि दुख रोयो। 245/3 वि0

661. 5/49/3 गीता0

662. (क) भूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिअेषी। 1/214/8 मा0
(ख) जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भए मुनि बीती त्रासा।
गिरि बन नदीताल छबि छाए। दिन दिन प्रति अति होहि सुहाए।
खग मृग बृंद अनंदित रहहीं। मधुप मधुर गुंजत छबि लहही। 3/13/1-3 मा0
(ग) प्रगटे जहँ रघुपति ससि चारू। विस्व सुखद खल कमल तुसारू। 1/15/5 मा0

663. सुरन्ह सुमंगल अवसरू जाना ।
बरषहिं सुमन बजाइ निसाना। 1/313/1 मा0, 1/264/ मा0

664. रामराज बैठे त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका। 7/19/7 मा0

665. आवत देखि मुदित मुनि बृंदा। कीन्ह दंडवत रघुकुल चंदा। 2/133/6 मा0,
5/41/4 मा0, 6/107/8 मा0, 7/3 क मा0

666. सानुज सांनद हिये आगे है जनक लिये, 1/84/8 गीता0

667. अब मुनिवर बिलंव नहिं कीजै। महाराज कह तिलक करीजै। 7/9/8 मा0
–तब मुनि कहेउ सुमंत्र सन सुनत चलेउ हरषाद। 7/10 क मा0,
1/297/3 मा0, 1/298/3 मा0, 1/299/1 मा0

668. गावहिं देहिं असीस मुदित। 1/1/14 गीता0, 6/22/6 गीता0

669. प्रेम पुलकि आनंद मुदित मन तुलसीदास कल की रति गैहैं। 5/51/14 गीता0

670. मुदित मन आरती करै माता। 1/110/1 गीता0

671. अज व्यापक मे कमनादि सदा।
करूनाकर राम नमामि मुदा। 6/110/7 मा0

672. देखि राम मुनि आवत हरषि दंडवत कीन्ह। 7/32 मा0

673. गई मुदित मन गौरि निकेता। 1/227/5 मा0

674. भागहु भूमि धेनु धन कोसा।
सर्बस देउ आजु सहरोसा ।। 1/207/3 मा0

675. एहि बिधि बासर बीते चारी।
रामु निरखि नर नारि सुखारी। 2/279/1 मा0

676. कहत धरम इतिहास सप्रीती।
भयउ मोरू निजि सो सुखु बीती। 2/310/1 मा0

677. तेहिं अवसर भाइन्ह सहित रामु भानु कुल केतु।
चले जनक मंदिर मुदित बिदा करावन हेतु। 1/334/ मा0

678. आयसु मागि चरन सिसनाई।
चले हरषि सुमिरत रघुराई । 4/22/9 मा0

679. सब कर हित रूख राउरि राखे।
आयसु किएँ मुदित पुर भावे। 2/257/3 मा0

680. भूप धरम जे वेद बखाने ।
सकल करइ सादर सुख माने । 1/154/5 मा0

681. मुदित राउ कहि मलेहि कृपाला।
पठए दूत बोलि तेहि काला। 1/286/2 मा0

682. जौ रन हमहि पचारै कोऊ।
लरहिं सुखने, कालु किन होऊ। 1/283/2 मा0

683. तेही दिन मुनि बृन्द अनंदित तुरत तिलक को साज सजायो। 7/21/13 गीता0

684. 1/289/3 मा0, 1/325/छं0 मा0

685. रामु लखन सीता सहित सोहत परन निकेत।
जिमि बसव बस अमरपुर सची जयंत समेत। 2/141/ मा0

686. खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं।
बिरहित बैर मुदित मन चरहीं। 2/123/8 मा0

687. जोइ तनु धरउँ तजउँ पुनि अनायास हरिजान। 7/109 ग मा0

688. सुर कवन रावन सरिस स्वकर काटि जेहिं सीस।
हुने अनल अति हरष बहु बार सारिव गौरीस। 6/28 मा0

689. बूझउँ तिन्हहि राम गुन गाहा।
कहहिं सुनउँ हरषित खगनाहा। 7/109/11 मा0

690. कहेउ कृपाल लेकि उतराई। केवट चरन गहे अकुलाई। 2/101/4 मा0

691. नगर नारि नर गुर सिख मानी।
बसे सुखेन राम रजधानी ।। 2/321/8 मा0

692. जीति मोह महिपालु दल सहित बिबेक भुआलु।
करत अकंटक राजु पुरँ सुख संपदा सुकालु।। 2/235 मा0

693. 2/107/मा0, 1/96/16 गीता

694. 1/35/9 मा0

695. 1/293/मा0, 1/334/3–4 मा0, 2/51/8 मा0

696. सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी।
नाम प्रसाद ब्रह्म सुख भोगी ।। 1/25/2 मा0

697. नयन विषम मो कहुँ भयउ सो समस्त सुखमूल ।
सबइ लाभु जग जीव कहँ भएँ ईसु अनुकूल।। 1/341/मा0
1/149/8 मा0, 2/29/11 गीता

698. बार–बार कौसिक चरन सीसु नाइ कह राउ।
यह सबु सुखु मुनिराज तब कृपा कटाच्छ पसाउ।। 1/331 मा0

699. जौ परलोक इहाँ सुख चहहूँ ।
सुनि मम बचन हृदयँ दृढ़ गहहू ।। 7/44/1 मा0

700. अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी।।
नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन स्तें।। 1/22/78 मा0

701. 1/36/1 मा0

702. अस मानस मानस चख चाही ।
भइ कबि बुद्धि विमल अवगाही ।।

भयउ हृदयँ आनंद उछाहू ।
उभनेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू ।। 1/38/9–10 मा0

703. 1/43ख/8 मा0

704. 1/293/3 मा0

705. 2/150/6 मा0

706. 7/21/45 गीता

707. 1/57/4 गीता

708. प्रबल साप पनि साप दुसह दव दारुन जरनि जरी।
कृपा सिप्प सिंचि बिबुध–बेलि ज्यों फिरि सुख–फरनि फरी।। 1/57/4 गीता

709. स्वारथ परमारथ करत लागत, श्रम पथ गयो सिराइ कै।
सपने कै सौतुक, सुख–सस सुर सीचत देत निराइ कै।। 5/28/11–12 गीता

710. ज्यों कलप–बेलि सकेलि सुकृत सुफूल–फूली सुख फली। 3/17 गीता
1/4/26 गीता

711. 1/15/6 गीता

712. 1/75/4 गीता

713. 14/9 विनय

714. 136/12/3 विनय

715. 136/12/3 विनय

716. 123/10 विनय

717. 126/3 विनय, 136/12/4 विनय, 167/8 विनय, 136/12/3 विनय

718. 134/10 विनय, 142/21 विनय, 157/8 वि0, 1/87/6 विनय, 1/341/4 मा0,
182/2 विनय, 240/1 विनय

719. 1/23/1 मा0, 2/305/5 मा0, 1/176/2 मा0

720. 7/88क मा0

721. ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा। पुनि निज भवन गवन हरि कीन्हा।। 7/9/2 मा0

722. फिरि सब नगर दसानन देखा । गयउ सोच सुख भयउ बिसेषा।। 1/178/5 मा0

723. राम बिरह व्याकुल भरतु सानुज सहित समाज।
पहुनाई करि हरहु श्रम कहा मुयित मुनिराज।। 2/213 मा0

724. ध्यानु प्रथम जुग मख विधि दूजे। द्वापर परितोषत प्रभु पूजे।। 1/26/3 मा0

725. निलगता पर रीझि रघुबर, देहु तुलसिहिं छोरि। 158/12 विनय0

726. 249/7 विनय0

727. होइ प्रसन्न दीन्हेहु सिव पद निज। 7/3 विनय0

728. 134/10 विनय0

729. जौ प्रसन्न प्रभु जो पर नाथ दीन पर नेहु।
निज पद भगति देइ प्रभु पुनि दूसरे बर देहु। 7/108 ख/मा0
3/10/23 मा0, 3/41/मा0, 3/42/1 मा0

730. 5/16/9 मा0, 2/266/2 मा0

731. (क) निरखि मनोहर ताई सुख पाई कहैं एक–एक सों
भूरि भाग हम धन्य, आलि! ए दिन एखन। 1/75/4–5 गीता0 1/5/30 गीता0
(ख) मातु, पितु, प्रिय, परिजन, पुरजन धन्य,
पुन्य पुंज पेखि पेखि प्रेमरस पियो है। 1/10/7–8 गीता0, 1/10/5 गीता0

732. 1/61/1 गीता0

733. मुदित मन बर बदन सोभ उदित अधिक उछाहू। 1/97/7 गीता0,
7/21/41 गीता0

734. 1/4/15 गीता0

735. 7/12/14 गीता0

736. जे हरषहिं पर संपति देखी। 2/129/7 मा, 7/37/1 मा0

737. पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं। 3/45/1 मा0

738. जे पर भनिति सुनत हरषाहीं।
ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं। 1/7/12 मा0

739. सहित सहाय जाहु मम हेतू ।
चलेउ हरषि हियँ जलचर केतू ।। 1/124/6 मा0, 2/208 ख मा0,
3/26/6 मा0, 1/137 मा0

740. जब काहू कै देखहिं विपती ।
सुखी भए मानहुँ जग नृपती ।। 7/39/3 मा0

741. पितु आयस भूषन बसन तात तजे रघुबीर ।
बिसमउ हरषु न हृदयँ कछु पहिरे बलकल चीर ।। 2/165 मा0, 2/148/7 मा0,
2/11/3 मा0, 1/270 मा0, 2/308/7 मा0, 7/37/2 मा0, 7/25/8 गीता,
2/23/2 गीता, 5/17/8 गीता

742. 1/21/2 मा0

743. 1/47/3 मा0

744. 1/110/8 मा0

745. 1/178/5 मा0

746. 1/191/6.4/2 मा0

747. 1/195/5 मा0

748. 1/243/8 मा0

749. 1/241/6 मा0

750. 1/303/8 मा 0

751. 1/306/1 मा0

752. 1/307/3 मा0

753. 1/314/5 मा0

754. 1/322/6.2 मा0, 1/3/5 गीता

755. 1/323/2 मा0, 1/9/9 गीता

756. 2/83/7 मा0

757. 2/107/4 मा0

758. श्लोक 1/7

759. 1/23/1 मा0

760. 1/23/2 मा0

761. 1/36/1 मा0

762. 1/41/6 मा0

763. 1/13/7 मा0

764. 1/26/3 मा0

765. 1/30/13 मा0

766. 1/72/2 मा0

767. 1/118/7 मा0

768. 1/133/5 मा0

769. 1/145/ मा0

770. 1/149/8 मा0

771. 1/154 मा0

772. 1/189/8 मा0

773. मानक हिन्दी कोश : पहला खण्ड पृ0 342

774. बृहत हिन्दी कोश : पृ0 188

775. चिन्तामणि : पं0 रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 5

776. रस मीमांसा : पं0 रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 130

777. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त (प्रथम भाग): गोविन्द त्रिगुणायत, पृ0 251--252

778. मानस मुक्तावली (भाग–3) पृ0 251

779. वही (भाग–4) पृ0 87

780. वही, पृ0 153

781. ताकत सराध कै बिबाह कै, उछाह कछू,
डोलै लोल बूझत सबद ढोल तूरना । 7/148/3–4 कविता

782. को कहि सकै अवधवासिन को प्रेम–प्रमोद- उछाह। 1/2/47 गीता

783. सकल सुरह के हृदयँ अस संकर परम उछाहू ।
निज नयहि देखा चहहिं नाथ तुम्हार बिबाहुँ ।। 1/88 मा0, 1/40/5 मा0,
1/360 मा0, 1/296/8 मा0

784. भयउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहै रघुपति गुन गाहा।। 7/63/6 मा0
सीय को सनेह सील कथा तथा लंक की,
चले कहत चाय सो, सिरानो पथ छन में। 5/31/2 कविता, 1/74/15 गीता

785. पल में दल्यो दासरथी दसकंधर, लंक विभीषन राज बिराजे।
राम सुभाव सुने तुलसी हुलसे अलसी, हम से गल गाजे।। 7/1/2 -3 कविता
7/15/5 कविता
रहनी रीति रावरी नित हिय हुलसी है ।
ज्यों भावै त्यों करु कृपा तेरो तुलसी है। 149/14 विनय, 182/1 वि0,
7/14/8 गीता, 1/74/15 गीता

786. चली गान करत, निसान बाजे गहगहे,
लहलहे लोयन सनेह सरसई है । 1/96/7 गीता, 6/19/5 गीता, 2/224/2 मा0

787. छबि तेहि काल की कृपालु सीता दूलहु की हुलसति हिये तुलसी के नितनई है।
1/96/23 गीता, 1/31/12 गीता

788. 1/358/7–8 मा0, 2/1/2 मा0

789. नौमी तिथि मधु मास पुनीता ।
सुकल पच्छ अभिजित हरि प्रीता ।।
सीतल मंद सुरभि बह बाऊ ।
हरषित सुर संतन मन चाऊ ।। 1/190 मा0

790. बेलि बिटप सब सफल सफूला ।
बोलत खग मृग अलि अनुकूला ।।
तेहि अवसर बन अधिक उघाहू ।
त्रिबिध समीर सुखद सब काहू ।। 2/276/3-4 मा0

791. देखत चित्रकूट बन मन अति होत हुलास ।
सीता–राम–लषन-प्रिय, तापस–वृन्द-निवास ।। 2/47/2 गीता

792. 7/144/3 कविता

793. पाहुने कृसानु पवभान सों परोसो,
हनुमान सनमानि कै जेंवाये चित चाय सों । 5/24/5-6 कविता

794. 2/11/4 कविता

795. सा जिकै सनाहं गजगाह, सउछाह दल,
महाबली धाए बीर जातुधान धीर के । 6/31/1 कविता, 6/23/4 कविता, 6/49/6 कविता
बाजहिं ढोल निसान जुझाऊ। सुनि धुनि होइ भटि–ह- मन चाऊ।। 6/40/2 मा0

796. 1/263/4 मा0

797. 1/316/5 मा0

798. 2/234/8 मा0

799. 1/353/1 मा0

800. 2/274/3 मा0

801. लघु- भाग-भाजन उदधि उमग्यो लाभ–सुख चित चाय कै। 3/17/4/5 गीता

802. 7/32/7 गीता

803. लगे सजन सेन, भयो हियो हुलास ।
जय जय जस गावत तुलसिदास ।। 5/16/13 गीता

804. सखी। भूखे प्यासे, पै चलत चित चाय हैं ।
इन्ह के सुकृत सुर–संकर सहाय हैं ।। 2/28/3 गीता

805. 1/70/13 गीता

806. 1/97/7 गीता

807. 5/22/14 गीता

808. लरिकाई बीती अचेक चित, चंचलता चौगुने चाय । 83/3 वि0

809. 2/15/8 कविता, 2/14/2 कविता

810. अति बिषाद बस लोग लोगाई । गए मातु पहि रामु गोसाई ।।
मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ। मिटा सोचु जनि राखै राऊ ।। 2/50/8 मा0, 2/57/3 गीता, 1/5/28 गीता

811. अति असंक मन सदा उछाहू। 1/136/3 मा0

812. पालिबे असिधार-ब्रत प्रिय प्रेम--पाल सुभाउ ।
होइ नित केहि भाँति, नित सुबिचारु, नहिं चित चाउ।। 7/25/6 गीता

813. 5/4/4 गीता

814. 1/4/4 गीता

815. 1/4/6 गीता

816. 1/5/28 गीता

817. सगुन सुहावने सूचत मुनि-मन-अगम उछाहु। 3/17/1/2 गीता

818. मगल मोद उछाह नित जाहिं दिवस एहि भाँति ।
उमगी अवध अनंद भरि अधिक अधिक अधिकाति ।। 1/359 मा0

819. बिगत बिषाद निषाद पति-सबहि बढ़ाइ उछाहु ।
सुमिरि राम भागेउ तुरत तरकस धनुष सुनाहु ।। 2/190 मा0

820. 2/48/2 मा0

821. 7/32/8 गीता

822. अनुदिन उदय उछाह, उमग जग, घर–घर अवध कहानी । 1/4/27 गीता

823. 1/84/24 गीता

824. राम दरस लालसा उछाहू। पथ श्रम लेसु कलेसु न काहू।। 2/274/3 मा0

825. तेहि निसि नीद परी नहिं काहू। राम दरस लालसा उछाहू।। 2/36/8 मा0

826. 1/352/8 मा0

827. 1/296/8 मा0

828. 1/296/8 मा0

829. 1/296/8 मा0

830. 1/2/47 गीता

831. मानक हिन्दी कोश . चौथा खण्ड, पृ0 424

832. बृहत हिन्दी कोश पृष्ठ 1107

833. शब्द साधना : रामचन्द्र वर्म्मा, पृ0 330-331

834. वही, पृ0 329–330

835. श्री मद् भगवत् गीता, 2/61

836. वही, 3/2

837. वही, 2/13

838. वही, 16/11

839. आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान : प्रीती वर्मा, पृ0 139

840. मानस पर्याय – शब्दावली, पृ0 229

841. वही, पृ0 228

842. प्राकृत सिसु इव लीला देखि भयउ मोहि मोह ।
कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंद संदोह ।। 7/77ख मा0, 1/44/7 मा0, 7/72/1 मा0, 7/68ख मा0, 1/160/4 मा0

843. बिरति ग्यान बिग्यान दृढ़ रामचरन अति नेह ।
बायस वन रघुपति भगति मोहि परम संदेह ।। 7/53 मा0

844. सखि सब कौतुक देख निहारे। जेउ कहावत हितू हमारे ।।
कोउ न बुझाइ कहइ गुरु पाहीं। ए बालक असि हठ अलि नाहीं।। 1/255/1-2 मा0, 1/90/14 गीता

845. हैं सुत कपि सब तुम्हहि समाना। जातुधान अति भट बलवाना।।
मोरें हृदय परम संदेहा। सुनि कपि प्रगट कीन्हि निज देहा ।। 5/15/6–7 मा0

846. तुम्ह सम अधन भिखारि अगेहा। होत बिरंचि सिवहि संदेहा।। 1/160/4 मा0

847. रावनु रथी बिरथ रघुबीरा। देखि बिभीषन भयउ अधीरा।।
अधिक प्रीति मन मा संदेहा। बंदि चरन कह सहित सनेहा।। 6/79/1–2 मा0

848. सुनि बचन हरष बिषाद मन अति देखि पुनि त्रिजटां कहा।
अब मरिहि रिपु बिधि सुनहि सुंदरि तजहि संसय महा।। 6/98/64/मा0

849. 1/149/7 मा0

850. निज निज बल सब काहूँ भाषा। पार जाइ कर संसय राखा।। 4/28/6 मा0

851. 1/150/2 मा0

852. 1/67/5 मा0

853. 1/70 मा0

854. यहु संसउ सब के मन माहीं ।
राम गवनु बिधि अवध कि नाहीं ।। 2/251/8 मा0

855. मागु- मागु पै कहहु पिय कबहुँ न देहु न लेहु ।
देन कहेहु बरदान दुइ तेउ पावत संदेहु ।। 2/27 मा0

856. तुहूँ सराहसि करसि सनेहू ।
अब सुनि मोहि भयउ संदेहू ।। 2/31/7 मा0

857. जथा दरिद्र बिबुध तरु पाई ।
बहु संपहि मागत सकुचाई ।।
तासु प्रभाउ जान तहिं सोई ।
तथा हृदयँ मम संशय होई ।। 1/148/6 मा0

958. 2/183/6 मा0

859. जौं सुत लहौ संग मोहि लेहू।
तुम्हरे हृदयँ होइ संदेहू ।। 2/55/6 मा0

860. 1/82/4 मा0

861. गिरिजा सुनहु राम कै लीला ।
सुरहित दनुज बियोह न शीला ।। 1/112/8 मा0

862. तुम्हरें बल मै रावनु मार्‌यो ।
प्रभु जोइ कहहु तुम्हहि सब सोहा। हमरे होत बचन सुनि मोहा।। 6/117/7 मा0

863. 2/100/5 मा0

864. 7/97ख मा0, 7/101ख मा0, 6/15/8 मा0

865. 6/36/8 मा0

866. उमा राम गुन गूढ़ पड़ित मुनि पावहिं बिरति ।
पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धर्म रति।। 3/श्लोक/मा0

867. 1/128/8, 1/137 मा0, 1/171 मा0

868. 2/295 मा0

869. 2/227 मा0

870. 7/72/7 मा0

871. 209/15 वि0, 258/7 वि0

872. 24/2 वि0

873. 2/39/8 गीता

874. 7/174/4 कविता

875. 4/7/5 मा0, 6/11/2 गीता

876. लछिमन दीख उमाकृत बेषा ।
चकित भए भ्रम हृदयँ बिसेषा ।। 1/52/1 मा0

877. 1/13/10 मा0, 1/222/3 मा0

878. 1/71/4 मा0

879. 1/140/4 मा0, 1/200/7 मा0, 1/171/मा0

880. 1/121/1 वि0

881. 147/10 वि0

882. हरि निरमल, मल ग्रसित हृदय, असमंजस मोहि जनावत। 185/5 वि0

883. जौ जमराज काज सब परिहरि, इहै ख्याल उर अनिहैं ।
चलिहै छूटि पुंज पापिन के, असमजंस जिय जनिहैं। 95/3 वि0

884. काम- भुजंग डसत जब जाही। विषय–नींव कटु लगत न ताही।
असमंजस अस हृदय बिचारी। बढ़त सोच नित नूतन भारी। 127/4 वि0

885. 121/1 वि0

886. 5/47/5 मा0, 7/30/2 कविता, 6/52/5 कविता

887. 7/73/5 मा0

888. 1/129/4 मा0, 2/114/6 मा0, 5/44/5 मा0, 1/130/1-2 मा0, 1/198/3 मा0
1/298/6 मा0, 1/315/6, 1/316/3 मा0, 1/344/1 मा0, 2/16/1 मा0,
1/104/7 मा0, 2/14/6 मा0, 1/203/7 मा0, 1/215/3 मा0, 1/220/1 मा0,
1/288/8 मा0, 1/296/4 मा0, 3/37/2 मा0, 7/55/10 मा0, 2/114/6 मा0,
5/2/6.2/2 मा0, 7/28/6/2 मा0, 2/21/3 कविता, 2/22/4 कविता

889. 1/31/2 मा0
दूषन-रहित समय सम भूषन पाइ सुअंगनि सोहैं।
नव–राजीवं नयन पूरन बिधुबदन मदन मन मोहैं। 1/56/8 गीता

890. 2/25/5 गीता

891. 1/51/5 गीता, 7/17/25 गीता

892. 1/71/11 गीता

893. 2/22/6 गीता

894. 7/17/25 गीता

895. 7/21/24 गीता

896. 2/18/3 गीता

897. 1/82/3 गीता

898. 7/4/4 गीता

899. 7/69/7 मा0, 1/200/7 मा0, 1/171/मा0, 2/84/6 मा0, 1/172 मा0, 1/92/2 मा0
तिनकी मति रिस-राग-मोह--मद, लोभ–लालची लीलि लई है। 1/139/4 वि0, 46/11 वि0, 9/8 वि0, 5/32/4 गीता, 2/39/8 गीता, 7/31/3 कविता

900. दिन प्रति देखउँ राति कुसपने। कहउँ न तोहि मोह बस अपने। 2/19/6

901. 2/84/6 मा0

902. सतीं सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेहु बिसेषी।
खोजइ सो कि अग्य इव नारी। ग्यान धाम श्री पति असुरारी।
अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदयँ प्रबोध प्रचारा। 1/49/5–1/58 मा0, 6/29 मा0, 1/275 मा0, 7/92/3 मा0, 4/2 मा0, 2/297/5 मा0, 6/31ख मा0 136/2/2 वि0, 111/8 वि0, 88/4 वि0, 6/4/2 गीता

903. 2/74/5 मा0

904. 1/250/1–2 मा0

905. 7/100ख मा0, 7/97ख

906. 7/13/6/6 मा0, 6/114/3 मा0, 6/55/7 मा0, 1/155 मा0, 1/155/5 मा0, 7/120/26 मा0, 1/5सो0/6 मा0, 2/325/6 मा0, 6/114/2 मा0, 3/श्लोक/3मा0

907. जीव हृदयँ तम मोह बिसेषी। 7/116/7 मा0

908. ममता तरुन तमी अँधियारी। 5/46/3 मा0

909. 5/57/3 मा0

910. 1/30 मा0

911. कंपहि लोकप जाकीं त्रासा। तासु नारि समीत बड़ि हासा।।
अस कहि बिहसि ताहि उर लाई। चलेउ समां ममता अधिकाई।। 5/36/5 मा0

912. जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार ।
सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार । 1/132 मा0
1/130–1/136/8 मा0
बोले मधु बचन सुरसाई। मुनि कहँ चले बिकल की नाई।
सुनत बचन उपजा अति क्रोधा। माया बस न रहा मन बोधा। 1/135/5–6 मा0, 246/2 वि0, 233/3 वि0

913. 6/88/8–6 मा0, 7/72/4 मा0

914. 7/116/7, 7/72/9 मा0

915. 1/114 – 1/114/8 मा0, 1/113/7 मा0

916. 2/34 – 2/155 मा0, 2/177/8 मा0

917. 2/172 मा0

918. 7/90ख मा0, 1/118/8 मा0

919. 2/227/3 मा0, 2/230 मा0, 224/3 वि0

920. 1/82/4 मा0

921. 7/93/6 मा0

922. 6/9/3 मा0, 4/28/6 मा0

923. 2/178 मा0

924. 3/2 मा0, 7/39/6 मा0, 201/5 वि0, 117/5 वि0, 5/32/4 गीता

925. 1/140/5 मा0

926. 1/108/2 मा0, 58/7 वि0

927. 7/105क मा0, 7/120/29 मा0, 2/281/6 मा0, 7/40/4 मा0, 233/3 वि0, 6/2/5 गीता

928. 1/130/1–2 मा0, 1/51/3 गीता

929. 6/119/6·2/2 मा0, 112/6 वि0, 131/5 वि0, 187/3 वि0

930. 7/81ख मा0, 245/4 वि0, 7/142/1 कविता

931. 1/144/4 मा0

932. 2/227/1 मा0

933. 1/1/3 मा0, 1/32/8 मा0

934. 74/5 वि0, 131/5 वि0

935. 209/4 वि0

936. 225/3 वि0

937. 186/8 वि0, 234/5 वि0

938. 82/1 वि0

939. 155/6 वि0, 173/7 वि0

940. 136/2 वि0, 181/9 वि0, 121/4 वि0

941. 1/79/3 गीता

942. 2/22/6 गीता

943. 5/14/10 गीता

944. संसय–समिध–अगिनि छमा, ममता–बलि देहु। 108/6 वि0

945. भय भ्रम भँवर अबर्त अपारा। 2/275/3 मा0

946. सहज टेव बिसारि तुही धौं देखु बिचारि,
मिलै न मथत बारि घृत बिन्दु छीर।
समुझि तजहि भ्रम, भुजहि पद–जुगम,
सेवत सुगम गुन गहन गँभीर ।। 196/7वि0

947. 206/7 वि0

948. 205/4 वि0

949. करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोहु मोहु ममता मदु त्यागी।। 1/340/5 मा0

950. 2/74/5 मा0

951. 111/8 वि0

952. 61/5 वि0, 26/2 वि0, 74/8 वि0, 247/16 वि0, 12/7 वि0, 1/107/4 मा0,
1/111/2 मा0, 1/140/5 मा0, 1/285 मा0, 7/52क मा0

953. 9/8 वि0, 7/151/6 कविता, 7/29/6 मा0, 1/284/2 मा0, 3/10/9 मा0,
6/114/3 मा0

954. 17/12 वि0, 18/6 वि0

955. 202/5 वि0

956. जय दंउकबन–पावन करन तुलसिदास संसय–समन। 7/113/5 कविता

957. मद–मोह लोभ–विषाद–क्रोध सुबोध तें सहजहिं गये। 136/10/6 वि0

958. शोक–संदेह, भय–हर्ष, तम–तर्षगण साधु–सयुक्त विच्छेदकारी। 57/13 वि0

959. मिलै न मथत बारि घृत बिनु छीर ।
समुझि तजहि भ्रम, भजहि पद–जुगम।। 196/6–7 वि0

960. जैसे मिटै मोर भ्रम भारी ।
कहहु सो कथा नाथ विस्तारी।। 1/46/1 मा0, 7/35/3 मा0

961. 7/124/3 मा0, 4/17 मा0

962. 4/2/2 मा0, 4/17/7 मा0, 7/82/5 मा0, 7/68/8 मा0, 7/92/8 मा0, 7/128/8 मा0, 7/114/6 मा0, 7/14/6 गीता, 44/35 वि0, 123/2 वि0

963. 1/119/2 मा0, 4/2 मा0, 1/79/3 गीता

964. 7/14/7 मा0

965. 1/207/8 मा0

966. 1/286 मा0, 7/59/5 मा0

967. 152/9 वि0

968. 7/59/8 मा0, 7/62/2 मा0

969. रुख बदन बरि बचन मृदु बोले श्री भगवान।
तुम्हरे सुमिरन तें मिटहिं मोह मार मद गान।। 1/128 मा0

970. 1/221/6 मा0

971. मिट्यो महामोह जी को, छूट्यो पोच सोच सी को,
जान्यो अवतार भयो, पुरुष पुरान को।। 1/88/14 गीता

972. 61/7 वि0, 228/3 वि0

973. 1/112 मा0

974. सुनि मुनि आसिष सुनु मति धीरा।
ब्रह्म गिरा भइ मगन गँभीरा।।
एवमस्तु तब बच मुनि ग्यानी।
यह मम भगत कर्म मन बानी।। 7/113/5–6 मा0

975. मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह।
ता कर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह।। 7/46 मा0, 7/119/4 मा0, 2/129/1 मा0

976. 7/122/4 मा0, 1/96/3 मा0

977. 1/99 मा0, 4/14/8 मा0, 4/15/4 मा0

978. 1/66/8 मा0, 7/71/8 मा0

979. 5/22/3 मा0

980. 1/93/8 मा0

981. 7/122 ख मा0, 6/44/6 मा0, 1/115 मा0

982. राम मोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभु न राग न दोहा।
जिन्ह के कपट दंभ नहि माया। तिन्ह के हृदय बसहु रघुराया। 2/129/2 मर0

983. 7/60/8 मा0, 7/61/मा0, 1/92/5 मा0, 5/47/3 मा0

984. 3/45/मा0, 1/163/5 मा0, 1/238/1 मा0, 7/46 मा0, 7/83/2 मा0

985. 7/68/6 मा0, 1/258/6 मा0, 1/118/5 मा0

986. 7/83/2 मा0, 6/32/9 मा0, 6/56/5 मा0

987. 1/11/8 मा0

988. 1/51/6 मा0

989. 1/32/8 मा0

990. 1/100 मा0

991. 7/109/2 कविता0

992. 7/119/6 कविता0, 7/88/1 कविता0, 2/39/8 गीता0

993. 7/69/6-7 मा0, 4/19/7 मा0

994. 3/31/छं03/ मा0, 2/126/7 मा0

995. 1/123/8 मा0

996. 3/37/2 मा0

997. 1/6/29 गीता0

998. नीके कै निकाई देखि, जनम सफल लेखि,
हम सी भूरि भागिनी नभ न छोनी। 2/22/4-5 गीता0

999. पूछति ग्राम बधू सिय सों, कहौ सॉवरे से, सखि सावरे को हैं। 2/21/4 कविता0,
7/117/5 कविता0

1000. 1/119/1 मा0

1001. 6/33/14 मा0, 2/235 मा0

1002. 1/123/2 मा0

1003. 1/24/7 मा0

1004. 1/45/1 मा0

1005. 6/15/1 मा0

1006. 1/91/6–8 मा0

1007. 1/112/1 मा0

1008. 1/108/7 मा0

1009. 1/117/1 – 1/117/4 मा0

1010. 7/68/4 मा0

1011. 7/81/ख मा0

1012. चिन्तामणि भाग–1 : रामचन्द्र शुक्ल पृ0 14

1013. बृहत् हिन्दी कोश पृ0 1377

1014. मानक हिन्दी कोशः पॉचवा खण्ड पृ0 199

1015. शब्द साधना : पृ0 212

1016. मानस मुक्तावली : पृ0 252

1017. वही, पृ0 200.

1018. श्रीमद् भगवत् गीता : 12/2, 17/3

1019. वही ⟨तत्व विवेचनी टीकाः जयदयाल गोयन्दका 4/39, 17/3⟩

1020. छान्दोग्योपनिषद : पृ0 430 – 433

1021. बृहदारण्यकापेनिषद : 3/9/21 ⟨कल्याण से पृ0 484 पेज से 35 घृत⟩

1022. जे श्रद्धा संबल रति नहिं संतन्ह कर साथ।
तिन्ह कहुँ मानस अगम अति जिन्हहि न प्रिय रघुनाथ। 1/38/मा0

1023. सृजन समाज सकल गुन खानी ।
करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी ।। 1/1/4 मा0

1024. पुनि पुनि प्रभु पद कमल गहि जोरि पंकरूह पानि।
बोली गिरिजा बचन बन मनहुँ प्रेम रस सानि। 1/119 मा0

1025.. तब नारद हरि पद सिर नाई।
चले हृदयँ अहमिति अधिकाई। 1/128/7 मा0

1026. पूजि सप्रेम प्रसंसि कौसिकहि भूपति सदन सिधाने। 1/68/10 गीता0

1027. मोहि भावति, कहि आवति नहि भरत जू की रहनि।
सजल नयन सिथिल बयन प्रभु गुन गन कहनि। 2/81/2 मा0, 5/9 वि0

1028. आश्रम लै दिए आसन पंकज पॉय पखारि।
पद पंकजात पखारि पूजे, पंथ–श्रम–बिरहित भये। 3/17/5/2–3 मा0

1029. 1/210/छं0 1 मा0

1030. पिता दीन्ह मोहि कानन राजू।
जहँ सब भाति मोर बड़ काजू। 2/52/5 मा0

1031. सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिब होइ।
तुलसी प्रीति कि रीति सुनि सुकबि सराहहिं सोइ। 2/306 मा0

1032. दिन दस करि रघुपति पद सेवा।
पुनि तब चरन देखिहउँ देवा। 7/18/8 मा0, 148/6 वि0

1033. सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई ।
जौ हरि कृपा हृदय बस आई। 7/116/9 मा0

1034. श्रद्धा छमा भयत्री दाया।
मुदिता भय पद प्रीति अमाया। 3/45/4 मा0

1035. रघुपति भगति सजीवन भूरी।
अनूपान श्रद्धा मति पूरी । 7/121/7 मा0

1036. भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ। 1/श्लोक 2/ मा0

1037. 3/45/4 मा0

1038. 1/38/ मा0

1039. श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।
बिनु महि गंध कि पावइ कोई। 7/89/4 मा0

1040. मोरु भएँ रघुनंदनहि जो मुनि आयसु दीन्ह।
श्रद्धा भगति समेत प्रभु सो सबु सादरु कीन्ह। 2/247/मा0

1041. 1/श्लोक 2 मा0

1042. 3/45/4 मा0

1043. सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी।
माधव सरिस गीतु हितकारी। 2/104/3 मा0

1044. 2/247 मा0

1045. 1/36/12 मा0

1046. 7/121/7 मा0

1047. शब्द साधनाः रामचन्द्र वर्म्मा पृ0 188

1048. सोशल साइकोलॉजी पृ0 111–13 (प्रसाद की भाव व्यंजना से उद्घृत)

1049. करुनामय उदार कीरति, बलि जाउँ हरहु निज माया।
जलज नयन, गुन अयन, मयन रिपु, महिमा जान न कोई।
बिनु तव कृपा रामपद पंकज, सपनेहुँ भगति न होई। 9/2–4 वि0

1050. दानी कहुँ संकर सम नाहीं। 4/1 वि0

1051. सिद्धि सदन, गज बदन, बिनायक । 1/2 वि0

1052. मोदक प्रिय, मुद मंगल दाता। 1/3/ वि0

1053. तेज प्रताप रूप रस रासी। 2/3/ वि0

1054. जगमंगल गुन ग्राम राम के।
दानि मुकुति धन धरम धाम के। 1/31/2 मा0

1055. कुपथ कुतरक कुचालि कलि कपट दंभ पाषंड।
दहन राम गुन ग्राम जिमि इंधन अनल प्रचंड। 1/32क/ मा0

1056. भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही। बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ह।
सहस बाहु भुज छेद निहारा। परसु बिलोकु महीप कुमारा। 1/271/7–8 मा0

1057. तौ अस को जग सुमटु जेहि भय बस नावहिं माथ। 1/283/मा0

1058. तब नारद गवने सिव पाहीं। जिता काम अहमिति मन माही।
मार चरित संकरहि सुनाए। अतिप्रिय जानि महेस सिखाए। 1/126/5–6 मा0

1059. मानस मुक्तावली भाग 1 पृ0 245

1060. वही, भाग 4 पृ0 40

1061. वही भाग 3 पृ0 219

1062. सोशल साइकोलॉजी पृ0 114

1063. वही पृ0 114

1064. वही पृ0 113–115

1065. नृप बहु भाँति प्रसंसेउ ताही।
चरन बंदि निज भाग्य सराही। 1/159/2 मा0

1066. मुनि श्राप जो दीन्ह अतिमल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना।
देखेउँ मरि लोचन हरि भव मोचन इहइ लाभ संकर जाना। 1/210/छं0 3/1–2 मा0

1067. जाना राम प्रभाउ तब पुलक प्रफुल्लित गात।
जोरि पानि बोले बचन हृदयँ न प्रेमु अमात।। 1/284 मा0

1068. करौ कवन बिधि बिनय बनाई। महाराज मोहि दीन्हि बड़ाई।। 1/339/8 मा0
—सुनु मुनीस बर दरसन तोरें। अगमु न कछु प्रतीति मन मोरें।
जो सुखु सुजसु लोकपति चहहीं। करत मनोरथ सकुचत अहहीं।
सो सुखु सुजसु सुलभ मोहि स्वामी। 1/342/3—5 मा0

1069. सफल सफल सुभ साधन साजू।
राम तुम्हहि अवलोकत आजू।।
लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी।
तुम्हरे दरस आस सब पूजी।। 2/106/6—7 मा0

1070. 2/87/5 मा0

1071. 2/194/8 मा0

1072. नाथ कुसल कल्याण—सुमंगल बिधि सुख सकल सुधारिकै । 5/36/7 गीता

1073. अपत, उतार, अपकार को अगार, जग,
पातक—पहुभि पालिबे को सहसानन सो
कानन कपट को, पयोधि अपराध को। 7/68/3—4 कविता

1074. 1/159/2 मा0

1075. अति निर्मल बानी अस्तुति ठानी ग्यान गम्य जय रघुराई। 1/210/6.2 मा0

1076. जाना राम प्रभाउ तब पुलक प्रफुल्लित गात।
जोरि पानि बोले हृदयँ न प्रेमु अभात। 1/284 मा0

1077. भरद्वाज मृदु बचन उघारें। 2/106/4 मा0

1078. जौं बिधि बस अस बनै सँजोगू। तौ कृत कृत्य होइ सब लोगू।। 1/221/7 मा0

1079. मोहि कृत कृत्य कीन्ह दुहु भाई। 1/285/6 मा0

1080. 5/16/6 मा0

1081. 6/110/6/17 मा0

1082. प्रगटे रामु कृतग्य कृपाला। 1/75/5 मा0, 6/61/1 मा0

1083. सब कृतग्य नहिं कपट सयानी। 7/20/8 मा0

1084. 7/20/8 मा0

1085. हरि—हर—सुजस सुनाइ, दरस दै लोग कृतारथ कीजै। 3/15/4 गीता

1086. मानक हिन्दी कोश : पाँचवा खण्ड, पृ0 121

1087. बृहत् हिन्दी कोश, पृ0 1312

1088. श्री मद्भागवत् तत्व विवेचनी हिन्दी टीका 15/3

1089. मानस मुक्तावली (भाग-1) पृ0 254

1090. वही, पृ0 274

1091. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त (प्रथम भाग), गोविन्द त्रिगुणायत, पृ0 256

1092. "तृष्णाक्षय सुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणों प्रतीयत एव"

– ध्वन्यालोक (3/26 की टीका)

1093. डा0 वेदज्ञ आर्य – "कामायनी की पारिभाषिक शब्दावली, पृ0 396–98

(प्रसाद की भाव व्यंजना से उद्धृत)

1094. होइ न विषय बिराग भवन बसत भा चौथ पन।

हृदयँ बहुत दुख लाग जनम गयउ हरि भगति बिनु। 1/142 मा0

1095. दक्ष, समछक, स्वछक, विगत अति स्वपरमति, परमरति विरति तब चक्रयानी। 57/8 वि0

1096. जयति विबुधेश–धनपादि दुर्लभ महा

राज–सम्राज–सुख–पद विरागी। 39/5 वि0

1097. जयति सीतेश–सेवा सरस, विषय रस –

निरस, निरुपाधि धुरधर्मधारी। 38/14 वि0

1098. ज्ञान–वैराग्य, धन–धर्म, कैवल्य–सुख, सुभग सौभाग्य शिव सानुकूल। 10/15 वि0, 204/5 वि0

1099. भगति ग्यान बिग्यान बिरागा।

जोग चरित्र रहस्य बिभागा।।

जानब तैं सबही कर भेदा।

मम प्रसाद नहिं साधन खेदा।। 7/84/7 मा0

1100. सुख संतोष बिराग बिबेका।

बिगत सोक ए कोक अनेका।। 7/30/8 मा0

1101. सुनु खगपति यह कथा पावनी।

त्रिबिधि ताप भव भय दावनी।।

बिरति बिबेक भगति दृढ़ करनी।

मोह नदी कह सुंदर तरनी।। 7/14/7 मा0, 7/14/2 मा0

1102. उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धर्म रति। 3/श्लोक/सो0 मा0

1103. भागत अभाग, अनुरागत बिराग, भाग जागत आलसि तुलसी हू से निकाम को।
आई मीचु मिटति जपत राम नाम को। 7/75/5 कविता
70/5 वि0, 67/2 वि0, 46/14 वि0

1104. भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति। 2/326 मा0

1105. तब अति सोच भयउ मन मोरे। दुखी भयउँ बियोग प्रिय तोरें।।
सुंदर बन गिरि सरित तड़ागा। कौतुक देखत फिरउँ बेरागा।। 7/55/5–6 मा0,
1/142 मा0

1106. 1/142 मा0, 1/182/6 मा0
–कलि न बिराग, जोग, जाग, तप, त्याग के। 67/2 वि0
– 2/28/1 कविता

1107. श्रवन सुनि गिरा गँभीर, जागे अति धीर बीर,
बर बिराग–तोष सकल संत आदरे। 74/14 वि0

1108. मुदिताँ मथै बिचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी।।
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग सुपुनीता।। 7/116/16 मा0

1109. ग्यान बिराग जोग बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना।। 7/114/15 मा0

1110. सुनु मुनि मोह होइ मन ताकें। ग्यान बिराग हृदय नहिं जाके।। 1/128/1 मा0

1111. 4/6/21–23 मा0

1112. तेउ बिलोकि रघुबर भरत प्रीति अनूप अपार।
भए मगन मन तन बचन सहित बिराग बिचार। 2/317/मा0
–धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई। 3/38/2 मा0, 98/11 वि0, 29/3 वि0

1113. 3/45/5 मा0, 7/37/2 मा0

1114. जप जोग बिराग तप मख भागा श्रवन सुनइ दस सीसा।
आपुनु उठि धावइ रहै न पावइ धरि सब घालइ खीसा। 1/182/छं0 1–2 मा0

1115. 5/23/1 मा0

1116. कलि न बिराग,जोग,जाग,तप,त्याग रे। 67/2 वि0, 221/3 वि0

1117. सो ग्यान,ध्यान,बिराग,अनुभव जातना–पावक दहचो। 136/5/4 वि0

1118. लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों, गरे आसा–डोरि।
बात कहौ बनाइ बुध ज्यों, बर बिराग निचोरि। 158/10 वि0

1119. 173/7 वि0

1120. ग्यान बिराग जोग जप तप, भय लोभ मोह कोह काम को। 155/6 वि0

1121. देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। 1/130/1 मा0

1122. कोपेउ जबहिं बारिचर केतू। छन सहुँ मिटे सकल श्रुति सेतू।
सदाचार जप जोग बिरागा। समय बिबेक कटकु सबु भागा। 1/83/8 मा0

1123. अस संसय आनत उर माहीं। ग्यान बिराग सकल गुन जाहीं। 1/118/6 मा0

1124. 2/214/2 मा0

1125. नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा।
दिन प्रति सकल अयोध्या आवहिं। देखि नगरु बिरागु बिसरावहिं। 7/26/1–2 मा0

1126. सुनि मुनि बचन जनक अनुरागे। लखि गति ग्यानु बिरागु बिरागे। 2/291/1 मा0

1127. 1/83/8 मा0

1128. 7/115क, 246/5 वि0

1129. बिरति बिबेक बिनय बिग्याना। बोध जथारथ बेद पुराना। 3/45/5 मा0

1130. जयति वैराग्य–विज्ञान–वारांनिधे,
नमत नर्मद, पाप–ताप–हर्ता। 44/33 वि0, 249/11 वि0

1131. राम की भगति बड़ी बिरति–निरत। 251/10 वि0, 1/38/15 गीता

1132. 249/11 वि0

1133. होती जो आपने बस, रहती एक ही रस,
दुनी न हरष–सोक–साँसति सहति। 246/5 वि0
–सम अभूत रिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी। 7/37/2 मा0

1134. 1/215/3 मा0

1135. पुरुष त्यागि सक नारिहि जो बिरक्त मति धीर।
न तु कामी बिषया बस बिमुख जो पद रघुबीरा। 7/115क/मा0

1136. बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन। 7/37/5 मा0

1137. कबि अलखित गति बेषु बिरागी। 2/109/8 मा0

1138. सचिव बिरागु बिवेकु नरेसू। बिपिन सुहावन पावन देसू। 2/234/6 मा0

1139. गृही बिरति रत हरष जस बिएनुभगत कहुँ देखि। 4/13 मा0

1140. बोरति ग्यान बिराग करारे। बचन ससोक–मिलत नद नारे। 2/275/1 मा0

1141. 259/9 वि0, 60/15 वि0

1142. 187/2वि0

1143. 205/7 वि0

1144. 259/9 वि0

1145. 47/8 वि0

1146. 58/16 वि0

1147. जन बिराग पाइ सकल सोक–कूप गृह बिहाइ। 1/38/15 गीता

1148. जा सुख की लालसा लटू सिव, सुक–सनकादि उदासी। 1/8/9 गीता

1149. 3/45/5 मा0

1150. 1/250/3 मा0

1151. 1/250/3 मा0

1152. 2/177/4 मा0

1153. 3/46क/मा0

1154. 7/55/6 मा0

1155. 3/35/2 मा0

1156. 3/16/2 मा0

1157. 3/35/2 मा0

1158. 7/119/14 मा0

1159. 7/125/4 मा0, 7/61/1 मा0, 3/12/11 मा0, 2/106/5 मा0

1160. 1/5/9 मा0

1161. 1/36/10 मा0

1162. 4/6/22 मा0

1163. 7/53 मा0

1164. 1/110/2 मा0

1165. 7/114/15 'मा0

1166. 2/91/3 मा0

1167. 2/277/3 मा0

1168. 1/162/5 मा0

1169. 1/36/10 मा0

1170. 7/120/10 मा0

1171. 1/118/6 मा0

1172. 7/95/6 मा0, 6/93/8 मा0, 7/121/18 मा0, 7/95/3 मा0, 6/103/10 मा0, 7/115क मा0

1173. 6/103/12 मा0

1174. 6/47/8 मा0

1175. 7/114/15 मा0

1176. 7/83/1 मा0

1177. मानक हिन्दी कोश : चौथा खण्ड, पृ0 552

1178. वही : दूसरा खण्ड, पृ0 153

1179. मानक हिन्दी कोश : तीसरा खण्ड, पृ0 358

1180. बृहत् हिन्दी कोश : पृ0 758, 406, 1177, 1389

1181. चिन्तामणि भाग–1, पृ0 45

1182. वही, पृ0 52

1183. "प्रसाद" काव्य में भाव व्यंजना : मनोवैज्ञानिक विवेचन– धर्म प्रकाश अग्रवाल, पृ0402–403

1184. नाट्यशास्त्र, पृ0 455

1185. स्टडीज इन द साइकोलॉजी ऑन सैक्स, खण्ड–1, भाग–1, पृ0 37–45 एवं 61–82

1186. लोकरीति जननीं करहिं बर दुलहिनि सकुचाहिं।
मोदु बिनोदु बिलोकि बड़ रामु मनहिं मुसुकाहिं। 1/350ख मा0, 1/90/20 गीता

1187. गुरजन लाज समाजु बड़ देखि सीय सकुचानि।
लागि बिलोचन सखिन्हं तन रघुबीरहि उर आनि। 1/248 मा0

1188. गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी। 1/258/1 मा0
–दीनबंधु, कृपा सिंधु, साहसिक, सील सिंधु,
सभा को संकोच कुलहू की लाज परी है। 1/92/8 गीता

1189. 2/286/7 मा0

1190. –सकुच समीत बिनीत साथ गुरु बोलिन–चलनि सुहाई। 1/55/9 गीता
– एक मनोरथ बड़ मन माहीं। सभयँ सकोच जात कहि नाहीं। 2/307/1 मा0, 2/304/2 मा0

1191. तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहूँ सकोच सकुचति बरबरनी। 2/116/3 मा0

1192. भरत सील गुर सचिव समाजू। सकुच सनेह बिबस रघुराजू। 2/315/3 मा0

1193. लखन हृदयँ लालसा बिसेषी। जाइ जनकपुर आइअ देखी। 1/217/1 मा0

1194. 2/60/1 मा0, 4/1/3 गीता, 2/78/1 मा0

1195. नाथ भरत कछु पूँछन नहहीं। प्रश्न करत मन सकुचत अहहीं। 7/35/6 मा0

1196. 2/258/7 मा0

1197. पूँछेहु मोहि कि रहौ कहँ मैं पूँछत सकुचाउँ।
जहूं न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहि देखावौ ठाउँ। 2/127 मा0

1198. 1/289/8 मा0

1199. इहाँ ज्वाल जरे गात, उहाँ ग्लानि गरे गात,
सूखे सकुचात सब कहत पुकार हैं। 5/20/1–2 कविता
–7/3/12 गीता, 6/50/7 मा0, 7/115/7 मा0, 228/3 वि0
–गवनिहैं गँवहिं गवाँइ गरब गृह नृपकुल बलहि लगाइ कै। 1/70/16 गीता

1200. रघुबर उर जयमाल देखि देव बरिसहिं सुमन।
सकुचे सकल भुआल जनु बिलोकि रबि कुमुदगन। 1/264 मा0

1201. 6/90/4 मा0, 6/91/3 मा0

1202. 6/65/9 मा0

1203. 6/33/11–12 मा0

1204. अवधपुरी सोहइ एहि भाँती। प्रभुहि मिलन आई जनु राती।
देखि भानु जनु मन सकुचानी। तदपि बनी संध्या अनुमानी। 1/194/3–4 मा0

1205. देखि महीप सकल सकुचाने। बाज झपट जनु लता लुकाने। 1/268/3 मा0

1206. भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती।
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस गनेस गिरा गमु नाहीं। 2/324/7–8 मा0, 1/2/10 मा0, 2/302/7 मा0, 2/317/3 मा0, 2/288 मा0, 2/282/4 मा0, 2/237/2 मा0
–अंग–अंग अगनित अनंग–छबि, उपमा कहत सुकबि सकुचात। 2/15/7 गीता

1207. नींद न परति राति, प्रेम–पन एक भाँति,
सोचत, सकोचत बिरंचि–हरि–हर को। 1/69/5 गीता

1208. 2/46/13 गीता

1209. भाई को न मोह छोह सीय को न, तुलसीय,
कहैं "मैं विभीषन की कछु न सबील की।"
लाज बाँह बोलेकी नेवाजे की संभार सार।
साहेब न राम से, बलैया लेउँ सील की। 6/52/7 कविता०
90/8 वि०, 144/1 वि०, 193/12 वि०, 2/71/8 गीता०, 5/7/1 गीता०

1210. 2/18/2 कविता०, 2/310/4 मा०

1211. 1/315/3 मा०, 1/315/7 मा०
कल गान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं काम कोकिल लाजहीं। 1/321/छं० 3/ मा०
2/323/6 मा०, 7/10/8 मा०
कुलिस, कुंद–कुडमल, दामिनि–दुति दसनन देखि लजाई। 62/17 वि०,
15/4 वि०, 63/14 वि०, 1/16/6 गीता०, 3/4/6 गीता०, 2/39/4 गीता०,
1/35/2 गीता०, 6/54/4 कविता०, 2/15/2 कविता०, 7/19/4/5 गीता०

1212. सिर भर जाउँ उचित इस मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा।
देखि भरत गति सुनि मृदु बानी। सब सेवक गन गरहिं भालानी। 2/202/7–8 मा०

1213. 'भाई को सो करौं, डरौं कठिन कुफेरै।
सुकृत संकट परचो, ज्ञात गलानिन्ह गरचो। 5/27/1–2 गीता०

1214. कहत हित मेरी कठिनई लखि गई प्रीति लजाइ।
आजु अवसर ऐसेहू जौं न चले प्रान बजाइ। 7/30/3 गीता०

1215. अंब अनुज गति लखि पवनज भरतादि गलानि गरे हैं। 6/13/9 गीता०

1216. 5/15/7 गीता०, 5/13/10 गीता०

1217. 1/44/8 मा०

1218. सभय प्रतापभानु कर जानी ।
आपन अति असमय अनुमानी ।।
गयउ न गृह मन बहुत गलानी ।
मिला न राजहि नृप अभिमानी ।। 1/157/4 मा०

1219. जो सुख सुजसु लोकपति चहहीं ।
करत मनोरथ सकुचत अहहीं ।। 1/342/4 मा०

1220. केवल उतरि दंडवत कीन्हा ।
प्रभुहि सकुच एहिं नहिं कछु दीन्हा ।। 2/101/2 मा०

1221. एक बार भूपति मन माहीं ।
मै गलानि मोरें सुत नाहीं ।। 1/188/1 मा0

1222. तेंहि गलानि रघुपति पहिं आयउँ ।
देखि दीन प्रभु के मन भायउँ।। 6/63/6 मा0, 5/26/6 गीता0

1223. 267/2 वि0

1224. 248/16 वि0,

1225. 136/6 वि0

1226. 275/8 वि0

1227. 147/2 वि0

1228. 262/5 वि0

1229. 150/5 वि0

1230. 4/5 वि0

1231. 83/11 वि0

1232. हारे हरष होत हिय भरतहि, गिते सकुच सिर नयन गये । 1/4513 गीता0

1233. 1/95/6 गीता0

1234. 7/121/2 कविता0

1235. हृदय दीत पछिताय अनल अब, सुनत दुसह भव भीति। 234/7 वि0
100/8 वि0, 148/2 वि0
नींद भूख न देवरहिं, परिहरे को पछिताउ। 5/4/3 गीता0
5/51/4 गीता0, 6/4/6 गीता0, 5/51/6 गीता0, 5/9/5 कविता0

1236. बोली सती मनोहर बानी। भय संकोच प्रेमरस सानी।
पिता भवन उत्सव परम जौ प्रभु आयसु होइ।
तौ मैं गाउँ कृपायतन सादर देखन सोइ।। 1/60/8–1/61 मा0

1237. राम बचन मृदु गूढ़ सुनि उपजा अति संकोचु।
सती सभीत महेस पहिं चलीं हृदयँ बड़ सोचु। 1/53 मा0

1238. सुनि नभगिरा सती उर सोचा।
पूछा सिवहि समेच सकोचा। 1/56/6 मा0

1239. एहि बिधि राउ मनहिं मन झाँखा।
देखि कुभाँति कुमति मन माखा। 2/29/1 मा0

1240. तोर कलंकु मोर पछिताऊ ।
भुएहुँ न मिटिहि न जाइहि काऊ । 2/35/5 मा0

1241. पाछिल मोह समुझि पछिताना ।
ब्रह्म अनादि मनुज कटिमाना ।। 7/92/3 मा0

1242. 2/206/6 मा0

1243. 4/6/20 मा0

1244. बादि गलानि करहु मन माहीं ।
तुम्ह सम रामहि कोउ प्रिय नाहीं। 2/204/8 मा0

1245. 4/24/5 मा0

1246. 2/191/7 मा0

1247. फिरि पछि तैहसि अंत अभागी।
मारसि गाइ नहारू लागी ।। 2/35/8 मा0

1248. सहज सुहद गुर स्वामि सिख जो न करइ सिर मानि।
सो पछिताह अघाइ उर अवसि होइ हित हानि। 3/63/ मा0

1249. कोल बिलोकि भूप बड़ धीरा। भागि पैठ गिरिगुहाँ गभीरा।
अगम देखि नृप अति पछिताई। फिरेउ महाबन परेउ भुलाई। 1/156/7-8 मा0

1250. 4/6/20 मा0, 2/194/5 मा0

1251. अंगद बचन सुनत सकुचाना।
रहा बालि बानर मैं जाना।

1252. सुनि सुर बचन लखन सकुचाने। 2/230/5 मा0

1253. सुनि लछिमन बिहसे बहुरि नयन तरेरे राम।
गुर समीप गवने सकुचि परिहरि बानी बाम। 1/278/ मा0

बिहँसि हिये हरषि हटके लषन राम,
सोहत संकोच सील नेह नारि नई है। 1/85211 गीता0

1254. लखन सकोप बचन जे बोले। जगमगानि महि दिग्गज डोले।
सकल लोग सब भूप डेराने। सिय हियँ हरषु जनकु सकुचाने। 1/253/1-2 मा0

1255. सुनि मुनि बचन प्रेम रस साने।
सकुचि राम मन महुँ मसुकाने । 2/127/1 मा0

1256. जी वौं तो विपति सहौं निसि बासर, भरौं तौ मन पछितायों।
चलत बिपिन भरि नयन राम को बदन न देखन पायो। 2/54/8 गीता0

1257. बूझि न सकत कुसल प्रीतम की, हृदय यहै पछितायो।
साँचेहु सुत नियोग सुनिबे कहँ धिग विधि मोहि जिआयो। 2/56/5 गीता0

1258. भरत न मैं रघुबरी बिलोके तापस बेष बनाए।
चाहत चलन प्रान पॉवर बिनु सिय सुधि प्रभुहि सुनाए।
बार बार कर मीजि, सीस धुनि गीधराज पछिताई। 3/12/7 गीता0

1259. 1/80/9 गीता0

1260. सुनि सुर बिनय ठाढ़ि पछिताती।
भइउँ सरोज बिपिन हिमराती । 2/11/1 मा0

1261. राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेम पन लागी।
तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार संकोचू।
जो सेवकु साहिबहि संकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची। 2/263/6, 2/267/3 मा0

1262. 2/11/5

1263. बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू।
प्रभु संप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत मन कै कुटिलाई। 2/9/7–8 मा0

1264. करि प्रबोधु मुनिवर कहेउ अतिथि पेम प्रिय होहु।
कंद मूल फल फूल हम देहिं लेहु करि होहु।
सुनि मुनि बचन भरत हियँ सोचू। भयउ कुअवसर कठिन संकोचू । 2/212–1 मा0

1265. " " वही

1266. " " वही

1267. 7/28/3 गीता0, 7/31/2 गीता0

1268. 2/34/2 गीता0

1269. 2/72/8 मा0

1270. 2/322/4 मा0

1271. 7/35/2 मा0

1272. 2/268/7 मा0

1273. 2/232/7 मा0

1274. 7/6 क मा0

1275. 2/205/7 मा0

1276. 1/267/3 मा0

1277. 2/99/ मा0, 2/75/5 मा0

1278. 1/269/7 मा0, 2/118/1 मा0

1279. 2/144/8 मा0

1280. 2/95/5 मा9

1281. 7/57/3 मा0

1282. 2/269/7 मा0

1283. 2/319 मा0

1284. 2/250/ मा0

1285. 6/27/7 मा0

1286. 6/41/9 मा0

1287. 2/265/5 मा0, 2/226/3 मा0

1288. 2/93/8 मा0

1289. 5/49 ख मा0

1290. 2/3/5 मा0

1291. 1/48/2 मा0

1292. 2/268/5 मा0

1293. 1/265/6 मा0

1294. हृदयँ सोचु समुझत निज करनी। चिंता अमित जाइ नहिं बरनी।

निज अध समुझि न कछु कहि जाई। तपइ अवाँ इव उर अधिकाई। 1/57/4 मा0

कहि न जाइ कछु हृदय गलानी। 1/57/1– 1/58/8 मा0

1295. समय प्रतापाभानु कर जानी। आपन अति असमय अनुमानी।

गयउ न गृह मन बहुत गलानी। मिला न राजहि नृप अभिमानी।

रिस उर मारि रंक जिमि राजा। विपिन बसइ तापस के साजन। 1/157/3–5 मा

1296. 2/163/5 – 2/168 मा0

1297. आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरुनाइ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ ।
आन उपाउ मोहि नहिं सूझा । 2/182/1 मा0

1298. राम संकोची प्रेम बस भरत सप्रेम पयोधि । 2/219 मा0
दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिकुकता जेहि समजंग नाहीं।
जासु सनेह संकोच बस राम प्रगट भए आइ। 2/209 मा, 71/10 वि0

1299. तब मुनि बोले भरत सन सब संकोचु तजि तात।
कृपा सिंधु प्रिय बधु सन कहहु हृदय कै बात। 2/259/ मा0,
2/260/मा0, 2/269/3 मा0
गुर नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी। 2/312/3 मा0,
1/101/6 गीता0, 2/73/2 गीता0

1300. पर घर घालक लाज न मीरा। बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा। 1/96/4 मा0

1301. 2/95/4–5 मा0

1302. राम सनेह संकोच बस कह ससोच सुरराजु।
रचहु प्रपंचहि पंच मिलि पाहिं भयउ अकानु।। 2/294/मा0

1303. 6/28/6 मा0

1304. बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करिबाँकी।
खंजन मंजु तिरीदे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि। 2/166/6–7 मा

1305. 2/292 मा0

1306. झपटहिं टरै न कपि चरन पुनि बेठहिं सिर नाइ। 6/34 क
–सकुचि सिर नावौं। 208/3 वि0
–संकट नृपहि, सोच अति सीतहिं, भूप सकुचि सिर नाए। 1/91/5 गीता0,
1/84/33 गीता0, 1/89/9 गीता0,

1307. अबला बालक बृद्ध जन कर मीजहिं पछिताहिं।
होहिं प्रेम बस लोग इमि रामु जहाँ जहँ जाहिं। 2/121 मा0
2/143/7 मा0, 6/100/11 मा0, 84/1 वि0, 3/12/7 गीता0

1308. नमित सीस सोचहिं सलज्ज सब श्रीहत भए सरीर। 1/89/9 गीता0

1309. 100/11 वि0

1310. 100/11 वि0

1311. 135/4/6 वि0

1312. 234/7 वि0

1313. 136/5/1 वि0

1314. 144/1 वि0

1315. 1/324/5 मा0

1316. जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ इस माथ।
सोइ संपदा विभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ। 5/49/ख/ मा0
135/4/6 वि0

1317. 164/9 वि0

1318. त्यों न राम सुकृतग्य जे सकुचत सकृत प्रनाम किये हूँ। 170/10 वि0

1319. 1/92/5 गीता0, 2/182/5 मा0, 2/201/मा0

1320. 1/95/1 गीता0

1321. 6/13/2 कविता0

1322. भयो न तिकाल तिहुँ लोक "तुलसी" सो मंद,
निंदै सब साधु, सुनि मानौ न सकोचु हौं। 7/121/1-2 कविता0

1323. 76/13 वि0

1324. 6/28/4 मा0

1325. 2/275/5 मा0

1326. 3/16/18 मा0

1327. 2/264 मा0

1328. 2/269 मा0

1329. प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभायँ भगति भतिभेई।
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी। 2/243/7-8 मा0

1330. भरत भातु पद बंदि प्रभु सुचि सनेहँ मिलि भेंटि।
बिदा कीन्ह सजि पालकी सकुच सोच सब मेटि। 2/319/ मा0

1331. 1/60/8 मा0

1332. 1/335/2 मा0

1333. 1/25 मा0

1334. 4/24/4 मा0
1335. 163/17 वि0
1336. 7/32/10 गीता0
1337. 1/4/7 गीता0
1338. 6/5/7 गीता0
1339. 5/29/7 गीता0
1340. 2/85/2 गीता0
1341. 2/57/1 गीता0
1342. 131/6 वि0
1343. 7/82/2 कविता0
1344. 7/14/7 कविता0
1345. 1/227/4 मा0
1346. 2/312/4 मा0
1347. 1/217/5 मा0
1348. 1/260/3 मा0
1349. 2/181/8 मा0
1350. 2/305 मा0
1351. 2/268/7 मा0
1352. 1/58/5 मा0
1353. 1/263/3 मा0
1354. 1/306/5 मा0
1355. 1/63/2 मा0
1356. 5/51/6 मा0
1357. 1/25 मा0, 1/42/3 मा0
1358. 2/300/ छं0 मा0
1359. शब्द साधना : रामचन्द्र वर्म्मा पृ0 38–40
1360. मानक हिन्दी कोश : पहला खण्ड पृ0 314
1361. बृहत् हिन्दी कोश : पृ0 175
1362. सिद्धान्त और अध्ययन : बाबू गुलाब राय पृ0 126

1363. चिन्तामणि भाग–1 : रामचन्द्र शुक्ल पृ0 860, 88

1364. निरोगधाम– वसन्त ऋतु अंक 1989

1365. "द साइकोलॉजी ऑफ दि इमोशन्स" पृ0 268–69

1366. सोशल साइकोलॉजी पृ0 117, 71

1367. देखहु खोजि भुअन दस चारी। कहँ इस पुरुष कहाँ असि नारी।
इन्हहि देखि बिध्‍ि मनु अनुरागा। परतर जोग बनावै लागा।
कीन्ह बहुत श्रम ऐक न आए। तेहि इरिषा बन आनि दुराए। 2/119/6 मा0

1368. सुनु मंथरा बात फुरि तोरी। दहिनि आँखि नित फरकइ मोरी। 2/19/5 मा0
–रामहि देउँ कालि जुबराजू। सजहि सुलोचनि मंगल साजू।
दलकि उठेउ सुनि हृदउ कठोरू। जनु छुइ गयउ पाक बरतोरू। 2/26/3–4 मा0

1369. देखि आनकी सहज संपदा द्वेष अनल मन–जारयो। 202/7 वि0

1370. तुलसी सुनि सनमान बंधु को दसकंधर हँसि हिये जले। 5/41/6 गीता0

1371. कालिकाल बिहाल किए मनुजा।
नहिं मानत क्वौ अनुजा तनुजा। 7/101/5 मा0

1372. ममता तरुन तभी अँधिआरी। राग द्वेष उलूक–सुखकारी। 5/46/3 मा0

1373. 2/26/4 मा0, 1/4 मा0, 7/120/33 मा0, 7/38/3 मा0

1374. याते विपरीत अनहितन की जानि लीबी
गति, कहे प्रगट, रकुनिस खासी खई है। 1/96/19 गीता0

1375. श्रुति पुरान सगो मत यह सतसंग सुदृढ़ धरिये।
निज अभिमान मोह इरिषा बस तिनहि न आदरिये। 186/8 वि0

1376. 117/6 वि0

1377. पर संपदा सकहु नहिं देखी।
तुम्हरे इरिषा कपर बिसेषी। 1/135/7 मा0

1378. पूछेसि लोगन्ह थाह उछाहू। राम तिलकु सुनि मा उर दाह।
करइ बिचारू कुबुद्धि कुजाती। होइ अकाजु कवनि बिधि रोती। 2/12/2–3 मा0

1379. 1/265/3 मा0

1380. 7/101/7 मा0

1381. लेहु छउाइ सीय कह कोऊ।
धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ। 1/265/3 मा0

1382. 2/119/3 मा0

1383. 1/266/ मा0

1384. 7/101/7 मा0

1385. 2/12/5 मा0

1386. 2/26/5 मा0

1387. 58/9 वि0

1388. द्वेष मत्सर राग प्रबल प्रत्यूह प्रति, भूरि निर्दय, क्रूर कर्मकर्ता। 60/12 वि0

1389. महिष मत्सर क्रूर, लोभ शूकर रूप.... 59/8 वि0

1390. त्वदंघ्रि मूल ये नराः ।
भजंति हीन मत्सराः। 3/3/छं0 13/ मा0

1391. रागु रोषु इरिषा मदु मोहु।
जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू। 2/74/5 मा0

1392. 1/266/ मा0

1393. मनहुँ उडुगन निबह आए मिलन तम तजि द्वेषु। 7/9/8 गीता0

1394. 7/106/5 मा0

1395. 7/70/3 मा0

1396. 7/106/5 मा0

1397. 5/46/1 मा0, 7/34/5 मा0, 7/30/6 मा0

1398. मानक हिन्दी कोशः भाग 1, पृ0 618

1399. बृहत् हिन्दी कोश : पृ0 332

1400. भयउ ईए मन छोभु विसेषी।
नयन उघारि समल दिसि देखी। 1/86/4 मा0

1401. तात जनक तनया यह सोई। धनुष नग्य जेहि कारन होई।
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा। 1/230/3 मा0

1402. देखहु कस न जाइ सब सोभा।
जो अवलोकि मोर मनु छोभा। 2/13/4 मा0

1403. लछिमन सब मातन्ह मिलि हरषे आसिष पाइ।
कैकइ कहँ पुनि पुनि मिले मन कर छोभु न जाइ। 7/6 ख/मा0

1404. संकर उर अति छोभु सती न जानहिं मरमु सोइ।
तुलसी दरसन लोभु मन डरु लोचन लालची। 1/48 ख/मा0

1405. नीके निरखि नयन भरि सोभा।
पितु पनु सुमिरि बहुरि मनु छोभा। 1/256/1 मा0

1406. सेवा समय दैअँ बनु दीन्हा। मोर मनोरथ सफल न कीन्हा।
तजब छोभु जनि छाड़िअ छोहू। करभु कठिन कछु दोसु न मोंहू। 2/68/5 मा0

1407. देवन्ह प्रभुहि पयादें देखा।
उपजा उर अति छोभ बिसेषा। 6/88/1 मा0

1408. लखि सब बिधि गुर स्वामि सनेहू।
मिटेउ छोभु नहिं मन संदेह । 2/267/1 मा0

1409. 2/13/4 मा0

1410. चलत कटक दिग सिंधुर डगहीं।
छुमित पयोधि कुधर डगमगहीं। 6/78/4 मा0

1411. 6/102/5 मा0

1412. 3/38 क मा0 1/86/4 मा0

1413. 1/82/5 मा0

1414. 1/82/5 मा0

1415. 1/86/4 मा0

1416. 2/267/1 मा0

1417. 2/129/1 मा0

1418. 1/86/4 मा0

1419. 74/10 वि0

1420. मानक हिन्दी कोश भाग–2 पृ0 205

1421. बृहत् हिन्दी कोश, पृ0 428

1422. रस मीमांसा,: पं0 रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 165–166

1423. मति अति नीच रुचि आछी। चहिअ अमिअ जग जुरइ न छाछी।
छमि हहि सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बाल बचन मन लाई। 1/7/7–8 मा0

1424. चलीं सती सिव आयसु पाई।
करहिं बिचारु करौं का भाई । 1/51/4 मा0

1425. करौं जाइ सोइ जतन बिचारी।
जेहि पुकार मोहि बरै कुमारी। 1/130/7 मा0

1426. 1/133/6 मा0

1427. भोजन करत बोल जब राजा।
नहिं आवत तजि बाल समाजा। 1/202/6 मा0

1428. बिहसि लखनु बोले मृदु बानी।
अहो मुनीसु महा भटमानी । 1/272/1 मा0

1429. दिसि अरु बिदिसि पंथ नहि सूझा।
को मैं चलेउँ कहाँ नहि बूझा।। 3/9/11 मा0

1430. 1/7/8 मा0

1431. 1/51–1/52 मा0

1432. आपन रूप देहु प्रभु मोही।
आन भाँति नहिं पावौ ओही।। 1/131/6 मा0

1433. मुनिहि मोह मन हाथ पराएँ।
हँसहिं संभुगन अति सचु पाएँ।।
जदपि सुनहिं मुनि अटपटि बानी।
समुझि न परइ बुद्धि भ्रम सानी।। 1/133/6 मा0

1434. भोजन करत चपल चित इत उत अवसरु पाइ।
भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ।। 1/203 मा0

1435. कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई।
कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई।। 3/9/12 मा0

1436. जात नचावत चपल तुरंगा। 1/315/5 मा0

1437. प्रगटहिं दुरहिं अटन्ह पर भाभिनि।
चारु चपल जनु दमकहिं दामिनि।। 1/346/4 मा0

1438. नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं।
अवगुन आठ सदा उर रहहीं।।
साहअ अनत चपलता माया।
भय अबिबेक असौच अदाया।। 6/15/2–3

1439. सुभग सकल सुटि चंचल करनी।
अय इव जरत धरत पग धरनी।। 1/297/5 मा0

1440. कहहु कवन मै परम कुलीना।
कपि चंचल सबहीं बिधि हीना।। 5/6/7 मा0, 5/11/5 गीता

1441. चंचल तुरग मनोहर चारी।
अजर अमर मन सम गतिकारी।। 6/88/4 मा0

1442. चूक–चपलता मेरियै, तू बड़ो बड़ाई। 35/9 वि0

1443. लरिकाई बीती अचेत चित, चंचलता चौगुने चाय। 83/3 वि0

1444. मानक हिन्दी कोश भाग–2– पृ0 325

1445. वृहत् हिन्दी कोश पृ0 482

1446. रस मीमांसा : पं0 रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 158–159

1447. वही, पृ0 159

1448. लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिवँ बार बहु। 1/51 मा0

1449. थके नयन रघुपति छबि देखें।
पलक कन्हिहुँ परिहरी निमेषे।। 1/231/5 मा0, 1/1/2 कविता

1450. परम पेम पूरन दोउ भाई।
मन बुधि चित अहभिति बिसराई।। 2/240/2 मा0

1451. जड़ता जाड़ विषम उर लागा।
गएहुँ न मज्जन पाव अभागा।। 1/38/2 मा0

1452. निज जड़ता लोगन्ह पर डारी।
होहि हरुअ रघुपतिहि निहारी।। 1/257/7 मा0

1453. मोहि नूप करि भल आपन चहहू।
सोउ सनेह जड़ता बस कहहूँ।। 2/177/8 मा0

1454. जड़ता पर बंचन ताति घनी। 7/101/9 मा0

1455. चंतुकर थकित जिरि तुरंग हाँके। 6/45/2 कविता

1456. मानक हिन्दी कोश : रामचन्द्र वर्मा पाँचवा खण्ड 219 पृ0

1457. वृहत् हिन्दी कोश : पृ0 1397

1458. शब्द साधना : रामचन्द्र वर्म्मा, पृ0 327

1459. श्रीमद् भगवत् गीता : 10/9

1460. वही : 2/55

1461. वही : 4/22

1462. मानस मुक्तावली : पं0 रामकिंकर उपाध्याय, पृ0 18 भूमिका से

1463. महाभारत : वन पर्व, 216/23

1464. रस मीमांसा : पं0 रामचन्द्र शुक्ला, पृ0 164

1465. ग्रेट बुक ऑफ दि वेस्टर्न वोल्ड दि ग्रेट आइडियाज–1, 1952, पृ0 380

1466. सिरु नाइ देव मनाइ सब सन कहत कर संपुट किएँ।
सुर साधु चाहत भाउ सिंधु कि तोष जल अंजलि दिएँ।। 1/325 मा0, 47/5 वि0

1467. सुनि बर बचन प्रेम जनु पोषे।
पूरन काम रामु परितोषे।। 1/341/6 मा0

1468. भाव अतिशय विशद प्रवर नैवेद्य शुभ श्री रमण परम संतोषकारी। 47/5 वि0, 109/10 वि0, 70/8 वि0, 7/107/6/9 मा0

1469. इहै भगति, बैराग्य–ग्यान यह, हरि तोषन यह सुभ ब्रत आचरु। 205/7 वि0

1470. अनुराग सो निज रूप जो जगते बिलच्छन देखिये।
संतोष, सम, सीतल सदा दम, देह वंत न लेखिये। 136/11/4 वि0

1471. जयति वर्णा श्रमाचार पर नारि नर
× × ×
विगत दुख–दोष, संतोष सुख सर्वदा,
सुनत, गावत राम राजलीला। 44/31 वि0, 142/22 वि0

1472. 5/30/5 गीता

1473. 6/13/3 गीता

1474. 2/117/4 मा0, 1/126/1 मा0

1475. 2/208/6 मा0

1476. दुराराध्य पै अहहिं महेसू।
आसुतोष पुनि किएँ कलेसू।। 1/69/4 मा0, 7/108/11 मा0

1477. अवसि नरेस बचन फुर करहू।
पालहु प्रजा सोकु परिहरहू।।
सुरपुर नृंपु पाइहि परितोषू।
तुम्ह कहुँ सुकृतु सुजसु नहिं दोषू।। 2/174/1–2 मा0

1478. 1/350/8 मा0, 1/351/4 मा0

1479. 2/250 मा0

1480. 1/101/6.2 मा0

1481. 2/150/6 मा0

1482. प्रभु तोषेउ सुनि संकर बचना।
भक्ति बिबेक धर्म जुत रचना।। 1/76/5 मा0, 1/306/6 मा0, 1/357 मा0

1483. करतेहु राजु न तुम्हहि न दोषू।
रामहि होत सुनत संतोषू।। 2/206/8 मा0

1484. तापस बेष जनक सिय देखी।
भयउ पेमु परितोषु बिसेषी।। 2/286/1 मा0

1485. –साधक सुपथिक बड़े भाग पाइ। पावत अनेक अभिमत अघाइ।। 23/7 वि0
–जनक को, सिया को, हमारो, तेरो तुलसी को,
सबको भावतो ह्वै है, मैं जो कह्यो कालि, री।
कौसिला की कोखि पर तोषि तन वारिये री। 1/11/5–7 कविता, 6/2/4 कविता,
1/196 मा0, 1/280/2 मा0

1486. 1/273/7 मा0

1487. 1/285/6 मा0

1488. 2/208/6 मा0

1489. 7/30/8 मा0

1490. भेटीं रघुबर भातु सब करि प्रबोधु परितोषु।
अब ईस आधीन जगु काहु न देइअ दोषु। 2/244 मा0

1491. 2/306/3 मा0

1492. 2/205/5 मा0

1493. 2/208/6 मा0

1494. 2/60/ मा0

1495. पुर परिजन अवलोकि भातु सब सुख संतोष लहौंगो। 2/77/4 गीता0

1496. 1/55/12 गीता0

1497. जग्य राखि, जग साखि, तोषि ऋषि निदरि निसाचर मारे। 1/68/6 गीता0

1498. 1/72/9 गीता0

1499. तप बल, भुज बल, कै सनेह बल सिव बिरंचि नीकी बिधि तीषे। 5/12/3 गीता0

1500. 3/15/4 गीता0

1501. तुलसिदास अनुराग अवध आनंद अनुभवत तब को सो अजहूँ अथाई। 1/30/18 गीता0

194/4 वि0, 1/4/16 गीता0, 1/61/8 गीता0, 1/64/5 गीता0,

1502. लहि नाथ हौं रघुनाथ बान को पतित पावन पाइकै।
दुहु ओर लाहु अघाइ तुलसी तीसरेहु गुन गाइकै। 3/17/2/6 गीता0, 5/30/5 गीता0

1503. 1/70/2 गीता0, 62/2 वि0

1504. 2/34/6 गीता0

1505. 7/27/10 गीता0

1506. 5/28/14 गीता0

1507. 7/30/6 गीता0

1508. पुनि जल दीख निज पावा। तदपि हृदयँ संतोष न पावा। 1/135/1 मा0

1509. बंधु प्रबोधु कीन्ह बहु भाँती।
बिनु आधार मन तोषु न साँती। 2/315/2 मा0

1510. भागा जल तेहि दीन्ह कमंडल ।
कह कपि नहिं उघाउँ थोरे जल । 6/56/7 मा0

1511. दुबिध मनोगति प्रजा दुखारी। सरित सिंधु संगम जनु बारी।
दुचित कतहुँ परितोषु न लहहीं। एक-एक सन मरमु न कहहीं। 2/301/6-7 मा0

1512. जासु सनेह सकोच बस राम प्रगट भए आइ।
जे हर हिय नयननि कबहुँ निरखे नहीं अघाइ। 2/209/मा0, 6/111/मा0, 2/260 मा0

1513. 6/106 मा0, 7/87/2 मा0, 5/48/3 मा0

1514. 3/20/6 मा0

1515. 1/147/6 मा0

1516. भरत सभा सनमानि सराहत, होत न हृदय अघाउ। 100/16 वि0

1517. राम चरित जे सुनत अघाहीं।
रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं। 7/52/1 मा0

1518. 1/102 मा0

1519. देत लेत पहिरत पहिरावत प्रजा प्रमोद अघानी। 1/4/16 गीता0

1520. नाम प्रताप पतितपावन किए, जे न अघाने अघ अनै। 5/40/5 गीता0

1521. 169/4 वि0

1522. मम परितोष विविध बिधि कीन्हा।
हरषित राममंत्र तब दीन्हा। 7/112/6 मा0

1523. मुनि तापस जिन्ह तें दुखु लहहीं। ते नरेस बिनु पावक दहहीं।
मंगल मूल बिप्र परितोषू। दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू। 2/125/4 मा0

1524. ध्यानु प्रथम जुग मख बिधि दूजें।
द्वापर परितोषत प्रभु पूजें। 1/26/3 मा0

1525. 2/79/4 मा0

1526. प्रभुं तोषेउ सुनि संकर बचना।
भक्ति बिबेक धर्म जुत रचना। 2/76/5 मा0

1527. 1/19/7 मा0

1528. 2/103/8 मा0

1529. 2/165/1 मा0

1530. 2/70/5 मा0

1531. पाइ अघाइ असीसत विकसत जाचक जन भए दानी । 1/4/11 गीता0,
1/55/12 मा0, 1/351/4 मा0

1532. कोउ विश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिनु ।
बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं। 7/89ख–1/मा0

1533. जिमि लोभहि सोषद संतोषा। 4/15/3 मा0, 172/3 वि0
तोश मरुत तब छमॉ जुड़ावैं। 7/116/14 मा0
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना। 6/79/7 मा0

1534. 1/4/11 गीता0

1535. आकरषै सुख संपदा संतोष विचार । 108/8 वि0
123/8 वि0, 44/3 वि0, 121/8 वि0

1536. जो संतोष सुधा निसिबासर सपनेहुँ कबहुँक पावै।
तौ कत' बिषय बिलोकि झूँठ जल मन कुरंग ज्यों धावै। 168/3 वि0,
70/8 वि0

1537. 205/3 वि0

1538. 136/11/4 वि0

1539. 169/4 वि0

1540. रोष महामारी, परितोष महतारी।दुनी। 7/173/7 कविता0

1541. 7/173/7 कविता0,

1542. 7/173/7 कविता0

1543. कासी में कटंक जेते भए तेगे पाइ अघाइ कै आपनो कीयो। 7/179/3 कविता0

1544. 7/173/7 कविता0

1545. 168/3 विनय0

1546. 44/3 विनय0

1547. 123/8 विनय0

1548. 92/8 विनय0

1549. 7/35/2 गीता0

1550. 1/95/14–15 गीता0

1551. 1/5/34 गीता0

1552. 1/30/18 गीता0

1553. 1/55/12 गीता0

1554. 3/35/4 मा0

1555. 7/101/6 मा0

1556. 2/125/4 मा0

1557. 1/42/4 मा0

1558. 1/27/3 मा0

1559. 1/27/3 मा0.

1560. 6/79/7 मा0

1561. 1/221/7 मा0

1562. 1/26/3 मा0

1563. 1/170/6 मा0

1564. 1/351/4 मा0

1565. मानक हिन्दी कोशः रामचन्द्र वर्म्माः पहला खण्ड पृ0 611

1566. शब्द साधना : रामचन्द्र वर्म्मा पृ0 124

1567. मानक हिन्दी कोश : पहला खण्ड पृ0 573
बृहत् हिन्दी कोश : पृ0 311

1568. मानक हिन्दी कोश : तीसरा खण्ड पृ0 26
बृहत् हिन्दी कोश : पृ0 609

1569. मानक हिन्दी कोश : पहला खण्ड पृ0 466

1570. सदय हृदयता हि करुणेति लोके प्रसिद्धा। सा लिंगैर नु कर्त्तरि शोकं प्रति यतां सामाजिका नामिति तत्र करुण व्यपदेशः इति श्री शंकुकः। (हिन्दी अभिनव भारती, पृ0 579)

1571. चिन्तामणि भाग–1 : पं0 रामचन्द्र शुक्ल पृ0 35

1572. वही पृ0 36

1573. सोशल साइकोलॉजी : मैक्डूगल पृ0 64–68

1574. जरे पंख अति तेज अपारा। परेउँ भूमि करि घोर चिकारा।
मुनि एक नाम चन्द्रमा ओही। लागी दया देखि करि मोही। 4/27/5 मा0, 3/1/5 मा0, 114/4 वि0, 5/15/7 गीता0

1575. 3/1/9 मा0
अति आरति पूछउँ सुरराया। रघुपति कथा कहहु करिदाया। 1/109/3 मा0

1576. 5/26/4 मा0, 5/51/7 मा0, 1/185/छं0–4 मा0, 79/1 वि0, 109/6 वि0

1577. मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया।
परिहरि कोपु करिअ अब दाया। 1/277/1 मा0, 5/45/8 मा0

1578. चक्रबर्ति के लच्छन तोरें।
देखत दया लागि अति मोरें। 1/158/4 मा0

1579. अखिल बिस्व यह मोर उपाया।
सब पर मोहि बराबरि दाया। 7/86/7 मा0

1580. 1/277/1
जेहि साधन रहि। द्रवु जानि जन सो हठि परिहरिये। 186/3 वि0

1581. 5/44/6 गीता0

1582. छोटे बदन कहउँ बड़ि बाता।
छमब तात लखि बाम विधाता । 1/292/6 मा0

1583. छमब आजु अति अनुचित मोरा ।
कहउँ बदन मृदु बचन कठोरा । 2/296/6 मा0

1584. ऊतरु देउँ छमब अपराधू । दुखित दोष गुन गनहिं न साधू। 2/177/8 मा0
2/299/2 मा0, 2/176/8 मा0

1585. तदपि सरन सनमुख मोहि देखी।
छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी । 2/182/4 मा0

1586. स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी।
बिलगु न मानव जानि गवाँरी। 2/115/7 मा0

1587. मातु मने महुँ मानि मोहि जो कछु करहिं सो थोर।
अघ बवगुन छमि आदरहि समुझि आपनी ओर। 2/233/मा0

1588. जो बिलोकि अनुचित कहेउँ छमहु महामुनि धीर।
सुनि सरोष भृग बंसमिनि बोले गिरा गभीर। 1/273/मा0

1589. 2/63/5 मा0

1590. 2/15/8 मा0

1591. 1/274/5 मा0, 2/44/6 मा0

1592. 1/284/6 मा0

1593. 1/325/छं0–3/2 मा0

1594. 1/281/8 मा0

1595. 6/89/छं01 मा0

1596. 2/303/1 मा0

1597. 6/21/7 मा0

1598. नाकहि आये नाथ सों, सांसति भय भारी।
कहिं आयो, कीबी छमा, निज ओर निहारी। 34/6 वि0

1599. 7/71/6 कविता0

1600. नाथ करहु बालक पर छोहू। 1/276/1 मा0
–कृपा कोपु बधु बंधब गोसाई। मो पर करिइ दास की नाई। 1/278/5 मा0
–नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्हा कृपा जानि जन दीना। 3/7/4 मा0
–राम कृपा करि सूत उठावा। 6/90/8 मा0

273/2 वि0, 5/56/6 मा0, 5/6/2 मा0, 1/17/6 मा0, 1/104/6 मा0,

1601. 1/12/6 मा0

1602. 7/108/4 मा0

1603. 6/115/4 मा0, 5/7 मा0, 7/129/छं03 मा0, 6/73/9 मा0

1604. सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।
बल बिवेक दम परहित घोरे। दमा कृपा समता रजु जोरे। 6/79/5–6 मा0

1605. तू गरीब को निवाज, हौं गरीब तेरो। 78/11 वि0

1606. कुटिल करम लै जाहिं मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़ियो, कमउ अंड की नाई। 103/6 वि0,
239/14 वि0, 211/1 वि0, 195/1 वि0, 166/20 वि0

1607. रूप सील गुन खानि दच्छ दिसि, सिंधु सुता रत पद सेवा।
जाकी कृपा कटाच्छ चहत सिव, बिधि मुनि, मनुज, दनुज, देवा। 63/16 वि0

1608. 43/14 वि0

1609. उमा जोग जप दान तप नाना मख ब्रत नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम। 6/117 ख मा0,
2/250 मा0

1610. 1/25/4 मा0, 1/7घ/मा0, 1/199/6 मा0, 162/2 वि0

1611. 4/28/2 मा0

1612. 7/19/1 कविता0, 163/4 वि0

1613. 44/30 वि0,

1614. 209/11 वि0

1615. भयउ बाम बिधि फिरेउ सुभाऊ।
मोर हृदयँ कृपा कसि काऊ। 1/279/ मा0

1616. गुन सील कृपा परमायतनं। 7/13/19 मा0, 7/5/5 गीता0

1617. चहिअ बिप्र उर कृपा घनेरी। 1/281/4 मा0
114/3 वि0, 109/9 वि0, 273/2 वि0, 59/2 वि0, 7/97/6 कविता0

1618. मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिही। उर अपराध न एकउ धरिही। 5/56/6 मा0
नाथ गरीब निवाज है, मैं गही न गरीबी। 148/9 वि0

1619. कुसमय दसरथ के। दानि तैं गरीब निवाजै। 80/6 वि0

1620. 152/6 वि0

1621. 193/3 वि0

1622. 7/8/2 कविता0

1623. 7/37/3 मा0, 1/277/1 मा0

1624. 1/43/2 मा0, 186/11 वि0, 9/1 वि0

1625. कामरूप जानहि सब माया ।
सपनेहुँ जिन्ह के धरम न दाया। 1/180/1 मा0

1626. बिबिध बिलाप करति बैदेही।
भूरि कृपा प्रभु दूरि सनेही। 3/28/4 मा0
1/185/छं0–1 मा0

1627. जानि कृपाकर किंकर मोहू।
सब मिलि करहू छाड़ि छल होहू। 1/7/3 मा0, 1/14/8 मा0

1628. 1/166/ मा0

1629. 1/131/5 मा0

1630. जेहि बिधि होइ राम कल्यान।
देहु दया करि सो बरदान। 2/7/6 मा0

1631. मूत दया द्विज गुर सेवकाई। विद्या विनय बिबेक बड़ाई।
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी। 7/125/6–7 मा0

1632. –राम कृपा बिनु सुनु खगराई।
जानि न नाइ राम प्रभुताई । 7/88/6 मा0
–यह सुमचरित जान पै सोई।
कृपा राम कै जापर होई। 1/195/6 मा0, 183/8 वि0

1633. आरत पालु कृपालु जो राम, जेही सुमिरे तेहि को तहँ ठाढ़े। 7/127/1 कविता0

1634. मन में मंजु मनोरथ हो, री।
सोहर गौरि प्रसाद एकते, कौसिक, कृपा चौगुनों मो, री । 1/104/1–2 गीता0

1635. जरत फिरत त्रयताप पाप बस, काहु न हरि। करि कृपा जुड़ायों। 243/6 वि0

1636. कृपा दृष्टि रघुबरी बिलोकी।
किए सकल नर नारि बिसोकी। 7/5/6 मा0
1/38/5 मा0, 1/24/8 मा0, 7/138/4 मा0

1637. मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा।
राम कृपा कस भयउ सरीरा। 4/28/2 मा0
1/13/11 मा0, 5/28/4 मा0

1638. जानकीसकी कृपा जगावती सुजान जीव,
जागि जागि मूढ़ता डनुरागु श्री हरे। 74/1 वि0

1639. 141/12 वि, 273/4 वि0

1640. 227/6 वि0

1641. 224/8 वि0

1642. काम मोहित गोपिकनि पर कृपा अतुलित कीन्ह।
जगत पिता बिरंचि जिन्ह के चरन की रज लीन्ह। 214/6 वि0

1643. 137/8 वि0

1644. 279/4 वि0

1645. 225/7 वि0

1646. तापर सानुकूल गिरिजा, हर, लषन, राम अरु जानकी।
तुलसी कपि की कृपा बिलोकनि, खानि सकल कल्यान की। 30/6 वि0

1647. सुकृत्–सुजस, साहिब–कृपा, स्वारथ–परमारथ, गति भये गति–विहीन की। 278/4 वि0

1648. अध–अवगुनन्हि की कोठरी करि कृपा मृद मंगल भरी। 3/17/7/4 गीता0

1649. सबको भलो है राजाराम के रहम ही। 6/8/8 कविता0

1650. अब दीनदयालु दया करिऐ।
मति मोरि विभेदकारी हरिएं। 6/110/19 मा0

1651. 6/90/8 मा0

1652. 1/43/ख मा0

1653. 7/120/7 मा0

1654. 1/27/3 मा0

1655. 2/299/5 मा0

1656. 1/206/7 मा0, 5/16/4 मा0

1657. 5/7 मा0

1658. 6/117/3 मा0

1659. 2/182/4 मा0
1660 3/18/13 मा0
1661. 1/210/छं0 3 मा0
1662. 4/20/6 मा0
1663. 1/144/6 मा0
1664. 3/18/12 मा0
1665. 2/259/8 मा0
1666. 2/315/4 मा0
1667. 7/108क मा0
1668. 1/279/3 मा0
1669. 6/15/5 मा0
1670. 7/74/1 मा0

पंचम – अध्याय

– मानसिक संघर्ष

: पात्रगत तनाव तथा द्वन्द्व का अनुशीलन
: निष्कर्ष

– तुलसी साहित्य में स्थिर तथा अन्य

पात्रों का संवेगात्मक अनुशीलन

पुरुष पात्र – राम
– लक्ष्मण
– भरत
– दशरथ
– रावण
– शिव
– नारद
– हनुमान
– सुग्रीव
– विभीषण
– बालि
– अंगद

स्त्री पात्र – सीता
– सती
– कैकेयी
– कौसल्या
– शूर्पणखा
– मंदोदरी

– निष्कर्ष

पंचम अध्याय

प्रस्तुत अध्याय दो वर्गों में बॉटा गया है "क" और "ख", क वर्ग में तुलसी साहित्य के पात्रों (स्थिर तथा गतिशील पात्रों) का संवेगात्मक अनुशीलन है और "ख वर्ग में पात्रगत मानसिक संघर्ष का विवेचन किया गया है।

(क) तुलसी साहित्य में पात्रों का संवेगात्मक अनुशीलन :-

तुलसी साहित्य में संवेगों की दृष्टि से कुछ पात्र विशेष महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण के रूप में पुरुष पात्र जैसे राम, भरत, लक्ष्मण, शिव, विभीषण, रावण सुग्रीव, अंगद और नारी पात्रों में जैसे- शूर्पणखा, सती, सीता, कैकेयी, कौसल्या, मंदोदरी। इन पात्रों के जीवन का गहरा अवलोकन करने पर हम एक विशेष बात यह पाते हैं कि इनके जीवन का कोई न कोई एक मूल संवेग है जो अन्य समस्त संवेगों का पूरा प्रतिनिधित्व करता है।

पुरुष पात्र :-

राम :

तुलसी साहित्य में राम दो रूपों में हमारे समक्ष आते हैं एक लोकोत्तर रूप में और दूसरे मानवीय रूप में। राम के लोकोत्तर जीवन का मुल संवेग "करुणा" है। इसी संवेग ने इनको अवतार लेने के लिए प्रेरित किया है। आततायी राक्षसों से भयभीत पृथ्वी की दीन पुकार सुन राम अपने भगवत् स्वरूप में करुणार्द्र हो उठते हैं और उसे उसका समस्त भार हर लेने का वचन देते हैं।[1]

राम का भगवत् रूप इसी प्रकार करुणा से ओतप्रोत है। यही करुणा उनमें मंगल की भावना जगाती है। भक्त के कल्याण के लिए वे स्वयं की चिन्ता भी नहीं करते और अनेक बार शाप के भागी भी होते हैं। नारद मोह प्रसंग[2] तथा जलन्धर की परम सती स्त्री[3] का प्रसंग उनकी इसी भावना का परिचायक है। राम के अवतारी रूप में यह लोक मंगल की भावना स्थान-स्थान पर दिखायी पड़ती है। राम इसी भावना से प्रेरित होकर विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करते हैं सती के दुःख को समझकर धनुष भंग करते हैं, राक्षसों के विनाश के लिए चौदह वर्ष का वनवास लेते हैं और वन में समस्त ऋषि मुनियों को सन्तुष्ट करते हैं।

राम में भक्त वत्सलता चरम सीमा पर दृष्टिगोचर होती है। अपनी भक्त वत्सलता के कारण कभी वे दया करते दिखाई पड़ते हैं, कभी कृपा और कभी क्रोध।

राम अपनी भक्त वत्सलता के कारण दशरथ के यहाँ पुत्र रूप में जन्म लेते हैं, सीता से विवाह करते हैं, वशिष्ठ जी से शिक्षा ग्रहण करते हैं वन जाने के समय लक्ष्मण और सीता को साथ लेते हैं, ऋषि मुनियों तथा शबरी का आतिथ्य स्वीकार करते हैं। निषाद और केवट को सन्तुष्ट करते हैं, देवताओं की करुण पुकार सुन अपने लक्ष्य की ओर उन्मुख होते हैं। राम का लोकोत्तर रूप भक्त वत्सलता के न जाने कितने उदाहरणों से भरा पड़ा है।

शरणागत वत्सलता के कारण उनका क्रोध दया में बदलता हुआ दिखायी देता है। एक बार इन्द्र पुत्र जयन्त के कुटिलता करने पर राम क्रोधित होकर ब्रह्मबाण छोड़ते हैं लेकिन फिर जयन्त जब आर्त्त पुकार करता हुआ राम की शरण में जाता है तो राम फिर कृपा करके उसे एक आँख से अन्धा करके छोड़ देते हैं।[4] राम का यह स्वभाव है कि यदि अपराधी छल रहित होकर शरण में आ जाये तो वे उसे निर्भय करते हुए उस पर अपार कृपा करते हैं। वे स्वयं अपने प्रण की चर्चा करते हुए विभीषण से कहते हैं– "मम पन सरनागत भय हारीं।[5]

अवतारी होने के कारण राम में नैतिक अहं की प्रवलता है। विश्व में मंगल की स्थापना हो इसके लिए उनमें अधर्म के प्रति क्रोध संवेग प्रस्फुटित हुआ है। राम का क्रोध मंगलकारी है। "विश्वमित्र की यज्ञ–रक्षा के लिए उन्होंने ताड़का, मारीच तथा सुबाहु का संहार किया, शूर्पणखा के नाक–कान काटे जाने की प्रतिक्रिया स्वरूप आक्रमण करने वाले खर, दूषण एवं त्रिशिरा का वध किया, सुग्रीव की रक्षा के लिए बलि को धराशायी किया और देवताओं ऋषि मुनियों तथा सीता के उद्धार के लिए कुम्भकर्ण एवं रावण जैसे विश्वविख्यात वीरों का विनाश किया।[6]

राम का मानवीय रूप समस्त सद्प्रवृत्तियों का पुंज है।

उनकी हर एक सद्पुरुष से आत्मीयता है। उनका कौटुम्बिक प्रेम, पितृ प्रेम, भ्रात प्रेम, मातृ प्रेम, पत्नी प्रेम जहाँ एक ओर चरम सीमा पर है वहाँ दूसरी ओर गुरुभक्ति, ब्राह्मण भक्ति, मित्र प्रेम, जन्मभूमि प्रेम, मानवता, प्रजा प्रेम भी कम नहीं है। राम पूज्य लोगों के प्रति बड़ी ही श्रद्धा रखते हैं और इसी कारण वे उनकी किसी भी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते। पिता दशरथ की आज्ञा से ही वे चौदह वर्ष का वनवास स्वीकार करते हैं, विश्वामित्र की आज्ञा से वे राक्षसों का वध करते हैं और जनकपुर में धनुष भंग करते हैं। मित्र प्रेम के वशीभूत होकर वे सुग्रीव और विभीषण के दुःख को दूर करते हैं, भातृ और पत्नी प्रेम के कारण वे लक्ष्मण और सीता को वन में साथ ले चलते हैं तथा भरत के लिए तो वे पिता को दिये वचनों को भी तोड़ने के लिए तैयार हो जाते हैं। गुरु और ब्राह्मण के प्रति सदा नत रहते हैं।

अपनी जन्मभूमि के प्रति लगाव होना स्वभाविक है राम के लिए अयोध्या की जन्मभूमि दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापों तथा आवागमन रूपी रोगों को नष्ट करने वाली है। वन से लौटते समय सर्वप्रथम वे सीता सहित करबद्ध प्रणाम करते हैं और सजल नयन, पुलकित शरीर और आनन्द से गद्‌गद् हो जतो हैं।

राम को प्रजा का पूरा–पूरा ध्यान रहता है उनका मानना है कि– जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी।[8] वे प्रजा प्रेम के कारण ही लक्ष्मण को साथ चलने से मना करते हैं।[9]

राम मानवीय रूप में भी करुणा के सागर हैं उनमें विनम्रता/परोपकारिता आदिशील गुणों की प्रधानता है। उन्हें इस बात का सदैव संकोच रहता है कि उनकी किसी बात से उनके आत्मीय को कष्ट पहुँचे। वनगमन के समय राम दशरथ की दशा देखकर करने लगते हैं कि "अति लघु बात लागि दुख पावा।"[10] चित्रकूट में भी सारी सभा राम के विषय में कहती है–

सील सराहिं सभा सब सोची।
कहुँ न राम सम स्वामि संकोची।।

राम में मनोवैज्ञानिक मूल प्रवृति "काम" का भी मंगलकारी रूप दिखलायी दिया है। बहु पत्नीत्व की प्रवृत्ति उनके स्वभाव के एकदम विरूद्ध है। पुष्पवाटिका में जब उनका मन सीता पर मुग्ध होने लगता है तो वे समझ लेते हैं कि उनका विवाह सीता से ही होने वाला है।[11] काम संवेग के प्रभाव से सीता वियोग दुःख उन्हें बड़ा दयनीय बना देता है वे जड़–चेतन सभी से सीता का पता पूछते विलाप करते जाते हैं[12] और जब वसन्त ऋतु आती है तो वे प्रकृति की शोभा देख सीता के लिए विह्वल हो उठते हैं उस समय वे एक अति कामी पुरुष की भाँति दिखायी पड़ते हैं।[13]

राम में मानवीय संवेग क्रोध और घृणा की अभिव्यक्ति भी है। उन्हें प्रत्येक दुष्प्रवृत्ति पर क्रोध तथा उससे अत्यधिक घृणा होती है। राम अधर्म के विनाशक तथा धर्म के संस्थापक हैं। इसीलिए वे विश्वामित्र के यज्ञ–रथ में तत्पर हो ताड़का मारीच और सुबाहु का संहार करते हैं, खर दूषण और त्रिशरा का वध कर उचित दण्ड देते हैं। राम का क्रोध अनुचित नहीं होता। रावण का सपरिवार नाश उनके इसी संवेग का परिचायक है।

क्षत्रियोचित गुण अभिमान भी उनके संवेगों में एक है। इस संवेग के कारण उनको अपनी विजय का आत्मविश्वास रहता है और वे उत्साह पूर्वक युद्ध के लिए तत्पर रहते हैं। राम स्वयंवर

सभा में परशुराम से कहते हैं हे भृगुनाथ! संसार में ऐसा कौन योद्धा है जिसे हम डर कर मस्तक नवायें। ......यदि रण में हमें कोई भी ललकारे तो हम उससे सुखपूर्वक लड़ेगें चाहे काल ही क्यों न हो। क्षत्रिय का शरीर धरकर जो युद्ध में डर गया उस नीच ने अपने कुल पर कलंक लगा दिया।[14]

राम मर्यादा पुरुषोत्तम है इसी कारण वे कभी भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते। वे इसी कारण वनगमन के समय सीता को कौशल्या के सामने समझाने में संकोच करते हैं तथा चित्रकूट में वशिष्ट आदि गरुजनों के सम्मुख भरत को अपनी चरण पादुकायें देने में संकोच करते हैं।[15] राम एक मानव होने के कारण सुख–दुःख का भी अनुभव करते हैं, उनको दूसरों के दुःख से दुःख और दूसरों के सुख से सुख मिलता है। स्वयं जिस सुख के भागी है, यदि उस सुख से उनके भाई लोग वंचित रह जाये उन्हें किस प्रकार सुखी कर सकता है। वे राज्याभिषेक के समाचार से प्रसन्न न हो अत्यधिक दुःखी हो जाते हैं क्योंकि यह सुख केवल उन्हीं को मिल रहा था।[16] इसी प्रकार वनगमन के समय वे माता–पिता की आज्ञा पालन करने का सौभाग्य प्राप्त करके तथा भाई भरत को राज्य मिलने के सुख से बड़े सुखी हो जाते हैं। राम के इस प्रकार के सुख–दुःख के उदाहरण अनेक हैं जो उनके चरित्र पर चार चाँद लगाते हैं।

एक आदर्श पुरुष होने के कारण राम को सदैव अपने आत्मीय जनों की चिन्ता बनी रहती है। वनवास के लिए जाते समय उन्हें अयोध्या की चिन्ता होती है और इसीलिए वे लक्ष्मण को साथ ले चलने से हिचकिचाते हैं। वे वन जाने समय अयोध्या की सुरक्षा का प्रबन्ध कुलगुरु वशिष्ठ को सौंपकर फिर वहाँ से प्रस्थान करते हैं।[17] उनको अपनी माता कौसल्या की भी चिन्ता है और इसीलिए वे सीता से अध्योध्या में ही ठहरने का आग्रह करते हैं। चित्रकूट में जब सीता अपना स्वप्न सुनातीं हैं तथा जब उन्हें भरत के आने का समाचार मिलता है तो वे सोच में पड़ जाते हैं कि भरत के आने का क्या कारण हैं।[18] इसी प्रकार जब लक्ष्मण मूर्च्छित हो जाते हैं तो उन्हें विभीषण की चिन्ता हो जाती है कि अब इसे हम कैसे राज्य दिला पायेगें।

लक्ष्मण :

लक्ष्मण पृथ्वी के भय को दूर करने वाले और समस्त गुणों की खानि है। लक्ष्मण की एकमात्र इच्छा राम सान्निध्य, राम–सेवा और राम–प्रेम है। लक्ष्मण के जीवन का ध्येय यही है कि वे राम भक्ति की चरम सीमा प्राप्त करें। राम उनके स्वामी हैं और वे उनके दास। लक्ष्मण राम की सेवा उनके सान्निध्य में रहकर ही करना चाहते हैं इसीलिए जब राम वन जाने के लिए तैयार होते हैं तब लक्ष्मण की दशा जल से निकली मछली की तरह हो जाती है। शरीर और घर सभी से नाते छोड़े

दिखाई पड़ते हैं। वे सोचते हैं कि क्या हमारा सब सुख और पुण्य पूरा हो गया।[19] लक्ष्मण की दशा इस अवसर पर बड़ी दयनीय हो जाती है। वे व्याकुल हो जाते हैं उनका शरीर कॉंपने लगता है रोमांच होने लगता है नेत्र आसुओं से भर जाते हैं। मुख से वाणी नहीं निकल पाती। जब राम उनपर प्रजा का भार सौपते हुए वहीं रहने की सीख देते हैं तब तो वे ऐसे सूख जाते हैं जैसे पाले के स्पर्श से कमल।[20]

लक्ष्मण के इस प्रकार समस्त स्नेह नातों को तोड़ देने पर जब राम उन्हें साथ चलने की अनुमति दे देते हैं तो वे बहुत ही आनन्दित हो जाते हैं लेकिन वे एक बार फिर भयभीत उस समय हो जाते हैं जब माता सुमित्रा के पास विदा मांगने के लिए जाने पर सुमित्रा सारी कथा सुनकर एकदम सहम जाती हैं। लक्ष्मण सोचने लगते हैं कि ये स्नेह वश काम बिगाड़ देगी। इसीलिए वे विदा मांगते डर के मारे सकुचाते हैं।[21] लेकिन जब उनके मार्ग में ऐसी कोई विघ्न नहीं आती है तो वे तुरन्त वहाँ से इस तरह चल देते हैं जैसे सौभाग्यवश कोई हिरन कठिन फंदे को तुड़ाकर भाग निकला हो। वन में लक्ष्मण सीता–राम की मन वचन और कर्म से सेवा करते हैं और आज्ञा का पालन करते हैं और स्वप्न में भी भाइयों, माता–पिता और घर की याद नहीं करते। वे एक वैरागी की भाँति अपने जीवन को व्यतीत करते हैं।

लक्ष्मण में वीरोचित अभिमान स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ है। ये एक स्वाभिमानी क्षत्रिय है इसीकारण जनकपुर में जब जनक यह कहते हैं–"वीर विहीन मही मै जानी"तो यह उनसे सुना नही जाता। वे क्रोध से तमतमा उठते हैं। उनकी भौहें टेढ़ी हो जाती हैं, ओंठ फड़कने लगते हैं और नेत्र लाल हो जाते हैं।[23]

वे कहने लगे कि रघुवंशियों में कोई भी जहाँ होता है उस समाज मे ऐसे वचन कोई नहीं कहता।[24] मैं ब्रह्माण्ड को गेंद की तरह उठा सकता हूँ, उसे कच्चे घड़े की तरह फोड़ सकता हूँ और सुमेर पर्वत को मूली की तरह तोड़ सकता हूँ।

इस प्रकार धनुष भंग हो जाने पर ज़ब परशुराम व्यर्थ का महत्व प्रदर्शन और ढ़ोंग करते हैं तो लक्ष्मण को यह अच्छा नहीं लगता और वे उनकी अनुचित बातों को सहन न कर पाने के कारण उनका तरह–तरह से उपहास करते हैं। इस अवसर पर तुलसी ने लक्ष्मण की चपलता का बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है।[25]

लक्ष्मण में जिज्ञासा और लालसा की प्रवृत्ति का भी दर्शन होता है। एक बार जब राम पर्णकुटी में सुख से बैठे थे लक्ष्मण के मन में जिज्ञासा हुई। लक्ष्मण ने छल रहित बचनों से राम से पूछा

हे देव! आप मुझे वह समझाकर कहिए जिससे सब छोड़कर मैं आपकी चरण रज की सेवा करूँ। ज्ञान, वैराग्य और माया का वर्णन कीजिए और उस भक्ति को कहिए जिसके कारण आप दया करते हैं। ईश्वर और जीव का भेद समझाकर कहिए जिससे आपके चरणों मे मेरी प्रीति हो और शोक, मोह तथा भ्रम नष्ट हो जाय।[26]

लक्ष्मण को जनकपुर देखने की लालसा है लेकिन वे राम से कहने में डरते हैं और विश्वामित्र से भी सकुचाते हैं। लालसा को व्यक्त करने में उतावलापन नहीं दिखाते[26] जब राम लक्ष्मण की दशा को जानकर विश्वामित्र से नगर दिखा लाने की अनुमति लेते हैं तब वे मुनि के चरण कमलों की वन्दना करके चलते हैं। इस अवसर लक्ष्मण में शालीनता दृष्टिगोचर होती है।

लक्ष्मण क्रोध में अतिशीघ्र उत्तेजित हो जाते हैं। चित्रकूट में लक्ष्मण को यह मालूम होता है कि भरत आ रहे हैं तो वे इस भ्रम/आशंका में पड़ जाते हैं कि भरत निष्कटंक राज्य करने की इच्छा से राम को मारने आ रहे हैं। इस प्रकार भ्रमित होते ही वे तीव्र क्रोध में भर नीति रस भूल जाते हैं और युद्ध के लिए तैयार होने लगते हैं और भरत के लिए तरह–तरह के कटु वचन करने लगते हैं।[28] लेकिन जब बाद में सत्यता का पता चलता है तो संकोच और पश्चाताप से भर जाते हैं।

लक्ष्मण का भाग्य/दैव पर कोई भरोसा नहीं है। जब विभीषण राम को सलाह देते हैं कि आप पार जाने के लिए समुद्र से प्रार्थना करिये तो यह सलाह लक्ष्मण को अच्छी नहीं लगती है। वे कहतें हैं हे नाथ! दैव का कौन भरोसा। मन में क्रोध कीजिए और समुद्र को सुखा डालिए।[29]

लक्ष्मण को किसी के बेढ़गे व्यवहार भी सहन नहीं होते। अरण्यकाण्ड में जब शूर्पणखा बार–बार विवाह के लिए दोनों भाइयों से कहती है तो लक्ष्मण राम के इशारा करने पर बड़ी फुर्ती से उसके नाक–कान काट देतें है।

लक्ष्मण दृढ प्रतिज्ञ व्यक्तित्व वाले हैं उन्होंने जो प्रतिज्ञा की उसे पूरा करके दिखाया। मेघनाद को मारने की प्रतिज्ञा करते हुए वे राम से कहते हैं कि यदि मैं आज उसे बिना मारे आऊँ तो श्री रघुनाथ जी का सेवक न कहलाऊँ।[30]

लक्ष्मण का विश्वास राम प्रेम में है। वे गुह को समझाते हैं कि मोह को त्यागकर सीताराम चरणों में प्रेम करने से तथा उनकी लीलायें सुनने से जगत के जंजाल मिट जाते हैं।[31]

<u>भरत</u> :

भरत के जीवन का मूल संवेग "राम प्रेम" है। उनका यह राम प्रेम भक्ति और भ्रातृ प्रेम दो रूपों में व्यक्त हुआ है और अपनी चरम सीमा तक चला गया है।

भरत के जीवन में यह राम प्रेम राम के वन गमन प्रसंग से मुखरित हुआ है। ननिहाल से लौटकर जब उन्हें दशरथ मृत्यु का समाचार मिलता है तो वे यह कह-कहकर विलाप करते हुए शोक विह्वल होने लगते हैं कि हाय तात्! आप मुझे राम को सौंप भी नहीं गये लेकिन जब उन्हें यह पता चलता है कि राम का वनवास हो गया है तथा यह उन्हीं के कारण ही हुआ है तो वे एकदम स्तम्भित रह जाते है और सहम जाते हैं। कैकयी को ही समस्त अनर्थो की मूल जानकर वे क्रोध में भर जाते हैं और कहते हैं- पापिनी! तूने सभी तरह से कुल का नाश कर दिया।[32] इस स्थल पर भरत का क्रोध राम प्रेम में बाधक परिस्थितियों को नष्ट करने के कारण पूर्णतया सराहनीय रहा है। यदि भरत कैकेयी की बात का स्वागत करते तो उनका राम प्रेम से विमुख हो जाना स्वाभाविक था। लेंकिन भरत ने ऐसा नहीं किया। वे माता के इस नीच कर्म से अपने को बड़ा हीन समझने लगते हैं वे कहते हैं कि मेरे बराबर पापी दूसरा कौन है।

भरत के हृदय में आत्महीनता की जो ग्रन्थि विकसित होती है वह एक भिन्न प्रकार की है। वे समर्थ होते हुए भी बड़ी हीन धारणा रखते हैं। उनकी इस हीनता का कारण उनकी धर्म बुद्धि, राम के प्रति उनका प्रेम और उनकी विनम्रता है। गुरु वशिष्ठ तथा मंत्री जब उनसे राज्य संभालने के लिए कहते हैं कि वे कैकेयी के पुत्र, कुटिल बुद्धि, राम विमुख निर्लज्ज एवं अधर्म हैं और उनके राज्य से सुख की आशा मृग तृष्णा है।[33]

भरत के हृदय में जो अतिशय ग्लानि होनी लगती है उससे वे विचार करते हैं कि उनकी यह ग्लानि राम को लौटाये बिना किसी प्रकार दूर नहीं होगी। वे कहते हैं- "देखें बिनु रघुनाथ पद जिय के जरनि न जाइ।"[34] भरत सारे अयोध्या समाज के साथ जब वन की ओर चल देते हैं। तब उनकी प्रेमा भक्ति की चरम सीमा पर पहुँच जाती हैं। राम सीता वन में हैं यह सोच वे शत्रुघ्न सहित पैदल ही चलने लगते हैं लेकिन फिर माता की आज्ञा से रथ में चढ़ जाते हैं। वे मार्ग में राम से सम्बन्धित जो भी वस्तुएं या व्यक्ति को देखते हैं अतिशय प्रेम से भर जाते हैं। रामभक्त निषादराज गुह से वे ऐसे मिलते हैं मानो स्वयं लक्ष्मण जी से भेंट हो गयी हो। गंगा के ब्रह्म रूप जल को देख कर वे आनन्दित हो यह वर मांगते हैं कि रामचन्द्र जी के चरणाकें में हमारा प्रेम कम न हो।[35] भरत राम की कुश की सुन्दर

साथरी की प्रदक्षिणा करके प्रणाम करते है और राम के चरण चिन्हों की रज को आँखों से लगाते हैं। वे दो-चार स्वर्ण विन्दु जो सीता के कपड़ों से गिरे थे उसे सीता के समान समझकर सिर पर रख लेते हैं और नेत्रों में अश्रु भर कर ग्लानि से युक्त हो जाते हैं।

अविरल प्रेमाभक्ति में ऐसा ही होता है। इसमें भक्त को प्रभु से सम्बन्धित वस्तुओं से प्रेम होता है वह उस वस्तु को अपने इष्ट के रूप में ही देखता है।[36] तथा अपने प्रेम को निरन्तर बढ़ते रखना चाहता है।

भरत आगे मार्ग में जिस जिससे राम प्रेम का वरदान पाते हैं तथा अपने राम प्रेम की सराहना सुनते हैं। शरीर से पुलकित हो जाते हैं और प्रेम में मग्न हो जाते हैं।[37]

भरत का प्रेम इतना अधिक ऊपर उठा हुआ है कि भरद्वाज मुनि की आज्ञा से यद्यपि उन्हें भोग सामग्रियों के साथ रहना पड़ा लेकिन उन्होंने मन से उसका स्पर्श तक नहीं किया।[38]

भरत के असाधारण प्रेम को देखकर देवता फूल बरसाते हैं, बादल छाया करते हैं और सुख देने वाली सुन्दर हवा चलती है। तुलसी लिखते हैं– भरत प्रेमु तेहि समय जस तस कहि न सकई न सेषु।

भरत भक्ति के बल पर आगे बढ़ते जाते हैं लेकिन जैसे ही वे मंदाकिनी नदी के पास पहुँचते हैं उन्हें ग्लानि और संकोच होने लगता है कि राम लक्ष्मण और सीता मेरा नाम सुनकर दूसरी जगह न चले जाये लेकिन दूसरे ही पल यह सोचकर कि रामचन्द्र की जूतियाँ ही शरण हैं चाहे वे मलिन मन जानकर मुझे त्याग दें अथवा अपना सेवक जानकर मेरा सम्मान करें मुझे सब स्वीकार है।

भरत में राम प्रेम उस समय से चरम सीमा को भी लांघने लगता है जब वे आश्रम के समीप पहुँच जाते हैं और सखा निषाद से पर्णकुटी के बारे में सुनते हैं। राम के चरण चिन्हों को देखकर वे ऐसे हर्षित हो जाते हैं जैसे दरिद्र पारस पा गया हो। भरत की अनिर्वचनीय दशा को देखकर वन के पशु पक्षी और जड़ जीव तक प्रेम में मग्न हो जाते हैं।

भक्ति एक विशेषता शरण याचना है। भरत में भी भक्ति की यह विशेषता परिलक्षित होती है। भरत ने जैसे ही राम को देखा– हे नाथ! रक्षा कीजिए, हे गोसाई! रक्षा कीजिए कहकर दण्ड की तरह गिर पड़ते हैं और जब राम ने उन्हें उठाकर हृदय से लगाते हैं तो वे अपनी सुध-बुध भूल जाते हैं।

तुलसी दास उस समय की मिलन की रीति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वे दोनों भाई मन बुद्धि, चित्त और अहंकार को भुलाकर परम प्रेम से पूर्ण होकर मिल रहे थे।[39] तुलसी के इस कथन से भरत के प्रेम के चरम रूप का पता चलता है।

भरत के इस प्रेम विवेचन से अभी उनके प्रेम की गहराई का पूरा पूरा आभास नहीं हो जाता है। भरत राम को अयोध्या लौटा ले जाने के लिए आये हैं तथा साथ में राजतिलक की भी सामग्री लाये हैं। लेकिन राम उनके स्वामी हैं और वे उनके दास। इसलिए वे राम को संकोच में डालकर उन्हें अपने अनुसार नहीं चलाना चाहते हैं। वे स्वामी की आज्ञा पालन में ही अपना कल्याण मानते है। वे कहते हैं– "अग्या सम न सुसाहिब सेवा।[40] राम ने जब उनसे यह कहकर कि भारी संकट सहकर भी प्रजा और परिवार को सुखी करो तब भरत चौदह वर्ष तक अयोध्या की देखभाल करने के लिए तैयार हो जाते हैं लेकिन वे कोई अवलम्वन चाहते हैं जिसकी सेवाकरके अवधि व्यतीत हो सके। भरत के इस प्रकार इच्छा व्यक्त करने पर राम अपनी चरण पादुकाओं को अवलम्बन रूप में देते हैं और भरत उन चरण पादुकाओं को राज्य सिंहासन पर रखकर राज्य को राम की धरोहर समझकर चरण पादुकाओं की आज्ञानुसार राज्य कार्य करते हैं और स्वयं नन्दी ग्राम में तपस्वी की भाँति जीवन यापन करते हैं।[41]

भरत जब ननिहाल में होते हें तब नित्य प्रतिदिन अपशकुनों के होने तथा रात को भयंकर स्वप्न देखने से उनमें अयोध्या की कुशलता सोच चिन्ता उत्पन्न हो जाती है और वे अनिष्ठ शान्ति के लिए ब्राह्मणों को भोजन कराकर दान देते हैं, अनेकों विधियों से रूद्राभिषेक करते हैं।[42] इस प्रकार चिन्ता करने के दौरान जब अचानक दूत लोग उन्हें अध्योध्या लिवाने के लिए आ जाते तब तो वे और भी अधिक चिन्तित हो जाते हैं।

वे शीघ्रातिशीघ्र अयोध्या पहुँचना चाहते हैं। अयोध्या में प्रवेश करते ही चारों ओर दिखायी देने वाली भयानकता से उनके मन में भय और विषाद छा जाता है।[43]

भरत में वंशानुगत पराक्रमभी अभिव्यक्त हुआ है। संजीवनी पर्वत को लेकर जाते हनुमान को वे निशाचर समझकर बिना फल के वाण से पृथ्वी पर गिरा देते हैं[44] और जब उन्हें सारी बात पता चलती है तो वे हनुमान को विलम्ब भय से अपने वाण पर राम के पास भेजने की बात कहते हैं।[45]

<u>दशरथ :</u>

दशरथ पूर्व जन्म में स्वायम्भुव मनु थे। जिन्हें भगवान ने भक्ति से प्रसन्न होकर पुत्र रूप में जन्म लेने का वचन दिया था। स्वायम्भुव मनु दशरथ के घर ही भगवान का जन्म होता है। दशरथ

के जीवन का मूल संवेग पुत्र विषयक भक्ति है। इसी कारण वे जैसे ही सुनते हैं कि पुत्र का जन्म हुआ है ब्रह्मानन्द में समा जाते हैं। वे अतिशय प्रेम से भर जाते हैं। उनका शरीर पुलकित हो जाता है और मन परम आनन्द से पूर्ण हो जाता है।[46] वे मन में कहते हैं जिनका नाम सुनने से ही कल्याण होता है, वही प्रभु मेरे घर आये हैं।

दशरथ में एक ओर जहाँ भक्ति संवेग प्रवाहित है वहाँ दूसरी ओर वात्सल्य भी चरम सीमा पर है। उनके चार पुत्र होते हैं लेकिन राम से उन्हें विशेष लगाव है वे राम को अपने से कभी दूर नहीं होने देना चाहते। मुनि विश्वामित्र जब यज्ञ रक्षा के लिए राम–लक्ष्मण को लेने के लिए आते हैं तो दशरथ इसके बदले अपने प्राण तक देने को तैयार हो जाते हैं। उन्हें वात्सल्य के कारण राम की सामर्थ्य पर विश्वास नहीं होता कि इतने भयानक तथा क्रूर राक्षसों को उनके किशोर अवस्था के पुत्र कैसे मार पायेंगे।[47] मुनि के अनेक प्रकार से समझाने पर जब दशरथ दोनों कुमारों को भेजने के लिए तैयार हो जाते हैं तब उन्हें दोनों कुमारों के सुख की चिन्ता होती है वे कहते हैं हे नाथ! ये दोनों पुत्र मेरे प्राण हैं। हे मुनि! आप ही इनके पिता हैं, दूसरा कोई नहीं।

दशरथ का प्रत्येक सुख राम के सुख से है। जनकपुर से आये दूत जब उन्हें राम विवाह का समाचार देते हैं तो दशरथ अत्यधिक आनन्द में भर बार–बार दूतों से अपने दोनों बच्चों की कुशलता पूछते हें।[48] जब दूतों ने उन्हें धनुष भंग और परशुराम के हृदय परिवर्तन की बात बतायी तब तो वे ऐसे प्रेम मग्न हो जाते हें कि स्वयं दूतों की ही निछावन करने लगते हैं।

दशरथ का आनन्द राम विवाह के समय और भी अधिक बढ़ जाता है। वे बारात में बड़े ही प्रसन्न मन और पुलकित शरीर से चलते हैं। विवाह के पश्चात पुत्रों और पुत्र बधुओं को देख–देखकर जितने सुख से भर जाते हैं उसे कोई कह नहीं सकता वे गोदी में बैठा–बैठाकर उनका दुलार करते हैं।[49]

दशरथ के जीवन में सबसे अधिक संवेगात्मक प्रभाव राम के राजतिलक की घटना से दिखायी पड़ता है। दशरथ राम को युवराज पद देना चाहते हैं। यह बात सबको सुहाती भी है लेकिन उनकी छोटी रानी कैकेयी इस शुभ कार्य में बाधा डालती है। वह भरत को राजगद्दी तथा राम को चौदह वर्ष का वनवास देने के लिए दशरथ को उनके दिये हुए दो वचनों के अनुसार विवश करती है।

दशरथ के लिए राम वियोग सहना बहुत असम्भव होता है। वे वियोग दुख की आशंका

से विह्वल हो जाते हैं। कैकेयी की इच्छा जानकर वे सहम जाते हैं उनके चेहरे का रंग उड़ जाता है। वे मन ही मन झींखने लगते हैं।[50] धैर्य धारण करके कैकेयी को समझाते भी हैं कि राम को राज्य का लोभ नहीं है लेकिन मेरा जीवन राम के दर्शन के आधीन है।[51] कैकेयी की भावनाओं में जब कोई अन्तर नहीं आता तो राजा जान लेते हैं कि स्त्री के बहाने मेरी मृत्यु सिर पर नाच रही है। वे बोले– तू मेरा मस्तक माँग ले लेकिन राम के विरह में मुझे मत मार।[52] दशरथ की दशा बड़ी दयनीय हो जाती है। वे आर्तवाणी से हा राम! हा राम! पुकारने लगते हैं सिर पीटकर शिथिल शरीर के हो जाते हैं। कण्ठ सूखने लगता है और मुख से बात नहीं निकल पाती।[53] कैकेयी फिर मर्मभेदी बचन कहती है तो दशरथ क्रोध में भर जाते हैं और तरह–तरह से उसकी भर्त्सना करने लगते हैं। वे क्रोध में कहते हैं - अरी अभागिनी! तू नहारू लिए गाय मार रही है।[54] दशरथ राम–राम कह कर विलाप करते हैं। हृदय में यह मनाते हैं कि सबेरा न हो और राम से कोई यह बात न कहे।[55]

सुबह जब राम दशरथ के पास आते हैं तो दशरथ राम से कुछ कह नहीं पाते। उनकी दशा धर्म संकट की है एक ओर पुत्र प्रेम तो दूसरी ओर वचन रक्षा। दशरथ का यह वियोग की आशंका से उत्पन्न दुःख उस समय चरम सीमा पर पहुच जाता है जब राम दशरथ को तरह–तरह से संतोष कराकर लक्ष्मण और सीता के साथ वन को चल देते हैं। दशरथ किसी तरह सीता को रोकने का प्रयास करते हैं लेकिन उन्हे कोई सफलता नहीं मिलती। दशरथ सुमन्त्र को राम लक्ष्मण सीता के साथ इस कारण से भेजते हैं कि वन दिखाकर लौटा लाना।[56] लेकिन जब सुमंत्र अकेले ही लौटते हैं तो वे राम के लिए तड़पने लगते हैं, मोह से व्याकुल हो जाते हैं, धैर्यहीन हो तरह–तरह से विलाप करते हुए राम–राम कहकर सुरलोक सिधार जाते हैं।[57]

दशरथ के इस जीवनाश का विश्लेषण हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि उनमें पुत्र स्नेह इतना अधिक था कि पुत्र वियोग में उनके प्राण तक चले जाते हैं।

दशरथ में "काम" संवेग का भी दिग्दर्शन होता है। युवराजाभिषेक का निर्णय कर लेने के पश्चात् दशरथ कामेच्छा से रानी कैकेयी के महल में जाते है लेकिन जैसे ही उन्हें कैकेयी के क्रोध का पता चलता है वे डर से सहम जाते हैं। दशरथ उस समय इतने अधिक काम के वश होते हें कि कैकेयी के समीप जाकर उसे किसी भी प्रकार मनाने का प्रयत्न करते हैं। वे कैकेयी को साज सिंगार में देखना चाहते हैं और उसकी प्रसन्नता के लिए राम सौगन्ध खाकर सब कुछ करने के लिए तैयार हो जाते हैं।[58]

दशरथ में इन संवेगों के अतिरिक्त गुरु वशिष्ठ के प्रति श्रद्धा है वे उनकी इच्छा के बिना कोई भी कार्य नहीं करना चाहते हैं।[59] दशरथ में एक विशेषता यह भी थी कि वे कोई भी आनन्द अकेले नहीं लेना चाहते थे। जैसे ही उन्हें राम विवाह का समाचार ज्ञात हुआ। उन्होंने इसे सारी सभा को सुनाया फिर सारे रनिवास को बुलाकर उन्होंने जनक जी की पत्रिका बाँची।[60] दशरथ में उस समय ग्लानि संवेग भी मुखर हुआ है जब वे विचार करते हैं कि मेरे पुत्र नहीं है।[61] दशरथ का समस्त जात कर्म संस्कारों, रीति–रिवाजों का निर्वाह में विश्वास था। उन्हें ब्राह्मणों को दान देने में अत्यधिक रुचि थी, इसलिए वे किसी भी शुभ अवसर पर ब्राह्मणों आदि को संतुष्ट करना नहीं भूलते थे।[62]

रावण :

तामसी प्रवृत्ति की दृष्टि से रावण तुलसी साहित्य का प्रधान पात्र है। इसका मानसिक संरथान समस्त दुष्प्रवृत्तियों से विनिर्मित है। इसमें लोकेषणा चरम सीमा पर है जिसके कारण वह तीनों लोकों पर शासन करना चाहता है।[63] रावण बड़ा शूर, प्रतापी और अतुलित बलवान है। उसमें अपनी शक्ति का अहंकार इतना अधिक है कि वह अपने सामने किसी को कुछ नहीं समझता। रावण के चलने से पृथ्वी डगमगाने लगती है और उसकी गर्जना से देव रमणियों के गर्भ गिरने लगते हैं।[64] रावण को समस्त धार्मिक कार्यो से घृणा है। जहाँ कहीं भी वह धार्मिक कृत्य होते सुनता है तुरन्त अपने राक्षसों को विघ्न डालने के लिए कहता है।[65] देवताओं से वह विशेष शत्रुता रखता है क्योंकि वे उसके आधीन नहीं होते। वह अपने पुत्र मेघनाद से कहता है कि हे पुत्र। जो देवता रण में धीर और बलवान है और जिन्हें लड़ने का अभिमान है उन्हें युद्ध में जीतकर बाँध लाना।[66]

रावण इस प्रकार के आतंक से देवता लोग बड़े भयभीत रहने लगे। चूँकि रावण की मृत्यु ब्रह्मा जी के वरदान से असम्भव थी, उसकी मृत्यु केवल मनुष्य और वानर के हाथों ही हो सकती थी इसलिए देवताओं के प्रार्थना करने पर रावण को मारने के लिए भगवान को मानव रूप में जन्म लेना पड़ा तथा राजमहल में जन्म लेने पर भी उन्हें चौदह वर्ष का वनवास ग्रहण करना पड़ा।[67]

रावण अपने अगणित परिवार के साथ निर्भय और निश्चिन्त हुआ लंका में निवास करता है क्योंकि एक तो उसे ब्रह्मा का वरदान प्राप्त है, दूसरे वह अतुलित बलशाली है और तीसरा उसका दुर्ग समुद्र की अत्यन्त गहरी खाई से घिरा है।[68]

रावण के मन का मनोविज्ञान बड़ा विचित्र है क्योंकि जहाँ एक ओर वह दुष्प्रवृत्तियों से ग्रसित है वहीं दूसरी ओर वह भक्ति संवेग को भी ग्रहण किये हुए है। यदि तुलसी की दृष्टि से विचार

किया जाय तो रावण का मन कोई विचित्रता नहीं रखता। इसे आबनार्मल (असामान्य) भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि तुलसी साहित्य का मुख्य प्रतिपाद्य भक्ति है। भक्ति एक ऐसा संवेग है जिस तक पहुँचने के लिए भक्त को भगवान से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है, यह सम्बन्ध चाहे शत्रुता का हो अथवा प्रेम का। रावण को जब यह मालूम हुआ कि भगवान ने अवतार लिया है तो उसने निर्णय लिया कि मैं जाकर दृढ़पूर्वक उनसे बैर करुँगा और प्रभु के वाण से प्राण छोड़कर भवसागर से तर जाऊँगा। इस तामस शरीर से भजन तो होगा नहीं।[69]

रावण में काम संवेग भी पूरी तरह विद्यमान है लेकिन उसमें कामान्धता नहीं है। जब उसे पता चलता है कि राम ने उसकी बहिन के नाक–कान काटे हैं और खर–दूषण के भी मार डाला है तो प्रतिशोध की भावना से कपट करके सीता को हर लाता है और अपनी रानी बनाना चाहता है। वह सीता को इसके लिए बहुत प्रकार से समझाता है, साम, दान, भय और भेद दिखाता है लेकिन सीता को स्पर्श नहीं करता।

जो अहंकारी होता है उसमें क्रोध संवेग अवश्य ही विद्यमान होता है। रावण भी जल्दी क्रोध के वश हो जाता है। किसी ने भी यदि उसकी इच्छा के विरूद्ध कार्य किया अथवा उसे युद्ध के लिए ललकारा, तो यह तुरन्त क्रोधित हो जाता है और उसका नाश तक कर देता है। सीता हरण के समय जटायु जब उसके कार्य में बाधा डालता है तो वह क्रोध युक्त होकर अन्त में भयानक कटार से उसके पंख ही काट डालता है।[71]

रावण में मोह/अज्ञानता बहुत अधिक मात्रा में है। उसे अपनी शक्ति पर इतना अधिक विश्वास है कि राम के समुद्र पार कर लेने पर भी उसे यह विश्वास रहता है कि मेरे बल के समक्ष राम का भी कोई बल नहीं है। वह इस अज्ञानता में पड़ा रहता है कि न उसके दुर्ग तक कोई पहुँच सकता है और न परिवार सहित कभी उसका नाश हो सकता है। मंदोदरी उसे समझाती है तो वह अनेक अभिमान भरी बातें कहकर उसे शान्त कर देता है।[72]

रावण में बुद्धि हीनता का भी दर्शन होता है। वह ऐसे कार्य भी करते देखा जाता है जिससे स्वयं उसका ही नुकसान होता है। वह लंका में हनुमान की पूँछ में आग लगवाता है जिसका परिणाम यह होता है कि स्वयं उसकी ही लंका जल जाती है। वह युद्ध में एक–एक करके अपने योद्धाओं को भेजता जाता है जिससे धीरे–धीरे उसके परिवार का नाश होता जाता है और अन्त में उसका समूल नाश हो जाता है।[73]

रावण स्वाभिमानी प्रकृति का भी है। युद्ध स्थल पर घायल हो जाने पर भी वह लौटता नहीं चाहता है। रावण में निर्दयता भी बहुत अधिक है इसीलिए उसे किसी को सताने में जरा भी हिचकिचाहट नहीं होती है।[74] रावण में जिद्दीपन भी है इसीलिए वह किसी की सीख को मानता नहीं है।[75]

अज्ञान, अहं, द्वेष, बैर, अनैतिकता, अत्याचार की प्रवृत्ति, कामांधता, बल का घमण्ड, अधिकार की भावना आदि दुष्प्रवृत्तियों के कारण अन्त में रावण का विनाश हो जाता है। ऐसे पात्र की गति यही हो सकती थी।

शिव :

शिव जी का मूल संवेग भक्ति है। इसके अतिरिक्त उनमें जितने भी संवेगों का दिग्दर्शन हुआ है उन सबका स्रोत भी उनकी भक्ति ही है। शिव जी के इष्ट ने रघुवंश में गुप्त रूप से अवतार लिया है। शिव जी को भगवान के इस गुप्त चरित्र का ज्ञान है। वे उनका किसी भी प्रकार दर्शन करना चाहते हैं। शिव जी में इस अवसर पर उत्सुकता/भय/चिन्ता/लोभ संवेगों का जागरण होते दिखाई देता है। शिव जी के नेत्र रामदर्शन के लोभ से ललचा रहे हैं लेकिन उन्हें इस बात का भय है कि यदि उन्होंने ऐसा किया तो भगवान के अवतार का रहस्य खुल जायेगा और यदि इस अवसर पर दर्शन नहीं करते हैं तो फिर पछतावा होता रहेगा। शिव जी में मानसिक द्वन्द्व होने लगता है। उनके मन में खलबली होने लगती है और वे चिन्ता के वश हो जाते हैं।[76] इसी समय सीता का हरण हो जाता है और राम विरह से व्याकुल हो वन में खोजते फिरते हैं। शंकर जी इसी अवसर पर राम का दर्शन करते हैं और अति आनन्द से भर वे सच्चिदानन्द की जय हो। कहते हुए आगे बढ़ जाते हैं। वे भक्ति के कारण इतने प्रेम मग्न होते हैं कि उनके हृदय की प्रीति रोकने से भी नहीं रुकती है।

शिवजी के लिए उनकी भक्ति ही सर्वोपरि है वे इसके लिए बड़ा से बड़ा त्याग करने के लिए तैयार रहते हैं। सती जब अपने संदेह के निवारण के लिए सीता का रूप धारण कर राम की परीक्षा लेती हैं तो शिव जी अन्तर्यामी होने के कारण सब जान जाते हैं और इस कारण विषाद से घिर जाते हैं कि यदि अब सती से प्रीति करता हूँ तो भक्ति मार्ग लुप्त हो जाता है।[77] सती परम पवित्र भी है इसलिए इन्हें छोड़ते भी नहीं बनता है। शिव जी भयानक मानसिक संताप के वश हो जाते हैं।[78] लेकिन फिर राम भक्ति का स्मरण कर दृढ़ संकल्प ले लेते हैं कि सती के इस शरीर से मेरी भेंट नहीं हो सकती।[79] शिव जी ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा करके कैलास की ओर चल देते हैं और सती के बहुत प्रकार से पूछने पर उनसे कुछ नहीं बताते। वे कैलास पर्वत पर वट वृक्ष के नीचे अपना स्वाभाविक रूप संभाल कर पद्मासन लगाकर

अखण्ड और अपार समाधि में लीन हो जाते है।[80] शिवजी के मानसिक संस्थान का उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि उनकी भक्ति का आदर्श उनका त्याग और तपस्या है। दक्ष यज्ञ में जब सती अपने शरीर का त्याग कर देती है तब शिव पूर्ण रूप से वैराग्य धारण कर राम के चरणों में प्रीति स्थिर कर लेते हैं। वे राम का नाम जपते हैं, उनके गुणों की कथायें कहते हैं और मुनियों को ज्ञान का उपदेश देते हैं।[81] इस प्रकार बहुत समय बीत जाने पर उनकी अटल भक्ति से प्रसन्न होकर राम प्रकट होते हैं और शिव जी से वे सती का पार्वती रूप में जन्म बताकर विवाह के लिए कहते हैं। शिव इसे स्वामी की आज्ञा समझकर मान लेते हैं और बाद में जब सप्तर्षि द्वारा उन्हें पार्वती के प्रेम का पता चलता है तो वे आनन्द मग्न हो जाते हैं और फिर मन को स्थिर करके रघुनाथ जी का ध्यान करने लगते हैं।[82]

शिव मोह/मद और काम से सर्वथा रहित है और इसी कारण उनकी समाधि भी बड़ी अटल रहती है। एक बार देवताओं के हित के लिए कामदेव शिव समाधि को येन–केन प्रकारेण भंग कर देता है तो शिव के मन में बड़ा क्षोभ होता है और जब वे इस क्षोभ के कारण कामदेव को देखते हैं तो उन्हें बड़ा क्रोध आता है और वे अपना तीसरा नेत्र खोलकर कामदेव को भस्म कर देते हैं।[83]

शिव का क्षुब्ध होना स्वाभाविक था। राम के चरणों में उनका पूरा ध्यान केन्द्रित था। कामदेव के कृत्य से उनके ध्यान में बाधा पड़ी और समाधि टूट गयी। उन्हें एक प्रकार की बैचेनी/व्याकुलता अथवा अशान्ति का अनुभव हुआ। उनकी इस मनः स्थिति का कारण कामदेव था अतः वह उनके क्रोध का शिकार हो जाता है।

शिव जहाँ इस प्रकार की कठोरता धारण करते हैं वहीं दूसरी ओर वे अति करुणावान् भी हैं। कामदेव के भस्म होने पर उसकी स्त्री रति के बहुविध विलाप करने पर शिव जी करुणा से भर जाते हैं और उसे सान्त्वना भरे वचन कहते हैं।[84] शिव देवताओं की इच्छा पूर्ण करते हुए पार्वती के साथ विवाह के लिए भी तैयार हो जाते हैं।

शिव में विवाह के समय उनकी हास्य प्रवृत्ति का भी दर्शन होता है। वे विष्णु भगवान के व्यंग्य वचन और अपने विचित्र समाज को देखकर हँसते मुस्कराते हैं।[85]

शिव में किसी संदेह का निवारण करने, अच्छी कल्याणकारी सीख देने तथा जिज्ञासा को शान्त करने की मनोवृत्ति हैं। सती द्वारा राम पर संदेह करने पर वे उनका बहुत प्रकार से समाधान करते हैं,[86] सती के दक्ष यज्ञ में जाने की हठ करने पर उन्हें कल्याणकारी सीख देते हैं।[87] और जब पार्वती

के स्वरूप को जानना चाहतीं हैं तो शिव उन्हें इसका अधिकारी समझकर उनकी जिज्ञासा शान्त करने का प्रयास करते हैं।[88] वे कल्याण स्वरूप हैं, उनके द्वारा कई पात्रों का कल्याण होता है।

नारद :

तुलसी ने अपने साहित्य में नारद को जहाँ एक ओर त्रिकालज्ञ, सर्वज्ञ तथा भक्ति भावना से ओतप्रोत दिखाया है वहं दूसरी ओर उन्हें काल के प्रभाव से अहंकार, मोह, अज्ञानता, मूढ़ता, काम आदि दुष्प्रवृत्तियों से ग्रसित होते भी दिखाया है। नारद अपने गुणों के कारण सबके सम्मान के पात्र हैं।[89] वे भविष्य के ऐसे वक्ता हैं कि उनका कहा हुआ कभी असत्य नहीं होता। नारद में एक विशेषता और है कि वे कठिन से कठिन समस्या का बड़ा अच्छा उपाय खोज निकालते हैं। पार्वती के माता–पिता के पूछने पर जब नारद ने बताया कि आपकी कन्या को गुण हीन, मानहीन, माता–पिता विहीन, उदसीन, संशयहीन, योगी, जटाधारी, निष्काम हृदय, नंगा ओर अमंगल वेष धारी ऐसा पति मिलेगा तो पार्वती के माता पिता चिन्तित होकर इसका उपाय पूछते हैं[90] इस पर नारद उनकी चिन्ता का समाधान करते हुए कहा कि यदि तुम्हारी कन्या तप करे तो त्रिपुरारि महादेव जी होनहार को मिटा सकते हैं। यद्यपि संसार में वर अनेक हैं, पर इसके लिए शिव जी को छोड़कर दूसरा वर नहीं हैं। नारद के मन के उपर्युक्त विवेचन से यह कहा जा सकता है कि नारद सबकी जिज्ञासाओं को शान्त करने में रुचि रखने वाले हैं तथा सबके सुख–दुःख के साथी हैं।

नारद की भगवान के चरणों में अपार प्रीति थी। एक बार हिमालय की पवित्र गुफा, परमपावनी गंगातट पर बने पवित्र आश्रम के प्रभाव से नारद के मन में भगवान के प्रति सहज अनुराग जाग गया और वे समाधि मग्न हो गये।[91] उस अचल समाधि को देखकर इन्द्र भयभीत हो गया। उसने कामदेव को नारद की समाधि भंग करने के लिए भेजा। कामदेव इसमें असफल रहा। नारद का कुछ विगाड़ नहीं हुआ, उल्टे कामदेव ही भयभीत हो गया।[92] कामदेव भयभीत होता हुआ जब मुनि की शरण में जाता है तो नारद को उस पर क्रोध भी नहीं आता है। वे प्रिय वचन कहकर कामदेव का समाधान करते हैं।[93]

नारद की मानसिकता विचार करने की यहाँ आवश्यकता है क्योंकि नारद में भक्ति तो थी लेकिन उनकी समाधि जो भंग नहीं हुई इसमें नारद का कोई कृतित्व नहीं वरन् भगवान की कृपा थी। नारद को इस घटना से बड़ा अहंकार हो जाता है।[94] वे सोचने लगते हैं कि मैंने कामदेव को जीत लिया। बस यहीं से नारद में दुष्प्रवृत्तियां का जागरण होने लगता है। नारद पहले शिव जी के पास जाकर सारी कथा सुनाते हैं और फिर शिव जी के मना करने पर भी भगवान को सारी बात कह सुनाते हैं। चूँकि

अहंकारी को अपने कार्यों का बखान करने और प्रशंसा सुनने का बड़ा शौक होता है इसलिए नारद में भी ऐसा ही दिखायी दिया।

नारद वैसे तो संज्ञान थे लेकिन जैसे ही उनमें अंहकार का उदय हुआ उनका ज्ञान चौपट हो जाता है और उनमें मोह उत्पन्न हो जाता है। नारद की कामदेव पर विजय की बात जब भगवान ने सुनी तो उन्होंने नारद की बड़ी प्रशंसा की। नारद उस प्रशंसा से और अधिक गर्वित हो जाते हैं। नारद के गर्व को पहचान कर भगवान ने उसे नष्ट करने का प्रण किया और खेल की रचना की। नारद चूँकि मूढ़ बुद्धि के हो गये थे इसलिए वे भगवान के कौतुक को समझ न सके और न उससे बच सके।

नारद बड़े ही कौतुहली और जिज्ञासु प्रवृत्ति के थे। वे भगवान की माया द्वारा रचे उस नगर में जाते हैं जहाँ शीलनिधि राजा की विश्वमोहिनी कन्या का स्वयंवर होना है वहाँ जाकर वे नगरवासियों से सब हाल पूछते हैं और फिर महल में जाते हैं।[95] राजा ने राजकुमारी को दिखाकर नारद जी से उसके गुण–दोषों को पूछा। जैसे ही नारद ने उसके लक्षणों को देखा कि यह कन्या जिसको वरेगी उसकी चर–अचर जीव सभी सेवा करेगा। उन्होंने वे सुलक्षण मन में ही रख लिए राजा से अपनी ओर से बनाकर कह दिये।[96] नारद में इस प्रकार कपटता भी आ जाती है। नारद में उस कन्या से विवाह करने की इच्छा होने लगती है।[97] काम का प्रभाव उनमें इतना अधिक होता है कि उचित–अनुचित कुछ भी नहीं दिखायी देता। वे सोचते हैं कि यदि भगवान से सुन्दरता माँग ली जाय तो राजकुमारी मुझ पर अवश्य रीझ सकतीं हैं।[98] उनके ऐसा सोचते ही भगवान वहीं प्रकट हो जाते हैं। नारद यह सोचकर कि अब काम बन जायेगा वे हर्षित होने लगते हैं।[99] नारद बड़े दीन होकर सारी कथा सुनाते हैं और कहते हैं कि आप अपना रूप मुझको दीजिए जिससे किसी प्रकार मैं राजकन्या को पा सकूँ।[100] भगवान ने कहा हे नारद! जिस प्रकार आपका परम हित होगा हम वही करेंगे। रोग से व्याकुल रोगी कुपथ्य मांगे तो वैद्य उसे नहीं देता। इसीप्रकार मैने भी तुम्हारा हित करने की ठान ली है। मूढ हुए नारद भगवान की बात न समझ सके।[101] भगवान ने नारद के कल्याण के लिए उन्हें कुरूप बना दिया था जिसे नारद जान न सके बल्कि मन ही मन प्रसन्न होते हुए कि राजकन्या मुझे ही वरेगी यह सोचते पंक्ति में बैठ जाते हैं।[102] नारद अपना रूप बड़ा सुन्दर जान रहे थे। नारद को मोह हो रहा था। उनकी बुद्धि भ्रम से सनी थी। शिव जी के दो गण नारद के रूप को देखकर उनकी हँसी बनाते हुए व्यंग्य वचन कहते थे लेकिन नारद उनकी बात को अपनी प्रशंसा समझ रहे थे। वे अपने रूप के गर्व में राजकन्या के आने पर उचककर और छटपटाकर बड़ी चपलता दिखाते हैं।[103]

नारद की यह प्रसन्नता/चपलता क्रोध में परिवर्तित हो जाती है। राजकुमारी नारद के गले

में जयमाला न डालकर भगवान के गले में डाल देती है और भगवान दुलहिन को ले जातेहैं। नारद यह देख व्याकुल हो जाते हैं।[104] उनके इस प्रकार व्याकुल होते समय शिवगण भी उनकी हँसी बना देते है कि जाकर अपना मुँह दर्पण में तो देखिये। जैसे ही नारद अपना मुख बंदर का देखते हैं उनको बहुत क्रोध होता है। वे पहले तो अपने क्रोध का शिकार गणों को बनाते हैं उन्हें शाप दे देते हैं।[105] और फिर भगवान के क्रोध से भर जाते हैं। जल में दोबारा देखने से यद्यपि मुनि को असली रूप प्राप्त हो जाता है, लेकिन तब भी उन्हें इसमें संतोष नहीं मिलता। क्रोध से उनके ओंठ फड़कने लगते हैं। वे सोचते हैं कि मैं या तो भगवान को शाप दे दूँगा या प्राण दे दूँगा। उन्होंने जगत में मेरी हँसी करायी है।[106] नारद इस प्रकार सोचते जा रहे थे कि रास्ते में ही भगवान उन्हें मिल जाते हैं। वही राजकुमारी उनके संग थीं। भगवान ने नारद को देखकर मीठी वाणी में कहा कि हे मुनि व्याकुल की तरह कहाँ चले। ये शब्द सुनते ही नारद को बड़ा क्रोध आता है।[107] क्रोध से बुद्धि रहित हुए वे अनेक कटु वचन कहने लगते हैं और जब कटु वचनो को कहने से भी संतोष नहीं होता है तो फिर वे भगवान को शाप दे देते हैं।[108]

नारद के मन पर यदि हम विचार करें तो हम पायेंगे कि नारद में ये सारे संवेग एक संसारी व्यक्ति के संवेग है। जैसे ही नारद में अहंकार हुआ वे परमार्थ की सीढ़ी से नीचे गिर पड़े और एक संसारी पुरूष की श्रेणी में ही आ गये। एक संसारी पुरुष में इन संवेगों का इस क्रम से जागना विल्कुल स्वाभाविक है।

जैसे ही नारद ने भगवान को शाप दिया भगवान ने उसे स्वीकार कर अपनी माया खींच ली नारद को अपने भ्रम का अहसास हुआ। अब राजकुमारी का कहीं पता ही न था। नारद का मोह भंग हो जाता है उनमें चेतना आ जाती है वे भयभीत हो उठे उन्होंने भगवान के चरण पकड़ लिए और आर्त्त पुकार कर उठे।[109] मोह युक्त व्यक्ति का मोह तभी भंग होता है जब उसको किसी प्रकार का धक्का लगता है। जिस स्थिति को वह सत्य जान रहा है वह तो एकदम असत्य है यह जानकर उसके चित्त हिल उठता है उसे ज्ञान होता है और फिर उसके भ्रम का नाश। सती को भी मोह था और नारद को भी। सती ने जब राम के प्रभाव को देखा उनके संदेह का नाश हुआ और फिर उनका मोह भंग हुआ इसी प्रकार नारद को भी जब भगवान की माया का पता चला तब उनका भ्रम दूर हुआ और वे अपने किए पर भयभीत हो उठे।

नारद में दयालुता का भी दर्शन होता है मोह रहित अवस्था में प्रसन्न चित्त उनको देखकर शिव गण जब उनकी शरण में जाकर शाप दूर करने की प्रार्थना करते हैं तब वे दया से युक्त होकर उनसे सांत्वना भरे वचन कहते हैं।[110]

नारद मोह रहित तो हो गये थे लेकिन उनमें इसका कारण जानने की बराबर इच्छा होती थी कि प्रभु ने उन्हें विवाह क्यों नहीं करने दिया था। नारद के शाप को स्वीकार करके जब भगवान विरह युक्त थे तब नारद यह देखकर बहुत पश्चाताप करते हुए सोचमग्न हो जाते हैं और उसी अवसर पर वे जाकर भगवान से अपना प्रश्न भी पूछते हैं।[111]

नारद की यह उत्कट इच्छा है कि भगवान का राम नाम पूर्ण चन्द्रमा होकर और अन्य सब नाम तारागण होकर भक्त के हृदय रूपी निर्मल आकाश में निवास करें।[112]

हनुमान :

तुलसी ने हनुमान के जीवन में मूल संवेग भक्ति को प्रतिष्ठित किया है। अन्य जो भी संवेग उनके जीवन में उत्पन्न होते हैं वे इसी मूल संवेग द्वारा संचालित हैं। हनुमान राम के भक्त हैं वे निरन्तर उनके ध्यान में लीन रहने हैं और अपने इष्ट की प्रतीक्षा करते रहते हैं। एक बार सुग्रीव ने जब राम–लक्ष्मण को ऋष्यमूक पर्वत की ओर आते देखा तो उसने हनुमान को भयभीत होकर उनका भेद लेने के लिए भेजा। हनुमान जब ब्रह्मचारी का वेश धारण करके राम लक्ष्मण के पास जाते हैं और अपने प्रभु को पहचानते हैं ते वे प्रेम व्यहूल होकर राम के चरण पकड़कर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। उन्हें ऐसा सुख मिलता है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उनका शरीर पुलकित है, वे स्तुति करते हैं[113] लेकिन फिर इस कारण हीन भावना से भर जाते हैं कि उनके प्रभु ने अपने भक्त को क्यों भुला दिया उन्होंने कहा कि यद्यपि मुझमें बहुत से अवगुण हैं तथापि सेवक स्वामी की विस्मृति में न पड़े।[114] हनुमान की भक्ति स्वामी सेवक भाव की है। फिर जब हनुमान ने राम को अपने अनुकूल देखा तो उनके हृदय में अपार हर्ष छा गया और समस्त दुःख चले गये।[115] वे सभी मनोदशाएँ हनुमान में भक्ति के कारण उत्पन्न हुई हैं।

भक्ति में इष्ट के प्रति मन, वचन और कर्म से समर्पण करना पड़ता है। हनुमान का जीवन इसी की सजीव गाथा है एक तरह से हनुमान का अवतार राम के कार्य के लिए हुआ है। सीता की खोज के लिए निकली वानर मण्डली जब समुद्र के तट पर पार जाने के लिए चिन्तित होती है तब जामवन्त हनुमान को स्मरण दिलाते हैं। हनुमान को जैसे ही स्मरण आता है उनमें उत्साह भर आता है, उनका शरीर पर्वत के आकार जैसा हो जाता है। वे सिंहनाद करते हुए अपनी शक्ति का परिचय देने लगते हैं।[116]

राम के प्रताप पर हनुमान को इतना अधिक विश्वास है कि वे इसके बल पर ही समुद्र पार जाने के लिए तैयार होते हैं। हनुमान को मार्ग में यद्यपि उनके कार्य से विचलित करने वाली कई बाधायें आती हैं लेकिन हनुमान अपनी बुद्धि बल से उन विघ्न बाधाओं को नष्ट कर देते हैं। उन्हें राम कार्य से बड़ा कोई कार्य नहीं लगता। जब मैनाक–पर्वत हनुमान से विश्राम करने के लिए कहता है तो हनुमान कहते हैं कि मुझे राम के कार्य बिना विश्राम नहीं है।[117] इसी प्रकार वे सर्पो की माता सुरसा की परीक्षा में भी सफल सिद्ध होते है। सुरसा हनुमान को राम कार्य पूर्ण करने का आशीर्वाद देती है।

वे पूर्ण विनय के अवतार हैं। इसी कारण वे अपने कार्य को कोई महत्व न देकर इसे प्रभु का प्रताप समझते हैं। लंका में वे विभीषण से प्रभु के स्वभाव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि प्रभु की यह रीति है कि वे सेवक पर सदा ही प्रेम करते हैं। क्योंकि मैं जाति का चंचल वानर और सब प्रकार से नीच हूँ लेकिन राम जी ने मुझ पर भी कृपा की है।[118] यहाँ प्रभु कृपा के प्रति उनमें पूर्ण कृतज्ञता परिलक्षित होती है।

हनुमान में पर दुःख कातरता भी है। सीता के प्रति उनमें भक्ति और पर दुःख कातरता दोनों के कारण दुःख जागता है। अशोक वाटिका में सीता को दीन–दुखी देखकर हनुमान बहुत दुखी होते हैं। पहले तो वे वृक्ष के पत्तों में छिप जाते हैं फिर उचित अवसर पाकर पहले सीता के सम्मुख अगूँठी गिराते हैं और फिर राम के गुणों का गान करते हुए सीता के पास आते हैं। हनुमान सीता को राम का सन्देश सुनाते हैं। हनुमान राम की प्रभुता का स्मरण दिलाकर सीता को धैर्य धारण करने के लिए कहते हैं। हनुमान बड़े ही तीव्र बुद्धि के है वे अपने बुद्धि बल से जहाँ एक ओर सीता के समीप पहुँचते हैं दूसरी ओर वे रावण की सोने की लंका को जला डालते हैं। हनुमान राम को इस कार्य के द्वारा बड़ा प्रसन्न कर देते है। राम सीता की दी हुई चूड़ामणि और सन्देश सुनकर कहते हैं कि हे पुत्र, मैंने विचार करके देख लिया है कि मैं तुझसे अऋण नहीं हो सकता। हनुमान प्रभु के वचन सुनकर हर्षित हो जाते हैं और प्रेम से विकल होकर रक्षा करो – रक्षा करो कहते हुए चरणों में गिर पड़ते हैं।[119]

हनुमान में क्रोध और उत्साह संवेग के दर्शन युद्ध करने के दौरान होते हैं। युद्ध प्रारम्भ होने पर वे काल के समान गरजते हैं और कूदकर लंका के किले पर चढ़ जाते हैं और पहाड़ लेकर मेघनाद की ओर दौड़ते है।[120] सीता की खोज करने के लिए जब वे लंका में पहुँचते हैं तो वहाँ भी बड़े उत्साह से भरकर अक्षय कुमार को मार डालते हैं और अपने बुद्धि बल और उत्साह के बल से लंका को जला डालते हैं।[121]

हनुमान में विनम्रता कूट–कूट कर भरी है। उन्होंने लंका को जलाया, अशोक वन को उजाड़ा लेकिन वे इसमें अपनी कोई बड़ाई नहीं मानते वे इसे प्रभु का प्रताप कहते हैं[122] उनमें शरण याचना भी प्रधान है। वे जब तब भी राम को अनुकूल देखते हैं रक्षा करो की पुकार करते हुए उनके चरणों में गिर पड़ते हैं। इस अवसर पर उनमें अपार दीनता दिखायी पड़ती है। हनुमान में अपनी लघुता का भाव और राम के महत्व का भाव चरम सीमा तक भरा हुआ है।

हनुमान पवन के पुत्र हैं इसलिए वे अत्यधिक वेगवान और शक्तिशाली है। लक्ष्मण के मूर्च्छित होने पर जब कोई भी उन्हें नहीं उठा पाता, तो वे उन्हें सहज ही में उठा लेते हैं।[123] संजीवनी बूटी के लिए जब हनुमान जाते है तो वे अपनी शक्ति से पूरा पर्वत ही उठा लाते हैं। हनुमान में वाक् चातुर्य भी उच्चकोटि का है। रावण की सभा में सभी सभासद हनुमान के उत्तर से निरुत्तर हो जाते हैं। हनुमान में स्वामिभक्ति भी अत्यधिक है इसीलिए जब सुग्रीव राम लक्ष्मण का परिचय जानने के लिए हनुमान से कहते हैं तो हनुमान स्वामी का आज्ञा पालन के लिए वेश बदलते का कपट भी करते हैं। वनवास के पश्चात् राम के राजा बन जाने पर जब हनुमान के हृदय में राम के चरणों की सेवा करने की इच्छा होती है तो वे इसके लिए सुग्रीव की अनुमति चाहते हैं।[124] हनुमान में वानरी चपलता भी अत्यधिक है। वे अशोक वाटिका में फलों को शान्तिपूर्वक न खाकर बाग को उजाड़ उजाड़कर खाते हैं, इसी प्रकार वे लंका को भी खूब उछल–उछल कर जलाते हैं।

इस प्रकार हनुमान के जीवन में हमें भक्ति, समर्पण, विनय, परदु:ख कातरता, करुणा, मैत्री, निरहंकार, अन्याय, अत्याचार के प्रति क्रोध, दया आदि संवेगों के दर्शन होते हैं।

विभीषण :

विभीषण रावण के प्रताप के आगे एक दबा हुआ व्यक्तित्व है। उसका मन सात्विक और पवित्र है। दैवी सम्पदा से उसका मन सम्पन्न है। उसमें दया, दान, भक्ति, सभी का उसमें योग है। असुर कुल में जन्म लेने के बाद भी वह आसरी प्रवृत्ति से रहित है। इसलिए असुर भावापन्न राक्षसों के बीच रहने के कारण वह सदा सन्ताप से युक्त रहता है। इसीलिए वह हनुमान जी से कहता है– "सुनहु पवन सुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महुँ जीभ बिचारी।।[125] विभीषण ने मनोनुकूल परिवेश की सृष्टि कर रखी है। उसके घर की दीवारों पर रामनाम अंकित है और उसने पूजन के लिए तुलसीवन लगा रखा है।[126] वह परम वैष्णव है। रावण को उससे कोई खतरा नहीं है क्योंकि विभीषण उसके किसी कार्य में कोई हस्ताक्षेप नहीं करता है। वह दीन और एक बेचारे मनुष्य की तरह जीवन यापन कर रहा है।

उसने राम भक्ति का वरदान पहले ही माँग लिया था।[127]

विभीषण में सख्यभाव भी परिलक्षित होता है। "समशील व्यसनेषु सख्यम्" इस नीति वचन के अनुसार समान स्वभाव और समान प्रवृत्तियों के मनुष्यों में ही मित्रता होती है। इसीलिए विभीषण की मित्रता हनुमान से हो जाती है। सात्विक भावापन्न होने के कारण विभीषण का मानसिक गठन नैतिक था। इसीलिए रावण के नीति विरूद्ध कार्य से उसे क्षोभ होता है। इसी कारण वह हनुमान की सीता अन्वेषण में सहायता करता है, लंका का भेद बताता है और अवसर आने पर भाई के नीति विरूद्ध कार्य का विरोध करता है[128] और राम भक्ति के कारण भगवान के बल और पौरुष का बखान करता है, उनकी शरण में जाने के लिए प्रेरित करता है।[129] रावण द्वारा पद प्रहार से आहत क्षुब्ध अपमानित होने पर राम की शरण में चला जाता है। यहाँ पर विभीषण के स्वाभिमानी स्वभाव का हमें पता चलता है। वह अपमान बर्दाश्त नहीं कर पाता। उसमें जितनी विनय है, जितनी भक्ति है, जितना समर्पण है, जितनी भ्रातृ कल्याण की भावना है, उतना ही उसमें अपने सम्मान के प्रति सजगता और स्वाभिमान है।[130]

विभीषण के जीवन का संवेगात्मक इतिहास भाई से अपमानित होने के बाद भगवान राम से भेंट होने के साथ प्रारम्भ होता है। जिस समय विभीषण राम के सैन्य शिविर में पहुँचता है उस समय परस्पर विरोधी संवेगों की दृष्टि से उसकी दशा का अनुशीलन देखने योग्य है। वह राम से कहता है– मैं तामस देह युक्त राक्षसों के बीच रहता हूँ। इसलिए आपका भजन नहीं हो पाता। अब आपकी शरण का याचक हूँ। उसकी भक्ति में रुचि है। भगवान राम उसे अपनाकर धन्य कर देते हैं। अन्त में भगवान राम की शरण पाकर वह निश्चिन्त हो जाता है। जब भगवान राम उसे अपना मित्र कहकर लंका के राजा के रूप में उसका तिलक कर देते हैं तब हमें उसके मन में गुप्त रूप से पलने वाली "लोकेषणा" अर्थात् राज्य प्राप्ति की इच्छा का पता चलता है।[131] विभीषण के मन के विश्लेषण की दृष्टि से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तुलसी ने अपने विविध पात्रों को कलम की नोंक से अथवा दैवी कृपा से सभी को दिव्य प्रवृत्तियों से युक्त नहीं बना दिया है उनमें गाढ़े रूप में मानवीय संवेगों के अपने यथार्थ रूप में दर्शन होते हैं। इसी कारण रामचरित मानस अथवा तुलसी साहित्य को मानवीय प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि काव्य कहा जाता है। यही से तुलसी साहित्य में अभिव्यक्त मनोवेगों की मनोवैज्ञानिक भूमिका स्पष्ट होती है।

<u>सुग्रीव</u> :

सुग्रीव एक भीरु स्वभाव वाला पात्र है जो अपने भाई के भय से छिपकर ऋष्यमूक पर्वत

पर निवास करता है।[132] इसमें स्वयं का कोई बल नहीं है इसीलिए एक बार बालि के शत्रु समान व्यवहार से वह उसका कुछ भी अनिष्ट नहीं कर पाता उल्टे स्त्री आदि सभी से वंचित होकर पर्वत पर इस कारण छिपकर निवास करने लगता है।[133] कि उसका भाई शाप के कारण इस ओर नहीं आ पायेगा। सुग्रीव जब भी किसी बलशाली को पर्वत की ओर आते देखता है, संदेह ग्रस्त हो जाता है। इस प्रकार भयभीत अवस्था में निवास करते हुए एक बार जब वह राम–लक्ष्मण को आते देखता है तो पहले वह संदेह ग्रस्त हो जाता है, लेकिन फिर हनुमान द्वारा पता लगाने पर संदेह रहित हो जाता है। सुग्रीव अपने को इतना हीन समझता है कि उसे लगता है कि राम–लक्ष्मण पता नहीं उससे मैत्री करेंगे या नहीं। सुग्रीव का स्वभाव बड़ा ही सरल और उदार है इसीलिए मित्रता के सूत्र में बंध जाने पर जब उसे राम के दुःख के कारण का पता चलता है तो वह अपना दुःख भूलकर कहता है कि हे नाथ! जानकी जी मिल जायेगी।[134] सुग्रीव राम के संतोष के लिए सीता के कुछ वस्त्र दिखाता है, जिन्हें सीता ने रावण के वश पड़ी हुई विलाप करते हुए डाला था। सुग्रीव में सेवा भाव जाग्रत हो जाता है। वह राम के लिए जिस भी उपाय से जानकी मिले सब करने को तैयार है।[135]

सुग्रीव का हृदय बालि के भय से इतना अधिक टूट चुका है कि उसे राम की सामर्थ्य पर भी संदेह रहता है और जब वह राम की शक्ति से परिचित होता है तो उसे विश्वास हो जाता है कि ये बालि का वध अवश्य करेगें। सुग्रीव अब राम के स्वरूप को पहचान पाता है। उसमें अतिशय प्रेम जाग जाता है वह बार–बार राम चरणों में सिर नवाने लगता है और कहता है कि मैं सब सुखों को त्यागकर आपकी सेवा करना चाहता हूँ। वह प्रभु दर्शन में सहायक होने के कारण बालि को बड़ा हितकारी समझता है क्योंकि यदि बालि के भय से वह यहाँ निवास न करता तो प्रभु भी उसे न मिलते। सुग्रीव राम की कृपा चाहता है कि सब कुछ छोड़कर रात–दिन उनका भजन कर सके।[136]

यहाँ पर सुग्रीव के मन का विश्लेषण गहराई से करने की यह आवश्यकता है कि सुग्रीव ने जो राम–लक्ष्मण से मित्रता की थी वह उन्हें प्रभु समझ कर नहीं की थी। वह तो उस समय भयभीत था। राम उसे सहृदय स्वामी लगे और उसने मित्रता कर ली। उसे यह नहीं पता था कि राम अतुलित बलशाली स्वयं प्रभु ही है। जब उसे प्रभु की सामर्थ्य का अहसास हुआ तब वह प्रभु को पहचान पाया, उसे ज्ञान प्राप्त हुआ, उसके मन की इच्छायें चलीं गयी, उसमें भक्ति के सभी लक्षण दिखायीं पड़ने लगे। सुग्रीव में भक्ति का तो जागरण हुआ था लेकिन उसमें दृढ़ता नहीं थी। उसमें क्षणिक वैराग्य का सूत्रपात था क्योंकि जब राम ने कहा कि तुम्हें अवश्य ही राज्य मिलेगा और बालि मारा जायेगा तो वह उसे अस्वीकार नहीं करता। सुग्रीव राम के बल पर बालि के सम्मुख जाकर गरजता है। वह पराशक्ति

आश्रित है, वह अन्दर से तो बालि से युद्ध करने में डरता है लेकिन फिर राम की शक्ति का स्मरण करके आगे की ओर बढ़ता है। सुग्रीव राम के बल पर ही बालि पर विजय प्राप्त कर लेता है।

सुग्रीव में चूंकि क्षणिक भक्ति जाग्रत हुई थी इसलिए जब उसे राज्य प्राप्त हो जाता है और राम वर्षा ऋतु बीत जाने तक निश्चिन्त होकर राज्य करने को कहते हैं तो वह राज्य करने के दौरान सांसारिक प्रवृत्तियों में ऐसा लीन हो जाता है कि वर्षा बीत जाने पर भी उसे राम के कार्य का ध्यान नहीं आता।[137]

लक्ष्मण के भयभीत करने पर वह भयभीत हुआ अपनी गल्ती का अहसास करता है, वह कहता है कि विषयों ने मेरे ज्ञान को हर लिया।[138] इस प्रकार सुग्रीव में अपनी गल्ती स्वीकार करने की भी प्रवृत्ति है। वह राम से कहता है कि हे नाथ! मुझे कुछ भी दोष नहीं है, आपकी माया अत्यन्त प्रबल है। आप जब दया करते हैं तभी यह छूटती है।[139]

सुग्रीव मित्र धर्म का पूरी तरह निर्वाह करता है। वह तुरन्त वानरों की सेना बुलाता है और उन्हें टुकड़ियों में बाँधकर चारों दिशाओं में सीता का पता लगाने के लिए भेजता हैं। सुग्रीव अपने धीर बुद्धि और चतुर योद्धाओं के द्वारा सीता का पता लगवाता है और फिर अपनी वानर सेना के साथ राम की रावण वध में पूरी सहायता करता है।

बालि :

बालि अत्यधिक अहंकारी प्रवृत्ति का पात्र है। उसमें वीरता और शक्तिमत्ता भी चरम सीमा पर है। अपनी इसी विशेषता के कारण वह बड़े-बड़े पराक्रमी योद्धाओं पर विजय पा लेता है। रावण को एक बार वह बहुत समय तक अपनी काँख में दबाये रहा था। वह किसी की चुनौती को स्वीकार नहीं कर पाता। मय दानव के पुत्र के चुनौती देने पर वह एक बार महीने भर तक युद्ध करता रहा था और अन्त में उसे मार डाला था।[140] बालि सुग्रीव की चुनौती को भी स्वीकार नहीं करता है।

अहंकार होने के कारण उसमें क्रोध भी अत्यधिक है। सुग्रीव को राजा बने देखकर वह बिना बिचारे शत्रु की तरह व्यवहार करता है और सुग्रीव का सब कुछ छीनकर उसे बेहाल करके बाहर निकाल देता है।[141]

बालि में भक्ति का भी परिपाक है। सुग्रीव के बल का कारण प्रभु को जानने पर भी वह सुग्रीव से इस कारण युद्ध करता है कि प्रभु द्वारा मारे जाने पर वह सनाथ हो जायेगा।[142] मरते

समय वह प्रभु को सामने देखकर अपने जन्म को सफल मानता है और भगवान के कहने पर भी शरीर रखने के लिए तैयार नहीं होता क्योंकि आज मरते समय उसके सामने भगवान खड़े हैं। वह मरते समय भगवान से यही वरदान माँगता है कि जिसभी योनि में वह जन्म ले, उसका राम चरणों में प्रेम हो।[143]

अंगद :

मानस के हर पात्र का सम्बन्ध राम से है। या तो उनके अनुकूल है या प्रतिकूल। बालि पुत्र अंगद राम के भक्त के रूप में हमारे सामने आता है। बालि मरते समय अपने पुत्र अंगद को भगवान राम की शरण में सौंप गया था। उसी समय से अंगद राम को अपना स्वामी और अपने को उनका दास मानता है और अपना पूरा जीवन राम की सेवा तथा उनकी आज्ञा के पालन में लगा देता है। अंगद के जीवन का केन्द्रिय मनोभाव भक्ति और अपने इष्ट के प्रति समर्पण है।[144] अंगद के व्यक्तित्व का चरम उत्कर्ष रावण की सभा में भगवान राम का सन्देश देते समय परिलक्षित होता है।[145] वहाँ पर अंगद के मन की संवेगात्मक अभिव्यक्ति अपने तीव्र रूप में होती है। भगवान राम के बल में पूर्ण विश्वास शत्रु की सभा में उनके अतुलित बल के गान में हर्ष, दृप्त भाषा में अपने आक्रोश[146] और बल की अभिव्यक्ति, शत्रु को चुनौती देने वाली दृढ़ता आदि की अभिव्यक्ति होती है। युद्ध के समय उनमें आक्रोश पूर्ण बल की अभिव्यक्ति और भगवान राम के एक विनम्र सहायक के रूप में हमारे सामने आते हैं।

अंगद के मनोभावों की अभिव्यक्ति उस समय पुनः होती जब भगवान राम लंका विजय के पश्चात् अयोध्या पहुँच जाते हैं और दो चार दस दिन युद्ध रूपी समुद्र को पार करने में सहायक बने अपने वानर सखाओं को विदा देते समय अंगद के मन का संघर्ष सामने आता है।[147] भगवान राम उन्हें अपनी माला देकर निरन्तर भजन करने का उपदेश देकर उनके दु:खी मन को सांत्वना प्रदान करते हैं। अंगद गौण पात्रों में है।

नारी पात्र

सीता :

सीता के जीवन का मूल संवेग "पति प्रेम" है। लेकिन इस संवेग के जागरण से पूर्व उनमें "काम" संवेग का मर्यादित रूप विभिन्न रूपों में झाँकता दिखायी देता है। सीता का काम प्रेम मिश्रित है अर्थात् उनके इस मिश्रित संवेग में प्रेम की मात्रा अधिक और काम की मात्रा कम है। गौरी मंदिर में सीता एक सखी से राम–लक्ष्मण के पुष्प वाटिका में आने तथा उनके सौन्दर्य का वर्णन सुनती है, तो उनके हृदय में राम दर्शन की बड़ी उत्कण्ठा होने लगती है क्योंकि उनके मन में नारद वचनों के स्मरण

से पुराना प्रेम जाग गया होता है। सीता की इस उत्कण्ठा के सम्बन्ध में श्री रामानन्द शर्मा अपनी पुस्तक "मानस की महिलाएँ" में लिखते हैं–

"सीता की उत्कण्ठा उनके पूर्वानुराग की सूचना देती है। अब तक जिनका गुण–श्रवण वह कर रही थी, वह उसी बाग में पास ही कहीं है– फिर वह उत्कण्ठित क्यों न हो जाती।"

सीता ने अपनी उत्कण्ठा को व्यक्त नहीं किया लेकिन सखियों ने इसे जान लिया। तब एक सखी ने राम लक्ष्मण को देखने का प्रस्ताव रखती है जो सीता को बहुत अधिक भाती है और सीता एक सखी को आगे करके चल पड़ती है।[148] सीता में यदि मर्यादित कामात्मक प्रेम न होता तो शायद वह अपनी उत्कण्ठा को व्यक्त कर देती और सखियों की चिन्ता न करके अकेले ही राम को देखने के लिए आगे बढ़ जाती।

तुलसी लिखते हैं कि सीता के नेत्र राम दर्शन के लिए अकुला रहे थे न कि ललचा रहे थे। ललचाने में छिछलापन छलकता है और अकुलाने में गम्भीर व्यथा व्यक्त होती है। सीता चौकन्नी हिरणी की भाँति चकित दृष्टि से चारों ओर किसी को ढूँढ़ती जाती हैं। उन्हें यह चिन्ता होती है कि जिसके दर्शन के लिए उनके नेत्र चिरकाल से प्रतीक्षा कर रहे थे वे राजकुमार कहाँ चले गये।[149]

तब सखियों ने सावधानी से लता की ओट में दोनों कुमारों को दिखाया। सीता ने राम को देखा और अपनी चिर संचित निधि को पहचान लिया। उनके ललचाये नेत्र प्रसन्न हो गये।[150]

प्रेम देव प्रायः नेत्रों द्वारा ही हृदय मंदिर में प्रवेश करते हैं। सीता के नेत्र राम की छबि देखकर निश्चल हो गये। पलकों ने गिरना छोड़ दिया, स्नेह से उनका शरीर विह्वल हो गया। उन्होंने नेत्रों के मार्ग से राम को हृदय में लाकर पलकों के कपाट लगा दिये।[151] कहने का तात्पर्य यह है कि सीता ने राम को देखा। रूप सौन्दर्य के दर्शन से उनके नेत्र खुले रह गये, अत्यधिक प्रेम का जागरण हुआ। इस स्नेह आधिक्य से उनका शरीर विह्वल हो गया और उनके नेत्र बन्द हो गये। यही सीता की दशा का मनोविज्ञान है।

इसी अवसर पर एक सखी उनका ध्यान भंग करती है। सीता सकुचाकर नेत्र खोलती है और सामने दोनों कुमारों को खड़े देखती हैं। सीता अपना पवित्र प्रेम राम से जोड़ लेती है लेकिन उन्हें पिता का प्रण एक कंटक रूप लगा और दूसरे ही पल उनका मन क्षुब्ध हो जाता है।[152]

देर हो जाने के भय से जब सखियाँ सीता को वहाँ से लौटा ले चलती हैं तो सीता राम को हृदय में धारण कर बार–बार किसी न किसी बहाने से घूम–घूमकर राम छबि को देखती जाती हैं।

उनके हृदय में राम प्रेम बहुत अधिक बढ़ता जाता है लेकिन मन यह सोचकर चिन्तित भी होता जाता है कि सुकुमार राम कठोर धनुष को कैसे तोड़ पायेंगे। सीता भवानी के मंदिर में जाकर अपने मनोरथ को पूर्ण करने की प्रार्थना करती है और गौरी को अनुकूल जानकर हृदय से अत्यधिक हर्षित हो जाती है।[153]

सीता में यह राम प्रेम स्वयंवर सभा में भी व्यक्त होता है जब वे स्वयंवर सभा में आती है तो चकित चित्त से वे राम को ढूँढ़ने लगती है और जैसे ही वे दोनों भाइयों को बैठे देखती है उनके नेत्र राम को देखने के लिए स्थिर हो जाते हैं। लेकिन दूसरे ही पल गुरुजनों की लाज से वे सकुचा जाती हैं और फिर हृदय में ही राम को लाकर उनका ध्यान करने लगती हैं।

स्वयंवर सभा में सीता की बड़ी विचित्र दशा है। उनके नेत्रों में प्रेम के कारण आँसू भरे है, शरीर रोमान्चित है लेकिन पिता के प्रण को समझ कर मन क्षुब्ध भी है। वे धीरज धरकर देवताओं से विनती करती है। मर्यादा के कारण किसी से कुछ कह भी नही सकतीं। उनके नेत्रों का जल नेत्रों के कोने में ही रह जाता है। अन्त में अपनी व्याकुलता का कोई समाधान न देखकर सीता धैर्य धारण कर हृदय मं यह विश्वास धारण कर लेती है कि यदि तन, मन और वचन से मेरा प्रण सच्चा है तो राम मुझे अवश्य ही अपनी दासी बनायेंगे।[155] ऐसा विश्वास ले लेने पर भी जब राम धनुष के समीप जाते हैं तो स्नेह जनित व्याकुल के कारण एक–एक क्षण कल्प के समान बीतता दिखायी पड़ता है।

सुख व्यक्ति को किसी भी प्रकार का हो सकता है लेकिन सीता को धनुष के टूटने से जो सुख मिला है उसका वर्णन नहीं किया जा पा रहा है। धनुष टूटने से राम के मिलने की पूरी आशा से उन्हें उसी प्रकार का सुख मिल रहा है जैसे चातकी को स्वाती का जल मिलने से होता है। सीता प्रेम में ऐसी विवश हो जाती है कि उनसे माला भी नहीं पहनायी जा पाती।[156] विवाह के समय सीता में अत्यधिक प्रेम दिखायी देता है, जिसके कारण वे सकुचा–सकुचा कर बार–बार राम को देखती है।[157]

सीता में पति प्रेम की अभिव्यक्ति राम के वन गमन के समय से दिखायी पड़ती है। सीता को जब यह पता चलता है कि राम चौदह वर्ष के लिए वन जा रहे हैं तो वे साथ चलने के लिए अकुला जाती हैं। सीता राम के बिना अपना कोई अस्तित्व नहीं समझती। सीता नीचे मुख किये इस सोच में पड़ी हैं कि शरीर और प्राण दोनों से पति का साथ होगा अथवा प्राण ही केवल साथ में जायेंगे। कौसल्या ने सीता की इच्छा को समझकर जब राम से कहा कि यदि सीता घर पर रहे तो मुझको सहारा हो जायेगा तो राम सीता को समझाते हैं। सीता को अपनी इच्छा के समक्ष कोई भी सीख अच्छी नहीं लगती। वे स्पष्ट कहती हैं कि हे नाथ, जहाँ तक स्नेह और नाते है पति के बिना स्त्री को सभी सूर्य

से भी बढ़कर तपाने वाले है।[158] हे नाथ आपके साथ रहकर आपका शरद के निर्मल चन्द्रमा के समान मुख देखने से मुझे समस्त सुख प्राप्त होंगे। हे प्रियतम मैं सभी प्रकार से आपकी सेवा करुँगी और मार्ग चलने से होने वाली सारी थकावट को दूर कर दूँगी।[159]

सीता ने जो कहा था, सच कहा था। वन में राम के साथ सीता सारी यादों को भूलकर सुखी रहती हैं।[160] क्षण-क्षण पति के चन्द्रमा के समान मुख को देखकर वे वैसे ही प्रसन्न रहती है जैसे चकोर कुमारी चन्द्रमा को देखकर।

तुलसी ने वन मार्ग में चल रही सीता की सुकुमारता का भी संकेत दिया है- कवितावली में वे लिखते हैं कि जानकी जब नगर से बाहर हुई तो धैर्य धारण कर मार्ग में दो डग चली। इतने ही में उनके ललाट पर जल के कण भरपूर झलकने लगे। दोनों मधुर अधर पुट सूख गये।[161] वे घूमकर पूछने लगी हे प्रिय अब कितनी दूर और चलना है और कहाँ चलकर पर्णकुटी बनाइयेगा।

सीता सुन्दर पतिव्रत धर्म का पालन करने वाली है। लंका का राजा रावण जब छल करके सीता को हर ले जाता है तो सीता राम को पुकार-पुकार कर बहुत विलाप करती जाती है[162] और रावण को अनेक कटु वचन कहती है। अशोक वाटिका में रावण सीता को अनेक प्रकार से अपनी रानी बनाने का प्रयास करता है लेकिन सीता किसी प्रकार तैयार नहीं होती। वे क्रोधित हो कटु वचन कहती है कि हे दशमुख। सुन जुगनू के प्रकाश से कभी कमलिनी खिल सकती है। तू ऐसा ही मन में समझ ले। रे दुष्ट, तुझे रघुबीर के बाण की खबर नहीं है। सीता राम के वियोग में बड़ी दीन हो जाती है। बैठे-बैठे ही रात्रि के चारों पहर बिता देती है। उनका शरीर दुर्बल हो जाता है, सिर पर जटाओं की एक वेणी रह जाती है। सीता राम के गुण समूहों का जाप करती रहती हैं।[163] सीता राम के वियोग में शरीर धारण नहीं करना चाहतीं। वे त्रिजटा से कहती हैं कि जल्दी कोई ऐसा उपाय कर जिससे मैं शरीर छोड़ सकूँ।[164] सीता इस प्रकार अपने पति प्रेम को सुरक्षित रखती हे और रावण मरण के पश्चात् राम से मिलकर हर्षित हो जाती है।

सीता में राम प्रेम के प्रति अन्य संवेग भी व्यक्त हुए है। सीता में वैभव/तड़क-भड़क के प्रति लोभ व्यक्त हुआ है। कपट मृग का शरीर जो मणियों से जड़कर बनाया गया था, देखकर सीता राम से कहती है- हे रघुवीर, इस मृग की छाल बहुत ही सुन्दर है इसको मारकर इसका चमड़ा ला दीजिए।[165]

सीता ने लक्ष्मण पर हल्का क्रोध व्यक्त किया है। मारीच की भ्रम में डालने वाली दुःख

भरी वाणी सुनकर सीता राम की विपत्ति की आशंका से भयभीत हो गयीं और व्याकुल होकर लक्ष्मण से जाने के लिए कहने लगीं। जब लक्ष्मण ने उन्हें समझाया तो सीता कुछ मर्म वचन कहने लगी, जिससे लक्ष्मण को जाना ही पड़ा।[166] इस प्रसंग से सीता की हठी प्रवृत्ति का भी पता चलता है। सीता का हठ राम के वन गमन के समय साथ चलने में भी व्यक्त हुआ है। सीता पश्चाताप करती हुई भी दिखाई देती है। रावण जब सीता को हरकर ले जाता है तो सीता पश्चाताप करती कहती है हा लक्ष्मण, तुम्हारा दोष नहीं है। मैंने क्रोध किया उसका फल पाया।[167]

सीता को सदैव मर्यादा का ध्यान रहता है उन्हें अपने कर्तव्य का भी पता है इसी कारण चित्रकूट में मायके वालों से मिलते हुए रात में सासुओं की सेवा करना चाहिए यह सोच वहाँ रुकते सकुचातीं है। लेकिन कुछ कहती नहीं। मन ही मन भयभीत हो रही हैं।[168] सीता में इसी प्रकार का भय पुष्प वाटिका में भी दिखायी पड़ता है जब सखियाँ माता की आज्ञा का ध्यान दिलाती है और सीता देर हुई जानकर भयभीत हो जातीं है।[169] सीता में लज्या का सुन्दर रूप भी दिखायी पड़ता है। वन मार्ग में वन की स्त्रियाँ सीता से जब राम का परिचय पूछती है तो सीता लज्या के कारण संकेत से उन्हें उनका उत्तर देती है। सीता को पशु पक्षियों से भी प्यार था। जनकपुर में जानकी ने तोता और मैना को पाल पोसकर बड़ा किया था और उन्हें सोने के पिंजड़ों में रखकर पढ़ाया था।[170]

इस प्रकार सीता के जीवन में हमें, पति प्रेम, वत्सलता, उदारता, करुणा, राम विरह की व्याकुलता, दीनता, क्षोभ, क्रोध, सरलता आदि के दर्शन होते हैं।

सती :

सती के जीवन का मूल संवेग अहंकार है क्योंकि अहंकार के कारण ही उनमें संशय, अविश्वास, मोह, अज्ञानता, मूढ़ता का जन्म होता है और फिर परिणाम स्वरूप उन्हें भीषण मानसिक संताप का सामना भी करना पड़ता है।

सती को अहंकार उनको अपने अधूरे ज्ञान का है। एक बार जब शिवजी अपने इष्ट राम की विरह व्याकुलता के चरित्र को देखकर प्रेम और आनन्द से पुलकित हो रहे होते हैं तो सती यह सोच सन्देह ग्रस्त हो जाती है कि जो ब्रह्म सर्वव्यापक, माया रहित, अजन्मा, अगोचर, इच्छा रहित और भेद रहित है और जिसे वेद भी नहीं जानते, क्या वह देह धारण करके मनुष्य हो सकता है।[171] सती के मन में ऐसा तर्क जाल फैला कि उनका संशय बहुत ही सघन हो गया। उनको किसी प्रकार भी बोध नहीं होता था। शिव जी समझाते हैं लेकिन उनका मोह/अज्ञानता नष्ट नहीं होती।

सती के समक्ष इस भीषण संकट से मुक्ति के लिए एक ही मार्ग था – राम की परीक्षा। सती शिव जी की आज्ञा पाकर परीक्षा लेने चल देती है। वे राम की परीक्षा के लिए सीता का बनावटी वेश धारण करती है लेकिन राम सती के कपट को जान जाते हैं और कुछ कोमल और रहस्य भरे वचन कहते हैं। सती राम के वचन सुनकर बहुत संकोच से भर जाती है और डरती हुई बड़ी चिन्तित हो उठती है कि अब शिव जी को क्या उत्तर दूँगी।[172] हम किसी के साथ कपट करें और वह हमारा कपट जान ले तो हम संकोच से भर जाते हैं। सती इसी कारण संकोच से भर गयी थी उन्हें भय इस कारण से हो रहा था कि शिव जी यह सब जानकर पता नहीं क्या कहेंगे। रामानन्द शर्मा लिखते हैं– "सती" राम के व्यंग्य वाण से कट गई थी, उसका तन–मन छिन्न–भिन्न हो गया था और वह आत्म–ग्लानि से सिर धुनने लगी थी। उसका "अहं" आहत हो गया था कि अपनी इस दुर्गत के लिए वह किसे कोसे– अपने को, अपने ज्ञान को या अगम्य विधि को– जिसने प्रेरित करके उसे यों "पतित" बना दिया था?[173]

सती इस प्रकार जिस समय भय और सोच के वश थी तभी उन्होंने राम का अद्भुत रूप देखा। सती इसे देखकर बहुत ही अधिक डर गयीं, उनका हृदय काँपने लगा, देह की सारी सुध–बुध चली गयी। वे आँख मूँदकर मार्ग में बैठ गयीं।[174]

परीक्षा का परिणाम देखकर सती का अहं नष्ट हो गया था लेकिन अभी भी उनका पूरा अहं नष्ट नहीं हुआ था। शिव जी को सच–सच बताकर अपनी कमजोरी/अपना अज्ञान स्वीकार करना उन्हें स्वीकार नहीं था। राम की परीक्षा लेकर एक अपराध तो किया ही था अब शिवजी से झूठ बोलकर उन्होंने दूसरा अपराध कर दिया। यह जानते हुए कि शिव जी सर्वज्ञ है सती ने मूर्खता पूर्ण कार्य किया कि मैंने राम की परीक्षा नहीं ली और आपकी तरह प्रणाम किया। आपने जो कहा वह झूठा नहीं हो सकता, मेरे मन में यह बड़ा विश्वास है।

सती ने इस प्रकार शिव जी से भी छल किया लेकिन शिव जी ने सब कुछ जान लिया। चूँकि सती ने सीता का रुप धारण कर राम की परीक्षा ली थी इसलिए शिव जी ने भक्ति मार्ग की लुप्तता के भय से सती को त्याग देने की प्रतिज्ञा कर ली। सती को जब आकाशवाणी द्वारा शिव प्रतिज्ञा का पता चलता है तो उन्होंने शिव जी से बहुत प्रकार से पूछती है लेकिन जब शिव जी ने नहीं बताया तो सती समझ जाती है कि शिव जी के साथ उन्होंने जो कपट किया है उसे शिव जी जान गये हैं और स्वामी ने उन्हें त्याग दिया है। सती यह समझते ही मानसिक संताप से व्याकुल हो जाती हैं। अपनी गल्ती को समझकर उनका हृदय कुम्हार के आँवे की भाँति जलने लगता है। वे अत्यधिक ग्लानि से भर जाती हैं।[175]

सती की ग्लानि और दुख दिन–प्रतिदिन बढ़ता जाता था। उनका एक–एक दिन युग के समान बीत रहा था। वे जानती थीं कि उनका अब इस जन्म में शिवजी से मिलन नहीं हो सकता। वे नित्य नये सोच से भर रही थीं कि कब दुःख–समुद्र से पार जाऊँगी।[176] उन्होंने रामचन्द्र जी का स्मरण किया और विनती की कि हे सर्वदर्शी प्रभो! अब शीघ्र वही उपाय कीजिए जिससे मेरा मरण हो और बिना परिश्रम के यह असह्य विपत्ति दूर हो जाय।[177]

यहाँ हम सती में अविश्वास के स्थान पर राम के स्वरूप पर विश्वास के उद्रेक को देखते हैं। सती में यह विश्वास उसके गहरे अनुताप से जन्मा था। "आदमी अपनी ओर देखकर जब पछताने लगता है, अपने आपको अन्दर से कोसने लग जाता है तब उसका 'अहं', पतझड़ के पत्ते की तरह, अनायास झड़ पड़ता है और उसका हृदय पाप भार से, अनुताप–क्रम से हलका होने लग जाता है। [178]

इस प्रकार मानसिक उलझन/पश्चाताप के संताप को सहते बहुत समय बीत जाने पर एक बार सती अपने पिता दक्ष के यहाँ उत्सव में शिवजी के मना करने पर भी हठ करके जातीं हैं।[179] और वहाँ अपना और शिव जी का अपमान देखकर पति अपमान से महान् दुखी हो जातीं हैं। उन्हें बहुत ही दारुण दुख होने लगता है, क्रोध से उनका हृदय जलने लगता है। हृदय में कुछ भी प्रबोध न होने के कारण उनसे क्रोध व्यक्त किये बिना रहा नहीं जाता। वे सभी डाँटती हुई क्रोध भरे वचन कहने लगतीं है।[180] चूँकि सती का मन पहले से ही ग्लानि युक्त था और अब उसने अपने पिता को भी पति का अपमान करते देखा था इसलिए वे स्वयं को भी इसका दोषी मानती हुई अपने शरीर को योगाग्नि से भस्म कर डालतीं हैं।[181]

सती के मन का यदि हम विश्लेषण करें तो हम पायेंगे कि सती अपने मन में चाहे वह किसी प्रकार का द्वन्द्व हो, उलझन हों, संताप हो, सदा के लिए धारण नहीं किये रहतीं। उनमें राम के स्वरूप के सम्बन्ध में द्वन्द्व उठा उन्होने इसे दूर करने के लिए तुरन्त परीक्षा ले ली, पति परित्याग से उन्हें मानसिक उलझन रहने लगी थी, जिससे उन्होंने प्रभु से उससे मुक्ति के लिए प्रार्थना की। दक्ष यज्ञ में पति अपमान से उनमें जो क्रोध और दुःख हुआ उससेउन्होंने सबको कटु वचन कहते हुए अपने लिए भी शीघ्र निर्णय लिया और अपने शरीर को योगाग्नि से भस्म कर डाला।

सती का मायके जाने का एक और कारण था दारुण दुःख रहते जब सत्तासी हजार वर्ष बीत गये और शिवजी ने समाधि खोली तो सती ने जाकर शिव चरणों में प्रणाम किया उन्होंने इस

आशा से प्रणाम किया कि शायद अब इतने समय बाद शिवजी उन्हें वामांग में बैठने के लिए कहेंगे। लेकिन उनकी आशा व्यर्थ सिद्ध हुई। शिव जी ने उन्हें वामांग में नहीं सामने आसन पर बैठने को संकेत दिया।[182] सती एकदम निराधार हो गयीं। उनके समक्ष माता और मृत्यु के सिवा कोई भी आश्रय स्थल नहीं रह गया था। संयोग भी ऐसा बना कि पिता के यहाँ यज्ञ महोत्सव हो रहा था जैसे ही सती को जानकारी मिली वे कुछ खुश हुई।[183] अधिक खुश नहीं क्योंकि पिता के यहाँ महोत्सव और उसको बुलाया भी नहीं गया इसलिए अधिक खुश नहीं लेकिन कुछ खुश इसलिए कि इसी बहाने पिता के यहाँ चले जायेंगे और बेरूखे पति के सामने से हट जायेंगे।

सती ने मरते समय भगवान से यह वरदान माँगा कि जन्म–जन्म में शिव जी के चरणों में अनुराग रहे और इसी कारण सती दूसरे जन्म में शिव प्रेम को धारण किये हुये हिमांचल के घर पार्वती के शरीर से जन्म लेती है।

हिमाचल के घर जन्मी पार्वती के जीवन का मूल संवेग शिव प्रेम और विश्वास है। इसी कारण जब वे छोटी ही थीं तब नारद की वाणी से उन्हें यह पता चला कि शिव जी ही उनके पति होंगे, वे बहुत प्रसन्न हो जाती हैं, उनका शरीर पुलकित और नेत्रों में जल भर आता है। उन्हें विश्वास था कि नारद के वचन झूठे नहीं है लेकिन शिव जी का मिलना कठिन भी है इसलिए वे सन्देह ग्रस्त हो जातीं हैं आगे जब नारद हिमांचल से कहते हैं कि यदि तुम्हारी कन्या कठोर तप करे तो शिवजी मिल सकते हैं इसलिए पार्वती सबको संतुष्ट करके तप के लिये चल देंतीं है। पार्वती वन में जाकर तप करने लगतीं हैं। गौरी अति सुकुमार थी, उसका शरीर तपस्या के लायक नहीं था, फिर भी संकल्प सिद्धि के लिए उसने समस्त भोग–विलास को तज दिया। जहाँ प्रेम प्रगाढ़ हो जाता है, वहाँ आदमी देह का भान भूल जाता है और शरीर की सुधि जाती रहती है, तब कष्ट सहन करना एकदम आसान हो जाता है। इसीलिए कवि स्पष्ट कर देता है– "नित नव चरन उपज अनुरागा। बिसरी देह तपहिं मनुलागा।[184]

पार्वती बहुत ही कठोर तपस्या की। इन्होंने एक हजार वर्ष तक मूल और फल खाये, फिर सौ वर्ष साग खाकर बिताये।[185] कुछ दिन जल और वायु का भोजन किया और फिर कुछ दिन कठोर उपवास किया, जो बेलपत्र सुखाकर पृथ्वी पर गिरते थे तीन हजार वर्ष तक उन्हीं को खाया फिर सूखे पत्ते भी छोड़ दिये। पार्वती ने ऐसा तप करके धीर, मुनि और ज्ञानी को भी पछाड़ दिया था। उसके तप को देखकर ब्रह्मा की वाणी होती है कि अब तुझे शिव जी मिलेंगे। पार्वती यह सुनकर प्रसन्न हो जाती हैं, उनका शरीर पुलकित हो जाता है।[186]

पार्वती का प्रेम बड़ा ही अडिग और अखण्ड था। शिव के कहने पर सप्तऋषि जब पार्वती के प्रेम की परीक्षा के लिए जाते हैं और शिव जी को अवगुणों का भण्डार तथा विष्णु को सद्‌गुणों का धाम कहकर पार्वती को विचलित करना चाहते हैं तो पार्वती कहती हैं कि माना कि महादेव अवगुणों के भवन है और विष्णु समस्त सद्‌गुणों के धाम हैं।[187] पर जिसका मन जिसमें रम गया उसको तो उसी से काम है। पार्वती के ऐसे अटल प्रेम को सुनकर शिव भी आनन्दमग्न हो जाते हैं।

पार्वती में भाग्य पर भी विश्वास दिखायी पड़ता है। विवाह के समय जब मैना शिव की वेश भूषा देखी, पार्वती के भविष्य को सोच दुखी होती है तो पार्वती यही कहकर समझातीं हैं कि मेरे भाग्य में जो दुःख–सुख लिखा है उसे मैं जहाँ जाऊँगी, वहीं पाऊँगी।[188]

विवाह में विदा के समय पार्वती में अपने आत्मीय जनों के प्रति बड़ा प्रेम दिखायी रहता है। वे जातीं हुई फिर–फिर कर माता की ओर देखती जातीं हैं।[189]

पार्वती में राम के स्वरूप के सम्बन्ध में जिज्ञासा भी दिखायी पड़ती है। पिछले जन्म में सती ने अपने अज्ञान के कारण जो संदेह किया था वह संदेह अब पार्वती में विश्वास और प्रेम के रूप में परिवर्तित हो गया था इसी कारण वे एक बार शिव जी से कहतीं हैं कि आप रघुनाथ की कथा कहकर मेरा अज्ञान दूर कीजिए।[190]

कैकेयी :

मानस में कैकेयी का मानसिक संस्थान इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को स्पष्ट करता है कि संवेगों का जागरण बहुत कुछ परिवेश के प्रभाव से होता है। मानस में कैकेयी कुटिलता की मूर्ति के रुप में सामने आती है। उसमें यह कुटिलता संसर्ग के प्रभाव से आयी है।

कैकेयी अपने चारों पुत्रों में राम से सबसे अधिक स्नेह करती है। मन्थरा द्वारा जब उसे पता चलता है कि कल राम का राजतिलक है तो वह प्रसन्नता से भर मन्थरा से मनचाही वस्तु मांग लेने को कहती है। वह तो यहाँ तक कहती है कि राम मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं विधाता कृपा करके जन्म दें तो श्री रामचन्द्र पुत्र और सीता बहु हों।[191]

कैकेयी का राम स्नेह मन्थरा की कुटिलता से नष्ट हो जाता है। जब मन्थरा तरह–तरह

की बातें गढ़कर उसमें यह विश्वास पैदा कर देती है कि राम के राजतिलक से उसका अहित है, कौसल्या की तुम्हें चाकरी करनी पड़ेंगी, कौसल्या उसे दुःख देगी और भरत कारागार का सेवन करेगें तो कैकेयी भयभीत हो जाती है और मन्थरा से इसका उपाय पूछने लगती है।[192] मन्थरा कैकेयी को अच्छी तरह वश में करके उसे राजा के दिये पिछले दो वरदानों की याद दिलाती है और फिर कुटिलता का पाठ पढ़ा देती है।[193] कैकेयी में इस प्रकार मन्थरा के सिखाने से सरलता, उदारता, आत्मीयता के स्थान पर दुष्टता, कठोरता, कुटिलता, कपटता का समावेश हो जाता है।

कैकेयी कपट से युक्त होकर कोप भवन में जाती है और बुरा वेश धारण कर लेट जाती है।

सन्ध्या समय जब दशरथ कैकेयी के पास आते हैं और क्रोध का कारण पूछते हुये हाथ से स्पर्श करते हैं तो कैकेयी क्रोध से उनके हाथ को झटक कर हटा देती है और बड़ी क्रूर दृष्टि से देखती है।[194] लेकिन जब दशरथ राम की सौगन्ध खाकर उसकी मनचाही बात पूरी करने के लिए कहते हैं और बुरा वेश त्याग देने के लिए कहते हैं तो कैकेयी राम की सौगन्ध का विचार कर हँसती हुई गहने पहनने लगती है।[195] क्योंकि मन्थरा ने उसे यहीं समझाया था कि जब राजा राम की सौगन्ध ले लें तभी अपने दोनों वर माँगना। कैकेयी का राम की सौगन्ध को सुनकर हंसने का कारण यह था कि कैकेयी राम सौगन्ध के गुण को समझ रही थी। कैकेयी की इस मुस्कराहट में उसकी कटुता छिपी हुई है इसीलिए जब दशरथ ने कैकेयी को सुहृद् जानकर राम के युवराज–पद की बात बतायी तो उसका हृदय दलक उठता है।[196] कैकेयी अपने हृदय की इस पीड़ा को छिपा लेती है और कपट युक्त प्रेम बढ़ाकर नेत्र और मुँह मोड़कर दशरथ को दिये हुए दो वरदानों की याद दिलाती है और जब दशरथ को बदले चार वरदान मांग लेने की बात करते हैं और "प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई" कहकर रघुकुल की रीति बताते हैं तब कैकेयी अपने दोनों वरदान प्रथम से भरत को राजतिलक और दूसरे से राम को चौदह वर्ष का वनवास माँग लेती है।[197]

कैकेयी वरदान माँगते समय बड़ी कठोर हो जाती है। दशरथ की वरदानों को सुनकर बड़ी दयनीय दशा हो जाती है तब भी कैकेयी जरा भी द्रवित नहीं होती बल्कि अनेक प्रकार के कटु वचन कहने लगती है।[198] दशरथ समझाते हैं कि वह राम को वनवास न देने के लिए न कहे लेकिन कैकेयी का हठ ज्यो का त्यों रहता है। वह बड़ी ही कुटिल दिखायी पड़ती है और अनेक प्रकार से मर्मभेदी कहने लगती है।[199] दशरथ जब कैकेयी पर क्रोधित होते हैं लेकिन तब भी उस पर कोई प्रभाव नहीं

पड़ता है। प्रातःकाल राजा के न उठने पर जब सुमन्त्र आते हैं तो कैकेयी सुमन्त्र से रहस्य भरे वचन कहती है।[200] कि दशरथ ने राम–राम रटकर सवेरा कर दिया, परन्तु इसका भेद राजा कुछ भी नहीं बतलाते। वह सुमन्त्र से राम को बुला लाने के लिए कहती हैं और जब राम आते हैं तो वह राम से बेधड़क होकर राजा के दुःख के कारण को कह देती है। कैकेयी की कुटिलता/कपटता धीरे–धीरे अब कठोरता में बदल गयी होती है। उसे इस समय केवल अपना लक्ष्य दिखाई पड़ता है उसे न तो भूत की चिन्ता है न वर्तमान की और न भविष्य की। वह अपनी लक्ष्य सिद्धि के लिए सीधे वार करती है। जब वह राम का रुख उसकी इच्छा पूर्ति करने में देखती है तो कपट पूर्ण स्नेह दिखाकर कहती है– तुम्हारी शपथ और भरत की सौगन्ध है, मुझे राजा के दुःख का दूसरा कुछ भी कारण विदित नहीं है।

कैकेयी इस प्रकार के अपने स्वभाव तथा वर्ताव के कारण नगरवासियों की भर्त्सना का विषय बन जाती है। कैकेयी को उसकी साखियाँ भी अनेक हितकारी सीखें देती हैं लेकिन वह उनकी कोई बात नहीं सुनती, बल्कि दुःसह क्रोध के मारे बड़ी बेरुखी दिखायी पड़ती हैं। सखियों ने जब उसका ऐसा व्यवहार देखा तो वे उसको मन्दबुद्धि, अभागिनी कहती हुई वहाँ से चल देतीं हैं।[201] राम के वन चले जाने पर तथा दशरथ की मृत्यु हो जाने पर जब भरत अयोध्या आते हैं और उन्हें समस्त घटना का पता चलता है तब उसे बहुत ही अधिक भर्त्सना सहनी पड़ती है। भरत के आने पर जहाँ समस्त स्त्री–पुरुष दुःख से उदास थे वहाँ कैकेयी ही केवल अपने पुत्र के सुख के सोचकर प्रसन्न थी।[202] कैकेयी को जैसे ही पता चला वह भरत और शत्रुघन के स्वागत के लिए प्रसन्न होकर उठ दौड़ी। अपने नैहर की कुशल पूछने के पश्चात् जब भरत ने अपने कुल की कुशल पूँछी तो कैकेयी ने आदि से अन्त तक अपनी करनी प्रसन्न मन से सुना देती है। भरत को कैकेयी की सारी कुटिलता समझ में आ जाती है और भरत अत्यधिक क्रोध से भर जाते हैं।[203]

कैकेयी की भरत के द्वारा ऐसी भर्त्सना होती है कि उसकी बुद्धि खुल जाती है और जब भरत समस्त नगरवासियों के साथ वन चलकर राम को लौटा लाने के लिए तैयारी करने लगते हैं तब कैकेयी भी आर्त्त होकर साथ चलना चाहती है।[204]

कैकेयी में यह स्वभाव परिवर्तन का कारण यह था कि जिस पुत्र के लिए उसने सबसे बुराई मोल ली, पति से उसका सदा के लिए विछोह हुआ, वही पुत्र उसके कार्य की भर्त्सना कर रहा है और उसके लिए सुरक्षित किये हुए राज्य सुख की उपेक्षा कर रहा है।

कैकेयी का मोह भंग हो जाता है, उसका स्वार्थ लोभ नष्ट हो जाता है। वह संकोच के वश हो

जाती है। जब सबके साथ चित्रकूट पहुँचती है तब वहाँ तो मन ही मन बहुत ही अधिक ग्लानि से गलने लगती है।

कौसल्या :

तुलसी साहित्य में कौसल्या का मानसिक संस्थान कभी भी संवेगात्मक आवेग में विवेक का आश्रय नहीं छोड़ता है। कौसल्या के मन की यह सबसे बड़ी विशेषता है। कौसल्या पूर्व जन्म में मनु की पत्नी शतरूपा होती हैं जिन्हें भगवान की कृपा से आलौकिक ज्ञान का वरदान प्राप्त हुआ होता है।[205] इसी कारण जब अगले जन्म में उनका कौसल्या के रूप में जन्म होता है और भगवान उनके पुत्र के रूप में जन्म लेते हैं तो भी इन्हें पुत्र प्रेम में भगवान की लीला का विस्मरण नहीं होता। वे स्वयं भगवान से कहती हैं– "कीजै सिसु लीला अति प्रिय सीला यह सुख परम अनूपा।"[207] तुलसी की इस पंक्ति से यह भी स्पष्ट होता है कि कौसल्या को प्रभु की बाल लीला से परम अनुपम सुख प्राप्त होता था।

कौसल्या में वात्सल्य चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है। स्नेह से पूर्ण होकर वे राम को कभी गोद में लेकर हिलाती डुलाती है और कभी पालने में लिटाकर झुलातीं हैं, उन्हें इस आनन्द में रात और दिन का बीतना ही नहीं जान पड़ता। वे तरह–तरह से राम के बाल चरित्रों का गान करती हैं।[207]

कौसल्या यों तो जानती थी कि प्रभु ही उसके पुत्र रूप में लीला कर रहे हैं लेकिन पुत्र स्नेह से वह यह भूल भी जाती है। इसका भान उन्हें तब होता है जब वे एक बार भगवान की माया से दो स्थानों पर दो बालक देखतीं हैं और फिर भगवान का अखण्ड अद्‌भुत रूप देखती है। वे अपनी भूल समझ जाती है वे भयभीत हो जाती हैं कि मैने जगतपिता परमात्मा को पुत्र करके जाना। उनसे डर के कारण स्तुति भी नहीं करी जा पाती।[208]

कौसल्या में पुत्र स्नेह दशरथ से कम नहीं है लेकिन उनका यह स्नेह विवेक युक्त है। विश्वामित्र के साथ राम–लक्ष्मण को भेजने में दशरथ तो हिचकिचाते हैं लेकिन कौसल्या ने दोनों पुत्रों को प्रसन्नता से जाने की अनुमति दे दी।[209] कौसल्या में राम के लिए अन्ध प्रेम नहीं है बल्कि उन्हें राम के कल्याण की चिन्ता है। इसी प्रकार जब कौसल्या राम के युवराजाभिषेक के समाचार से आनन्दित हो रही होती है और उसे यह पता चलता कि राम को चौदह वर्ष के लिए वन में रहने का आदेश हुआ है तो वह यह सुनकर पहले तो सहम कर सूख जाती है, अकथनीय विषाद से भर जाती है, सिंह की गर्जना

सुनकर हिरनी की भाँति विकल हो जाती है, नेत्रों में जल भर आता है, शरीर थर–थर काँपने लगता है[210] लेकिन फिर जब उसे सारा कारण पता चलता है तो धर्म और स्नेह से घिर जाने के कारण वह एकदम चुप रह जाती है। उसकी दशा साँप–छछूँदर की–सी हो जाती है, वह न रख सकती थी न जाने को कह सकती थी।[211] कौसल्या अपनी इस दशा पर शीघ्र नियन्त्रण करती हैऔर धैर्य धारण करके पूछतीहैं कि यदि केवल वन जाने की आज्ञा पिता ने ही दी हो तो माता को बड़ी जानकर वन को मत जाओ। किन्तु यदि माता–पिता दोनों ने वन जाने को कहा हो तो वन तुम्हारे लिए सैकड़ों अयोध्या के समान है।[212]

यहाँ पर कौसल्या के स्वभाव में कई बातें दिखायी पड़ती है। पहली तो उसमें सपत्नी प्रेम दिखायी पड़ता है। यदि राम को वन जाने की आज्ञा माता के द्वारा भी मिली है तो कौसल्या को राम के वन भेजने में कोई आपत्ति नहीं है। दूसरी बात कौसल्या स्नेह से अधिक धर्म को अधिक महत्व देती है, वह पुत्र के कल्याण के लिए वियोग दुःख भी सहन करने के लिए रहती है। कौसल्या में एक बात और है वह यह कि वह कहती है कि हे राम, पिता ने तुम्हें राज्य देने के लिए कहकर वन दिया है, उसका मुझे लेशमात्र भी दुःख नहीं है लेकिन तुम्हारे बिना भरत को, महाराज को और प्रजा को भारी क्लेश होगा।[213] कौसल्या के इस कथन से उसका निस्वार्थ भाव स्पष्ट होता है। उन्हें अपनी चिन्ता नहीं है उन्हें भरत की चिन्ता है, सारे नगरवासियों की चिन्ता है। यह कौसल्या के स्वभाव की सरलता है कि वे अपने लिए कुछ भी नहीं चाहतीं, वे तो सारे सुखों का संचय नगरवासियों के लिए करना चाहती है। वे राम से पूछती है कि वह आनन्द मंगलकारी लग्न (युवराजाभिषेक) कब है जिसको सभी स्त्री–पुरुष अत्यन्त व्याकुलता से इस प्रकार चाहते हैं जिस तरह चातक–चातकी स्वाति नक्षत्र की वर्षा चाहते है।[214]

कौसल्या में एक सबसे विशेष बात यह है कि उन्हें भरत से द्वेष हो जाना चाहिए था लेकिन ऐसा नहीं हुआ। उन्हें भरत राम की भाँति ही प्रिय लगते है। भरत जब ननिहाल से लौटकर सारा समाचार ज्ञात करके कौसल्या के महल में जाते हैं तो कौसल्या भरत को देखते ही स्वागत के लिए दौड़ पड़ती है लेकिन फिर चक्कर खाकर मूर्च्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़ती है। जब वे भरत को भाँति–भाँति से ग्लानि करते हुए सुनती है, तो वह संभल कर उठती है और भरत को बड़े प्रेम से छाती से लगा लेती है, और फिर गोद में बैठाकर उनके आँसू पोछती हुई कोमल वचनों से धैर्य बंधाने लगती है।[215] यहाँ पर कौसल्या की पर दुःख कातरता सराहनीय है क्योंकि जो उसके दुःख का कारण है उसके ही दुःख के निवारण में वह संलग्न हो जाती है और अपने दुःख को भूल जाती है।

कौसल्या में यह बात नहीं थी कि उन्हें वियोग दुःख नहीं सता रहा था। कौसल्या भी

उतने ही वियोग दुःख से दुखित थी। वनवास की बात सुनकर कौसल्या अपने को परम अभागिनी जानकर राम के चरणों से लिपट गयी। उनके हृदय में भयानक दुःसह संताप छा गया।[216]

कौसल्या में पौत्र प्राप्ति की चाहत का भी दर्शन होता है। जब कौसल्या यह देखती हैं कि सीता राम के साथ जाना चाहती है तो वह राम से कहती है मैंने कल्पलता के समान बहुत तरह से बड़े लाड़ चाव से स्नेह रुपी जल से सींचकर इसे पाला है। अब इस लता के फूलने फलने के समय विधाता वाम हो गये।[217] इससे यह भी स्पष्ट होता है कि कौसल्या में सकाम भाव भी है। उन्होंने अपनी इच्छा पूर्ति के लिए सीता का लाड़ किया था। कौसल्या को सीता की सुकुमारता के कारण यह चिन्ता भी होती है कि यह तो तसवीर के बंजर को देखकर डर जाती है तो फिर यह वन में किस तरह रह पायेगी।[218] कौसल्या यह चाहती है कि यदि सीता घर में रहे तो उन्हें बहुत सहारा हो जायेगा।

कौसल्या को राम के प्रत्येक उत्सव से अपार आनन्द मिलता है। जनक दूतों की लायी पत्रिका से जब राम के विवाह का समाचार उन्हें मिलता है तो वे ऐसी प्रफुल्लित हो जाती है जैसे मोरनी बादलों की गरज सुनकर प्रफुल्लित हो जाती है ओर जब समाचार मिलता है कि जनकपुर से बरात लौट रही है तो कौसल्या प्रेम के विशेष वश में होने से शरीर की सुध भूल गयी।[219] अत्यधिक अनुराग में भरकर परछन का सब सामान सजाने लगी।

कौसल्या को इस बात का बड़ा गर्व है कि उसके पुत्र ने भयानक राक्षसों को मारा है। वे अपनी जिज्ञासा व्यक्त करती है कि तुमने बड़ी भयावनी ताड़का को किस प्रकार मारा?[220]

कौसल्या को मुनि विश्वामित्र की कृपा पर बड़ा विश्वास है वे कहती हैं कि मुनि की कृपा से ईश्वर ने तुम्हारी बहुत सी बलाओं को टाल दिया है।[221]

<u>शूर्पणखा</u> :

शूर्पणखा आसुरी प्रवृत्ति की बड़ी ही भयानक और दुष्ट हृदय की महिला पात्र है। वह स्वच्छन्द होकर दण्डक वन् में यत्र–तत्र घूमती रहती है। वह समस्त दुष्प्रवृत्तियों का पुंज है। उसमें कामान्धता चरम सीमा पर है। एक बार वह पंचवटी में राम–लक्ष्मण को देखकर उनकी मनोहरता के कारण काम से पीड़ित हो जाती है। धर्म ज्ञान शून्य स्त्री का ऐसा स्वभाव ही होता है कि वह प्रत्येक मनोहर पुरुष को देखकर चाहे वह उसका भाई, पिता, पुत्र ही क्यों न हो, काम से पीड़ित हो जाती है और मन को नहीं रोक पाती। शूर्पणखा भी राम–लक्ष्मण को देखकर मन को न रोक सकी। जिस प्रकार

सूर्यकान्तमणि सूर्य को देखकर द्रवित हो जाती है, उसी प्रकार शूर्पणखा भी अपनी कामान्धता से बैचेन हो उठी। काम जागरण में सौन्दर्य का महत्वपूर्ण स्थान होता है। शूर्पणखा ने भी अपना सुन्दर रुप बनाया और राम के पास गयी, बोली कि न तुम्हारे समान कोई पुरुष है और न मेरे समान स्त्री। विधाता ने बहुत विचार कर हम लोगों का संयोग बनाया है। काम संतुष्टि के लिए इसी प्रकार तरह–तरह की मधुर बातों द्वारा अपने पात्र को रिझाना पड़ता है। शूर्पणखा राम को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए तरह–तरह की बातें करती है लेकिन उसकी इन बातों से कोई परिणाम नहीं निकलता। राम के यह कहने पर कि मेरा छोटा भाई कुँआरा है, वह लक्ष्मण के पास चली जाती है क्योंकि वह तो काम संतुष्टि चाहती थी। यदि राम पर उसका जादू नहीं चला तो लक्ष्मण पर ही शायद चल जाय इस विचार से वह कामावेग से प्रेरित लक्ष्मण के पास पहुँचती है। यदि उसमें कामान्धता न होती, प्रेम होता तो वह राम के कहने पर लक्ष्मण के पास न जाती और राम को ही विवाह के लिए विवश करती। वह तो राम को यह कहकर कि "तातें अव लगि रहिउँ कुमारी। मनु माना कछु तम्हहि निहारी।।" केवल रिझा रही थी।

लक्ष्मण के पास पहुँचने पर भी शूर्पणखा को कोई लाभ नहीं हुआ। लक्ष्मण के यह कहने पर कि मैं राम का दास हूँ, पराधीन हूँ, तुम्हें मुझसे सुख न मिलेगा, वह पुनः राम के पास चली जाती है। लेकिन राम उसे दोबारा लक्ष्मण के पास भेज देते हैं। शूर्पणखा के दोबारा आने पर जब लक्ष्मण उसको कुछ अपशब्द कह देते हैं तो वह बड़ी खिसिया जाती है। वह समझ जाती है कि यहाँ उसकी इच्छा संतुष्ट नहीं होगी। खिसयायी हुई वह राम के पास आती है और अपना भंयकर रूप प्रकट कर देती है।[223]

शूर्पणखा का इस प्रकार खिसिया जाना स्वाभाविक है क्योंकि उसे अपनी इच्छा पूर्ति का कोई आसार तो दिख नहीं रहा था वरन् इधर–उधर भेजकर उसके साथ एक प्रकार का मजाक किया जा रहा था। इस पर लक्ष्मण भी उससे अपशब्द कहने लगे थे। उसने सोचा था कि ये कुमार उसकी असलियत को (उसकी दुष्ट प्रकृति को) पहचान नहीं पायेंगे और उसकी कामान्धता के शिकार हो जायेंगे लेकिन लक्ष्मण के वचनों से कि "तुम्हें जो बरेगा वह लज्जा को तृण तोड़कर त्याग देगा।" उसे ज्ञात हो गया कि ये लोग मेरी प्रवृत्ति से परिचित है और मेरे वश में नहीं होंगे, वह खिसिया जाती है। चूँकि अब सुन्दर रुप का भी कोई महत्व नहीं रह गया था, इसलिए उसने अपना असली रुप प्रकट कर दिया।

शूर्पणखा में अब काम संवेग के स्थान पर क्रोध संवेग का जागरण हो जाता है। वह खिसिया कर राम के सम्मुख भंयकर रुप प्रकट करती है शायद वह सीता को भयभीत करना चाहती थी। राम जब उसकी मनःस्थिति को समझकर लक्ष्मण की ओर इशारा करते है और लक्ष्मण बड़ी फुर्ती से

शूर्पणखा के नाक–कान काट देते हैं तो वह विकराल हुई प्रतिशोध की भावना से भर जाती है।[224] संवेग की दृष्टि से यहाँ पर शूर्पणखा के मानसिक संस्थान का विवचेन बड़ा महत्वपूर्ण है।

राम लक्ष्मण के समीप आने पर उसकी इच्छा तो सन्तुष्ट हुई नहीं बल्कि उसका अपमान हुआ यह समझकर वह प्रतिशोध की भावना लिए पहले अपने भाई खर–दूषण के पास जाती है और उनको राम–लक्ष्मण के विरूद्ध भड़काती है। जब राम द्वारा उसके भाई का नाश हो जाता है तो वह अपने दूसरे भाई रावण को भड़काती है। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि सम्पूर्ण रावण कुल का नाश हो जाता है।[225]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शूर्पणखा का संवेगात्मक जीवन भयंकर दुष्परिणाम के कारण विशेष महत्वपूर्ण है। शूर्पणखा में कामावेग उठा, उसने उसकी संतुष्टि के लिए प्रयास किया, उसे इसमें असफलता मिली जिससे वह खिसिया गयी और क्रुद्ध होकर उसने भयंकर रूप प्रकट किया। उसके इस कृत्य से उसे लक्ष्मण द्वारा नाक–कान रहित हो जाना पड़ा। अपने अपमान को समझ वह प्रतिशोध की भावना से भर जाती है और अपने भाइयों को भड़काती है जिसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि वह सम्पूर्ण राक्षस कुल के नाश हो गया। राम रावण युद्ध में शूर्पणखा की प्रतिशोध की भावना ने ही बीज रूप में कार्य किया था।

मानस के गौण नारी पात्रों में मंदोदरी आती हैं। मंदोदरी लंकाधिराज रावण की पत्नी है। किन्तु रावण की पटरानी होते हुए भी उसकी दुर्घषता के आगे उसका चरित्र दब सा जाता है। संवेगात्मक दृष्टि से मंदोदरी में अपने पति में अनुराग की अपेक्षा कल्याण की भावना अधिक है। पुत्र के प्रति वात्सल्य है। उसके सारे मनोवेग नीति, न्याय से संचालित है। संवेगात्मक दृष्टि से वह रावण का विरोधी चरित्र है। उसमें विनय है, मर्यादा और शील है। उसमें विवेक भी है। जिसके आधार पर वह राम की प्रभुता को पहचान लेती है। रावण में अहंकार है किन्तु रावण जैसे प्रतापी व्यक्ति की पत्नी होते हुए भी वह अहंकार से रहित है। उसमें सात्विक मनोविकारों की प्रधानता है। वह सीता हरण से क्षुब्ध होती है और अपने पति को समझाती है। उसके हृदय में राम के प्रति श्रद्धा और भक्ति है। वह उनकी महिमा से परिचित है इसीलिए सीता को वापस कर देने में अपना और अपने परिवार का कल्याण चाहती है।[226] पति के प्रति उसमें निष्ठा है प्रेम हैं, रावण की मृत्यु के बाद वह घोर विलाप करती है। यहाँ पर उसमें दुःख और विरह की अभिव्यक्ति होती है। कुल मिलाकर उसमें प्रेम, विनय, भक्ति, निरहंकार, निष्ठा, कल्याण की भावना तथा विरह संवेगों की अभिव्यक्ति होती है।

(ख) मानसिक संघर्ष– पात्रगत तनाव तथा द्वन्द्व का अनुशीलन :–

"हमारा मन अनेकानेक भावों का आगार है, जिसमें मौलिक भावों के साथ ही अनेक सहायक भाव भी उठते हैं। कभी–कभी इन मौलिक एवं सहायक भावों की सहउपस्थिति से हमारा व्यवहार भी बदल जाता है। ये भाव परस्पर क्रिया–प्रतिक्रिया करते हैं। मौलिक भावों की सन्तुलन शक्ति क्षीणतर एवं उनसे उद्‌बुद्ध अनेक सशक्त बने सहायक भावों की शक्ति सबलतर होती जाती है। इसके फलस्वरूप हमारे जीवन में भाव–संघर्ष अथवा अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है।[227] मनोविश्लेषण शास्त्री फ्रायड का कहना है कि जीवन अन्तर्द्वन्द्वों की श्रखंला से मिलकर बना है। फ्रायड ने सभी शक्तियों का आधार भूत स्रोत अन्तर्द्वन्द्व माना है। संघर्ष के कारण ही व्यक्तित्व का विकास होता है, उसमें गतिशीलता आती है। यही कारण है कि आज प्रत्येक व्यक्ति किसी–न–किसी रूप में संघर्ष का शिकार है। संघर्ष के माध्यम से व्यक्ति में अहं एवं परम अहं या वास्तविकता तथा नैतिक आदर्शों आदि से सम्बन्धित गुणों का जन्म एवं विकास होता है। बोरिंग, लैंगफील्ड एवं वेल्ड के अनुसार– "अर्न्द्वन्द्व एक ऐसी अवस्था है जिसमें दो या दो से अधिक विरोधी प्रेरणाएँ उत्पन्न हो जाती है। जिनकी एक साथ तृप्ति होना सम्भव नहीं है।[228] अन्तर्द्वन्द्व चेतन एवं अचेतन दोनों स्तरों पर होता है। चेतन अवस्था पर संघर्ष कम तीव्र होता है लेकिन अचेतन अवस्था में अपेक्षाकृत जटिल एवं प्रभावशाली अन्तर्द्वन्द्व होते हैं।[229]

स्वामी विवेकानन्द मानव मन के समस्त असंतोष एवं द्वन्द्व उसकी आध्यात्मिक स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए मानते हैं। भारतीय मनोवैज्ञानिकों के अनुसार अन्तर्द्वन्द्व की समाप्ति आत्म संयम से हो सकती है।[230]

तुलसी ने अपने साहित्य में विभिन्न पात्रों के माध्यम से विभिन्न प्रकार के अन्तर्द्वन्द्वों का विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने शिव के माध्यम से लोभ और भय का अन्तर्द्वन्द्व चित्रित किया है। शिव के इष्ट प्रभु ने रघुवंश में अवतार लिया है और अब वे पिता के वचन से राज्य त्याग कर साधु वेश में दण्डक वन में विचार रहे हैं। शिव जी को प्रभु के इस रहस्य का पता है और वे भगवान का दर्शन करना चाहते हैं। शिव जी अपनी इस इच्छा की पूर्ति नहीं कर पा रहें है क्योंकि उन्हें इस बात का भय है कि यदि उन्होंने ऐसा किया तो भगवान के अवतार लेने का रहस्य खुल जायेगा। इस रहस्य का पता सती को भी नहीं है। यदि इस अवसर पर उन्होंने भगवान के दर्शन नहीं किये तो उनके मन में पछतावा रह जायेगा उनके मन में दर्शन के लोभ और रहस्य खुलने के भय के कारण खलबली मचने लगी। दोनों संवेग एक दूसरे से परस्पर टकराने लगे और अपना–अपना प्रभाव दिखाने लगे। कभी शिव जी के मन में

दर्शन लोभ का संवेग प्रबल होने लगता और कभी भय का संवेग। लोभ से उनके नेत्र ललचाते थे, लेकिन भय से उनको यह इच्छा दमित होती थी।

रावण ने मनुष्य के द्वारा मृत्यु का वरदान ब्रह्मा जी से माँगा था। प्रभु ब्रह्मा जी इस वचन को सत्य करना चाहते थे। यहाँ भगवान शिव सोच रहे हैं कि यदि मैं वन में सीता विरह में विचरते भगवान राम के दर्शनों को नही जाता हूँ तो पछतावा मात्र रह जायेगा। शिव जी सोच वश हो जाते हैं। उनका मस्तिष्क युक्ति ढूँढ़ने में व्यस्त हो जाता है। उन्हें कोई भी युक्ति समझ में नहीं आती है।[231] वे अति चिन्ता के वश हो जाते हैं। शिव जी इस प्रकार जब विचार मग्न थे तभी रावण दल करके सीता का हरण कर लेता है और राम विरह से व्याकुल हो जाते हैं। शिव जी को जैसे ही प्रभु के इस चरित्र का पता चला वे दर्शन के लिए बेहाल हो उठे। उनके भय की भावना क्षीण हो गयी और लोभ प्रबल रूप में सामने आ गया। शिव जी ने विरह व्याकुल राम का उसी रूप में दर्शन किया और भारी आनन्द से भर गये।[232] इस प्रकार तुलसी ने शिव जी के माध्यम से भय और लोभ में संघर्ष दिखाया है। उन्होंने इस विवेचन द्वारा यह स्पष्ट किया कि भक्त ईश्वरीय आनन्द के समक्ष समस्त भयों की, विघ्नों की चिन्ता नहीं करता है।

तुलसी ने दशरथ के माध्यम से नीति और स्नेह का संघर्ष प्रस्तुत किया है। दशरथ के जीवन में जहाँ एक ओर राम स्नेह चरम सीमा पर है वहीं दूसरी ओर वे धर्म पालन भी चरम सीमा पर हैं। वे "रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई।" के आदर्श को स्वीकार करने वाले हैं। दशरथ ने एक बार अपनी रानी कैकेई को दो वरदान धरोहर रूप में दिये थे कि इन्हें जब चाहे माँग लेना। कैकेई ने इन्हीं वरदान को माँगकर दशरथ को धर्म संकट में डाल दिया था। दशरथ ने राम का युवराज्याभिषेक करने का निश्चय किया। यह बात उनकी रानी कैकेयी को अच्छी नहीं लगी। कैकेयी अपने पुत्र भरत को राजा बनाना चाहती थी। कैकेयी को अपने दोनों वरदान मांगने का यही उचित अवसर दिखायी दिया। उसने दशरथ से पहले वरदान भरत को युवराजाभिषेक और दूसरे वरदान से राम को चौदह वर्ष का वनवास माँग लिया। दशरथ पहले वरदान से तो बिल्कुल व्यथित नहीं हुए लेकिन दूसरे वरदान ने उन्हें बहुत अड़चन में डाल दिया क्योंकि वे राम के बिना जी नहीं सकते थे। दूसरी ओर वे अपने दिये हुए वचन को भी नहीं तोड़ सकते थे। दशरथ ने जैसे ही राम के वनवास की माँग सुनी वे ऐसे सहम गये और उनसे कुछ कहते न बना मानों बाज वन में बटेर पर झपटा हो। राजा का रंग ऐसा उड़ गया मानों ताड़ के पेड़ को बिजली ने मारा हो। दशरथ माथे पर हाथ रखकर दोनों नेत्र बन्द करके सोच करने लगे।[233] दशरथ की यह दशा उनके धर्म संकट में पड़ जाने के कारण ही हुई। वे न तो स्नेह छोड़ना चाहते थे और न वचन। वे मन ही मन झीखते हैं कि स्त्री का विश्वास करके मैं मारा गया।

दशरथ ने कैकेयी को अनेक प्रकार से समझाया और कहा कि मैं भरत का राज्य दे दूँगा क्योंकि राम को राज्य का लोभ नहीं है लेकिन मैं स्वभाव से कहता हूँ, मन में छल रखकर नहीं कि मेरा जीवन राम के बिना नहीं है।[234] दशरथ के समझाने पर जब कैकेयी नहीं मानी तो उन्होनें समझ लिया कि स्त्री के बहाने मेरी मृत्यु सिर पर नाच रही है।[235] दशरथ ऐसा समझ कर बड़े दीन हो जाते हैं। वे कहते हैं कि तू सूर्यकुल के लिए कुल्हाड़ी मत बन। तू मेरा मस्तक माँग ले, मैं तुझे दे दूँगा पर राम के विरह में मुझे मत मार।[236] जिस किसी प्रकार से हो तू राम को रख ले। नहीं तो जन्मभर तेरी छाती जलेगी। दशरथ आर्त्तवाणी से हा राम! हा राम! कहते सिर पीटकर जमीन पर गिर पड़े। दशरथ को जितनी स्नेह की चिन्ता थी उतने ही अपेन धर्म की। अगर ऐसी बात न होती तो राजा की ऐसी अवस्था न होने पाती। वे या तो रानी से वचन पालन के लिए मना कर देते या फिर राम को वन जाने की आज्ञा दे देते। दशरथ का यह अन्तर्द्वन्द्व इस कारण महत्व रखता है क्योंकि इसमें दशरथ ने स्नेह और धर्म दोनों की रक्षा की है। दशरथ की बड़ी बुरी दशा है उनके ओंठ सूख रहे हैं, सारा शरीर जल रहा है। राम के सम्मुख आने पर दशरथ उनसे जाने को कह पाते हैं और न रख पाते हैं। कैकेयी राम से कहती है कि इधर तो पुत्र का स्नेह है और उधर वचन। राजा धर्म संकट में पड़ गये हैं। यदि तुम कर सकते हो, तो राजा की आज्ञा शिरोधार्य करो और इनके कठिन क्लेश को मिटाओ।[237] दशरथ राम को हृदय से इस प्रकार लगा लेते हैं जैसे सांप ने खोयी हुई मणि प्राप्त कर ली हो। वे मन ही मन ब्रह्मा जी को मनाते हैं कि राम वन को न जायें।[238] राम जब वन जाने के लिए तैयार हो जाते हैं तो यह देख राजा मूर्च्छित हो जाते हैं। जब उन्हें होश आता है तो वे सुमन्त्र को रथ लेकर भेजते हैं कि तुम सबको (राम, लक्ष्मण और सीता) वन दिखाकर लौटा लाना। दशरथ का ऐसा कहने का तात्पर्य यह था कि इससे राम के वन जाने की बात भी रह जायेगी और उनका स्नेह भी। लेकिन सुमन्त्र के लौटने पर जब दशरथ को यह पता चलता है कि सुमन्त्र अकेले ही लौटे हैं तो वे व्याकुल होकर पृथ्वी पर गिर पड़े उनके हृदय में भयानक जलन होने लगी। वे तड़पने लगे और भीषण मोह से व्याकुल हो गये।[239] राजा के प्राण कण्ठ में आ गये। इन्द्रियाँ बहुत ही विकल हो गयीं मानों बिना जल के तालाब में कमलों का वन मुरझा गया हो। राजा बहु विध विलाप करने लगे। और राम–राम कहते शरीर त्यागकर सुरलोक सिधार गये।[240]

इस प्रकार दशरथ ने प्राण त्याग कर जहाँ अपने स्नेह की रक्षा की और राम को वन भेज कर अपने धर्म की भी रक्षा की। धर्म और स्नेह का अन्तर्द्वन्द्व जिस प्रकार दशरथ में हुआ उसी प्रकार कौसल्या में भी हुआ। राम को पिता की आज्ञा से वन जाना है वे धर्म का विचार करके न तो रख सकतीं थी और स्नेह के कारण न ही जाने की आज्ञा दे सकतीं थी। जैसे ही कौसल्या को यह पता चला वे गूँगी जैसी चुप रह गयीं। धर्म संकट के कारण उनके हृदय में भारी संताप होने लगा। धर्म और स्नेह

दोनों ने कौसल्या की बुद्धि को घेर लिया। उनकी दशा साँप, छछूँदर सी हो गयी। वे सोचने लगीं कि यदि मैं पुत्र को रखती हूँ तो धर्म जाता है और भाइयों में विरोध होता है और यदि वन जाने को कहती हूँ तो बड़ी हानि होती है। कौसल्या इस प्रकार बड़ी सोच वश हो जातीं है।[241] लेकिन फिर स्त्री–धर्म का विचार करने उनमें स्नेह का आवेग कम और धर्म अधिक प्रभावशाली होने लगता है। वे धैर्य धारण करके ऐसे वचन कहने लगतीं है जो धर्म और नीति से युक्त थे। वे राम को वन जाने की आज्ञा देना ही समय के अनुसार उचित समझतीं है।

यहाँ कौसल्या का अन्तर्द्वन्द्व दशरथ की तरह भीषण रूप धारण नहीं करता। यद्यपि वे सारी बात जानकर स्नेह से विकल हो जाती हैं लेकिन फिर शीघ्र ही संभल भी जाती हैं और निर्णय ले लेती हैं– तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयसु सब धरमक टीका।[242]

तुलसी ने गीतावली में जनक का अन्तर्द्वन्द्व प्रस्तुत किया है। जनक ने सीता के विवाह के लिए धनुष भंग की प्रतिज्ञा की थी कि जो भी धनुष तोड़ेगा उसी के साथ सीता का विवाह होगा। लेकिन जब से उन्होने मुनि विश्वामित्र के साथ राम लक्ष्मण को देखा है और उनके गुणों को और वीरता को जाना है तब से वे विदेह होते हुए भी स्नेह से ओत–प्रोत हो गये हैं। उनके मन में राम के साथ सीता के विवाह की इच्छा होने लगती है लेकिन उनकी इस इच्छा को उनकी प्रतिज्ञा बाधा पहुँचाती है। यदि वे अपनी प्रतिज्ञा को ठुकराकर स्नेह को महत्व देते हैं तो सत्य का नाश होता है और वे निन्दा के पात्र बनते हैं और यदि वे प्रतिज्ञा का पालन करते हैं तो राम की सुकुमारता से उन्हें स्नेह के नष्ट होने का भय है। जनक विचित्र प्रकार की उलझन में पड़ जाते हैं। उनके समक्ष राम का प्रेम और धनुष तोड़ने की प्रतिज्ञा दोनों ही समान है। जनक बड़े ही सोच के वश हो जाते हैं। उन्हें कोई भी युक्ति नहीं सूझती। चिन्ता के कारण उन्हें रात में नींद नहीं आती। सारी रात तारे गिनते व्यतीत हो जाती है। जनक अपनी इस उलझन को किसी के समक्ष व्यक्त नहीं कर पाते हैं। वे अपने इस दुःख को ब्रह्मा विष्णु और महादेव के समक्ष व्यक्त करते हैं। वे कहते हैं कि "हे देव। तुम्हारी कृपा से सब कुछ देखना सुगम है।[243]

जनक इस प्रकार अपनी इस उलझन से देवताओं को भी संकोच में डाल देते हैं। और देव भरोसे होकर स्वयंवर का आयोजन करने लगते हैं। इस समय उनकी प्रतिज्ञा ही अधिक प्रभावशाली रूप में सामने आती है। एक–एक करके जब सब राजा धनुष भंग करने में असफल हो गये तो जनक निराश होकर कहने लगे कि मैने जान लिया है कि पृथ्वी वीरों से खाली है। अब आशा छोड़कर अपने–अपने घर जाओ। ब्रह्मा ने सीता का विवाह लिखा ही नहीं।[244] जनक के यह कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि

जनक में राम स्नेह नष्ट ही हो गया था और केवल प्रतिज्ञा का ही महत्व रह गया था। चूँकि जनक धर्म निष्ट राजा थे। यदि वे अपने स्नेह का वखान करके अपनी इच्छा व्यक्त करते तो इससे उनका यश जाता और वे निन्दा के पात्र बनते इसलिए उन्होंने अपने स्नेह को अचेतन मन में डाल दिया था। तुलसी ने दशरथ के समान ही जनक के अन्तर्द्वन्द्व की समाप्ति दिखायी है। जनक की निराशाजनक वाणी लक्ष्मण के हृदय को चुभ गयी कि राम के होते हुए पृथ्वी को वीरों से शून्य कहा जाय। लक्ष्मण की उत्तेजना को देखकर विश्वामित्र ने राम को धनुष भंग की आज्ञा दी। जनक ने जब यह देखा तो वे संदेह ग्रस्त हो गये। उन्हें लगा कि राम धनुष तोड़ नहीं पायेंगे। वे विश्वामित्र से निहोरा करके कहने लगे कि रघुनाथ की नीकी निकाई नीकी ही बनी रहे।[245] जनक का यह संदेह, निराशा और दुःख शीघ्र ही दूर हो जाता है। विश्वामित्र की आज्ञा से राम धनुष भंग करते हैं। धनुष के टूटते ही जनक मन में प्रसन्न हो जातें हैं[246] क्योंकि ऐसा होने से उनका स्नेह भी सन्तुष्ट हो जाता है और दूसरे सत्य का पालन भी हो

अन्तर्द्वन्द्व दो प्रकार के भयों के बीच फँसकर भी उत्पन्न हो जाता है। तुलसी ने मारीच में इसी प्रकार का द्वन्द्व दिखाया है। मारीच ने विश्वामित्र के यज्ञ के समय राम की शक्ति देखी थी और वह समझ गया था कि वे मनुष्य रूप में चराचर के ईश्वर हैं। क्योंकि तभी तो उनके बिना फल के वाण से वह क्षणभर में सौ योजन पर आ गिरा था। मारीच ने समझ लिया था कि इनसे वैर करना किसी के लिए उचित नहीं हैं। उसमें भगवत प्रेम का भी जागरण हो गया था। मारीच अपनी ऐसी मनःस्थिति के कारण एक बार अन्तर्द्वन्द्व का शिकार हो जाता है। रावण उससे कपट मृग बनकर राम से छल करने के लिए कहता है। इस पर मारीच भाँति–भाँति से समझाता है, वह राम के स्वरूप से रावण को परिचित कराता है। जब वह यह देखता है कि रावण पर उसके कहने का कोई असर नहीं है तो वह उलझन में पड़ जाता है। वह सोचता है कि यदि मैं राम से छल करता हूँ तो भी मारा जाऊँगा और यदि रावण का कहा नहीं मानता हूँ तो भी यह रावण अभागा मुझे मार डालेगा।[247] उसमें मानसिक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। एक ओर उसके लिए प्रभु का भय और दूसरी ओर रावण का भय है। मारीच सोच समझ कर शीघ्र निर्णय लेता है कि यदि मरना ही है तो क्यों न राम के वाण से मरुँ। यह निर्णय लेते ही वह द्वन्द्व से मुक्ति पा जाता है और राम प्रेम को धारण किये रावण के साथ चल देता है।

यहाँ मारीच के अन्तर्द्वन्द्व में यह विशेषता है कि जब वह दो संवेगों में एक को अपनाता है अर्थात् रावण की आज्ञा को मानता है तो वह इसे रावण के प्रति श्रद्धा रखने के कारण नहीं बल्कि उसके भय से मानता है कि यदि मैने इसकी बात नहीं मानी तो यह मुझे मार डालेगा। उसे रावण की आज्ञा पालन से कोई संतोष नहीं मिलता है।

तुलसी ने सरस्वती को भी थोड़ी देर के लिए अन्तर्द्वन्द्व के वश किया है। अयोध्या में राम के युवराजाभिषेक की तैयारी है। देवता विचार करते हैं कि यदि राम का राज्यतिलक हो जाता है तो हम लोगों का कार्य कैसे हो पायेगा। वे सोचते हैं कि किसी भी प्रकार से राम राज्य त्याग कर वन चले जाये। वे सरस्वती को बुलाकर उनसे अयोध्या में कोई विघ्न उपस्थित करने के लिए कहते हैं। सरस्वती जब सारी बात सुनती हैं तो पछताने लगती हैं क्योंकि वे कमल वन के लिए हेमन्त ऋतु की रात नहीं होना चाहती।[248] सरस्वती संकोच वश हो जाती हैं। यहाँ देवताओं के हित की बात है और उधर अयोध्या समाज के आनन्दमंगल की बात है। सरस्वती ऐसा कुछ भी नहीं करना चाहती जिससे राम को और अयोध्यावासियों को दुःख सहना पड़े। लेकिन यदि वे ऐसा नहीं करतीं हैं तो फिर पृथ्वी से अधर्म का नाश नहीं हो सकेगा। सरस्वती बड़ी उधेड़बुन में पड़ जाती हैं। इस पर देवता राम के प्रभाव से उन्हें परिचित करते हैं और बार–बार चरण पकड़कर उन्हें संकोच में देते हैं। सरस्वती मन ही मन एक ओर देवताओं की भर्त्सना करती है फिर दूसरी ओर शीघ्र ही यह विचार कर कि राम से राक्षसों का वध होगा हर्षित हो जाती है और अयोध्या में दुःसह दुःख देने वाली ग्रह दशा के रूप में आती है। इस प्रकार सरस्वती के मन का द्वन्द्व शान्त हो जाता है। यहाँ पर सरस्वती का अन्तर्द्वन्द्व आगे भविष्य में मेरे कार्य से शुभ परिणाम निकलेगा, सोचकर दूर होता है। सरस्वती अपने इस द्वन्द्व में लोक मंगल की भावना को मुख्य स्थान देती है और राम सुख को गौण स्थान।

सरस्वती के समान कामदेव का भी अन्तर्द्वन्द्व है। देवता लोग कामदेव से शिव समाधि भंग करके क्षोभ उत्पन्न करने के लिए कहते हैं क्योंकि शंकर के क्षुब्ध होने पर ही पार्वती के साथ उनका विवाह सम्भव होगा और फिर उनके पुत्र से तारक नामक असुर का अन्त होगा। कामदेव विचार मग्न हो जाते हैं क्योंकि शिव जी से विरोध करने में निश्चित ही कुशल नहीं है। लेकिन यहाँ देवताओं के हित की भी बात है। कामदेव दूसरों का हित करना परम धर्म मानता है।[249] इसे समझकर शिव जी को क्षुब्ध करने के लिए तैयार हो जाता है। उसे अपने नाश से अधिक देवताओं के हित की चिन्ता है। वह अपने प्राणों का मोह त्याग देता है और सबको सिर नवाकर पुष्प धनुष हाथ में लेकर सहायको के साथ वहीं जाता है जहाँ शिव जी समाधि में मग्न है। यहाँ पर कामदेव का अन्तर्द्वन्द्व भी भीषण रूप धारण नहीं करता क्योंकि वह शीघ्र निर्णय ले लेता है।

तुलसी ने गीतवली में विभीषण के मन में इस समय धर्म और प्रेम का अन्तर्द्वन्द्व दिखाया है जब रावण उसे पद प्रहार द्वारा त्याग देता है। विभीषण का मन विचित्र प्रकार के संघर्ष से ओतप्रोत होने लगता है। वह सोचता है कि मुझे भाई का सा व्यवहार करना चाहिए या राम की शरण में जाना

चाहिए।[250] विभीषण धर्म संकट में पड़कर बहुत सोच विचार करते हैं, वे ग्लानि से गलने लगते हैं क्योंकि माता तो उसे भाई का पक्ष लेना उचित बताती है लेकिन उसका मन इससे खिन्न होता है। अन्त में वे विचार करते हैं कि कुबेर से मिला जाय। कुबेर जब उससे कहते हैं कि तुम भगवान राम की शरण में जाओ और इसमें कोई शुभ दिन देखने की आवश्यकता नहीं है।[251] विभीषण प्रसन्न हो जाता है और फिर अनेकों शुभ शकुन भी होने लगते हैं।[252] विभीषण मन की प्रसन्नता और शुभ शकुनों को समझकर फिर कुबेर की भी सहमति मिल जाने से राम शरण में जाना निश्चित कर लेते हैं और इस प्रकार अर्न्द्वन्द्व से मुक्त हो जाते हैं।

यहाँ अन्तर्द्वन्द्व के सम्बन्ध में समझना यह है कि कभी–कभी जब व्यक्ति दो प्रकार के विरोधी कार्यो से घिरा होता है और उसे एक को करने में खिन्नता और दूसरे को करने में प्रसन्नता होती है तो वह व्यक्ति उस कार्य को करने का निर्णय लेता है जिससे उसे प्रसन्नता हो। भाई का पक्ष लेना विभीषण का धर्म था लेकिन उसको रावण के कार्य से क्षोभ होता था। रावण भी उसका कोई सम्मान नहीं करता था बल्कि अवसर अपमानित करता था। ऐसे भाई के साथ निर्वाह करना चाहे धर्म के अनुकूल हो भी लेकिन विभीषण के मन के अनुकूल जरा भी नहीं था। इसके विपरीत राम शरण में उसका कल्याण था। राम भजन से उसे शान्ति और सुख का भी अनुभव होता था इसलिए जब विभीषण ने शुभ शकुन होते देखा तो फिर उसने राम के पास जाने का निर्णय ले लिया।

तुलसी ने भरत के मन में ग्लानि और प्रेम का अन्तर्द्वन्द्व दिखाया है। राम के वनवास का कारण स्वयं होने के कारण उनमें अतिशय ग्लानि है। जब उनसे सब लोग राज्य संभालने के लिए कहते हैं तो वे कहते हैं कि मैं अपनी दारुण दीनता कहता हूँ। रघुनाथ जी के चरणों के दर्शन किए बिना मेरे जी की जलन न जायेगी।[253] भरत में जहाँ एक ओर ग्लानि है वही दूसरी ओर राम प्रेम है। भरत राम शरण में ही अपना कल्याण देखने के कारण सारे समाज को लोकर राम के समीप चल देते हैं, और रास्ते भर राम प्रेम में मग्न रहते हैं। लेकिन जैसे ही वे राम के आश्रम के निकट पहुँचते हैं वे अन्तर्द्वन्द्व से भर जाते हैं। वे अपने में बड़ी हीनता अनुभव करते हैं, कैकेयी की करनी को समझकर करोड़ों प्रकार के कुतर्क करते हैं कि कहीं राम, लक्ष्मण, सीता मेरा नाम सुनकर दूसरी जगह उठकर न चले जायँ[254] लेकिन फिर यह सोचकर कि राम की जूतियाँ ही शरण है[255] यह सोच संकोच और प्रेम से शिथिल होने लगते हैं। माता की बुराई से वे पीछे हटते हैं लेकिन फिर राम भक्ति के बल पर आगे बढ़ने लगते हैं। उन्हें राम के स्वभाव का स्मरण आता है कि वे शरणागत के रक्षक हैं।[256] तब उनके पैर मार्ग में जल्दी–जल्दी पड़ने लगते हैं। ऐसा होते ही वे अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त हो जाते हैं। भरत के अन्तर्द्वन्द्व में विशेष बात यह है कि जहाँ प्रभु प्रेम चरम सीमा पर होता है वहाँ फिर कोई भी विरोधी

प्रवृत्तियाँ अपना प्रभाव नहीं दिखा पाती है। भरत भी इसी कारण ग्लानि से युक्त होते हुए भी राम की ओर बढ़ते जाते हैं उनको उनका राम प्रेम इसके लिए प्रेरित करता जाता है।

निष्कर्ष :–

प्रस्तुत विश्लेषण के आधार पर निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि तुलसी ने अपने साहित्य में दो तरह के पात्रों का विवेचन किया है। पहले प्रकार के पात्र सद्‌वृत्तियों से युक्त हैं और दूसरे प्रकार के पात्र दुष्प्रवृत्तियों से युक्त हैं। सद्प्रवृत्ति से युक्त पात्र हैं– राम, दशरथ, लक्ष्मण, भरत नारद, शिव, विभीषण, दशरथ, सुग्रीव, अंगद, सीता, सती, कौसल्या, मंदोदरी, अहल्या आदि और दुष्प्रवृत्तियों से युक्त पात्र हैं– कैकेयी, रावण, खर–दूषण, शूर्पणखा, कुम्भकर्ण, कपटी मुनि, ताड़का, बालि, मारीच आदि। इन सद् प्रवृत्तियों और दुष्प्रवृत्तियों से युक्त पात्रों में से हमने केवल कुछ मुख्य पात्रों का ही संवेगात्मक अनुशीलन करने का प्रयास किया है। संवेगात्मक अनुशीलन करने के पश्चात् हमने यह देखा कि जो सद्‌वृत्तियों से युक्त पात्र हैं वे तो अन्त तक भक्ति की ओर उन्मुख रहते हैं लेकिन जो दुष्प्रवृत्ति से युक्त पात्र हैं उनमें भी गुप्त रूप से भक्ति की स्थिति अवश्य रहती है। हाँ! शूर्पणखा, कपटीमुनि ये ऐसे पात्र हैं जिनका रुख भक्ति की ओर तनिक भी नहीं रहता वे सदा एक ही संवेग के प्रवाह में बहते दिखायी पड़ते हैं।

राम के जीवन का संवेगात्मक अनुशीलन करने पर हमने पाया कि उनके जीवन का मूल संवेग "करुणा" है और इसी कारुणा के कारण उनमें सदा लोकमंगल की भावना निवास करती है। "करुणा" के अतिरिक्त उनमें जिन अन्य संवेगों का जागरण हुआ है वे सब करुणा प्रेरित हैं– उनमें दया, कृपा, प्रेम भक्त वत्सलता, विनम्रता, परोपकारिता, क्रोध, घृणा क्षत्रियोचित अभिमान आदि संवेग पूरे संवेगात्मक विकास के साथ दिखायी पड़ते हैं। उन्हें हर ऐसे व्यक्ति पर क्रोध और घृणा है जो दूसरों को दुःख देता है। राम ने कुछ संवेगों जैसे काम को केवल मानव लीला के लिए ही गृहण किया है।

लक्ष्मण के जीवन में आये संवेगों पर विचार करने पर हमने पाया कि लक्ष्मण के जीवन का एक मात्र मूल संवेग राम प्रेम है और इस राम प्रेम से उनके जीवन के अन्य संवेग परिचालित होते हैं। लक्ष्मण राम सेवा में ही जीवन का लाभ समझते हैं और वे समस्त स्नेह नातों को तोड़कर केवल राम से ही अपना नाता मानते हैं। लक्ष्मण में क्रोध, उत्साह, जिज्ञासा, चपलता, दृढ़ता, क्षत्रियोचित, अभिमान, श्रद्धा आदि संवेगों का दिग्दर्शन हुआ है।

लक्ष्मण के समान भरत के जीवन का भी मूल संवेग राम प्रेम है। उनका यह प्रेम दो रूपों में (पहला भाई और दूसरा भक्त) व्यक्त हुआ है। भरत में यह प्रेम इतनी चरम सीमा पर है कि वे इसमें बाधक अपनी माता से भी अपनी सम्बन्ध विच्छेद कर लेते हैं। भरत के राम प्रेम का चरम विकास राम के वन चले जाने पर होता है। वे जब राम को लौटा लाने के लिए चित्रकूट जाते हैं तो मार्ग में राम से सम्बन्धित वस्तुओं के दर्शन से वे प्रेम बेहाल हो जाते हैं और प्रेम की मूर्ति ही लगने लगते हैं। उनके ऐसे प्रेम को देखकर जड़–चेतन सभी स्तम्मित हो जाते हैं। भरत में भक्ति के लिए आवश्यक दीनता है, व्याकुलता है और शरण याचकता है।

दशरथ के जीवन के संवेगों का विश्लेषण करने पर हमने देखा कि उनमें पुत्र स्नेह चरम सीमा पर है। इस स्नेह का कारण यह है कि भगवान की कृपा से उन्हें पूर्व जन्म में सुत विषयक भक्ति प्राप्त हुई थी। राम उनके जहाँ एक ओर पुत्र हैं वहीं दूसरी ओर उनके इष्ट हैं। राम के बिना उनका जीवन निराधार है इसीलिए जब कैकेयी उनसे राम को चौदह वर्ष के वनवास के लिए कहती हैं तो वे सहम जाते हैं, व्याकुल होकर तड़फने लगते हैं और जब राम वन को चले जाते हैं तो वे बिना पानी के मछली की तरह तड़फते हैं और विलाप करते प्राण त्याग देते हैं। दशरथ का प्रत्येक सुख राम से जुड़ा है। उनके "काम" संवेग का भी दिग्दर्शन हुआ है।

रावण के संवेगों पर विचार करने पर हम देखते हैं कि रावण अंहकारी प्रवृत्ति का पात्र है। इसमें लोकेषणा चरमसीमा पर है। चूँकि यह अत्यधिक शक्तिशाली है इसलिए यह सभी को भयभीत किये रहता है। यह देवताओं का शत्रु हैं। इसने राम से हठ करके वैर बढ़ाया है, यह स्वाभिमानी होने के कारण किसी की चुनौती स्वीकार नहीं करता है। इसमें भक्ति भी है जिसके कारण वह भगवान के हाथों मरकर भवसागर से तर जाना चाहता है। रावण में "काम" सवेंग है लेकिन कामान्धता नहीं है। इसमें वीरोचित उत्साह भी है जिसके कारण वह युद्ध में रुचिपूर्वक भाग लेता है।

शिव जी के जीवन का मूल संवेग भक्ति है। इस संवेग के अतिरिक्त वे जिन–जिन संवेगों को गृहण करते हैं उनका कारण उनकी भक्ति ही होता है। वे भक्ति मार्ग की किसी बाधा को स्वीकार नहीं करते हैं इसीकारण वे अपनी पत्नी सती को भी सीता का रूप धारण करने के कारण त्याग देते हैं और वैराग्य धारण कर लेते हैं बाद में सती के पार्वती रुप में जन्म लेने पर वे राम की आज्ञा से पार्वती से विवाह करते हैं और देवताओं को संतुष्ट करते हैं। शिव का राम गुणों के प्रति विशेष लगाव है। वे जब भी उनका स्मरण करते हैं आनन्द से भर जाते हैं। उन्होंने राम गुणों का वर्णन पार्वती से भी किया है।

नारद भगवान के भक्त हैं उन पर भगवान की विशेष कृपा भी है। कृपा होने के कारण उनका कोई भी कुछ बिगाड़ नहीं कर पाता। एक बार कामदेव के विचलित करने पर जब नारद की समाधि भंग नहीं हुई तो उनमें इससे अभिमान हो जाता है। उनमें यह अभिमान इतना अधिक होता है कि वे भीषण मोह के वश हो जाते हैं। उन्हें उचित अनुचित का ज्ञान न रहता जिसके परिणाम स्वरूप उनमें काम का जागरण हो जाता है और फिर निराशा और क्रोध उत्पन्न होता है। उनकी यह दशा भगवान की माया के कारण होती थी। जब उन्हें इसका पता चला तो वे बड़े दीन होकर पश्चात्ताप करने लगते हैं।

हनुमान के जीवन की संवेगात्मकता पर विचार करने पर हम देखते हैं कि हनुमान में सेवक भाव की भक्ति प्रतिष्ठित है। हनुमान सदा भक्ति में रत रहते हैं और जब एक बार उन्हें प्रभु दर्शन होते हैं तो वे प्रभु को पहचान कर अपार हर्ष से भर जाते हैं। हनुमान सदा राम की सेवा में रहते हैं और उनके कार्य से बड़ा कोई कार्य नहीं मानते। वे सीता की खोज करते हैं और प्रभु की कृपा पाते हैं। हनुमान राम के लिए युद्ध करते हैं और उन्हें सीता प्राप्ति में पूरा सहयोग प्रदान करते हैं हनुमान में बड़ी शक्ति और उत्साह है जिसके कारण वे संजीवनी बूटी समय से पहले लाकर लक्ष्मण के प्राणों की रक्षा करते हैं। हनुमान में परदुःख कातरता है जिसके कारण वे सीता के दुःख को समझकर दुखी हो जाते हैं।

सुग्रीव में भय संवेग बड़ी गहराई तक व्याप्त है जिसके कारण वह बालि का कोई मुकाबला नहीं कर पाता और पर्वत पर छिपकर रहता है। भय के कारण सुग्रीव में बड़ी हीनता की भावना है, राम से मित्रता हो जाने पर वह राम के बल पर आश्रित होकर बालि से युद्ध करने जाता है उसे अपने बल पर कोई भरोसा नहीं हैं। सुग्रीव जब राम की अपरिमित शक्ति से परिचित होता है तब वह प्रभु को पहचान पाता है, उसमें यद्यपि भक्ति के समस्त लक्षण दिखाई पड़ते हैं लेकिन उसमें स्थायित्व नहीं होता जिसके कारण वह राज्य प्राप्ति के पश्चात भक्ति पथ से विचलित हो जाता है। हनुमान के द्वारा याद दिलाने पर जब उसे राम के कार्य का स्मरण आता है तो उसे अपनी गल्ती का अहसास होता है। सुग्रीव अपनी वानर सेना द्वारा राम की सीता प्राप्ति में पूरी सहायता करता है और अपनी मित्रता का निर्वाह करता है।

विभीषण के जीवन को देखने से पता चलता है कि विभीषण दैवी सम्पदा से युक्त सात्विक मन को धारण करने वाला पात्र है। यह रावण के आतंक के कारण कुंठित रहता है और एक

बेचारे मनुष्य की तरह जीवन यापन करता है।

विभीषण की हनुमान से मित्रता हो जाती है और फिर उसे हनुमान से राम के स्वभाव का पता चलता है। रावण द्वारा त्याग दिये जाने पर वह रामशरण में चला जाता है और वहाँ वह चिन्ता रहित हो जाता है। विभीषण मित्र धर्म का निर्वाह करता है। वह युद्ध में राम की राक्षस कुल के नाश का रहस्य बताकर अपनी वफादारी का पूरा परिचय देता है।

बालि अंहकारी प्रवृत्ति का पात्र है जिसके कारण वे रावण जैसे पराक्रमी पर भी विजय पा लेता है वह किसी की चुनौती स्वीकार नहीं कर पाता। अंहकार होने के कारण उसमें निर्दयता भी अधिक है। बालि में गुप्त रूप से भक्ति का भी विकास है जिसके कारण वह प्रभु के हाथों मरना चाहता है।

बालि पुत्र अंगद राम के भक्त के रूप में सामने आते हैं। अंगद के जीवन का लक्ष्य इष्ट के प्रति समर्पण है। रावण की सभा में वे राम के बल का गान करते हैं और अपने आक्रोश और बल की अभिव्यक्ति करते हैं। राम के अयोध्या लौटने पर जब राम सभी सखाओं को विदा करते है तब अंगद सेवा भाव से भर बड़े दुःखी हो जाते हैं।

नारी पात्रों में सीता के ज़ीवन के संवेगों का अवलोकन करने पर हम पाते हैं कि सीता में पति प्रेम बड़े चरम रूप में परिलक्षित हुआ है। पति के सान्निध्य से बढ़कर उनके लिए कोई सुख नहीं है इसीलिए वे राम के साथ वन जाती है और परम सुखी रहती हैं। सीता पति व्रत धर्म से किसी प्रकार विचलित नहीं होती। रावण द्वारा पीड़ित करने पर वे प्राण त्यागने को तो तैयार हो जाती है लेकिन उसकी पटरानी बनने के लिए नहीं। सीता में मर्यादित काम संवेग का भी दर्शन है। जिसके कारण वे पुष्पवाटिका में राम को देखने के लिए व्याकुल हो जाती है और स्वयंवर सभा में भी धनुष की कठोरता को सोच–सोचकर देवी देवताओं की शरण में जाती है।

सती का संवेगात्मक जीवन बड़े उथल–पुथल से भरा है। प्रारम्भ में उनके अंहकार का दर्शन होता है जिसके कारण वे राम के स्वरूप को स्वीकार नहीं करतीं और परीक्षा ले लेती हैं। जब शिव जी उनसे परीक्षा के बारे में पूछते हैं तो वे अंहकार के कारण ही झूठ बोल देतीं हैं जिसके कारण उन्हें शिव जी के द्वारा त्याग का मानसिक परिताप सहना पड़ता है। सती दिन–प्रतिदिन दारुण चिन्ता से व्याकुल होने लगती है उनका राम स्वरूप पर विश्वास उत्पन्न हो जाता है वे भगवान से इस दुःख से

मुक्ति पाने की विनय करती है और फिर दक्ष यज्ञ में शिव अपमान से क्रोधित होकर प्राण त्याग कर देती हैं। सती में शिव जी के प्रति प्रेम कभी कम नहीं होता। जब अगले जन्म में वे पार्वती रूप में जन्म लेती हैं तो वे शिव की प्राप्ति के लिए कठिन तपस्या करती हैं और अन्त में उन्हें प्राप्त कर लेती हैं।

कैकेयी के जीवन पर विचार करने पर हम देखते हैं कि वैसे तो कैकेयी सद्‌वृत्तियों से युक्त थी लेकिन फिर परिवेश के प्रभाव से वह ईर्ष्या आदि दुष्प्रवृत्तियों से युक्त हो जाती है। राम के युवराजाभिषेक को सुनकर वह ईर्ष्या जल उठती है और राजा के दिये दो वरदानों का उपयोग करके वह पहले से भरत को राजगद्‌दी और दूसरे से राम के लिए चौदह वर्ष का वनवास मांग लेती है। वह इस समय बड़ी कुटिल हो जाती है जिसका दुष्परिणाम यह होता है कि दशरथ की मृत्यु हो जाती है और उसे सबकी भर्त्सना का शिकार बनना पड़ता है। भरत के आने पर जब भरत द्वारा उसकी भर्त्सना होती है तब जाकर उसकी बुद्धि खुलती है और वह ग्लानि से भर जाती है। कैकेयी में स्वार्थ की भावना अधिक परिलक्षित होती है।

कोसल्या का मानसिक संस्थान स्नेह आदि संवेगों से युक्त होने पर भी विवेक को नहीं छोड़ता है। इसी कारण जब राम को माता–पिता दोनों की आज्ञा से वन जाना पड़ता है तो वह अपने स्त्री धर्म को सोचकर राम को वन जाने से नहीं रोकती और जाने की आज्ञा दे देती है। कौसल्या का जीवन निःस्वार्थ भाव से भरा है।

शूर्पणखा के जीवन के संवेगों पर विचार करने पर हम देखते हैं कि उसके जीवन में काम सवेंग ही अधिक विकसित रहा है। वह कामान्धता से पीड़ित है जिसके कारण वह राम–लक्ष्मण से विवाह करना चाहती है। लक्ष्मण द्वारा नाम कान काटे जाने पर वह प्रतिशोध की भावना से भी भर जाती है।

मंदोदरी का जीवन पति कल्याण से ओतप्रोत है, रावण की पटरानी होने पर भी वह अंहकार से रहित है। वह राम के स्वरूप से परिचित है और इसी कारण वह समय–समय पर रावण से राम बैर त्यागने और सीता को लौटाने का आग्रह करती है।

इस अध्याय के दूसरे वर्ग में हमने पात्रों के जीवन में उठने वाले मानसिक संघर्ष को समझने का प्रयास किया है। चूँकि तुलसी साहित्य में अधिकांश पात्रों मे संवेगात्मक स्थिरता है इसलिए

अर्न्द्वन्द्व कम ही मिलते हैं। हमने शिव जी के जीवन का जब अवलोकन किया तो पाया कि शिवजी राम दर्शन के लोभ और दूसरी ओर रहस्य खुलने के भय से बड़े चितिन्त हो जाते हैं। लेकिन फिर दर्शन लोभ की आतुरता से वे भय को भूलकर राम दर्शन करते हैं और अन्तर्द्वन्द्व से मुक्ति पाते हैं। दशरथ भी कैकेयी के वरदान से इस धर्म संकट में पड़ते हैं कि राम को वन भेजकर धर्म की रक्षा करें या राम को रखकर स्नेह की। दशरथ अन्त में राम को वन भेजकर धर्म की रक्षा करते हैं। और प्राण त्याग कर स्नेह की। कौसल्या भी धर्म संकट में पड़ती है। वह राम को वन नहीं भेजना चाहतीं लेकिन स्त्री धर्म का विचार कर राम को वन भेजती है और राम स्नेह को दबा लेती है। जनक में प्रेम और प्रतिज्ञा का अन्तर्द्वन्द्व उठता है। अन्त में राम जब धनुष तोड़ते हैं तब उनकी जहाँ सत्य की रक्षा होती है वहीं स्नेह की। रावण के कपट मृग बन कर छल करने के लिए कहने पर मारीच में भी अन्तर्द्वन्द्व उठता है फिर वह राम के हाथों मारा जाना ही उत्तम समझकर रावण की आज्ञा पालन करने को तैयार हो जाता है। उसमें यह अन्तर्द्वन्द्व होता है कि रावण की आज्ञा न मानी तो रावण मार डालेगा और यदि राम से छल किया तो राम मार डालेंगे। अयोध्या में राम के युवाराजाभिषेक की तैयारी के समय जब देवता लोग सरस्वती से अयोध्या में विघ्न उपस्थित करने के लिए कहते हैं तो सरस्वती धर्म संकट में पड़ जाती हैं लेकिन फिर देवताओं के हित को सोचकर उनका कार्य करने को तैयार हो जातीं हैं। इसी प्रकार देवता लोग जब कामदेव से शिव समाधि भंग करने के लिए कहते है तो वह भी शिव जी से भयभीत होते हुए भी देवताओं के उपकार को सोचता उनका कार्य करने को चल देता है और द्वन्द्व से मुक्त हो जाता है।

विभीषण का अन्तर्द्वन्द्व मैं भाई का पक्ष लूँ या राम शरण में चला जाऊँ। कुबेर के कहने पर तथा शुभ शकुनों के होने पर राम शरण में जाने की सोच दूर हो जाता है।

भरत में भी ग्लानि और प्रेम का अन्तर्द्वन्द्व उठता है जिससे वे यह समझकर कि राम की जूतियाँ ही उनकी शरण है अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त हो जाते हैं और राम की ओर तेजी से बढ़ने लगते हैं।

****

:: पंचम अध्याय ::

सन्दर्भात्मक टिप्पणियाँ

1. हरिहउँ सकल भूमि गरुआई ।
   निर्भय होहु देव समुदाई ।। 1/186/7 मा0
2. बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा ।
   सोइ तनु धरहु श्राम मम एहा ।। 1/136/6 मा0
3. छल करि टारेउ तासु ब्रत प्रभु सुर कारज कीन्ह ।
   जब तेहिं जानेउ मरम तब श्राप कोप करि दीन्ह ।। 1/123 मा0
4. कीन्ह मोह बस द्रोह जद्यपि तेहिं कर बध उचित ।
   प्रभु छाड़ेउ करि छोह को कृपाल रघुबीर सम ।। 3/2 मा0
5. 5/42/8 मा0
6. हिन्दी महाकाव्यों में मनोवैज्ञानिक तत्व (द्वितीय भाग)–डा0 लालता प्रसाद सक्सेना, पृ0144
7. सीता सहित अवध कहुँ कीन्ह कृपाल प्रनाम ।
   सजल नयन तन पुलकित पुनि–पुनि हरषित राम ।। 6/120/क/मा0
8. 2/70/6 मा0
9. मैं बन जाउँ तुम्हहि लेइ साथा ।
   होइ सबहि बिधि अवध अनाथा ।।
   रहहु करहु सब कर परतोषू ।
   नतरु तात होइहि बड़ दोषू ।। 2/70/3–5 मा0
10. 2/44/7 मा0
11. जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा ।।
    सो सबु कारन जान बिधाता। करकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता ।।
    रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पगु धरई न काऊ ।। 1/230/3–5 मस0
12. हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृग नैनी ।। 3/29/9 मा0
13. लछिमन देखु बिपिन कइ सोभा ।
    देखत केहि कर मन नहिं छोभा ।।
    नारि सहित सब खग मृग बृंदा ।
    मानहुँ मोरि करत हहिं निंदा ।। 3/36/3–4 मा0
14. 1/283/1–4 मा0

15. भरत सील गुर सचिव समाजू ।
सकुच सनेह बिबस रघुराजू ।।
प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्हीं ।
सादर भरत सीस धरि लीन्हीं ।। 2/315/3–4 मा0

16. जनमे एक संग सब भाई ।
भोजन सयन केलि लरिकाई ।।
करन बेध उपबीत बिआहा ।
संग–संग सब भए उछाहा ।।
बिमल बंस यहु अनुचित एकू ।
बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ।। 2/9/5–7 मा0

17. दासीं दास बोलाइ बहोरी ।
गुरहि सौंपि बोले कर जोरी ।।
सब कै सार सँभार गोसाई ।
करबि जनक जननी की नाई ।। 2/79/5–6 मा0

18. बहुरि सोच बस भे सियरवनू ।
कारन कवन भरत आगवनू ।। 2/226/1 मा0

19. समाचार जब लछिमन पाए ।
व्याकुल बिलख बदन उठि धाए ।।
कंप पुलक तन नयन सनीरा ।
गहे चरन अति प्रेम अधीरा ।।
सोचु हृदयँ बिधि का होनिहारा ।
सबु सुखु सुकृतु सिरान हमारा ।। 2/69/1–4 मा0

20. सिअरें बचन सूखि गए कैसें ।
परसत तुहिन ताम रसु जैसें ।। 2/70/8 मा0

21. मागत बिदा सभय सकुचाहीं ।
जाइ संग बिधि कहिहि कि नाहीं ।। 2/72/8 मा0

22. सेवहिं लखनु करम मन बानी।
जाइ न सीलु सनेहु बखानी।
छिनु छिनु लखि सिय राम पद जानि आपु पर नेहु।
करन न सपनेहु लखनु चितु बंधु मातु पितु गेहु। 2/138/8–139 मा0

23. माखे लखनु कुटिल भइँ भौंहें।
रदपट फरकत नयन रिसौहें।। 1/251/8 मा0

24. रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई।
तेहि समाज अस कहइ न कोई।। 1/252/1 मा0

25. बिहसि लखनु बोले मृदु बानी ।
अहो मुनीसु महा भटमानी ।।
पुनि–पुनि मोहि देखाव कुठारू ।
चहत उड़ावन फूँकि पहारू ।। 1/272/1–2 मा0

26. 3/13/7 – 3/14 मा0

27. लखन हृदयँ लालसा बिसेषी।
जाई जनकपुर आइअ देखी ।।
प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं ।
प्रगट न कहहिं मनहिं मुसुकाहीं।। 1/217/1 – 2/ मा0

28. करि कुमंत्रु मन साजि समाजू ।
आए करै अकंटक राजू ।। 2/227/5 मा0
एतना कहत नीति रस भूला ।
रन रस बिटपु पुलक मिस फूला ।। 2/228/5 मा0

29. नाथ दैव कर कवन भरोसा ।
सोषिअ सिंधु करिअ मन रोसा ।। 5/50/3 मा0

30. जौं तेहि आजु बधें बिनु आवौं ।
तो रघुपति सेवक न कहावौं ।।
जौं सत संकर करहिं सहाई ।
तदपि हतउँ रघुबीर दोहाई ।। 6/74/13–14 मा0

31. 2/91/4 – 2/93/1 मा0

32. सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू ।
पाकें छत जनु लाग अंगारू ।।
धीरज धरि मरि लेहिं उसासा ।
पापिनि सबहि भाँति कुल नासा ।। 2/160/5–6 मा0

33. कैकेई सुअ कुटिल मति राम विमुख गत लाज ।
तुम्ह चाहत सुखु मोह बस मोहि से अधम कें राज । 2/178/ मा0

34. 2/182/ मा0

35. करि मज्जनु मागहिं कर जोरी ।
राम चंद्र पद प्रीति न थोरी ।। 2/196/6 मा0

36. राम घाट कहँ कीन्ह प्रनामू ।
भा मनु मगनु मिले जनु रामू ।। 2/196/4 मा0

37. पुलक गात हियँ राम सिय सजल सरोरुह नैन ।
करि प्रनामु मुनि मंडलिहि बोले गदगद बैन ।। 2/210/ मा0

38. संपति चकई भरतु चक मुनि आयस खेलवार ।
तेहि निसि आश्रम पिंजराँ राखे भा भिनुसार।। 2/215/ मा0

39. मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी ।
कबि कुल अगम करम मन बानी ।।
परम पेम पूरन दोउ भाई ।
मन बुधि चित अहमिति बिसराई ।। 5/240/1–2/मा0

40. 2/300/4 मा0

41. नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति।। 2/325/ मा0

42. अनरथु अवध अरंमेउ जबते। कुसगुन होहि भरत कहुँ तब तें।
देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना।
विप्र जेवाँइ देहिं दिन दाना। सिवअभिषेक करहि बिधि नाना।
मागहि हृदयँ महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई। 2/156/5–8/ मा0

43. पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु गवँहिं जो हारहिं जाहिं।
भरत कुसल पूँछि न सकहिं भय विषाद मन माहिं। 2/158/ मा0

44. देखा भरत बिसाल अति निसिचर मन अनुमानि ।
विनु फर सायक मारेउ चाप श्रवन लगि तानि।। 6/58 मा0

45. तात गहरु होइहि तोहि जाता ।
काजु नसाइहि होत प्रभाता ।।
चढ़ मम सायक सैल समेता ।
पठवौं तोहि जहँ कृपा निकेता ।। 6/59/5–6/ मा0

46. दसरथ पुत्र जन्म सुनि काना ।
मानहुँ ब्रह्मानंद समाना ।।
परम प्रेम मन पुलक सरीरा।
चाहत उठन करते मति धीरा ।। 1/192/3–4 मा0

47. कहँ निसिचर अति घोर कठोरा।
कहँ सुंदर सुत परम किसोरा ।। 1/207/6 मा0

48. बारि बिलोचन बाँचत पाती ।
पुलक गात आई भरि छाती ।। 1/289/4 मा0
भैआ कहहु कुसल दोउ बारे ।
तुम्ह नीकें निज नयन निहारे ।। 1/290/4 मा0

49. लिए गोद करि मोद समेता ।
को कहि सकइ भयउ सुखु जेता ।।
बधू सप्रेम गोद बैठारी ।
बार–बार हियँ हरषि दुलारीं।। 1/353/4 मा0

50. गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा ।
जनु सचान बन झपटेउ लावा ।।
बिबरन भयउ निपट नरपालू।
दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू ।। 2/28/5–6/ मा0

51. कहउँ सुभाउ न छलु मन माहीं।
जीवनु मोर राम बिनु नाहीं। 2/32/2 मा0

52. मागु माथ अबहीं देउँ तोही ।
राम बिरहँ जनि मारसि मोही। 2/33/7 मा0

53. देखी व्याधि असाध नृपु परेउ धरनि धुनि माथ।
कहत परम आरत बचन राम राम रघुनाथ।।
व्याकुल राउ सिथिल सब गाता।
करिनि कल पतरु मनहुँ निपाता ।।
कंठ सूख मुख आव न बानी ।
जनु पाठीनु दीन बिनु पानी ।। 2/34–2/34/2 मा0

54. फिरि पछि-तैहसि अंत अभागी ।
मारसि गाइ नहारू लागी।। 2/35/8 मा0

55. हृदयँ मनाव भोरु जनि होई।
रामहि जाइ कहै जनि कोई। 2/36/2 मा0

56. पुनि धरि धीर कहइ नर नाहू।
लै रथु संग सखा तुम्ह जाहू।।
सुठि सुकुमार कुमार दोउ जनकसुता सुकुमारि।
रथ चढ़ाइ देखराइ बनु फिरेहु गएँ दिन चारि।। 2/80/8–2/81/ मा0

57. सूत बचन सुनतहिं नर नाहू।
परेउ धरनि उर दारुन दाहू।।
तलफत बिषम मोह मन माया।
माजा मनहुँ मीन कहुँ व्यापा।। 2/152/5–6 मा0
राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर बिरहँ राउ गयउ सुरधाम।। 2/155/ मा0

58. सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई ।
देखहु काम प्रताप बड़ाई ।। 2/24/3 मा0
बिहसि मागु मन भावति बाता
भूषन सजहि मनोहर गाता।। 2/25/6 मा0
जौं कछु.कहौं कपटु करि तोही।
भामिनि राम सपथ सत मोही।। 2/25/7 मा0

59. अब अभिलाषु एक मनु मोरें।
पूजिहि नाथ अनुग्रह तोरें।। 2/2/7 मा0

60. राजा सबु रनिवास बोलाई ।
जनक पत्रिका बाचि सुनाई।। 2/294/1/ मा0

61. एक बार भूपति मन माहीं।मै ग्लानि मोरें सुत नाहीं। 1/188/1 मा0

62. नंदी मुख सराध करि जात करम सब कीन्ह।
हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह।। 1/193/ मा0

63. ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनु धारी ।
दसमुख बसवर्ती नर–नारी ।।
आयसु करहिं सकल भयभीता ।
नवहिं आइ नित चरन बिनीता ।। 1/181/12–13 मा0

64. चलत दसानन डोलति अवनी ।
गर्जत गर्भ स्रवहिं सुर खनी ।। 1/181/5 मा0

65. द्विज भोजन मख होम सराधा ।
सबकै जाइ करहु तुम बाधा। 1/180/8 मा0

66. जे सुर समर धीर बलवाना ।
जिन्ह कें लरिबे कर अभिमाना ।।
तिन्हहि जीति रन आनेसु बाँधी।
उठि सुत पितु अनु सासन क्रोधी।। 1/181/2–3 मा0

67. जानि सभय सुर भूमि सुनि बचन समेत सनेह ।
गगनगिरा गंभीर भइ हरनि सोक संदेह।। 1/186/मा0
जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा ।
तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा ।। 1/186/1 मा0

68. फिरि सब नगर दसानन देखा ।
गयउ सोच सुख भयउ बिसेषा ।।
सुन्दर सहज अगम अनुमानी ।
कीन्हि तहाँ रावन रजधानी ।। 1/178/5–6 मा0

69. तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ ।
प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ ।।
होइहि भजनु न तामस देहा ।
मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ रहा ।। 3/22/4–5 मा0

70. बहु विधि खल सीतहि समुझावा ।

साम दान भय भेद देखावा ।। 5/8/3 मा0

71. तब सक्रोध निसिचर खिसिआना ।

काढ़ेसि परम कराल कृपाना ।।

काटेसि पंख परा खग धरनी ।

सुमिरि राम करि अद्भुत करनी ।। 3/28/21–22 मा0

72. जौं आवइ मर्कट कटकाई ।

जिअहि बिचारे निसिचर खाई ।।

कपहिं लोकप जाकीं त्रासा ।

तासु नारि सभीत बहि हासा ।। 5/36/3-4 मा0

73. जारा नगरु निमिष एक माहीं । 5/25/6 मा0

74. किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा ।

हठि सबही के पंथहिं लागा ।। 1/181/11 मा0

75. श्रवन सुनी सठ ता करि बानी ।

बिहसा जगत बिदित अभिमानी ।।

सभय सुभाउ नारि कर साचा ।

मंगल महुँ भय मन अति काचा ।। 5/36/1–2/ मा0

76. हृदयँ बिचारत जात हर केहि बिधि दरसनु होइ ।

गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ ।।

संकर उर अति छोभु सती न जानहिं मरमु सोइ ।

तुलसी दरसन लोभु मन डरु लोचन लालची ।।

जौ नहिं जाउँ रहइ पछितावा ।

करत बिचारु न बनत बनावा ।

एहि बिधि भए सोच बस ईसा । 1/48– 1/48/3 मा0

77. सतीं कीन्ह सीता कर बेषा ।

सिव उर भयउ विषाद बिसेषा ।।

जौं अब करउँ सती सन प्रीती ।

मिटइ भगति पथु होइ अनीती ।। 1/55/7–8 मा0

78. परम पुनीत न जाइ तजि किएँ प्रेम बड़ पापु ।
प्रगटि न कहत महेसु कछु हृदयँ अधिक संतापु।। 1/56/ मा0

79. तब संकर प्रभु पद सिस नावा ।
सुमिरत रामु हृदयँ अस आवा ।।
एहिं तन सतिहि भेट मोहि नाहीं ।
सिव संकल्पु कीन्ह मन माहीं ।। 1/56/1-2 मा0

80. तहँ पुनि संभु समुझि पन आपन ।
बैठे बट तर करि कमलासन ।।
संकर सहज सरूपु सम्हारा ।
लागि समाधि अखंड अपारा ।। 1/57/7-8 मा0

81. जब तें सतीं जाइ तनु त्यागा ।
तब तें सिव मन भयउ बिरागा ।।
जपहिं सदा रघुनायक नामा ।
जहँ तहँ सुनहिं राम गुन ग्रामा ।। 1/74/7-8 मा0

82. भए मगन सिव सुनत सनेहा ।
हरषि सप्तरिषि गवने गेहा ।।
मनु थिर करि तब संभु सुजाना ।
लगे करन रघुनायक ध्याना ।। 1/81/3-4 मा0

83. सकल कला करि कोटि बिधि हारेउ सेन समेत ।
चली न अचल समाधि सिव कोपेउ हृदय निकेत ।।
भयउ ईस मन छोभु बिसेषी ।
नयन उघारि सकल दिसि देखी ।।
सौरभ पल्लव मदनु बिलोका ।
भयउ कोपु कंपेउ त्रैलोका ।।
तब सिवँ तीसर नयन उघारा ।
चितवत कामु भयउ जरि छारा ।। 1/86/-1/86/6 मा0

84. अब तें रति तव नाथ कर होइहि नाम अनंगु ।
बिनु बपु व्यापिहि सबहि पुनि सुनि निज मिलन प्रसंग ।। 1/87/ मा0

85. मन हीं मन महेसु मुसुकाहीं ।
हरि के बिंग्य बचन नहिं जाहीं ।। 1/92/3 मा

86. लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिवँ बार बहु। 1/51/ मा0

87. कह प्रभु जाहु जो बिनहिं बोलाएँ ।
नहिं भलि बात हमारे भाएँ ।। 1/61/8 मा0

88. मगन ध्यान रस दंड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह।
रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह ।। 1/111/ मा0

89. नारि सहित मुनि पद सिरु नावा ।
चरन सलिल सबु भवनु सिंचावा ।।
निज सौभाग्य बहुत गिरि बरना ।
सुता बोलि मेली मुनि चरना ।।
त्रिकालग्य सर्बग्य तुम्ह गति सर्बत्र तुम्हारि ।
कहहु सुता के दोष गुन मुनिबर हृदयँ बिचारि ।। 1/65/7–1/66 मा0

90. झूठि न होइ देवरिषि बानी ।
सोचहिं दंपति सखी सयानी ।।
उर धरि धीर कहइ गिरिराऊ ।
कहहु नाथ का करिअ उपाऊ ।। 9/67/7–8 मा0

91. सहज बिमल मन लागि समाधी । 1/124/4 मा0

92. काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी ।
निज भयँ डरेउ मनोभव पायी ।। 1/125/7 मा0

93. भयउ न नारद मन कुछ रोषा ।
कहि प्रिय बचन काम परितोषा ।। 1/126/1 मा0

94. जिता काम अहमिति मन माहीं । 1/126/5 मा0

95. मुनि कौतुकी नगर तेहिं गयऊ ।
पुरबासिन्ह सब पूछत भयऊ।। 1/129/7 मा0

96. लच्छन सब बिचारि उर राखे ।
कछुक बनाइ भूप सन भाषे ।। 1/130/5 मा0

97. करौं जाइ सोइ जतन बिचारी ।
जेहि प्रकार मोहि बरै कुमारी ।। 1/130/7 मा0

98. एहि अवसर चाहिअ परम सोभा रूप बिसाल ।
जो बिलोकि रीझै कुअँरि तब मेलै जयमाल ।। 1/131/ मा0

99. प्रभु बिलोकि मुनि नयन जुड़ाने ।
होइहि काजु हिएँ हरषाने ।। 1/131/4 मा0

100. अति आरति कहि कथा सुनाई ।
करहु कृपा करि होहु सहाई ।।
आपन रूप देहु प्रभु मोही ।
आन भाँति नहिं पावौ ओही ।। 1/131/5–6/ मा0

101. माया बिनस भए मुनि मूढ़ा ।
समुझी नहिं हरि गिरा निगूढ़ा ।। 1/132/1 मा0

102. मुनि मन हरष रूप अति मोरें ।
मोहि तजि आनहि बरिहिं न भोरें ।। 1/132/6/ मा0

103. पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं ।
देखि दसा हर गन मुसुकाहीं ।। 1/134/2 मा0

104. मुनि अति बिकल मति नाढी ।
मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी ।। 1/134/5 मा0

105. बेषु बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा ।
तिन्हहि सराप दीन्ह अति गाढ़ा ।। 1/134/8 मा0

106. पुनि जल दीख रूप निज पावा ।
तदपि हृदयँ संतोष न आवा ।।
फरकत अधर कोप मन माहीं ।
सपदि चले कमलापति पाहीं ।। 1/135/1–2 मा0

107. सुनत बचन उपजा अति क्रोधा ।
माया बस न रहा मन बोधा ।। 1/135/6 मा0

108 बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा ।
सोइ तनु धरहु श्राप भग एहा ।।
कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी ।
करिहहि कीस सहाय तुम्हारी ।। 1/136/7 मा0

109. तब मुनि अति सभीत हरि चरना ।
गहे पान्हि प्रनतारति हरना ।। 1/136/2 मा0

110. समर भरन हरि हाथ तुम्हारा ।
होइहहु मुकुत न पुनि संसारा ।। 1/138/6 मा0

111. तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा ।
प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा ।। 3/42/3 मा0

112. राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम ।
अपर नाम उडगन बिमल बसहुँ भगत उर व्योम ।। 3/42 क/ मा0

113. प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना ।
सो सुख उमा जाइ नहिं बरना ।।
पुलकित तन मुख आव न बचना ।
देखत रुचिर बेष कै रचना ।। 4/1/5-6 मा0

114. जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें ।
सेवक प्रभुहि परै जानि मोरे ।। 4/2/1 मा0

115. देखि पवन सुत पति अनुकूला ।
हृदयँ हरष बीती सब सूला ।। 4/3/1 मा0

116. राम काज लगि तब अवतारा ।
सुनतहिं भयउ पर्वताकारा ।। 4/29/6 मा0

117. राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ विश्राम ।। 5/1/ मा0

118. अस मै अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर ।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर ।। 5/7/ मा0

119. सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत ।।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत ।। 5/32/ मा0

120. पवन तय मन मा अति क्रोधा ।
गर्जेउ प्रबल काल सम जोधा ।।
कूदि लंक गढ़ ऊपर आवा ।
गहि गिरि मेघनाद कहुँ धावा ।। 6/42/5-6 मा0

121. हरि प्रेरित तेहि अवसर चले मरुत उनचास ।
अट्टहास करि गर्जा कपि बाढ़ लाग अकास ।। 5/25/ मा

122. सो सब तव प्रताप रघुराई ।
नाथ न कछू मोरि प्रभुताई ।। 5/32/9 मा0

123. 6/54/6 मा0, "तब लगि लै आयउ हनुमाना ।"

124. तब सुग्रीव चरन गहि नाना ।
भाँति बिनय कीन्हे हनुमाना ।।
दिन दस करि रघुपति पद सेवा ।
पुनि तव चरन हेखिहउँ देवा ।। 7/18/7–8 मा0

125. 5/6/1 मा0

126. रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ ।
नव तुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ ।। 5/5/ मा0

127. गए विभीषण पास पुनि कहेउ पुत्र बर भागु ।
तेहिंभागेउ भगवंत पद कमल अमल अनुरागु ।। 1/177/ मा0

128. तव उर कुमति बसी बिपरीता ।
हित अनहित मानहु रिपु प्रीता ।
काल राति निसिचर कुल केरी ।
तेहि सीता पर प्रीति धनेरी ।। 5/39/7–8 मा0

129. तात राम नहिं नर भूपाला ।
भुवनेस्वर कालहु कर काला ।।
ब्रह्म अनामय अज भगवंता ।
व्यापक अजित अनादि अनंता ।। 5/38/1–2/ मा0
–देहु नाथ प्रभु कहुँ बैदेही ।
भजहु राम बिनु हेतु सनेही ।। 5/38/6 मा0

130. अस कहि कीन्हेसि चरम प्रहारा ।
अनुज गहे पद बारहि बारा ।।
–राम सत्य संकल्प प्रभु सभा काल बस तोरि ।
मै रघुबीर सरन अब जाउँ देहु जनि खोरि ।। 5/40/6 – 5/41/ मा0

131. जदपि सखा· तव इच्छा नाहीं ।
मोर दरसु अमोघ जग माहीं ।।
अस कहि राम तिलक तेहि सारा ।
सुमन बृष्टि नभ भई अपारा ।। 5/48/9–10/ मा0

132. तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा ।
आवत देखि अतुल बल सींवा ।।
अति सभीत कह सुनु हनुमाना ।
पुरुष जुगल बल रूप निधाना ।। 4/श्लोक/2–3/ मा0

133. रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी ।
हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी ।।
ताकें भय रघुबीर कृपाला ।
सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला ।।
इहाँ साप बस आवत नाहीं ।
तदपि सभीत रहउँ मन माहीं ।। 4/श्लोक/11–13/ मा0

134. कह सुग्रीव नयन भरि बारी ।
मिलिहि नाथ मिथिलेस कुमारी ।। 4/4/2 मा0

135. सब प्रकार करिहउँ सेवकाई ।
जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई ।। 4/4/8 मा0

136. देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती ।
बालि बधव इन्ह भइ परतीती ।।
बार–बार नावइ पद सीसा ।
प्रभुहि जानि मन हराव कपीसा ।।
उपजा ग्यान बचन तब बोला ।
नाथ कृपा मन भयउ अलोला ।।
सुख संपति परिवार बड़ाई ।
सब परिहरि करिहउँ सेवकाई ।। 4/6/13–16 मा0

137. राम काजु सुग्रीवं बिसारा ।। 4/18/1 मा0

138. बिषयँ मोर हरि लीन्हेउ ग्याना ।। 4/18/3 मा0

139. नाइ चरन ,सिरु कह कर जोरी ।
नाथ मोहि कछु नाहिन खोरी ।।
अतिसय प्रबल देव तव माया ।
छूटइ राम करहु जौ दाया ।। 4/20/1–2/ मा0

140. बालि ताहि मारि गृह आवा। 4/5/10/मा0

141. रिपु सम मोहि मारेसि अति मारी।
हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी।। 4/5/11 मा0

142. कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ ।
जौ कदाचि मोहि मारहि तौ पुनि होउँ सनाथ ।। 4/7 मा0

143. अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जोबर मागउँ ।
जेहि जोनि जन्मौ कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ ।। 4/9/6-2/1-2 मा0

144. प्रभु अग्या धरि सीस चरन बंदि अंगद उठेउ ।
सोइ गुन सागर ईस राम कृपा जा पर करहु ।। 6/17क

145. अब सुभ कहा सुनहु तुम्ह मोरा ।
सब अपराध छमिहि प्रभु तोरा ।।
दसन गहहु तृन कंठ कुठारी ।
परिजन सहित संग निज नारी ।।
सादर जनक सुता करि आगे ।
एहि बिधि चलहुँ सकल भय त्यागे ।। 6/19/6-8 मा0

146. सुनि अंगद सकोप कह बानी ।
बोलि संभारि अधम अभिमानी ।। 6/25/1 मा0

147. तब अंगद उठि नाइ सिरु सजल कपनु कर जोरि ।
अति बिनीत बोलेउ बचन मनहुँ प्रेम रस बोरि ।।
सुनु सर्बग्य कृपा सुख सिंधो ।
दीन दयाकर आरत बंधो ।।
मरती बेर नाथ मोहि बाली ।
गयउ तुम्हारेहि कोँछे छाली ।।
तुम्हहि बिचारि कहहु नर नाहा ।
प्रभु तजि भवन काज मम काहा ।।
बालक ग्यान बुद्धि बल हीना ।
राखहु सख नाथ जन दीना ।। 7/17-7/17/6 मा0

148. सुनि हरषी सब सखी सयानी ।
सिय हियँ अति उतकंठा जानी ।।
तासु बचन अति सियन्हि सोहाने ।
दरस लागि लोचन अकुलाने ।।
चली अग्र करि प्रिय सूखि सोई ।
प्रीति पुरातन लखइ न कोई ।। 1/228/1-8 मा0

149. चितवति चकित चहुँ दिसि सीता ।
कहँ गए नृप किसोर मनु चिंता ।। 1/231/1 मा0

150. देखि रुप लोचन ललचाने ।
हरषे जनु निज निधि पहिचाने ।। 1/231/4 मा0

151. "मानस की महिलाएं" – रामानन्द शर्मा, पृ0 120

152. सकुचि सीयँ तब नयन उघारे ।
सनमुख दोउ रघु सिंघ निहारे ।।
नखँ सिख देखि राम कै सोभा ।
सुमिरि पिता पनु मनु अति छोभा ।। 1/233/3 मा0

153. जानि गौरि अनुकूल सिय हिय हरषु न जाइ कहि ।
मंजुल मंगल मूल बाम अंग फरकन लगे ।। 1/236 मा0

154. देखि देखि रघुवीर तन सुर मनाव धरि धीर ।
भरे बिलोचन प्रेम जल पुलकावती सरीर ।।
नीके निरखि नयन भरि सोभा ।
पितु पनु सुमिरि बहुरि मनु छोभा ।। 1/256/8-1/257 मा0

155. सकुची व्याकुलता बड़ि जानी ।
धरि धीरजु प्रतीति उर आनी ।।
तन मन बचन मोर पनु साचा ।
रघुपति पद सरोज चितु राचा ।। 1/258/3-4 मा0

156. सीय सुखहि बर निउन केहि भाँती ।
जनु चातकी पाइ स्वाती ।।
सुनत जुगल कर भाल उठाई ।
प्रेम बिबस पहिराइ न जाई ।। 1/262/6, 1/263/6 मा0

157. पुनि पुनि समहि चितव सिय सकुचति मनु सकुचै न
हरत मनोहर मीन छलि प्रेम पिआसे नैन । 1/326/ मा0

158. जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते ।
पिय बिनु तियहित रनि हुते ताते ।।
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें ।
सरद बिमल बिधु बदनु निहारें ।। 2/643-8 मा0

159. सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं ।
भरग जनित सकल श्रम हरि हौं ।। 2/66/2 मा0

160. राम संग सिय रहति सुखारी ।
पुर परिजन गृह सुरति बिसारी ।। 2/139/1 मा0

161. पुर तें निकसी रघुबीर वधु, धरि धीर दए मग में रग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनीं जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै ।। 2/11/26 कविता0

162. हा जग एक बीर रघराया ।
केहिं अपराध बिसारेहु दाया ।।
आरति हरन सरन सुख दायक ।
हा रघुकुल सरोज दिन नायक ।। 3/28/1-2 मा0

163. कृस तनु सीस जरा एक बेनी ।
जपति हृदयँ रघुपति गुन श्रेनी ।। 5/7/8 मा0

164. तजौं देह करु बेगि उपाई ।
दुसह बिरहु अब नहिं सहि जाई ।। 5/11/2 मा0

165. सुनहु देव रघुबीर कृपाला ।
एहि मृगकर अति सुंदर छाला ।।
सत्य संध प्रभु बधि कर एही ।
असहु चर्म कहति बैदेही ।। 3/26/4-5 मा0

166. गाहु बेगि संकट अति भ्राता ।
लछिमन बिहसि कहा सुनुभाता ।। 3/27/3 मा0

167. हा लछिमन तुम्हार नहिं दोसा ।
सो फलु पायउँ कीन्हेउँ रोसा ।। 3/28/3 मा0

168. कहति न सीय सकुचि मन माहीं ।
इहाँ बसब रजनी भल नाहीं ।। 2/286/7 मा0

169. गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी ।
भयउ बिलंबु भातु भय मानी ।। 1/233/7 मा0

170. सुक सारिका जानकी ज्याए ।
कनक पिंजरन्हि राखि पढ़ाए ।। 1/337/1 मा0

171. वह जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद ।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद ।। 1/50 मा0

172. राम बचन मृदु गूढ़ सुनि उपजा अति संकोचु ।
सती सभीत महेस पहिं चलीं हृदयं बड़ सोचु ।।
मैं संकर कर कहा न माना ।
जिन अग्यानु राम पर आना ।।
जाइ उतरु अब देहउँ काहा ।
उर उपजा अति दारुन दाहा ।। 1/53/–1/53/2 मा0

173. मानस की महिलाएँ – रामानन्द शर्मा, पृ0 45

174. सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता ।
देखि सती अति भई सभीता ।।
हृदय कंप तन सुधि कछु नाहीं ।
नयन मूदि बैठी भग माहीं ।। 1/54/5–6/ मा0
कछु न परीक्षा लीन्हि गोसाईं ।
कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहि नाईं ।। 1/55/2 मा0

175. संकर रुख अवलोकि भवानी ।
प्रभु मोहि तजेउ हृदयँ अकुलानी ।।
– निज अघ समुझि न कछु कहि जाई ।
तपइ अवाँ, इव उर अधिकाई ।। 1/57/3–4 मा0

176. सती बसहिं कैलास तब अधिक सोचु मन माहिं ।
मरमु न कोऊ जान कछु जुग सम दिवस सिराहिं ।।
नित नव सोचु सती उर भारा ।
कब जैहउँ दुख सागर पारा ।। 1/58/ – 1/58/2 मा0

177. तौ सबदरसी सुनिअ प्रभु करउ सो बेगि उपाइ ।

होइ मरनु जेहिं बिनहि श्रम दुसह बिपत्ति बिहाइ ।। 1/59/ मा0

178. मानस की महिलाएँ – रामानन्द शर्मा, पृ0 52

179. कहि देखा हर जतन बहु रहइ न दच्छ कुमारि ।

दिए मुख्य गन संग तब बिदा कीन्ह त्रिपुरारि ।। 1/62/ मा0

180. सिव अपमानु न जाइ सहिं हृदयँ न होइ प्रबोध ।

सकल सभहि हठि हरकि तब बोलीं बचन सक्रोध ।। 1/63/ मा0

181. अस कहि जोग अगिनि तनु जारा । 1/63/8 मा0

182. जाइ संभु पद नंदनु कीन्हा ।

सन मुख संकर आसनु दीन्हा ।। 1/59/4 मा0

183. पूछेउ तब सिव कहेउ बखानीं ।

पिता जग्य सुनि कछु हरषानी ।। 1/60/5 मा0

184. मानस की महिलाएँ – रामानन्द शर्मा, पृ0 72

185. नित नव चरन उपज अनुरागा ।

बिसरी देह तपहिं मनु लागा ।।

संबत सहस मूल फल खाए ।

सागु खाइ सत बरष गवाँए ।। 1/73/3–4 मा0

186. सुनत गिरा बिधि गगन बखानी ।

पुलक गात गिरिजा हरषानी ।। 1/74/5 मा0

187. महादेव अवगुन भवन विष्नु सकल गुन धाम ।

जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम ।। 1/80 मा0

188. दुखु सुखु जो लिखा लिलार हमरें जाब जहँ पाउब तहीं । 1/96/छं0 मा0

189. सब नारिन्ह मिलि भेटि भवानी ।

जाइ जननि उर पुनि लपटानी ।। 1/101/8 मा0

190. तौ प्रभु हरहु मोर अग्याना ।

कहि रघुनाथ कथा विधि नाना ।। 1/107/2 मा0

191. जौं बिधि जनमु देइ करि छोहू ।

होहुँ राम सिय पूत पुतोहू ।

प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरें ।। 2/14/7–8 मा

192. परउँ कूप तुअ बचन पर सकउँ पूत पति त्यागि ।
कहसि मोर दुखु देखि बड़ कस न करब हित लागि ।। 2/21/ मा0

193. दुइ बरदान भूप सन थाती ।
मागहु आजु जुड़ावहु छाती ।। 2/21/5/ मा0

194. केहि हेतु रानि रिसानि परसत पानि पतिहि ने वारई।
मानहुँ सरोष भुअंग भामिनि बिषम भाँति निहारई ।। 2/24/छं0 मा0

195. यह सुनि मन गुनि सपथ बड़ि बिहसि उठी मतिमंद ।
भूषन सजति बिलोकि मृगु मनहुँ किराततिनि फंद ।। 2/26/ मा0

196. रामहि देउँ कालि जुबराजू ।
सगहिं सुलोचनि मंगल साजू ।।
दलकि उठेउ सुनि हृदय कठोरू ।
जनु छुइ गयउ पाक बरतोरू ।। 2/26/4 मा0

197. सुनहु प्रान प्रिय भावत जीका ।
देहु एक बर भरतहि टीका ।।
मागउं दूसर बर कर जोरी ।
पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी ।।
तापरु तेष बिसेषि उदासी ।
चौदह बरिस रामु बनवासी ।। 2/28/1–3 मा0

198. एहिं बिधि राउ मनहिं मन झाँखा ।
देखि कुभाँति कुमति मन माखा ।। 2/291/1 मा0

199. पुनि कह कटु कठोर कैकेई ।
मनहुँ धाय महुँ माहुर देई ।।
जौं अंतहुँ अस करतबु रहेऊ ।
मागु मागु तम्ह केहि बल कहेऊ ।। 2/34/3–4 मा0

200. परी न राजहि ,नीद निसि हेतु जान जगदीसु ।
रामु रामु रटि मोरु किय कहइ न मरमु महीसु ।। 2/38 मा0

201. एहि पापि निहि बूझि का परेऊ ।
छाइ भवन पर पावकु धरेऊ ।। 2/46/2 मा0

202. आवत सुत सुनि कैकय नंदिनि ।
हरषी रबिकुल जलरुह चंदिनि ।। 2/158/2 मा0

203. पापिनि सबहि भाँति कुलनासा ।। 2/160/6 मा0

204. गरइ गलानि कुटिल कैकेयी ।
काहि कहै केहि दूषनु देई ।। 2/272/1 मा0

205. मातु बिबेक अलौकिक तोरें ।
कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें ।। 1/150/3 मा0

206. 1/191/छं0 4/2/ मा0

207. प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन जात न जान ।
सुत सनेह बस माता बाला चरित कर गान ।। 1/200/ मा0

208. अस्तुति करि न जाइ भय माना ।
जगत पिता मैं सुत करि जाना ।। 1/201/7 मा0

209. जननी भवन गए प्रभु चले नाइ पद सीस ।। 1/208क मा0

210. सहमि सूखि सुनि सीतलि बानी ।
जिमि जवास परे पावस पानी ।।
कहि न जाइ कछु हृदय विषादु ।
मनहुँ मृगी सुनि केहरि नादू ।।
नयन सजल तन थर थर कापी ।
माजहि खाइ मीन जनु मापी ।। 2/53/2–4 मा0

211. धरम सनेह उभयँ मति घेरी ।
भइ गति साँप छुछुदरि केरी ।।
राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू ।
धरमु जाइ अरु बंधु बिरोधू ।। 2/55/2 मा0

212. जौं पितु मातु कहेउ बन जाना ।
तौ कानन सत अवध समाना ।। 2/55/2 मा0

213. राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुख लेसु ।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु ।। 2/55/ मा0

214. कहहु तात जननी बलिहारी ।
कबहिं लगन मुद मंगलहारी ।।
जेहि चाहत नर नारि सब अति आरत एहि भाँति । 2/51/7– 2/52/ मा0

215. माताँ भरतु गोद बैठारे ।
आँसु पोंछि मृदु बचन उचारे ।।
अजहुँ बच्छ बलि धीरज धरहू ।
कुसमउ समुझि सोक परिहरहू ।। 2/164/4–5 मा0

216. बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी ।
परम अभागिनी आपुहि जानी ।।
दारुन दुसह दाहु उर ब्यापा ।
बरनि न जाहिं बिलाप कलापा ।। 2/56/6–7 मा0

217. कलप बेलि जिमि बहु बिधि लाली ।
सींचि सनेह सलिल प्रतिपाली ।।
फूलत फलत भयउ बिधि बामा ।
जानि न जाइ काहि परिनामा ।। 2/58/3–4 मा0

218. सिय बन बसिहि तात केहि भाँती ।
चित्रलिखित कपि देखि डेराती ।। 2/9/4/ मा0

219. कौसल्यादि राम महतारीं ।
प्रेम बिबस तन दसा बिसारीं ।। 1/344/8 मा0

220. मारग जात भयावनि भारी ।
केहि बिधि तात ताड़का मारी ।। 1/255/8 मा0

221. मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी ।
ईस अनेक करवटें टारी ।। 1/356/1 मा0

222. सूपनखा रावन कै बहिनी ।
दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी ।।
पंचवटी सो गइ एक बारा ।
देखि बिकल भइ जुगल कुमारा ।।

होइ बिकल सक मनहि न रोकी ।
जिमि रविमनि द्रव रबिहि बिलोकी ।।
रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई ।
बोली बचन बहुत मुसुकाई ।।
तुम्ह सम पुरुष न मा सम नारी ।
यह संजोग बिधि रचा बिचारी ।। 3/16/2-8/ मा0

223. तब खिसिआनि राम पहिं गई ।
रूप भयंकर प्रगटत भई ।। 3/16/19 मा0

224. सीतहि सभय देखि रघुराई ।
कहा अनुज सन सयन बुझाई ।।
लछिमन अति लाघवँ सो नाक कान बिनु कीन्हि ।
ताके कर रावन कहँ मनौ चुनौती दीन्हि ।
खर दूषन पहिं गई बिलपाता ।
धिग धिग तव पौरुष बल भ्राता ।। 2/16/20/- 3/16/2 मा0

225. सभा माझ परि व्याकुल बहु प्रकार कर रोइ।
ताहि जिअत दसकंधर मोरि कि असि गति होइ ।। 3/21 ख

226. तव कुल कमल बिपिन दुखदाई ।
सीता सीत निसा सम आई ।।
सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हें ।
हित न तुम्हार संभु अज कीन्हें ।। 5/35/9-10/ मा0

227. "प्रसाद" काव्य में भाव व्यज्यना - डॉ0 धर्म प्रकाश अग्रवाल पृ0 456- 758

228. Conflict is a state of affairs in which two or more incompatible behaviour trends are evoked that cannot be satisfied at the same time.
Boring.

229. असामान्य मनोविज्ञान- डॉ लाभ सिंह, पृ0 91-94

230. विवेकानन्द साहित्य भा- 2, पृ0 294

231. हृदयँ बिचारत जात हर केहि बिधि दरसनु होइ।

गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ ।।
संकर उर अति छोभु सती न जानहिं मरमु सोइ।
तुलसी दरसन लोभु मन डरु लोचन लालची ।।
रावन मरन मनुज कर जाचा ।
प्रभु बिधि बचनु कीन्ह चह साचा ।।
जौं नहिं जाउँ रहइ पछितावा ।
करत बिचारु न बनत बनावा ।। 1/48/ – 1/48/2 मा0

232. संभु समय तेहि रामहिं देखा ।
उपजा हिंय अति हरषु बिसेषा ।। 1/49/1 मा0

233. गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा ।
जनु सचान बन झपटेउ लावा ।।
बिबरन भयउ निपट नरपालू ।
दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू ।।
माथें हाथ मूदि दोउ लोचन ।
तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन ।। 2/28/4–7 मा0

234. कहउँ सुभाउ न छलु मन माहीं ।
जावनु मोर राम बिनु माहीं ।। 2/32/2 मा0

235. लखी नरेस बात फुरि साँची ।
तिय मिस मीचु सीस पर नाची ।। 2/33/5 मा0

236. मागु माथ अबहीं देउँ तोही ।
राम बिरहँ जनि मारसि मोही ।। 2/33/7 मा0

237. सुत सनेह इत बचनु उत संकट परेउ नरेसु ।
सकहु त आयसु धरहु सिर मेटहु कठिन कलेसु ।। 2/40 मा0

238. बिधिहि मनाव राउ मन माहीं ।
जेहिं रघुनाथ न कानन जाहीं ।। 2/43/6 मा0

239. सूत बचन सुनतहिं नरनाहू ।
परेउ धरनि उर दारुन दाहू ।।
तलफत बिषम मोह मन मापा ।
माजा मनहुँ मीन कहुँ व्यापा ।। 2/152/5–6 मा0

240. हा रघुनंदन प्रान पिरीते ।
तुम्ह बिनु जिअत बहुत दिन बीते ।।
हा जानकी लखन हा रघुबर ।
हा पितु हित चित चातक जलधर ।।
राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम ।
तनु परिहरि रघुबर बिरहं राउ गयउ सुरधाम ।। 2/154/7 – 2/155 मा0

241. निरखि राम रुख सचिव सुत कारनु कहेउ बुझाइ।
सुनि प्रसंगु रहि मूक जिमि दसा बरनि नहिं जाइ ।
राखि न सकइ न कहि सकजाहू ।
दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू ।।
धरम सनेह उभय मति घेरी ।
भइ गति साँप छुछुंदरि केरी ।।
राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू ।
धरमु जाइ अरु बधु बिरोधू ।।
कहउँ जान बन तौ बड़ि हानी ।
संकट सोच बिबस भइ रानी ।। 2/54/ – 2/54/5 मा0

242. 2/54/8 मा0

243. नींद न परति राति प्रेम पन एक भाँति,
सोचत, सकोचत बिरंचि– हरि– हर को ।
तुम्हते सुगम सब देव । देखिवे को अब
जब हंस किए जोगवत जुग पर को । 1/69/4–7 गीता0

244. अब जनि कोउ माखै भट मानी ।
बीर बिहीन महीं मैं जानी ।।
तजहु आस निज निज गृह जाहू ।
लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू ।। 1/251/3–4/ मा0

245. रहै रघुनाथ की निकाई नीकी नीके नाथ,
हाथ सो तिहारे करतुति जाकी नई है। 1/86/18–19 गीता0

246. जनक मुदित मन टूटत पिनाक के । 1/94/1 गीता0

247. उभय भाँति देखा निज मरना ।
तब ताकिसि रघुनायक सरना ।।
उतरु देत मोहि बधब अभागें ।
कस न मरौं रघुपति सर लागें।। 3/25/5–6 मा0

248. सुनि सुर बिनय ठाढ़ि पछिताती ।
भइउँ सरोज बिपिन हिमराती ।। 2/11/1 मा0

249. सुरन्ह कही निज बिपति सब सुनि मन कीन्ह बिचार ।
संभु बिरोध न कुस मोहि बिहसि कहेउ अस भार ।।
तदपि करब मैं काजु तुम्हारा ।
श्रुति कह परम धरम उपकारा ।। 1/83/ – 1/83/1 मा0

250. भाई को सो करौं, डरौं कठिन कुफेरै ।
सुकृत संकट परयचो, जात गलानिन्ह गरयो ।
कृपा निधि को मिलौ पै मिलि कै कुबेरै । 5/27/1–3 गीता0

251. राम की सरन जाहि सुदिनु न हरै । 5/27/7 गीता0

252. तुलसी मुदित चले, पाये हैं सगुन भलैं,
रंक लूटिबै को मानो मनिगन ठैरें । 5/27/11/ गीता0

253. आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ ।। 2/182/ मा0

254. समुझि मातु करतब सकुचाहीं । करत कुतरक कोटिमन माहीं ।
राम लखनु सिय सुनि मम नाऊँ । उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ।।2/232/7–8 मा0

255. मोरे सरन रामहि की पनही । 2/233/2 मा0

256. जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ ।
तब पथ परत उताइल पाऊ ।। 2/233/6 मा0

षष्ठम् – अध्याय

– उपसंहार

:: षष्ठम् अध्याय् ::

उपसंहार

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में मैने अपने शोध विषय "तुलसी साहित्य में संवेगों की मनोवैज्ञानिक भूमिका" को मानस, विनय पत्रिका, गीतावली और कवितावली के सन्दर्भ में विश्लेषित करने का पूर्ण प्रयास किया है। मैने अपने शोध कार्य को व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने के लिए उसे छः अध्यायों में विभाजित किया है। पहले अध्याय में तुलसी के व्यक्तित्व की छानबीन मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से की है, द्वितीय अध्याय में रगात्मक वृत्ति पर आधारित मूल संवेगों का विश्लेषण किया है, तृतीय अध्याय में विरागात्मक वृत्ति पर आधारित संवगों आत्मरक्षा वृत्ति पर आधारित संवेगों, जिज्ञासा एवं कौतूहल की प्रवृत्ति, अहं प्रवृत्ति का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। चतुर्थ अध्याय में कुछ व्युत्पन्न और कुछ मिश्र भावों को समझने का प्रयास किया है, पंचम अध्याय की कल्पना मैने तुलसी साहित्य में आये पात्रों का संवेगात्मक अनुशीलन तथा पात्रगत तनाव द्वन्द्व को समझने के लिए की है इसे दो भागों में बाँट कर हमने इसका सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

प्रथम अध्याय में मैने तुलसी के "व्यक्ति" की छानबीन करते हुए उनके व्यक्तिगत जीवन की परिस्थितियों के स्रोत, उनके युग तथ वातावरण की उन पर छाप, उनके जीवन का उदात्तीकरण, व्यक्तिगत जीवन की विशिष्ट घटनाओं का अनुशीलन किया है। तुलसी की जीवन दृष्टि क्या है? इसको भी जानने का प्रयास मैने इसी अध्याय में किया है।

इस सम्बन्ध में विचार करते हुए हमें ज्ञात होता है कि तुलसी का वंशानुक्रम अज्ञात है। इनके बारे में बस इतना ही कहा जा सकता है कि तुलसी का जन्म एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। तुलसी का परिवेश बंशाक्रम की अपेक्षा अधिक सुलझा हुआ है। ये बाल्यकाल से बड़े भाग्यहीन थे क्योकि इनके माता–पिता ने इन्हें त्याग दिया था और जिससे ये बड़े दरिद्र हो गये थे। इन्हें लोगों की डाँट फटकार और तिरस्कार सहना पड़ा था और जब युवावस्था आयी जो स्त्री के प्रति अत्यधिक आसक्ति होने के कारण इन्हें पत्नी द्वारा प्रताड़ित भी होना पड़ा था। स्त्री द्वारा तिरस्कृत होने पर फिर इनके जीवन का उदात्तीकरण हुआ और इनका रुझान भगवत् भक्ति की ओर हो गया।

तुलसी के व्यक्ति निर्माण में उनकी सामयिक परिस्थितियाँ भी सहायक थी। तत्कालीन शासक वर्ग की सम्पत्ति – अपहरण नीति, आचरणहीनता, स्वेच्छाचारिता, दण्डनीति, अनुत्तर दायित्व की भावना आदि से उनके हृदय में शासक वर्ग प्रति आक्रोश और जनता के प्रति करुणा जाग उठी थी और उनमें लोक

मंगल की भावना घर कर गयी थी।

तुलसी के व्यक्तित्व की सबसे महत्वपूर्ण .ेवशेषता उनकी बौद्धिक चतुरता थी। बौद्धिक चतुरता के कारण उनमें मनोविश्लेषण की अच्छी क्षमता थी, आदर्शवाद, मर्यादावार, तथा नेतृत्व के अनेक गुणों का सुन्दर योग था। तुलसी एक लोकनायक तथा समाज सुधारक थे, लेकिन उनमें रागात्मिका वृति भी थी। तुलसी के जीवन में दो मूल प्रवृत्तियाँ अधिक सक्रिय हुई थीं पहली "काम प्रवृत्ति" और दूसरी "शरणागति की प्रवृेत्ति"। उनकी काम मूल प्रवृत्ति का उदात्तीकरण राम प्रेम में होता है और शरणागति की प्रवृत्ति उनमें पहले संसारी व्यक्तियों के प्रति रहती है और फिर वह राम के प्रति हो जाती है।

तुलसी बड़े ही उदारवृेत्ति के, .निर्भीक और स्वाभिमानी थे। उनमें दृढ़ .निश्चय की प्रवृेत्त भी प्रधान थी, आशावादी और निराशावादी, बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी दोनों ही प्रकार के व्यक्तित्व का योग था। तुलसी कभी भी समस्या से दूर नहीं भागते थे बल्कि डटकर उसका हल ढूँढते थे। वे तरह–तरह की उपयोगी कल्पनायें करने में भी चतुर थे, प्रत्यक्षीकरण की भी उनमें अलौकिक क्षमता थी।

तुलसी की जीवन दृष्टि लोकनीति, मर्यादाबाद, शीलसाधना और मंगलाशा से निर्मित थी। अपनी इस जीवन दृष्टि के कारण उन्होंने केवल उन्हीं संवेगों का प्रतिनिधित्व किया जो शील, मंगल और मर्यादा की स्थापना करने वाले थे। उन्होंने एक आदर्श राजा और एक आदर्श समाज की कल्पना की, युग की निष्क्रियता और जड़ता को समाप्त करने के लिए क्षात्रधर्म का प्रचार किया। तुलसी ने भकित में स्थायित्व लाने के लिए अनन्यता, एक निष्ठा, दैन्यता, अटूट विश्वास और ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण को बल दिया, ज्ञान, वैराग्य, विवेक और श्रुति सम्मत आचरण करने के लिए कहा तथा प्रेम, प्रतीति और विश्वास को स्वीकार करने के लिए कहा।

जीव, जगत तथा माया सम्बन्धी विचारों में तुलसी शंकराचार्य, रामानुजाचार्य से प्रभावित थे। जीव उनकी दृष्टि में ईश्वर का अंश है, जिसका लक्ष्य है– निज स्वरूप को पाना। माया और जगत दोनों ही मिथ्या है क्योंकि यह जीव को अज्ञान के वश करते हैं। ब्रह्म सम्बन्धी विचारों में तुलसी निर्गुण और सगुण दोनों की विशेषताओं को स्वीकार करते हैं और भक्ति के पथ को श्रुति सम्मत रखते हैं।

तुलसी एकमात्र शान्ति राम की शरण में मानते हैं और भक्ति के लिए रामनाम जप को महत्व देते हैं। तुलसी राम के भक्त वत्सल स्वभाव पर बहुत ही रीझे हैं।

प्रथम अध्याय में तुलसी के व्यक्तित्व को समझने के उपरान्त द्वितीय अध्याय में मैने

रागात्मक संवेगों– काम, इच्छा आदि तथा प्रेम के समस्त रूपों को समझने का प्रयास किया। काम के विवेचन में हमने यह ज्ञात किया कि काम भिन्न लिंगी व्यक्ति के साथ युग्म की इच्छा है। तुलसी के अनुसार काम की उत्पत्ति भिन्न लिंग के सौन्दर्य तथा उसकी उत्तेजित करने वाली क्रियाओं से होती है और इसका विकास व्यक्ति के मन के आधार पर अनेक प्रकार से होता है। तुलसी ने काम का विकास अहंकार युक्त मन, पवित्र प्रेम से युक्त मन, तामसी मन इन मनों में भिन्न–भिन्न प्रकार से दिखाया है। तुलसी ने जिस प्रकार का विकास इन मनों में दिखाया है उससे पता चलता है कि काम कभी सफल होता है, कभी असफल। इसकी जिस प्रकार से उत्पत्ति होती है उसी प्रकार से प्रतिकूल परिस्थितियों में इसका नाश भी हो जाता है। काम की उत्पत्ति का मूल कारण व्यक्ति का मोह होता है। मोह से उत्पन्न होकर यह काम तभी नष्ट होता है जब व्यक्ति का रुझान संसान से हटकर भगवान की ओर हो जाता है। काम में बड़े–बड़े शक्तिशालियों, जड़ चेतन, पशु–पक्षियों तक को अपने वश में करने की शक्ति होती है। काम के सहायक संवेग क्षोभ, लोभ, उतावलापन, कपट, दीनता, अधीनता, मद, ईर्ष्या, क्रोध, इच्छा, अहंकार, व्याकुलता आदि है। यह भक्ति, वैराग्य आदि अनेक विवेक सम्मत मनःस्थितियों को स्थिर करने में बाधक होता है। तुलसी बताते हैं कि काम कभी तो शीघ्र जाग्रत हो जाता है और कभी बहुत प्रयास करने पर ाी किसी मन में जाग्रत नहीं हो जाता। काम से प्रेरित कार्य कभी भी नीतिकर नहीं होते। काम में नशा होता है, अग्नि की तरह दाहकता तथा वायु का सावेग होता है। काम तुलसी की दृष्टि में एक दुष्ट संवेग है लेकिन इसका लोकमंगल कारी रूप सदा सराहनीय तथा स्वीकार करने योग्य है।

किसी वस्तु के प्रति राग होने का मूल कारण उस वस्तु का लोभ होता है। और यह लोभ फिर अनेक प्रकार की इच्छाओं अभिलाषाओं, कामनाओं का जागरण करता है। किसी वस्तु अथवा सुख को अधिकाधिक मात्रा में रखने अथवा लेने की इच्छा लोभ होती है। व्यक्ति मे लोभ किसी का भी हो सकता है। लोभ उत्पन्न होने का कारण व्यक्ति का मोह होता है, मन की चंचलता होती है समय का दुष्प्रभाव होता है। तुलसी का विचार है कि जब लोभ का जागरण होता है तो व्यक्ति का मन उस वस्तु पर लुब्ध हो जाता है, वह उस वस्तु का सान्निध्य चाहता है अपनी इस इच्छा की पूर्ति के लिए वह अनुचित कृत्य करने वाला, लम्पट और क्रोधी हो जाता है। पागल तथा विक्षिप्त सा हो जाता है। लोभ में बुद्धि कुंठित हो जाती है, चित्त चंचल हो जाता है व्यक्ति में तरह तरह की आशायें जन्म लेने लगतीं हैं। तुलसी के अनुसार लोभ एक हानिकारक संवेग है, यह भक्ति की उत्पत्ति में बाधक होता है। इसका नाश तभी हो पाता है जब व्यक्ति को परमात्म बोध हो जाये, प्रभु कृपा मिल जाये। लोभ संतोष उत्पन्न होने पर भी नष्अ हो जाता है लोभ आसानी से नष्ट नहीं होता है क्योंकि यह समुद्र की तरह अपार होता है।

तुलसी कहते हैं कि लोभ रहित व्यक्ति यश का पात्र होता है।

इच्छा के लिए अनेक शब्द तुलसी साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं– जिनमें परस्पर थोड़ी बहुत अर्थ भिन्नता है– इच्छा, अभिलाषा, चाह, स्पृहा, लालसा, मनोरथ, कामना आदि। इच्छा/अभिलाषा आदि व्यक्ति में अपनी परिस्थिति के अनुसार किसी की भी जाग सकती है। भगवत् कृपा की सभी को चाह होती है, अपनी प्रशंसा की चाह होती है, हितकारी कार्य के सम्पन्न होने की इच्छा होती है, सुखदायक वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा होती है आदि। इच्छा आदि के जागने पर व्यक्ति उसकी पूर्ति के लिए आतुर हो जाता है, जिस साधन से उसकी इच्छा पूरी होगी वह उसी वस्तु का सेवन करता है, अभिलाषा पूर्ति के लिए कभी–कभी व्यक्ति विशेष अनुष्ठान, पूजा या तपस्या करता है। जो मनोरथ कभी पूरे नहीं होते हैं उन मनोरथों से शरीर घुन की तरह खोखला हो जाता है। तुलसी का विचार है कि भगवत् नाम स्मरण से प्रभु कृपा से, प्रभु आराधना से सम्पूर्ण कामनायें पूरी हो जातीं है। इच्छा की सार्थकता उसके पूरे होने में हैं। जो पूर्ण काम होता है उसके हृदय में कोई इच्छा नहीं जागती। रागात्मक संवेगों में मैने प्रेम संवेग का सूक्ष्म विश्लेषण किया। तुलसी ने प्रेम को विविध सम्बन्धों के प्रति होने वाला सौहार्द्र भाव माना है। प्रेम पति–पत्नी का हो सकता है, माता का अपनी संतान के प्रति हो कसता है, भाई का भाई, गुरु का शिष्य, शिष्य का अथवा भक्त का अपने गुरु या भगवान के प्रति हो सकता है आदि किसी भी सम्बन्ध के प्रति हो सकता है। प्रेम की उत्पत्ति में रुचि और विश्वास का महत्व है। रुचि और विश्वास से उत्पन्न होकर प्रेम शरीर में अनेक प्रकार के प्रभाव दिखलाता है। प्रेम के कारण नेत्रों में कभी आँसू भर आते हैं, नेत्र कभी अपलक हो जाते हैं और नेत्र कभी चंचल होने लगते हैं। प्रेम की चरमसीमा में वाणी रुंध जाती है। वाणी मनोहर हो जाती है, शरीर काँपने लगता है, शरीर शिथिल ओर विह्वल हो जाता है। प्रेम के कारण कुछ इच्छायें भी जागतीं हैं। प्रेम में प्रिय को देखने की इच्छा होती है, प्रिय के सान्निध्य की इच्छा होती है, प्रिय को सुख देने की इच्छा होती है, प्रिय को अपने अनुकूल रखने की इच्छा होती है, प्रिय को सुरक्षित रखने की इच्छा होती है। इन इच्छाओं के अनुसार ही फिर शारीरिक क्रियायें भी होती हैं। कोई भी संवेग हो मन को बहुत अधिक प्रभावित करने वाला होता है। प्रेम संवेग के जागने पर मन प्रिय में ही लीन हो जाता है, व्यक्ति को अपनी सुध–बुध नहीं रहती है, प्रिय में और स्वयं में एकात्मकता स्थापित हो जाती है, व्यक्ति अधीर हो जाता है, यदि दीर्घकालीन वियोग के पश्चात प्रिय से मिलन होने वाला हो तो व्यक्ति प्रेमानन्द से भर जाता है और यदि प्रयास करने पर भी प्रिय का सान्निध्य न मिल पाये तो व्यक्ति बड़ा ही दु:खी और व्याकुल होने लगता है। प्रिय के अनिष्ट की आशंका से व्यक्ति में दु:ख और चिन्ता भर जाती है, उसमें अकल्याण का भय भी छा जाता है। प्रिय का अपमान या अनिष्ट

करने वाले के प्रति क्रोध और घृणा उत्पन्न होती है। प्रेम संवेग के प्रवाह के सम्बन्ध में यह देखा जाता है कि यह प्रिय के दर्शन से प्रिय के सान्निध्य से, प्रिय में अपने प्रति प्रेम के दर्शन से विषम वियोगात्मक कष्ट से तो प्रेम उद्‌दीप्त हो जाता है लेकिन यदि कभी ऐसी परिस्थिति आ जाये कि वैचारिक और सैद्धान्तिक तत्व प्रबल होन लगे अथवा प्रेम मार्ग में किसी अन्य तरह की बाधा आ जाये तो फिर प्रेम प्रवाह बाधित भी हो जाता है। तुलसी ने प्रेम के इस तत्व को भी उभारा है कि प्रेम को कभी–कभी आवश्यकता वश भी व्यक्त करना पड़ता है जब प्रिय से किसी बात की अनुमति लेनी हो, जब प्रेम परीक्षा में हमें सफल होना हो, प्रिय को कोई बात समझानी हो, प्रिय से अपनी कोई इच्छा पूरी करवानी हो तो इन सभी परिस्थितियों में हमें प्रेम अवश्य ही व्यक्त करना पड़ता है। तुलसी ने प्रेम का निर्वाह कई प्रकार से माना है। उन्होनं बताया कि प्रिय के लिए प्राणो को त्यागकर, वियोग में प्रिय के लिए असहनीय कष्टों को सहकर, प्रिय की विपत्ति में सहायता करके, आवश्यकता पड़ने पर कर्तव्य पथ को त्यागकर, प्रिय का अनिष्ट करने वाले को दण्ट देकर, प्रिय की इच्छापूर्ति करके, प्रिय को समझाकर, प्रिय की सुरक्षा करके आदि प्रकार से प्रेम का निर्वाह किया जाता है। प्रेम में वैराग्यवानों को पशु-पक्षी, जड़–चेतन, सभी को वश में करने की बड़ी अद्‌भुत शक्ति होती है। प्रेम हृदय में जागने के पश्चात् फिर विविध प्रकार से पुष्ट होता है- प्रेम प्रिय के ध्याम में निरन्तर मग्न रहने से, प्रिय की बार–बार देखने से, प्रिय का कार्य स्वयं करने से, प्रिय के लिए अनेक असहनीय कष्टों को सहने से आदि अनेक प्रकार से पुष्ट होता है। प्रेम प्रिय के ध्यान, की प्रक्रिया को, प्रिय को देखने की प्रक्रिया को, प्रिय के सम्मान की प्रक्रिया को प्रिय को सजाने की प्रक्रिया को, प्रिय को हृदय से लगाने की प्रक्रिया को, प्रिय को सुख देने की प्रक्रिया को सार्थक करता है। तुलसी के विचारों को समझने से यह भी ज्ञात होता है कि प्रेम का और स्वभाव का बड़ा गहरा सम्बन्ध होता है। जिसका मन वैराग्य से युक्त होता है उसमें पति-पत्नी प्रेम बड़ी कठिनाई से जागता है, जिसका प्रेम सुप्त हो गया है उसमे प्रिय के दर्शन से अथवा प्रिय के लक्षणों के श्रवण से प्रेम शीघ्र जाग जाता है, पतिव्रत धर्म का पालन करने वाली स्त्री का प्रेम बहुत ही अटल होता है, प्रिय के सान्निध्य में ही सुख का अनुभव करने वाले का प्रेम वियोग होते ही प्राण निकल जाने वाला होता है। प्रेम नष्ट भी हो जाता है यदि प्रिय में कपट आ जाये तो प्रेम नष्ट हो जाता है, यदि प्रिय के अपराध के कारण कोई दूसरे संवेग का जागरण हो गया है तो भी प्रेम सवेग का जागरण नहीं होता है। प्रेम के अनेक प्रकार होते हैं- मन वचन कर्म से किया गया प्रेम, अधिक स्नेह, पुराना प्रेम, नवीन प्रेम, विशेष प्रेम, गुप्त प्रेम, अलौकिक प्रेम आदि। प्रेम में एकात्मकता होती है, प्रेम मे आकर्षण होता है, प्रेम में नशा होता है, प्रेम में एक ओर मन को निर्बल कर देने की शक्ति होती है तो दूसरी ओर उसे सबल कर देने की शक्ति भी होती है। विविध सम्बन्धों के आधार पर प्रेम के अनेक रूप होते हैं। जैसे– पति-पत्नी प्रेम, संतान प्रेम, भातृ प्रेम, भगिनी प्रेम, मात्-पितृ प्रेम, गुरू शिष्य प्रेम, सेवक-स्वामी प्रेम, भक्त वत्सलता, भगवान के प्रति दिव्य प्रेम, प्रकृति प्रेम, देश प्रेम,

मानव प्रेम आदि। तुलसी ने इन सभी प्रेम रूपों का अपने साहित्य में विवेचन प्रस्तुत किया है।

अपने शोध प्रबन्ध के तीसरे अध्याय में मैने पहले विरागात्मक संवेग ''घृणा'' का विवेचन किया और फिर आत्मरक्षा प्रवृत्ति पर आधारित भय/क्रोध/दैन्य, जिज्ञासा एवं कुतुहल प्रवृत्ति, अहं प्रवृत्ति इन पर तुलसी के विचारों के अनुसार विवेचन प्रस्तुत किया। घृणा/विकर्षण संवेग के विश्लेषण से हमने पाया कि अरूचि कर विषयों से दूर रहने की जो प्रवृत्ति होती है उसे घृणा अथवा विकर्षण की प्रवृत्ति कहते है। अपने से विरोधी प्रवृत्ति वाली वस्तु अवश्य ही घृणा का पात्र होती है जैसे-- सन्तों को दुष्टों से, दुष्टों को सतो से, भक्त को नास्तिक से, भावी अनिष्ट को सूचित करने वाली वस्तु से, साधक को दुष्प्रवृत्तियों से विकर्षण घृणा होता है। जिससे हमको विकर्षण होता है हम उसकी निछा करते हैं, उसका सान्निध्य पसन्द नहीं करते हैं, उसके लिए दुर्वचन कहते हैं।

आत्मरक्षा प्रवृत्ति पर आधारित ''भय संवेग के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि जिस वस्तु या व्यक्ति से हमे किसी प्रकार के अनिष्ट की आशंका होती है, उसके कारण हममें जो एक प्रकार की विकलता दिखलाई पड़ती है, उस विकलता का नाम भय है। भय के अनेक विषय होते हैं-- दुर्बल को बलवान शत्रु से भय लगता है, दुष्ट को सामर्थ्यवान् से भय लगता है, विषाद और परिताप दायक वस्तु से भय लगता है, विपत्ति की आशंका से व्यक्ति भयभीत हो जाता है, अपशकुनों से भय लगता है, रहस्यमय कार्य से भय लगता है, विपरीत परिणाम मिलने की आशंका से कोई काम करते भय लगता है, मर्यादा उल्लघन से भय लगता है, दण्ड से भय लगता है, सुयश जाने का भय होता है आदि। भय की अवस्ाा में कम्पन होने लगता है, देह की सुध-बुध चली जाती है, आँखें मुद जाती है। व्यक्ति को यदि दण्ड का भ भय होता है, तो वह अपने अपराध को छिपाता है। भय के कारण व्यक्ति सकुचाता भी है। अनिष्ट की आशका से उत्पन्न भय मे व्यक्ति चिन्तित और दुखी हो जाता है। भयंकर वेश को देखकर उत्पन्न भय में व्यक्ति भागता है और छिप जाता है। भय में आवाज नही निकल पाती, आधा क्षण कल्प के समान बीतता जान पड़ता है, व्यक्ति रक्षा की पुकार करता है, शरीर में पसीना आ जाता है, पाँव आगे नहीं बढ़ पाते। अभिमानी और शक्तिशाली का स्वभाव सदैव निडर रहने का होता है। कायरों को युद्ध से भय लगता है। स्वार्थी/कामी और लालची को भेद खुल जाने का भय लगता है। बलवान और सामर्थ्यवान् को किसी से भी भय नही लगता है। भय को शीघ्रातिशीघ्र दूर करने का प्रयास किया जाता है क्योकि भय की अवस्था में न तो व्यक्ति निश्चिन्त रह पाता है और न उसमें किसी कार्य का उत्साह रहता है। भय रहित होकर ही व्यक्ति अनीतिकर बात का विरोध कर सकता है, विविध बाधाओं की उपेक्षा करता हुआ आगे बढ़ सकता है। किसी का भय वही दूर कर सकता है, जो करुणार्द्र हृदय का हो। तुलसी ने इसीलिए राम को भय हरण करने वाला बताया है। रामकथा राम नाम सभी राम से सम्बन्धित वस्तुएँ भय हरने वाली होती हैं। सुलभ और

सुखदायक वस्तु से व्यक्ति का भय दूर होता है। परम प्रेम पूर्ण व्यवहार से भी भय दूर हो जाता है। भय के कारण का विनाश हो जाने पर भय दूर हो जाता है। श्रद्धेय की अप्रसन्नता का भय श्रद्धेय को अनुकूल देखकर दूर हो जाता है। तुलसी का मानना है कि जहाँ पर हमसे मुकाबला करने वाला कोई न हो, जहाँ हमारी पूरी सुरक्षा हो, जहाँ पर हमसे कोई वैर करने वाला न हो आदि स्थानों पर हममें तनिक भी भय नहीं होता है। जब हम धर्मपालन में पूरी तरह तत्पर रहते हैं तो भी हमें किसी प्रकार का भय नहीं रहता है। भय में बड़ी शक्ति भी होती है। हम किसी को भयभीत करके उसे अपनी इच्छानुसार चला सकते हैं, भय दिखाकर किसी को किसी से विमुख कर सकते हैं। भय संवेग सदैव त्यागनीय नहीं होता है क्योंकि करुणावान् स्वामी सेवक को भयभीत देखकर ही अपनी शरण देता है। तुलसी ने भय को सभी जीवों में विद्यमान बताया है। भय काँटे के समान चुभन पैदा करता है। कोई-कोई भय आवेग शून्य होता है।

'क्रोध" संवेग के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि किसी के दु.ख पहुँचाने पर अथवा उससे किसी प्रकार के दु.ख की आशंका हो जाने पर जो भाव उसके प्रति जागता है उसे क्रोध कहते हैं। क्रोध के अनेक कारण होते हैं कोई हमें अथवा हमारे प्रिय को दु:ख पहुँचाये तो उसके प्रति क्रोध आता है, कोई हमारा तिरस्कार/अपमान अथवा अपेक्षा करे तो उसके प्रति क्रोध आता है कोई हमारे आत्मीय से ईर्ष्या करे, हमारी किसी प्रकार की हानि करे, कोई अपना दिया हुआ वचन भूल जाये, कोई बहुत समझाने पर भी अपनी भूल न माने, कोई हमें चुनौती दे, कोई हमारी इच्छित वस्तु पर अधिकार कर ले कोई हमारे नियन्त्रण से मुक्ति पाने का प्रयास करे तो इन सभी कारणों के उपस्थित होने पर हम क्रोध से भर जाते हैं। क्रोध में अपने लक्ष्य का अनिष्ट करेन की प्रवृत्ति होती है। इसी प्रवृत्ति के कारण हम कटु वचन कहते हैं, उसे शाप देते हैं, उसका हठ करके पीछा करते हैं। क्रोध में भौहें टेढी हो जातीं हैं, ओठ फड़कने लगते हैं, नेत्र लाल हो जाते हैं। क्रोध में कभी–कभी व्यक्ति बेरा वेश भी धारण कर लेता है। क्रोध में व्यक्ति नंगी तलवार की तरह भयानक लगता है। जिस पर हमें क्रोध आता है हम उसे देखना नहीं चाहते। उसे आँखों के समाने से हट जाने के लिए कहते हैं। क्रोध में प्रतिशोध की भावना भी जागती है, व्यक्ति खिसिया जाता है, गरजता है, शत्रु को ललकारता है। क्रोध जब वैर का रूप ले लेता है तो वह और भी घातक हो जाता है क्योंकि इस भाव के जागने पर व्यक्ति छल–बल किसी भी प्रकार शत्रु का पूर्ण सर्वनाश कर डालता है और फिर भी उसका बैर शान्त नहीं होता। कोई जब हमारे बल को चुनौती देता है तो हम ऐसा काम ठानते हैं जिससे हमांरी वीरता अवश्य ही प्रमाणित हो जाये। जो स्वार्थी अहंकारी, कुटिल अथवा दानवी प्रकृति का होता है वह लोगों पर अकारण क्रोध भी करता है। जो लोग करुणा से पूर्ण सम्यक् बोध सम्पन्न होते हैं, वे लोग किसी निरीह को कष्ट पहुँचाने वाले पर ही क्रोधित होते हैं। क्रोध एक अहितकारी

और दुःखदायक संवेग है। इसके वशीभूत होने पर व्यक्ति अनेक दुष्परिणामों को पाता है। क्रोध के कारण व्यक्ति किसी विचारणीय बात पर विचार नहीं कर पाता, किसी से प्रेम नहीं कर पाता, किसी का कोई काम नहीं कर पाता। क्रोध के नाश के लिए तुलसी ने सबसे उत्तम उपाय आध्यात्मिक बोध बताया है। यदि हमें क्रोध के दुष्परिणाम का बोध हो जाये तो भी क्रोध चला जाता है। वैसे तो सभी क्रोध त्यागनीय होते हैं, लेकिन कुछ क्रोध ऐसे होते हैं जिन्हें अवश्य ही त्याग देना चाहिए। जैसे दुध–मुँहे बच्चें पर कभी क्रोध नहीं करना चाहिए। अज्ञानी/नादान और आर्त्त व्यक्ति पर भी कभी क्रोध नहीं करना चाहिए एक क्रोध विवश क्रोध होता है जिसमें व्यक्ति दूसरे का नहीं स्वयं अपना नुकसान कर लेता है, हाथ मलने लगता है, होंठ काटने लगता है, इधर–उधर देखने लगता है, कसम खाता है। सर्वसमर्थ पुरूष से कभी वैर नहीं करना चहिए। क्रोध उत्तर–प्रति–उत्तर से बढ़ता है। सामर्थ्यवान् का क्रोध बड़ा ही घातक होता है। स्त्री का क्रोध बड़े–बड़े बलशालियों को भयभीत कर देता है। करुणा से प्रेरित क्रोध कल्याणकारी होता है। जब क्रोध का लक्ष्य कोई व्यक्ति न होकर सारी व्यवस्था होती है तो प्रश्न उठता है कि व्यक्ति किस पर क्रोध करे। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि क्रोध बन्धनकारी संवेग है, बड़ा ही दुष्कर है। इसमें अग्नि के समान दूसरों को जलाने की शक्ति होती है।

"दीनता" मन की वह अवस्था है, जिसमें व्यक्ति दुःख से मुक्ति पाने के लिए अत्यधिक व्याकुल हो जाता है। दीनता उसी व्यक्ति को अधिक घेरती है जो असहाय होता है। दुष्टों के दुर्व्यवहार से व्यक्ति आर्त्त हो जाता है, प्राण जाने की सम्भावना से व्यक्ति आर्त्त हो जाता है, ग्लानि/पछतावा में व्यक्ति आर्त्त हो जाता है। भयंकर दण्ड से मुक्ति पाने की प्रार्थना भी व्यक्ति दीन होकर करता है। तुलसी का विचार है कि पापी, बुद्धिहीन, जातिहीन व्यक्ति अवश्य ही दीन होता है। दीनता में व्यक्ति रक्षा के लिए आर्त्तनाद करता है, सामर्थ्यवान् की शरण स्वीकार करता है, जगह–जगह भटकता है, वह न नियम देखता है न संकोच करता है सब कुछ कह डालता है दीनता में व्यक्ति ढीठ हो जाता है। उसकी वाणी नम्र और कोमल हो जाती है। दीनता में बड़ी शक्ति होती है क्योंकि भक्त की दीनता देखकर ही भगवान उस पर कृपा करते हैं। दीनता केवल सामर्थ्यवान् ही दूर कर सकता है। दीनता दूर करने वाला यश का पात्र होता है।

"आश्चर्य" संवेग की उत्पत्ति अद्‌भुत तथा विचित्र रहस्यमयी वस्तु के दर्शन से होती है और कौतूहल और जिज्ञासा की उत्पत्ति किसी नवीन दृश्य को देखने अथवा जानकारी प्राप्त करने की इच्छा से होती है। तुलसी का विचार है कि जब हम कोई विचित्र वस्तु/दृश्य देखते हैं, अद्‌भुत घटनाओं को घटित

होते देखते हैं, किसी को परस्पर विरोधी गुणों से युक्त देखते हैं तो इन सब परिस्थितियों में हम आश्चर्य से भर जाते हैं। तुलसी ने राम के स्वरूप, राम की लीलाओं आदि से भक्त में आश्चर्य की उत्पत्ति मानी है। कौतूहल और जिज्ञासा के विषयों पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि किसी असम्भावित कार्य को देखने का, प्रिय के कृत्यों को देखने का, आश्चर्य जनक क्रीड़ाओं को देखने का, सुन्दर नगर को देखने का बहुत कौतूहल होत है। अनहोनी बात के होने पर उसके रहस्य को जानने की इच्छा होती है। प्रियजनों की कुशलता जानने की इच्छा होती है। सौन्दर्यवान् का परिचय जानने की इच्छा होती है। किसी कार्य का कारण जानने की इच्छा होती है। अपने हित की बात जानने की इच्छा होती है। अपने हित की बात जानने की इच्छा होती है। आश्चर्य की अवस्था में व्यक्ति ठगा सा रह जाता है, अपलक नेत्रों का हो जाता है, निहारता रह जाता है, आँखे चौंधिया जाती है, व्यक्ति अपनी सुध–बुध खो बैठता है। कौतूहल में व्यक्ति उतावला हो जाता है। तुलसी कहते हैं कि जिन्हें ईश्वर की अलौकिक शक्ति पर विश्वास होता है उन्हें ईश्वर की लीलायें आश्चर्य में नहीं डालतीं । दुष्ट व्यक्ति यदि कोई असामान्य कार्य करता है तो उसके कार्य पर भी आश्चर्य नहीं होता है। व्यक्ति में आश्चर्य चकित होने की चाह होती है। आश्चर्य चकित करने वाला दृश्य व्यक्ति छिपकर भी देखना चाहता है। कौतूहल की वृत्ति बच्चों और स्त्रियों में अधिक होती है।

"अहंकार" नाम संवेग की उत्पत्ति अहं की प्रतिष्ठा करने के कारण होती है। अहंकार अनेक बातों का हो सकता है– धन का मद हो सकता है, अधिकार का मद हो सकता है, विद्या का अहंकार हो कसता है, शक्ति का अहंकार हो सकता है। कभी–कभी व्यक्ति समय के दुष्प्रभाव से अहंकार करने लगता है। दुष्ट और मलिन मति वाले का स्वभाव सदैव अहंकार करने का ही होता है। संत पुरुषों को चाहे जितना बड़ा पद मिल जाये उन्हें कभी राज्य का मद नहीं होता। अहंकार में व्यक्ति विवेकहीन हो जाता है। जिससे वह कोई भी विवेकपूर्ण विचार नहीं कर पाता। अहंकार में व्यक्ति मतवाला हो जाता है, उसे आचार–विचार नहीं रुचता है, अनुचित कर्म करता है, शीघ्र क्रोधित हो उठता है, उसमें सद् वस्तुओं के प्रति अनादर पैदा हो जाता है, दूसरों के दोषों को खोजता है। इसमें व्यक्ति बीहड़ वन की भाँति फँस कर रह जाता है, इससे भक्ति नहीं पा पाता। अहंकार एक दुखात्मक संवेग है। यह व्यक्ति को शोक के रास्ते पर ले जाता है। अहंकार का त्याग भगवान के प्रति लगाव से ही हो सकता है। जब व्यक्ति अहंकार रहित होता है तभी वह किसी के महत्व को समझ पाता है। बल का अभिमान किसी से पराजित होने पर दूर होता है। सम्पदा का गर्व अधिक सम्पदा वाल को देखकर दूर हो जाता है। अहंकार वैसे तो त्यागनीय है, लेकिन जो अभिमान आत्मविश्वास का सूचक होता है वह अभिमान स्वीकार करने योग्य होता है।

मूल संवेगों की चर्चा के पश्चात् चतुर्थ अध्याय में मैंने कुछ व्युत्पन्न और मिश्र संवेगों का विश्लेषण प्रस्तुत किया। व्युत्पन्न संवेगों में विश्वास, आशा, निराशा, दुःख, सुख एवं उत्साह को लिया गया है। "विश्वास" संवेग के विश्लेषण से मैंने पाया कि किसी विचार, मत, बात को प्रमाणिक या सत्य मान लेने को विश्वास कहते हैं। तुलसी ने अपने विश्वास की अनेक धारणाओं का संकेत अपने साहित्य में किया है। भक्ति में विश्वास का बड़ा महत्व है क्योंकि यह भक्त को वट वृक्ष की छाया प्रदान करता है। किसी बात पर विश्वास उत्पन्न तभी होता है जब वह दृढ़ निश्चय से भरी होती है, जब वह स्वभाव से कहीं जाती है तथा जब वह सत्य और संदेह दूर करने वाली होती है। किसी बात का जब कोई प्रमाण मिल जाता है तब फिर उस पर विश्वास हो जाता है। किसी कार्य के होने से पहले यदि स्वाभाविक रूप से हर्ष होने लगे तो उस कार्य के पूर्ण होने का विश्वास होने लगता है। साधन–सम्पन्नता व्यक्ति में विश्वास उत्पन्न करती है। सहज–प्रेम से विश्वास उत्पन्न होता है। सदैव अनुकूल रहने वाले पर विश्वास होता है। कोई हमसे किसी की खूब बड़ाई करे तो उस पर विश्वास हो जाता है। जिस पर हमारा योग क्षेम निर्भर हो उस पर हमें भरोसा रहता है। जो भुजा की भाँति विपत्ति में हाथ बँटाता है, उस पर भरोसा होता है। भक्ति में इष्ट को भगवान पर भरोसा रहता है। उत्साह वर्धक वचनों से आत्म विश्वास जागता होता है।

विश्वास से बल पैदा होता है, उत्साह का संचार होता है। विश्वास से विचारों में दृढ़ता आती है। विश्वास से ही सच्चा अनुराग पैदा होता है। विश्वास से फिर भ्रम पैदा नहीं होता है। "भरोसा" में निर्भरता होती है। सामर्थ्यवान् का भरोसा व्यक्ति को विविध चिन्ताओं से मुक्त कर देता है। अपनी शक्ति पर विश्वास रखने वाले को दैव पर भरोसा नहीं होने पाता। अति स्नेह में व्यक्ति प्रिय की सफलता पर विश्वास नहीं कर पाता है। कपट भरे हृदय में न प्रेम उपज सकता है और न विश्वास। दुष्काल में भगवान पर से भरोसा हट जाता है। विश्वास का बड़ा महत्व है। जिस कार्य के होने का विश्वास होता है वह अवश्य ही पूरा होता है। विश्वास के बल पर सुख और सिद्धि मिलती है। किसी का स्नेह हमें तभी मिलता है जब उसके प्रति विश्वास हो। तुलसी का विचार है कि वह विश्वास बहुत अधिक लाभकारी होता है जिसमें अन्य विश्वासों का त्याग होता है। प्रेम और विश्वास का बड़ा गहरा सम्बन्ध होता है। विश्वास के कई स्तर होते है। एक केवल बुद्धिगत निश्चित धारणा तक सीमित रहता है और एक हमारे स्वभाव का अंग बन जाता है। विश्वास कभी भी छिप नहीं सकता। विश्वास के साथ विवेक होना बहुत आवश्यक है। विश्वास में संक्रामक वृत्ति होती है। व्यक्तिगत जीवन के विकास के लिए विश्वास अनिवार्य संवेग है।

किसी कार्य के होने का जो विश्वास होता है और उस विश्वास से मन में जो कार्य पूर्ण होने की विचारधारा प्रवाहित होने लगती है, उसे "आशा" कहते हैं। आशा के टूटने पर जो एक हताश होने

का भाव व्यक्त होता है, उसे "निराशा" कहते हैं। विश्वास विपत्तियाँ आने पर आशा में, आशा गम्भीर होने पर चिन्ता में और चिन्ता निराशा में परिवर्तित हो जाती है। आशा ऐसा मनोविकार है जिसे व्यक्ति बाधाओं, पराजयों के पश्चात् भी नहीं छोड़ता है। आशा व्यक्ति के स्वभाव का स्मरण करके की जाती है। आशा में बल होता है। आशा इच्छापूर्ति की प्यास जगाती है। यह व्यक्ति को पूरी तरह वश में कर लेती है। व्यक्ति को आशा के वश में होकर इधर–उधर भटकता पड़ता है। भक्ति में भक्त अपने इष्ट से ही एकमात्र आशा रखता है और अन्य आशाओं को छोड़ देता है। यदि किसी के हित की बात उससे कहें और वह उसे न माने तो उसके प्रति सारी आशायें नष्ट हो जाती हैं। प्राणों के आधार के चले जाने पर जीने की आशा नहीं रहती। आशा सन्तोष होने पर दूर हो जाती है। हृदय में तत्व ज्ञान का प्रकाश होने पर मिथ्या आशायें दूर हो जाती हैं। प्राण बचने की आशा यदि समाप्त हो जाये तो व्यक्ति निराश हो भयभीत भी हो जाता है। प्यास हो और प्यास बुझाने की आशा भी हो लेकिन आशा जिस अवलम्ब पर खड़ी हो वह मिथ्या हो तो आशा पूर्ति की सम्भावना से व्यक्ति स्रोत के पास जाता है और आशा टूटने से दुखी हो जाता है। निराश होने पर व्यक्ति की कार्यशक्ति कम हो जाती है और वह तेजहीन हो जाता है। आशा पूर्ति के लिए व्यक्ति उदासीन रहने वाले के पास भी जाता है। भगवान को छोड़कर अन्य की आशा भक्ति में बाधक है। जब तक इच्छा पूरी नहीं होती, तभी तक आशा का अस्तित्व होता है।

दुःख के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से ज्ञात हुआ कि दुःख एक कष्टपूर्ण अनुभूति का नाम है। तुलसी ने दुःख का बड़े व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। दुःख और सुख का सम्बन्ध व्यक्ति की मनःस्थिति से होता है। एक वस्तु किसी के लिए दुःख की वस्तु हो सकती है लेकिन दूसरे के लिए वही वस्तु सुख की वस्तु हो सकती है। तुलसी ने व्यक्ति की विविध परिस्थितियों का अनुभव करते हुए दुःख के अनेक विषय बताये हैं। उन्होंने बताया प्रिय का वियोग तीव्र वेदना वाला होता है। किसी भी प्रकार का कष्ट हो, प्रत्येक कष्ट व्यक्ति को दुःखी करता है। अप्रिय तथा प्रतिकूल वस्तु से व्यक्ति को दुःख होता है। वेद विरूद्ध आचरण से संतो को दुख, भय, रोग, शोक और वियोग उत्पन्न करता है। सामर्थ्यवान् का आविर्भाव से शत्रुओं/दुष्टों को बहुत पीड़ा होती है। इच्छा पूर्ति न होने से दुःख होता है। अपराध बोध से दुःख होता है। विरागात्मक संवेग के कारण व्यक्ति को तरह–तरह के दुखों का अनुभव होता है। अँधेरा, रात्रि और दुष्टों का स्वभाव दुःख देना होता है। इच्छापूर्ति न होने से दुःख होता है। सुखोपभोगों से वंचित व्यक्ति सुख के दिनों की याद करके दुःखी होता है। दुःख का व्यक्ति पर बड़ा ही घातक प्रभाव दिखायी पड़ता है। प्रिय वियोग दुःख से व्यक्ति व्याकुल हो जाता है, वह वियोग कराने वाले वचनों को सुन सहम जाता है, कुछ कह नहीं पाता, उसकी प्रसन्नता चली जाती है, वह दयनीय सा दिखलायी पड़ने लगता है। व्यक्ति तड़फने लगता है, उसका शरीर शिथिल हो जाता है, कण्ठ सूख जाता है, विवेक चला जाता है, वह दुःख से

बचने के लिए देवताओं की शरण में भी जाता है। दुःख की अवस्था में व्यक्ति को मंगलसाज सुहाते नहीं है, रात में नींद नहीं आती है। शरीर में जलन होने लगती है, उसे भयानक संताप होने लगता है। अत्यधिक दुःख/शोक के कारण व्यक्ति मूर्च्छित भी हो जाता है। उसे प्राण त्यागने की इच्छा होती है। यदि कोई प्रिय को दूर भेजने के लिए हमें विवश करे तो जहाँ एक ओर हमें प्रिय वियोग की आशंका से दुःख होता है, वहीं दूसरी ओर चिन्ता भी होती है कि हम प्रिय को दूर कैसे भेज पायेंगे। दुःख में क्षण भर युग के समान बीतता जान पड़ता है। प्राणों के आधार के वियोग दुःख से व्यक्ति अकुला जाता है। जिस दुःख का निवारण करना व्यक्ति के वश में नहीं है उस दुःख से व्यक्ति सिर घुनने लगता है। दुःख से शरीर दुर्बल हो जाता है। प्रिय की मृत्यु के शोक में व्यक्ति व्याकुल होकर रोने लगता है। दुःख में व्यक्ति कभी–कभी विधाता को भी दोष देने लगता है, विलाप करने लगता है। दुःख के प्रति विकर्षण का भाव होता है। इसलिए यदि हमें कभी दुःख का अनुभव होता है या हमारे प्रिय को दुख का अनुभव होता है तो हम उस दुःख को शीघ्रातिशीघ्र दूर करने का प्रयत्न करते हैं। दुःख अनेक प्रकार से दूर होता है। दुःख सामर्थ्यवान् की करुणा से दूर होता है। वियोग दुःख प्रिय के आने से दूर होता है। आनन्द के स्रोत के प्रताप से दुःख दूर हो जाता है। स्नेह पूर्ण व्यवहार से दुःख दूर होता है। शीतल वस्तु के सेवन से जलन दूर होती है। याचकों का शोक कुछ पाकर दूर होता है। मोह आदि विकारों का दुःख बोध से दूर होता है। संसार में आवागमन से उत्पन्न दुःख मोक्ष से छूटता है। तुलसी का विचार है कि जिसकी मति धीर होती है उसे दुःखात्मक संवेग कभी पीड़ित नहीं करते। दैवी चेतना तो सुख–दुःख से रहित होती है। दुःख बढ़ता–घटता भी है। वियोगी स्त्रियों का दुःख चन्द्रमा की किरणों को देखकर वसन्त की सुन्दरता को देखकर बढ़ता है। स्वामी को द्रवित करने के लिए सेवक को दुःख या दीनता व्यक्त करने की आवश्यकता भी पड़ती है। वियोग दुःख, जड़–चेतन, पशु–पक्षी, वैरागी, धैर्यवानों तथा विवेकी पुरुषों को भी दुखी करने की शक्ति होती है। कुछ दुःख बड़े ही दारुण तथा असहनीय होते हैं। दुःख में दाहक शक्ति होती है, दुःख में भारीपन होता है। दुःख में प्रवाह होता है एक चुभन होती है। दुःख का एक रूप चिन्ता भी होती है। "चिन्ता" नामक संवेग वह मानसिक अवस्था है, जिसमें दुष्परिणाम की आशंका के कारण चित्त अशान्त और उद्विग्न रहता है। चिन्ता कई कारणों से उत्पन्न हो सकती है। चिन्ता प्रिय के सुख की हो सकती है, सुकुमार पुरुष के कष्ट को देखकर चिन्ता होती है, वायदे को पूरा न कर पाने से चिन्ता होती है। इच्छा पूरी न होते देख चिन्ता होती है। दुःख के निवारण का उपाय न मिल पाने से चिन्ता होती है। भय, मोह, ग्लानि, अपराध–बोध, असामञ्जस्य, संताप, हीनतावृत्ति, अभाग्य का विचार, समय की प्रतिकूलता से सब व्यक्ति को चिन्तित करने वाले होते हैं। चिन्ता में व्यक्ति व्याकुल हो जाता है, चिन्ता से हृदय जलने लगता है, चिन्ता नित्य नवीन और भारी रुप धारण करती जाती है। चिन्ता में समय बीतता नहीं है। चिन्ता से मुक्ति पाने के लिए व्यक्ति भगवान की शरण भी लेता है। चिन्ता में व्यक्ति माथे पर हाथ रखकर नेत्र बंद करके सोच करता है।

चिन्ता में नींद चली जाती है। चिन्ता में तरह–तरह के कष्ट सहने पड़ते हैं। तुलसी का मानना है कि भगवान के प्रताप से चिन्ता चली जाती है। धैर्य, विवेक, सदुपदेश से भी चिन्ता चली जाती है। जिसका जन्म और मरण दोनों सार्थक हों, उसके लिए चिन्ता व्यर्थ है। कोई–कोई चिन्ता व्यक्ति के लिए आवश्यक होती है। कभी–कभी चिन्ता अपने आप ही चली जाती है।

"सुख" शारीरिक तथा मानसिक कष्टों से मुक्त होने की अवस्था का नाम है। तुलसी ने अपने साहित्य में अनेक प्रकार के सुखों की चर्चा की है। सुख के अनेक विषय हो सकते हैं जैसे प्रेम से सुख, गुणों से दुख, इच्छापूर्ति तथा प्रतीक्षित कार्य के सम्पन्न होने से सुख, सुविधाओं से सुख, शुभ–शकुनों से सुख आदि। यदि हमें हमारी रूचि के अनुरूप कोई व्यक्ति या वस्तु मिल जाती है तो हमें सुख होता है, कष्ट या विपत्ति के दूर हो जाने से सुख होता है। अवतारी पुरुष के प्रभाव से सुख का अनुभव होता है। सुख का अनुभव होने से उसका प्रभाव तरह–तरह से व्यक्त होता दिखता है। सामूहिक सुख या आनन्द में व्यक्ति पुष्पवर्षा करने लगता है, मांगलिक द्रव्यों को सजाता है, गाता है, नाचता है, नगर/घर आदि को सजाता है, वातावरण सुगन्धित करता है, बाजा बजाता है, दान देता है आदि। अति आनन्द की अवस्था में शरीर पुलकित हो उठता है, नेत्रों में जल भर आता है, छाती भर आती है, व्यक्ति धैर्यहीन हो जाता है, प्रफुल्लित हो उठता है। आनन्द में व्यक्ति तरह–तरह के मनोरथ करता है, आराध्य के आगमन के आनन्द में जय–जय कार करने लगता है। उत्तम कथा आदि को सुनकर व्यक्ति आनन्द में सराहना करने लगता है। प्रिय के आगमन के आनन्द में व्यक्ति उससे मिलने के लिए दौड़ पड़ता है, उसका स्वागत करता है। प्रेम का सुख व्यक्ति को सुध–बुध से रहित कर देता है। तुलसी का विचार है कि जो दिव्य गुणों से युक्त है, वह सभी को सब प्रकार के सुख प्रदान करता है।

कल्याणकारी प्रसंग श्रोता और वक्ता दोनों को हर्षित करता है। सुख को उसकी विरोधी परिस्थितियाँ नष्ट कर देती है। मानसिक दुःख शारीरिक सुख का अनुभव नहीं होने देता। कभी–कभी व्यक्ति स्वतः ही सुख के स्रोत को विस्मरण कर देता है। दिव्य सुख चर–अचर, पशु–पक्षियों सभी को प्रभावित करता है। तुलसी ने बताया कि प्रेम के कारण जो भी क्रियायें की जाती हैं वे सुख पूर्वक ही की जाती हैं। किसी की भेजी हुई भेंट व्यक्ति हर्षित होकर स्वीकार करता है। दिव्य सुख मोह, कपट, कामनाओं से रहित होने पर पुण्यों के प्रभाव से, नाम के प्रसाद से तथा प्रभु की कृपा से प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि सुख के लिए व्यक्ति में पात्रता की भी आवश्यकता है। "सुख" संवेग का एक यह भी मनोवैज्ञानिक पक्ष है कि किस–किसको और किस प्रकार, किन कारणों से हम सुख पहुँचाने का प्रयास करते हैं, जो व्यक्ति सामर्थ्यवान् होता है, प्रिय होता है, गुणों का आगार होता है हम उसे करोड़ों उपायों से सुख पहुँचाते हैं।

किसी को सुख तरह–तरह के वेश धारण करके, समझा बुझाकर आवश्यकता की पूर्ति करके आदि उपायों से दिया जाता है। हम किसी को प्रसन्न अपनी इच्छा पूर्ति के लिए कर सकते हैं। दिव्य सुख से जीवन धन्य और कृतार्थ हो जाता है, प्रसन्नता से मुख की शोभा बढ़ जाती है। सुख और स्वभाव का गहरा सम्बन्ध होता है। सज्जन दूसरों के गुण सुनकर प्रसन्न होते हैं और दुर्जन दूसरों के दोष सुनकर प्रसन्न होते हैं। जो व्यक्ति एक रस होते हैं लोकोत्तर होते हैं उन्हें किसी भी अवस्था में हर्ष–विषाद का अनुभव नहीं होता है। सुख कई प्रकार के होते हैं जैसे– ब्रह्म सुख, परम सुख, काम सुख, राज सुख, अनूप सुख, प्रेम सुख, महा सुख, अकथनीय सुख, नूतन सुख, सुर सुख, तीव्र सुख, दुर्लभ सुख, अनिर्वचनीय सुख, अमिट सुख।

उमड़े हुए साहस को "उत्साह" कहते हैं। जिन कार्यो को करने में हमारी रुचि होती है। हम उन्हें उत्साह के साथ करते हैं। प्रिय से सम्बन्धित कोई भी कार्य हो उसके करने में बड़ा ही उत्साह रहता है। प्रिय से सम्बन्धित वस्तु, स्थान, व्यक्ति को देखने में उत्साह रहता है। प्राकृतिक सौन्दर्य को व्यक्ति उमंगित होकर देखता है। विवाह के अवसर पर वर–वधू को एक–दूसरे को देखने का उत्साह होता है। लालसा पूर्ति व्यक्ति बड़े उत्साह से करता है। शीतल जल के सेवन से थकान दूर हो जाती है और उत्साह आता है। दिव्य आत्मा को विपरीत समय में भी उत्साह रहता है। दिव्य बालक के जन्म से सारे वातावरण में उत्साह छा जाता है। इस प्रकार उत्साह अनेक प्रकार से उत्पन्न होता है। यदि उत्सव, नित्य मनाया जाये तो उत्साह निरन्तर उमड़ता है। जो उत्साह सभी लोगों में उमड़ता है वह किसी स्थान विशेष में न रहकर बाहर भी उमड़ने लगता है। उत्साह में व्यक्ति उतावला तथा आनन्द प्राप्ति के लिए बैचेन हो जाता है।

हमने प्रस्तुत अध्याय में कुछ मिश्र संवेगों का भी विश्लेषण करने का प्रयास किया है। मिश्र संवेग मोह/भ्रम/आशंका के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि इन संवेगों का मूल कारण अज्ञान और अविवेक है। किसी को दुःख पूर्ण जानते हुए भी उस पर आसक्त रहना "मोह" है। किसी को कुछ का कुछ समझ लेना भ्रम है, दुविधामयी स्थिति असमंजस की स्थिति है, कल्पित अनिष्ट की सम्भावना आशंका है। तुलसी ने इन सबके कारणों का विवरण प्रस्तुत किया है। गूढ़ या परस्पर विरोधों से भरे विषय के प्रति संदेह होता है, प्रेम के कारण प्रिय की सामर्थ्य पर संदेह होता है, अलौकिक अथवा कठिन कार्य के होने में संदेह होता है। जिस कथा का हम मर्म नहीं जानते हैं, उसको सुनकर हम मोह तथा भ्रम के वश हो जाते हैं। दुष्काल के प्रभाव से भी मोह उत्पन्न होता है। राक्षसी माया से भ्रम उत्पन्न होता है। दो की समान आकृति होने पर एक में दूसरे का भ्रम होता है। अलौकिक, अनहोनी, चमत्कार पूर्ण घटना को देखकर भ्रम उत्पन्न होता है। मोह का एक अर्थ अंध प्रेम भी है जिसमें विवेक कुंठित हो जाता है और मोह का एक अर्थ मुग्ध होना है।

मन को रुचने वाली वस्तु के प्रति जो एक प्रकार की एकात्मकता स्थापित हो जाती है, उसे मुग्ध होना कहते हैं। अलौकिक, दिव्य, अनुपम वस्तु को देखकर मन मुग्ध हो जाता है। मोह में बुद्धि ठीक तरह से काम नहीं करती है, व्यक्ति गलत मार्ग पर चलने लगता है, उसका ज्ञान नष्ट हो जाता है, व्यक्ति को दु:ख का अनुभव होता है। वह क्रोध, अहंकार, लोभ आदि विकारों के वश हो जाता है। मोह/भ्रम राम के मिलन में बाधक हैं। मोह का नाश बोध होने पर ही होता है। तुलसी का विचार है कि व्यक्ति को सत्य बात में संदेह नहीं करना चाहिए। मोह नदी की तरह अथाह और दुस्तर होता है। मोह में आकर्षण होता है। इसमें एक प्रकार का ताप होता है। मोह वृक्ष की शाखाओं के समान अनेक दु:खदायक संवेग उत्पन्न करता है। कभी--कभी मोह के निवारण के लिए किया गया प्रयत्न व्यक्ति को सत्य के निकट पहुँचा देता है।

मिश्र संवेग "श्रद्धा" किसी के प्रति पूज्य भाव का नाम है। श्रद्धा में सम्मान का भाव होता है। व्यक्ति श्रद्धावश किसी को प्रणाम करता है, चरणों में गिरता है, सिर नवाता है, चरणों को पकड़ता है, उसके गुणों का गान करता है, स्वागत–सत्कार करता है, हाथ जोड़ता है, आज्ञा का पालन करता है। श्रद्धा में व्यक्ति को अपनी लघुता का मान रहता है। श्रद्धा का विश्वास से बड़ा गहरा सम्बन्ध होता है। श्रद्धा भगवत् भक्ति के लिए बहुत आवश्यक है। श्रद्धा के बिना भक्ति साधक को जीवनदान नहीं दे पाती।

"श्लाघा" प्रशंसा करने का भाव है। यह भाव उस व्यक्ति के प्रति उत्पन्न होता है जो करुणामय होता है, सर्वगुण सम्पन्न होता है, मुक्ति उत्पन्न करने में सहायक होता है, दानी होता है, विघ्नों का नाशक होता है, तेज और रस की खान होता है। तुलसी ने राम और राम से सम्बन्धित वस्तुओं का अनेक प्रकार से गुण कथन किया है। क्रोध की अवस्था में कभी–कभी व्यक्ति आत्मश्लाघा से भर जाता है।

किसी का उपकार मानने का भाव "कृतज्ञता" है अैर इसका उल्टा "कृतघ्नता" होता है। यदि कोई हमें कष्टदायक अनजान स्थान में आश्रय दे तो हम उसके प्रति बड़े ही कृतज्ञ हो उसकी बहुत प्रकार से प्रशंसा करने लगते हैं। यदि कोई हमें भगवान का दर्शन सुलभ करवा दे, यदि हमारे मद, मोह, क्रोध और भ्रम का नाश कर दे तो ऐसी अवस्था में हम उसके कृतज्ञ हो जाते हैं। कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए व्यक्ति प्रशंसा करते हैं, किसी से चरणों की वंदना करता है, कृतज्ञता से वाणी में कोमलता आ जाती है। परम चेतना बहुत कृतज्ञ होती है।

मन में राग का न रहना "वैराग्य" होता है। तुलसी का विचार है कि वैराग्य तभी जाग्रत होता है जब मन किसी सुख से ऊब जाता है। परम अनुराग जागने पर भी सांसारिक दुर्लभ सुखों से वैराग्य

हो जाता है। भगवत् कृपा से सांसारिक वैराग्य जागता है। जब कोई वस्तु हमारे दु:ख का कारण बन जाती है तो उसके प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। वैराग्य का उदय वातावरण पर भी निर्भर होता है। सांसारिक वैराग्य धर्म से ज्ञान से तथा निष्कामता, समबुद्धि और विचार से उत्पन्न होता है। दुष्प्रवृत्तियों से रहित व्यक्ति भी सांसारिक वैराग्य से कभी युक्त नहीं हो सकता। यदि व्यक्ति, तृष्णा, लोभ, आशा आदि सांसारिक प्रवृत्तियों का शिकार है तब भी उसमें सांसारिक वैराग्य नहीं जायेगा। चूँकि तुलसी भक्त थे इसलिए उन्होंने मुख्य रूप से सांसारिक वैराग्य की ही बात कही। उन्होंने बताया कि सांसारिक वैराग्य विषयों में लिप्त होते ही नष्ट हो जाता है। सौन्दर्य के प्रति आकर्षण से भी वैराग्य चला जाता है। वैराग्य से व्यक्ति बुद्धि सचेत हो जाती है उसमें ज्ञान जाग जाता है, भेद बुद्धि नष्ट हो जाती है उसे केवल प्रभु से सम्बन्धित वस्तुएँ ही मुग्ध करतीं हैं। सांसारिक वैराग्य होने पर व्यक्ति स्त्री कर त्याग कर देता है। उसका मन शान्त विनय, प्रसन्नता से युक्त रहता है। उसमें लक्ष्य के प्रति दृढ़ता रहती है। आराध्य के प्रति समर्पण का भाव रहता है। वैराग्य, ज्ञान, विज्ञान, विवेक और त्याग को सार्थक करता है वैराग्य भक्ति का एक अंग है। वैराग्य अन्तर की वस्तु है। वैराग्य किसी में भी जाग्रत हो सकता है। वैराग्य को एक श्रेयस्कर वृत्ति माना गया है।

ग्लानि/लज्जा/संकोच/पछतावा ये व्यक्ति में अपराध बोध से उत्पन्न होते हैं। ग्लानि में आत्महीनता का भाव रहता है लेकिन लज्जा और पछतावा में हीनतावृत्ति नहीं भी होती है। संकोच और लज्जा दूसरों के समक्ष ही उत्पन्न होता है। यह संवेग कभी–कभी मर्यादा उल्लंघन के भय से तथा शील के कारण भी उत्पन्न हो जाते हैं। स्त्री बड़ों के समक्ष अपने प्रियतम सम्बन्धी कार्य करने में लज्जा का अनुभव करती है। ग्लानि/संकोच की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तुलसी बताते हैं कि जब किसी में हम अपने से अधिक सामर्थ्य देखते हैं तो हम हीनता बोध के कारण सकुचा जाते हैं और ग्लानि से युक्त हो जाते हैं। हमारा शत्रु हमसे अधिक प्रभावशाली सिद्ध हो ओर हमारी तरह–तरह से हानि कर दे तो ऐसी अवस्था में हमें बड़ी ग्लानि होती है। सामर्थ्य से परे कार्य करने में सात्विक प्रकृति वाले को संकोच होता है। अपने में किसी गुण का अभाव देख संकोच और ग्लानि होती है। कर्तव्य का पालन न कर पाने से ग्लानि होती है। कर्तव्य का पालन न कर पाने से ग्लानि होती है। सामर्थ्य/ अधिकार/पात्रता से अधिक वस्तु की अभिलाषा करने में संकोच होता है। तिरस्कार/अपमान से ग्लानि का अनुभव होता है। अनुचित कार्य यदि विवश होकर करना पड़ें तो उसे करते पछतावा होता है। अपरिचित और अजनबी व्यक्ति से चाहे जैसी आज्ञा देने में संकोच होता है। प्रेम की तीव्रता में व्यक्ति संकोच के कारण प्रिय के अनुसार चलने लगता है। ग्लानि/संकोच आदि संवेगों का व्यक्ति पर तरह–तरह का प्रभाव दिखलायी पड़ता है। ग्लानि में व्यक्ति अपनी बात नहीं कर पाता है, हृदय ऑवे के समान जलने लगता है, व्यक्ति सामने नहीं आना चाहता, व्याकुल हो जाता है,

अपने को धिक्कारने लगता है, निर्दोष सिद्ध करने का प्रयास करता है, अहितकर कार्य नहीं क़रता। स्त्री प्रियतम सम्बन्धी बात बताते समय लज्जा से मुख ढक लेती है, और नेत्रों को तिरछा करके इशारे से बताती है, लज्जा में सिर नीचा हो जाता है। पछतावा में व्यक्ति हाथ मलता है और सिर धुनता है। ग्लानि में कभी–कभी व्यक्ति के प्राण तक निकल जाते हैं। यदि व्यक्ति किसी अच्छे कार्य को करने में लज्जा करता है तो उसकी लज्जा निरर्थक है लेकिन यदि वह बुरे कार्य को करने में लज्जा करता है तो उसकी लज्जा सार्थक है। सुखमय जीवन बताने के लिए लज्जा का त्याग आवश्यक भी होता है। ग्लानि आदि का नाश व्यक्ति दोष को काल, कर्म और विधाता के सिर मढ़कर किया जाता है। आत्मीय के संकोच को सान्त्वना देकर, मिल भेंटकर दूर किया जाता है। संकोच में भय भी शामिल रहता है। किसी–किसी ग्लानि में व्यक्ति मृत्यु तक का वरण कर लेता है।

दूसरों के सुख को देखकर जो दुःख होता है उसे "ईर्ष्या" कहते हैं। जब हम किसी के समान सफलता न पा सके तो उसकी सफलता से ईर्ष्या करने लगते हैं। यदि कोई सुख हमारे आत्मीय को छोड़ किसी अन्य को मिलने लगता है तो यह देख हमें ईर्ष्या होती है। कभी–कभी समय के दुष्प्रभाव से भी ईर्ष्या उत्पन्न होती है। ईर्ष्या से मन में जलन होती है, संताप होता है। बुद्धि काम नहीं करती, व्यक्ति सद्‌वृत्तियों का आदन नहीं कर पाता, वह कपट करता है, दूसरों के अकल्याण की कामना करता है, उसमें कठोरता और लालच आ जाता है। ईर्ष्या में व्यक्ति दूसरों का काम बिगाड़ने में दूसरों का सहयोग भी लेता है। यह एक दुष्ट संवेग है। इसका नाश प्रभु कृपा से ही होता है।

किसी आघात के कारण मन में जो बैचेनी हो जाती है उसे क्षोभ कहते हैं। अलौकिक सौन्दर्य के प्रभाव से मन क्षुब्ध हो जाता है। जिस कार्य से अपनी हानि की सम्भावना हो उस कार्य को होते देखकर मन क्षुब्ध हो जाता है। इच्छित वस्तु की प्राप्ति असम्भव जानकर मन क्षुब्ध हो जाता है। श्रद्धेय को हमारे कारण कष्ट सहते देखकर क्षोभ होता है। काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या आदि संवेग भी मन को क्षुब्ध करते हैं। क्षोभ व्यक्ति के ध्यान को भंग कर देता है। क्षोभ युक्त हृदय में भगवान का वास हनीं होता। बोध होने पर क्षोभ अपने आप नष्ट हो जाता है।

चित्त की अस्थिर अवस्था "चपलता" है। चपलता के कारण व्यक्ति ढिठाई करने लगता है। अनुचित कृत्य भी करने लगता है। किसी वस्तु की तीव्र इच्छा व्यक्ति को चपल कर देता है। चपलता में व्यक्ति व्यंग्य कसने लगता है, अनेक प्रकार की हरकतें करने लगता है। चंचलता व्यक्ति की चाल से भी व्यक्त होती है। बालक पन से व्यक्ति बड़ा ही चंचल होता है।

संज्ञा हीन अवस्था का नाम "जड़ता" है। जड़ता मोह आदि के कारण उत्पन्न होती है। इसमें बुद्धि कुंठित हो जाती है। व्यक्ति को कुछ समझ में नहीं आता है। वह चित्रलिखा सा रह जाता है, सुध–बुध से रहित रहता है। उसमें कठोरता आ जाती है।

"संतोष" वह मानसिक अवस्था है जिसमें व्यक्ति प्राप्त सुख से अधिक सुख प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखता है। तुलसी का विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रकृति के अनुसार वस्तु से ही संतोष मिलता है। एक वस्तु सबके लिए संतोष का कारण नहीं होती। पूर्णकाम पुरुष प्रेम से पुष्ट होता है, भक्त प्रभू कृपा से संतुष्ट होता है। याचक लोग कुछ पाकर संतुष्ट होते हैं। यदि व्यक्ति अति क्रोध की अवस्था में है तो उसे संतोष नहीं मिलता है। बिना आधार के शान्ति नहीं मिलती है। कोई–कोई सुख ऐसा होता है जिसे चाहे जितना लिया जाये उससे कभी तृप्ति नहीं मिलती है। किसी को परितुष्ट करने के लिए अनेक विधियों का सहारा लिया जाता है। किसी को संतुष्ट कराने के अनेक कारण होते हैं। संतुष्ट होने पर व्यक्ति शुभ कामना या कृतज्ञता व्यक्त करता है। उसे शान्ति मिलती है, उसमें उदारता आती है। संतोष एक गुण है लेकिन कभी–कभी सन्तुष्ट न होना एक गुण हो जाता है।

क्षमा, दया, कृपा, करुणा ये संवेग दूसरों के दुःख की अनुमति से उत्पन्न होने वाले संवेग हैं। क्षमा का सम्बन्ध अपराधी के अपराध से होता है लेकिन अन्य सबका सम्बन्ध अपराधी से इतना नहीं होता। इनका सम्बन्ध दुखी आर्त्त व्यक्ति से ही होता है। किसी की दुर्दशा/व्याकुलता देखकर दया आती है। सर्व लक्षण से सम्पन्न व्यक्ति को भटकते देख दया आती है। दास अपराधी होने पर भी दया का अधिकारी होता है। यदि कोई अनुचित बर्ताव परिस्थिति वश होकर करे तो उसका अपराध क्षमा के योग्य होता है। यदि सच कहने के प्रयास में कुछ अनुचित या असत्य बात निकल जाये तो वह क्षमा के योग्य होता है। प्रेम के कारण की गयी ढिठाई क्षमा के योग्य होती है। बालक सच्चा दास, असहाय सेवक कृपा का अधिकारी होता है। निष्काम प्रेम के कारण प्रभु कृपा करते हैं। उत्तम व्यवस्था होने पर ही दया का भाव उपजता है। कृपा क्रोध रहित, कोमल और गुणवान हृदय में ही उपजता है। विपत्ति के अवसर पर कृपा की बहुत चाह होती है। जब प्रभु कृपा प्राप्त होती है, तभी राम की प्रभुता उनकी लीला समझ में आती है। भगवत् दया से विभेदकारी बुद्धि का नाश होता है। कृपा की कोई निश्चित सीमा नहीं होती। भगवत् कृपा विरले ही पा पाते हैं। पंचम अध्याय में हमने पात्रों का संवेगात्मक अनुशीलन तथा पात्रगत तनाव एवं द्वन्द्व का विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पात्रगत अन्तर्द्वन्द्व चूँकि तुलसी साहित्य में कम ही मिलता है इसी कारण इसे इसी अध्याय में अन्तर्मुक्त किया गया है अन्यथा इसके लिए भी एक अलग अध्याय

की रचना हो सकती थी। पात्रों का संवेगात्मक अनुशीलन तथा पात्रगत तनाव को अलग–अलग दो वर्गों में विभाजित करके अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। "क" वर्ग में कुछ मुख्य पुरुष और स्त्री पात्रों को लेकर हमने यह देखा है कि कुछ तो सद्वृत्तियों से युक्त पात्र हैं और कुछ दुष्प्रवृत्तियों से युक्त पात्र है। इन पात्रों में प्रत्येक का कोई न कोई एक मूल संवेग है, जो उनके अन्य संवेगों का प्रतिनिधित्व करता दिखाई देता है। राम के जीवन का मूल संवेग करुणा है, इस करुणा के कारण ही उनमें लोकमंगल की भावना, भक्त वत्सलता, मानव प्रेम, प्रजा प्रेम, कौटुम्बिक प्रेम, दया, कृपा, परदुःख कातरता, अधर्म के प्रति क्रोध, घृणा आदि के दर्शन होते हैं। लक्ष्मण का मूल संवेग राम प्रेम है, जिसके कारण उनमें राम सेवा भाव, राम सान्निध्य की आकांक्षा, राम विरह की आशंका से व्याकुलता, वैराग्य, क्रोध, क्षोभ, उत्साह, दृढ़ता, लालसा, जिज्ञासा, चपलता आदि संवेगों का जागरण होते देखा जाता है। भरत के संवेगों का विश्लेषण करने पर हमने पाया है कि भरत भी लक्ष्मण की तरह ही राम प्रेम से युक्त हैं और उनका यह प्रेम भक्ति की कोटि तक पहुँचता हुआ चरम सीमा को पार कर जाता हैं और जिसे देख पशु–पक्षी भी स्तब्ध रह जाते हैं। दशरथ में राम के प्रति पुत्र विषयक भक्ति, चरम सीमा पर पहुँचा हुआ पुत्र स्नेह हैं जिसके कारण राम ही उनके जीवन का आधार हो गये हैं। राम के वन चले जाने पर वे अपने इसी संवेग के कारण व्याकुल हो जाते हैं और फिर राम–राम कहते विलाप करते प्राण त्याग देते हैं। शिव के जीवन का मूल संवेग भक्ति है। इसी भक्ति के कारण वे अपनी पत्नी सती का त्याग करते हैं, वैराग्य धारण करते हैं और फिर राम की आज्ञा से पार्वती से विवाह करके लोक में मंगल की स्थापना करते हैं। नारद वैसे तो भगवान के भक्त हैं और उन्हें भगवान् की कृपा भी प्राप्त है लेकिन समय के दुष्प्रभाव से उनमें अहंकार, मोह, अज्ञान, काम, क्रोध, क्षोभ, दीनता, भय आदि का जागरण हो जाता है।

"हनुमान" के जीवन का अनुशीलन करने पर हमें उनके जीवन में भक्ति, समर्पण, विनय, परदुःख कातरता, करुणा, मैत्री, निरहंकार, अन्याय, अत्याचार के प्रति क्रोध, दया आदि संवेगों के दर्शन होते हैं। "विभीषण" के जीवन का संवेगात्मक विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि तुलसी ने उसे व्यक्तित्व वाला दिखाया है, जिस पर संवेगों के विनिर्मित होने में वातावरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। रावण आदि राक्षसों के बीच रहने पर भी उसमें भक्ति आदि सात्विक प्रवृत्तियाँ जन्म लेती है और अन्त में उसे प्रभु कृपा प्राप्त हो जाती है। विभीषण में भक्ति के साथ–साथ दया, दान, मित्रता, दीनता, क्षोभ, सरलता, परोपकारिता, शरण याचकता, स्वभिमान, वफादारी आदि संवेगों का विकास होता है। "सुग्रीव" एक अति भीरु प्रवृत्ति वाला पात्र दिखायी पड़ता है। वह राम से मित्रता करता है और फिर भक्ति, सेवाभाव आदि से युक्त होकर वह राम की सीता प्राप्ति में सहायता करता है और मित्र धर्म का निर्वाह करता है। बालि बड़ा ही अंहकारी प्रवृत्ति का पात्र है लेकिन उसमें गुप्त रूप से भक्ति का भी विकास दिखायी पड़ता है।

"अंगद" में भक्ति संवेग मुखरित है जिसके कारण वह राम के यशोगान में रुचि लेता है, राम की शरण पाकर बड़ी कृतज्ञता का अनुभव करता है और राम के अयोध्या लौटने पर भी वह राम का सान्निध्य नहीं छोड़ना चाहता। नारी पात्रों में सीता में पति प्रेम चरम सीमा पर दृष्टिगोचर होता है। इसी पति प्रेम के कारण ही उसमें राम सान्निध्य की इच्छा, दृढ़, वत्सलता, उदारता, करुणा, विरह, व्याकुलता, क्षोभ, क्रोध–सरलता आदि के दर्शन होते हैं।

सती के जीवन के संवेगों का विश्लेषण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सती में अहंकार था जो बाद में इसका दुष्परिणाम भुगतने पर नष्ट हो भक्ति में बदल जाता है। अहंकार के कारण उसमें मोह, संदेह, अज्ञान का जन्म लेता है और फिर उसे भीषण मानसिक संताप सहना पड़ता है। पार्वती के रूप में जन्म लेने पर उसमें मोह आदि कुछ नहीं रहता और उनकी राम के स्वरूप को जानने की बड़ी इच्छा रहती है। "कैकेयी" परिवेश के प्रभाव से निर्मित व्यक्तित्व वाली है। इसमें पहले तो सात्विक प्रवृत्तियाँ रहती है, लेकिन फिर मन्थरा की चाटुकारिता से उसमें ईर्ष्या, कुटिलता, कठोरता, क्रोध आदि का जागरण हो जाता है। बाद में जब उसमें विवेक का उदय होता है तो वह ग्लानि से भर जाती है। "कौसल्या" एक ऐसा पात्र है जिसके संवेग कभी भी विवेक का आश्रय नहीं छोड़ते। राम के वन जाने की सुनकर वह धर्म का विचार कर उन्हें जाने से नहीं रोकती हैं।

"शूर्पणखा" तामसी प्रवृत्ति की स्त्री पात्र हैं जिसमें तुलसी ने पहले अति कामान्धता दिखायी और फिर बाद में उसे प्रतिशोध की भावना से युक्त दिखाया हे। मंदादरी वैसे तो एक गौण पात्र है लेकिन सात्विक प्रवृत्ति से युक्त होने के कारण तथा पति के कल्याण की ओर सदा उन्मुख रहने के कारण उसे हमने विश्लेषण का विषय बना लिया है।

इस अध्याय के "ख" भाग में हमें पात्रों के जीवन में उठने वाले मानसिक संघर्षों को समझने का प्रयास किया है। चूँकि तुलसी साहित्य में स्थिर पात्रों की संख्या अधिक है इसलिए हमें इस अध्ययन के दौरान कम ही अन्तर्द्वन्द्व दिखायी पड़े हैं। शिव के जीवन पर हमने विचार किया तो हमने पाया कि उन्हें दो बार मानसिक संघर्ष का सामना करना पड़ा। पहली बार जव वे राम के दर्शन की इच्छा करते हैं तो वे एक ओर दर्शन लोभ की आतुरता और दूसरी ओर रहस्य खुल जाने के भय से बड़े क्षुब्ध हो जाते हैं। दूसरी बार जब वे सती को सीता का वेश धारण करने के कारण त्यागना चाहते हैं तो यह सोचकर परेशान हो जतो हैं कि सती वैसे तो पवित्र है इसलिए इसे त्यागा नहीं जा पा रहा है, लेकिन इसे अपनाने

से भक्ति मार्ग लुप्त हो जायेगा। वे बड़ी उलझन में पड़ जाते हैं। पहले अन्तर्द्वन्द्व को वे राम दर्शन करके शान्त करते हैं और दूसरे द्वन्द्व को वे सती त्याग का प्रण करके समाप्त करते हैं।

दशरथ में भी कैकेयी के वरदान से यह अन्तर्द्वन्द्व उठता है कि वे स्नेह की रक्षा करें या वचन की। वे दोनों की रक्षा करते हैं। प्राण त्याग कर स्नेह को सुरक्षित करते हैं और राम को वन भेजकर वचन की रक्षा करते हैं। कौसल्या भी धर्म और स्नेह के अन्तर्द्वन्द्व में फँसती है और बाद में धर्म का विचार कर राम को वन भेजकर केवल धर्म की रक्षा करती है। जनक राम स्नेह के कारण अपनी कठोर प्रतिज्ञा को सोच धर्म संकट में पड़ते हैं लेकिन उनके दोनों पक्षों की रक्षा होती है। राम धनुष भंग करते हैं और जनक की प्रतिज्ञा और स्नेह की रक्षा होती है।

मारीच रावण के कपट मृग वन कर राम के साथ छल करने के लिए कहने पर दो प्रकार के भयों के बीच फँस जाता है और फिर राम के वाण द्वारा मरना ही उत्तम मान कर रावण के साथ चल देता है।

सरस्वती और कामदेव भी देवताओं की विनय से अन्तर्द्वन्द्व में फंसते हैं लेकिन फिर देवताओं के हित को सोचकर सरस्वती अयोध्या में विघ्न उपस्थित करने के लिए चली जाती हैं और कामदेव शम्भु समाधि भंग करने।

विभीषण में यह अन्तर्द्वन्द्व होता है कि भाई का पक्ष लें या राम की शरण में जायें। वह कुबेर के सलाह देने पर राम की शरण में जाना उचित समझता है और अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त हो जाता है।

भरत राम को वन से लौटा लाने के लिए जब चित्रकूट में राम के समीप पहुँच जाते हैं तो वे ग्लानि और प्रेम के कारण अन्तर्द्वन्द्व से युक्त हो जाते हैं। वे सोचते हैं कि कहीं राम मुझे माता की करनी के कारण न स्वीकार करें। वे सीच से भर जाते हैं लेकिन फिर भक्ति और प्रेम के कारण आगे भी बढ़ना चाहते हैं। अन्त में वे राम के स्वभाव को सोचकर जल्दी-जल्दी आगे बढ़ने लगते हैं।

इस प्रकार तुलसी साहित्य में संवेगों की मनोवैज्ञानिक भूमिका पर मैने विविध दृष्टियों से विचार किया और जीवन में संवेगों का क्या महत्व है, मंगलकारी संवेगों को तरजीह देने पर किस प्रकार जीवन में सुख शान्ति का विधान हो सकता है प्रस्तुत विवेचन में इस ओर भी संकेत किया गया है। तुलसी साहित्य में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संवेगों पर विचार करते हुए शोध की कुछ नयी दिशायें भी उद्‌घाटित होती है, जैसे- तुलसी साहित्य तथा बाल्मीकि रामायण में संवेगों की मनोवैज्ञानिक भूमिका अथवा रामचरित

मानस और कंबन रामायण तथा रंगनाथ रामायण में मानवीय संवेगों का तुलनात्मक अनुशीलन अथवा रामचरित मानस तथा मानसेतर हिन्दी राम काव्य में मानवीय संवेगों की मनोवैज्ञानिक भूमिका आदि। मेरे कार्य को इस दिशा में अन्तिम नहीं माना जा सकता है। हाँ। इस दिशा में चलने का एक विनम्र प्रयास अवश्य है।

****

परिशिष्ट

– संदर्भ ग्रन्थ तालिका

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. रामचरित मानस – तुलसीदास : गीताप्रेस गोरखपुर सं0 2036

2. गीतावली : गीताप्रेस गोरखपुर, सं0 2044

3. विनय पत्रिका : तुलसीदास, गीता प्रेस गोरखपुर, सं0 2042

4. कवितावली : तुलसीदास, गीता प्रेस गोरखपुर, सं0 2044

5. संक्षिप्त विनय पत्रिका– टीकाकार डा0 राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, प्रकाशन केन्द्र,
रेलवे क्रासिंग, सीतापुर, लखनऊ

6. विनय पत्रिका (संक्षिप्त)– तुलसीदास : टीकाकार डा0 गोपीनाथ तिवारी
प्रकाशक कैलाश पुस्तक सदन
पाटनकर बाजार, ग्वालियर–474009
तृतीय संस्करण

7. विनय पत्रिका – तुलसीदास, टीकाकार वियोगी हरि
प्रकाशक बा0 गोपालदास पोरवाल, साहित्य सेवा सदन,
वाराणसी, बारहवाँ संस्करण : 1977

8. कवितावली – तुलसीदास : सम्पादक सुधाकर पाण्डेय
लोकभारती प्रकाशन
15–ए, महात्मा गाँधी मार्ग,
इलाहाबाद–1
प्रथम संस्करण सन् 1973

9. मानस पियूष (भाग–1) – बालकाण्ड : प्रारम्भ से दोहा 43 तक
– श्री अंजनी नन्दन शरण
"मानस–पीयूष" कार्यालय, ऋणमोचन घाट
श्री अयोध्या जी
तुलसी संवत 329, वि0सं0 2008

10. मानस पियूष (भाग–2) – दोहा 43 से 188 तक
– श्री अंजनी नन्दन शरण
श्री अयोध्या जी
तुलसी संवत 329, वि0सं0 2009

11. मानस पीयूष (भाग–3) – (क) दोहा 188 से 267 तक
(ख) दोहा 268 से बालकाण्ड की समाप्ति तक
– श्री अंजनी नन्दन शरण
श्री अयोध्या जी
तुलसी संवत् 330, वि0सं0 2009

12. मानस पीयूष (भाग–4) – अयोध्याकाण्ड सम्पूर्ण
– श्री अंजनी नन्दन शरण
प्रकाशक – गीता प्रेस गोरखपुर
संवत् 2030

13. मानस पीयूष (भाग–5) – अरण्यकाण्ड
– श्री अंजनी नन्दन शरण
श्री अयोध्या जी
तुलसी संवत् 330, वि0सं0 2009

14. मानस पीयूष : किष्किन्धाकाण्ड
– श्री अंजनी नन्दन शरण
मानस पीयूष कार्यालय
श्री अयोध्या जी
आश्विन शु0सं0 2011

15. मानस पीयूष (भाग–6) – सुन्दरकाण्ड
– श्री अंजनी नन्दन शरण
मानस पीयूष कार्यालय
श्री अयोध्या जी
तुलसी सं0 308, गुरू पूर्णिमा सं0 2011

16. मानस पीयूष – लंकाकाण्ड
– श्री अंजनी नन्दन शरण
श्री अयोध्या जी
तुलसी संवत् 309, चैत्र कृ0सं0 2011

17. मानस पीयूष – (1) उत्तरकाण्ड दोहा 72 तक (2) दोहा 111 से समाप्ति तक
– श्री अंजनी नन्दन शरण
श्री अयोध्या जी
जून–जुलाई सन् 1956

18. मानस मुक्तावली – भाग 1 तथा भाग 2
– रामकिंकर उपाध्याय
प्रकाशक– बिरला अकादमी ऑफ आर्ट एण्ड कल्चर
108/109 सदर्न एवेन्यू कलकत्ता 29
संस्करण– रामनवमी संवत् 2031 (1 अप्रैल, 1974)

19. मानस मुक्तावली – भाग 3 तथा 4
– रामकिंकर उपाध्याय : प्रकाशक– बिरला अकादमी
आफ आर्ट एण्ड कल्चर,
108/109 सदर्न एवेन्यू, कलकत्ता–29
संस्करण– रामनवमी, संवत् 2032, 20 अप्रैल 1975

20. मानस प्रवचन – (द्वितीय तथा तृतीय पुष्प)
– रामकिंकर उपाध्याय
प्रकाशक– बिरला अकादमी ऑफ आर्ट एण्ड कल्चर
108/109 सदर्न एवेन्यू, कलकत्ता–29
दूसरा संस्करण: रामनवमी, संवत् 2041

21. मानस प्रवचन – (पंचम, षष्ठ, अष्टम् पुष्प)
– रामकिंकर उपाध्याय
प्रकाशक– बिरला अकादमी ऑफ आर्ट एण्ड कल्चर
108/109 सदर्न एवेन्यू, कलकत्ता–29
संस्करण– रामनवमी, संवत् 2043

22. रामचरित मानस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन– डा0 जगदीश प्रसाद शर्मा,
प्रकाशक– किताब महल प्राइवेट लिमिटेड
प्रथम आवृत्ति – 1964

23. हिन्दी महाकाव्यों में मनोवैज्ञानिक तत्व – (प्रथम भाग)
– डॉ0 लालता प्रसाद सक्सेना
प्रकाशक– निर्मल प्रकाशन संस्थान जयपुर
प्रथम संस्करण – 1973
(द्वितीय भाग) – प्रथम संस्करण 1974

24. अध्यात्म योग और चित्त विकलन – स्वर्गीय श्री वेंकटेश्वर शर्मा
प्रकाशक – बिहार–राष्ट्रभाषा–परिषद
पटना– 3 प्रथम संस्करण 1879

25. रामचरित मानस के शब्दों का अर्थ तत्विक अध्ययन –
– डॉ0 त्रिभुवन नाथ शुक्ल
प्रकाशक – स्मृति प्रकाशन, 124 शहरारा बाग, इलाहाबाद–3
संस्करण – प्रथम 1982 ई0

26. मानस पर्याय शब्दावली –डॉ प्रेमलता भसीन
सन्मार्ग प्रकाश, 16– यू0बी0, बैग्लोरोड,
जवाहर नगर, दिल्ली – 110 007
प्रथम संस्करण – 1986

27. तुलसी साहित्य विमर्श – डॉ0 देवकी नन्दन श्रीवास्तव
सुलभ प्रकाश, 16 अशोक मार्ग, लखनऊ।
संस्करण प्रथम – 1985

28. तुलसी का विशेषण विधान – डॉ0 राम अंजोर सिंह
प्रकाशक – सरस्वती प्रकाशन मन्दिर,
69 नया बैरहना, इलाहाबाद – 3
संस्करण प्रथम – 1978

29. तुलसी : विविध संदर्भों में – वचन देव कुमार
प्रकाशक– राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 8 नेता जी सुभाष
मार्ग, नयी दिल्ली – 110 002
प्रथम संस्करण – 1977

30. गोस्वामी तुलसीदास : दर्शन और भक्ति –

डॉ0 विश्वम्भर दयाल अवस्थी, डी0लिट0

प्रकाशक – उर्जा प्रकाशन, 69, नया बैरहना, इलाहाबाद

संस्करण – प्रथम 1981

31. गोस्वामी तुलसीदास सम्बन्धी समीक्षाओं और शोधों का अनुशीलन –

– डॉ0 वीरेन्द्र पाल श्रीवास्तव

स्मृति प्रकाशन– इलाहाबाद

प्रथम संस्करण– 1974

32. "प्रसाद" काव्य में भाव व्यंजना (मनोवैज्ञानिक विवेचन)

– डॉ0 धर्म प्रकाश अग्रवाल,

अनुराधा प्रकाशन, 105, फूलबाग कालोनी,

सूरज कुण्ड, मेरठ

33. तुलसी : सन्दर्भों में – श्री कृष्ण कुमार त्रिवेदी

विनीत प्रेस, 108/27 लेनिन पार्क, कानपुर

संस्करण – 1981

34. "गीता के परिप्रेक्ष्य में रामचरित मानस" –

– कमला प्रसाद सिंह

प्रकाशक– उर्जा प्रकाशन 69, नया बैरहना, इलाहाबाद

संस्करण– प्रथम 1984, 1100 प्रतियाँ

35. मध्यकालीन भक्ति काव्य में विरहानुभूति की व्यंजना–

– डॉ0 चौथी राम यादव

रचना प्रकाश, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण– 1974

36. रामभक्ति : परम्परा और साहित्य –

– भगवती प्रसाद सिंह

हिन्दी पुस्तक एजेन्सी

प्रथम संस्करण – 1974

37. "भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास" –

– चन्द्रवली त्रिपाठी

प्रकाशिका– दुर्गावती त्रिपाठी

प्रथम संस्करण– 1967

38. "त्रिवेणी" – रामचन्द्र शुक्ल

प्रकाशक– नागरी प्रचारणी सभा, काशी

सत्ताइसवाँ संस्करण– सं0 2030 वि0

39. "मानस की महिलाएँ – श्री रामानन्द शर्मा

प्रकाशक– कन्या कुमार प्रकाशन, मद्रास

प्रथम संस्करण – 1962

40. भक्ति का विकास – डॉ0 मुंशीराम शर्मा

प्रकाशक – चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी –1

संस्करण– 1958

41. रामचरित मानस और पूर्वाञ्चलीय रामकाव्य –

– डॉ0 रामनाथ त्रिपाठी

आदर्श साहित्य प्रकाशन

प्रथम संस्करण– नवम्बर, 1972

42. तुलसी : साहित्य और सिद्धान्त –

– यज्ञदत्त शर्मा

अक्षरम् – सोनीपत (हरियाणा) 462, सेक्टर– 14

प्रकाशन वर्ष – 1984

43. तुलसी : आधुनिक वातायन से –

– रमेश कुन्तल मेघ

भारतीय ज्ञान पीठ, काशी

44. तलसी और मानवता – सूर्य नारायण भट्ट

उर्जा प्रकाशन, 69, नया बैरहना, इलाहाबाद–3

संस्करण 1982

45. गोस्वामी तुलसीदास — डॉ0 विश्वम्भर दयाल अवस्थी
उर्जा प्रकाशन, 69, नया बैरहना, इलाहाबाद – 3
संस्करण 1981

46. विनय पत्रिका में प्रपत्ति वाद –
– विजय शंकर मिश्र
प्रकाशक– प्रेम प्रकाशन मंदिर 3012 बल्ली भारान, दिल्ली–11006
संस्करण 1983

47. "चिन्तामणि" (भाग –1) – डॉ0 रामचन्द्र शुक्ल

48. रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय –
डॉ0 भगवती प्रसाद सिंह
प्रकाशक – अवध साहित्य मन्दिर, बलरामपुर
प्रथम संस्करण– संवत् 2014

49. रामभक्ति : साहित्य में मधुर उपासना –
– श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र "माधव" एम0ए0
प्रकाशक – बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना –3
प्रथम संस्करण

50. चिन्ता – डॉ0 हरद्वारी लाल शर्मा
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
प्रथम संस्करण– 1965 ई0

51. मानस शब्द सागर – मानस शब्द संकलनकार –
– बद्री दास अग्रवाल
प्रकाशक – काशी प्रसाद, विजय कुमार अग्रवाल 83,
बिडिन स्ट्रीट, कलकत्ता – 6
प्रथम संस्करण– 1 जनवरी 1955 ई0

52. विनय पीयूष भाग–1 – श्री अंजनी नन्दन शरण
प्रकाशक – पं0 रामचन्द्र दास, साहित्य रत्न, साहित्यालंकार,

मानस केसरी, पीयूष धारालय, विट्ठल क्रीड़ा भवन, बड़ौदा
पद 1 से 38 तक
द्वितीय संस्करण– सन् 1947

53. विनय पीयूष भाग – 2 से 5 तक –
– श्री अंजनी नन्दन शरण
श्री करुणा निधान कुंज, ऋणमोचन घाट, श्री अयोध्या जी (उ0प्र0)
अक्षय नवमी सं0 2020

54. विनय पीयूष भाग–3 – श्री अंजनी नन्दन शरण

55. विनय पीयूष भाग–4 – श्री अंजनी नन्दन शरण

56. विनय पीयूष भाग–5 – श्री अंजनी नन्दन शरण

57. सामान्य मनोविज्ञान – डॉ0 रामनाथ शर्मा
प्रकाशक – केदार नाथ रामनाथ, मेरठ
ऑठवॉं संस्करण 1965

58. मनोविज्ञान और शिक्षा – डॉ0 सरयूप्रसाद चौबे
प्रकाशक – लक्ष्मी नारायण अग्रवाल शिक्षा सम्बन्धी पुस्तक प्रकाशक,
हॉस्पीटल रोड, आगरा
तृतीय संस्करण – 1957

59. शिक्षा मनोविज्ञान – डॉ0 रामनाथ शर्मा
प्रकाशक – केदारनाथ रामनाथ मेरठ
आठवॉं संस्करण, 1965

60. शिक्षा मनोविज्ञान – पी0डी0 पाठक
प्रकाशक – विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा
सातवॉं संस्करण – 1976

61. आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान – श्रीमती प्रीती वर्मा एण्ड डॉ0 डी0एन0 श्रीवास्तव
प्रकाशक– विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा
प्रथम संस्करण– 1978

62. "मनोविज्ञान की ऐतिहासिक रूपरेखा" –

डॉ0 सीताराम जायसवाल

हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ

प्रथम संस्करण – 1963

63. मनोविश्लेषण –फ्रायड

राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली

चौथा संस्करण, 1968

64. सामान्य मनोविज्ञान –डॉ0 जे0डी0 शर्मा

प्रकाशक – लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, अस्पताल मार्ग,

आगरा – 3

पंचम संस्करण : 1984–85

65. असामान्य मनोविज्ञान – डॉ0 लाभसिंह एवं डा0 गोविन्द तिवारी

प्रकाशक – विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा

षष्ठ संस्करण – 1980

66. "मनोविश्लेषण और भाषा" – डॉ0 सूर्यदेव शास्त्री

प्रकाशक– बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, कदमकुंआ, पटना

67. "सिद्धान्त और अध्ययन" – बाबू गुलाबराय एम0ए0

प्रकाशक– रामलाल पुरी, संचालक आत्माराम एण्ड सन्स

कश्मीरी गेट, दिल्ली– 110 006

संस्करण– 1975

68. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त –

– लेखक गोविन्द त्रिगुजायत

प्रकाशक– एस0 चन्द एण्ड कम्पनी लि0, रामनगर, नई दिल्ली

सन् – 1984

69. मधुर रसः स्वरूप और विकास (भाग–1) – रामस्वार्थ चौधरी "अभिनव"

प्रकाशक– राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली – 6

70. "रस सिद्धान्त" – डॉ0 नगेन्द्र
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली।

71. रस मीमांसा – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
प्रकाशक– नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
संवत् 2039, पंचम संस्करण

72. रस सिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण –
– डा0 आनन्द प्रकाश दीक्षित
रामकमल प्रकाशन, दिल्ली
प्रथम संस्करण 1960

73. "भक्ति रसामृत सिन्धु" – प्रधान सम्पादक डा0 नगेन्द्र
सम्पादक विजयेन्द्र स्नातक,
प्रकाशक – हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
प्रथम संस्करण– 1963

74. "काव्य के रूप" –बाबू गुलाव राय
प्रकाशक – आत्माराम एण्ड संस,
संस्करण– 1981

75. "सूर की अनुभाव योजना" – डा0 रामशंकर द्विवेदी
सूर सन्दर्भ ग्रन्थ,
सं0 डॉ0 गिरिराज शरण अग्रवाल, बिजनौर

76. "गीता प्रबन्ध" – श्री अरविन्द
प्रकाशक– श्री अरविन्द सोसायटी पांडिचेरी–2
प्रथम संस्करण– 1969

77. श्रीमद् भगवत् गीता– तत्व विवेचनी हिन्दी टीका– टीकाकार– जयदयाल,
गीताप्रेस गोरखपुर,
सं0 2047 चौबी सवॉ संस्करण।

शब्द कोश :–

1. "बृहत् हिन्दी कोश" सम्पादक –
– कालिका प्रसाद,
प्रकाशक– ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी
तृतीय संस्करण संवत् 2020

2. "मानक हिन्दी कोश" (1 से 5 खण्ड तक) –
– रामचन्द्र वर्म्मा
प्रकाशक– हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
प्रथम संस्करण– सन् 1965

3. "शब्द साधना" – रामचन्द्र वर्म्मा
प्रकाशक– साहित्य रत्नमाला कार्यालय, 20 धर्म कूप, बनारस ।
पहला संस्करण – 1956

4. हिन्दी साहित्य कोश सम्पादक मण्डल –
– डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान)
डॉ0 व्रजेश्वर वर्मा, डॉ0 धर्मवीर भारती, रामस्वरूप चतुर्वेदी,
डॉ0 रघुवंश (संयोजक)
प्रथम संस्करण– संवत् 2015
प्रकाशक– ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी

पत्र–पत्रिकायें :–

1. साप्ताहिक हिन्दुस्तान (लेखमाला : भूल)
10 जनवरी, 1988
17 जनवरी, 1988
24 जनवरी, 1988

2. नवभारत टाइम्स (4 जून 1980, पृ0 7) लख्नऊ
प्रयोगशाला–प्रेम : वैज्ञानिकों की नजर में

4. निरोगधाम (पारिवारिक स्वास्थ्य पत्रिका)

प्रधान सम्पादक– रसवैध डा0 प्रेमदत्त पाण्डेय

– वसन्त ऋतु अंक 1989

– वर्षा ऋतु अंक 1989

– ग्रीष्म ऋतु अंक 1989

5. स्वास्थ्य रक्षक : लेखक– रसवैद्य डा0 प्रेमदत्त पाण्डेय

प्रथम संस्करण 1989

ENGLISH BOOKS

1. Contemporory Approaches to Pshychology.
   Edited by- Harry Helsonand William Bevan; 1964
   Published by W.D. Ten Broeck for Affiliated East-West
   Press Private Ltd., C57 Defence Colony, New Delhi.
2. An Introduction to Social Psychology.
   By- William Mc.Dougall, M.B.F.R.S.
   Methuen & Co.Ltd. London 36 Essex Street, Strand, .W.C.
   This book was first published October,1908.
   It has been reprinted twenty nine times thirtieth edition,1950.
3. The Great Ideas A syntopicon of Great Books of the Western World.
   Mortimer J. Adler, Editor in Chief William Gorman,
   General Editor- Volume 1
   William Bentan, Pubisher
   Encyclopaedia 'Britannica, Inc.Chicago, London Toronto Geneva, Sydney, Tokyo 1952.